प्रकाशक
नागरीप्रचारिणी सभा,
वाराणसी

प्रथम संस्करण
सं० २०२६ वि०
प्रतियाँ १६००



मुद्रक
शंभुनाथ वाजपेयी
नागरी मुद्रण,
वाराणसी

प्रकाशकीय

नागरीप्रचारिणी सभा ने अपनी जिन ग्रंथमालाओं द्वारा हिंदी को श्रीसंपन्न बनाने का प्रयत्न किया है, उनमें 'नागरीप्रचारिणी ग्रंथमाला' का विशिष्ट योगदान है। प्राचीन ग्रंथों की खोज का कार्य आरंभ होने पर खोजविवरण के प्रकाशन के साथ ही हिंदी के विशेष लाभ की दृष्टि से सभा ने यह भी अनुभव किया कि खोज में प्राप्त चुने हुए ग्रंथों का प्रकाशन भी हो। उसने संवत् १९५७ वि० (सन् १९०० ई०) से इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये 'नागरीप्रचारिणी ग्रंथमाला' का आयोजन किया। आरंभ में इसकी पृष्ठसंख्या ६४ और मूल्य आठ आने स्थिर किए गए। वर्ष में इसके चार अंकों के प्रकाशन का भी निश्चय किया गया था। इस ग्रंथमाला के संवत् १९७६ तक ६४ अंक प्रकाशित हुए। इस समय तक इस ग्रंथमाला के संपादक क्रमशः श्री राधाकृष्णदास (संवत् १९६१ तक) थे, महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी (स० १९६५ तक), श्री माधवप्रसाद पाठक (सं० १९६७ तक) और श्री श्यामसुंदरदास (संवत् १९७६ तक) रहे। प्रांतीय सरकार ने इस ग्रंथमाला की उपयोगिता के कारण ३०० रु० वार्षिक की सहायता पाँच वर्षों के लिये संवत् १९६१ से देना स्वीकार किया। फलस्वरूप इसकी पृष्ठसंख्या ८० कर दी गई, पर इसका मूल्य आठ आने ही रहने दिया गया। इस ग्रंथमाला में तबतक ग्रंथ खंडशः प्रकाशित होते थे। संवत् १९७७ से इस ग्रंथमाला में पूरे ग्रंथों का प्रकाशन आरंभ हुआ। अलवर नरेश श्रीमत महाराज सवाई जयसिंह जी ने इस ग्रंथमाला के लिये ५००० रु० सभा को प्रदान किया। तब से यह ग्रंथमाला निरंतर प्रकाशित हो रही है और हिंदी के भंडार को सुसंपन्न कर रही है। इस ग्रंथमाला में अबतक ६१ ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। पृथ्वीराज रासो जैसा वृहत् ग्रंथ सभा ने इसी माला में प्रकाशित किया। इस माला में अब निम्नांकित ग्रंथ प्राप्त हैं—

१—भक्तनामावली, २—हम्मीररासो, ३—भूषण ग्रंथावली, ४—जायसी ग्रंथावली, ५—तुलसी ग्रंथावली, ६—कबीर ग्रंथावली, ७—सूरसागर, ८—खुसरो की हिंदी कविता, ९—प्रेमसागर, १०—रानी केतकी की कहानी, ११—नासिकेतोपाख्यान, १२—कीर्तिलता, १३—हमीर हठ, १४—नंददास

ग्रंथावली, १५—रत्नाकर, १६—रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यंजना, १७ हिंदी टाईपराइटिंग, १८—हिंदी साहित्य का इतिहास, १९—घनानंद और उनकी स्वच्छंद काव्यधारा, २०—प्रतापनारायण ग्रंथावली, २१—तुलसीदास, २२—हिंदी में मुक्तक काव्य का विकास, २३—नाटक के तत्व, २४—तोष और सुधानिधि, २५—खालिकबारी, २६—हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त खोज विवरण, २७—रसरतन, २८—द्विजदेव और उनका काव्य, २९—नाटक और यथार्थवाद। ३०—उग्र और उनका साहित्य। इस ग्रंथमाला में प्रकाशित होने वाला यह ६३ वाँ पुष्प है।

इस ग्रंथ में विद्वान् लेखक ने अपभ्रंश शब्द की निरुक्ति, अपभ्रंश भाषा की उत्पत्ति, उसके विकास तथा उसके विभिन्न रूपों एवं साहित्य का ऐतिहासिक विश्लेषण करते हुए अत्यंत मार्मिक ढंग से आधिकारिक समीक्षा प्रस्तुत की है। अपभ्रंश की क्रोड से हिंदी भाषा की उत्पत्ति का विवरण देते हुए लेखक ने उसी परंपरा में विद्यापति की रचनाओं तथा उनकी काव्यगत विशेषताओं का शोधपूर्ण व्याख्यात्मक आकलन भी किया है। इसी प्रसंग में उसने अवहट्ठ और विद्यापति की पदावली का गवेषणात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया है।

हिंदी साहित्य के मूल स्रोत के दिग्दर्शन करानेवाले अबतक के सभी ग्रंथों से यह ग्रंथ अपनी एक अलग विशिष्टता एवं अध्ययन की सूक्ष्मदर्शिता उपस्थित करता है। शोध छात्रों के लिये यह ग्रंथ अपने वर्णित युग तथा उसकी काव्य परंपराओं के विश्लेषण के कारण अत्यंत उपादेय है। पुस्तकालयों के लिये तो यह अनिवार्य रूप से संग्राह्य है। आशा है सुधी पाठक इसके अध्ययन से विशेष मनस्तुष्टि प्राप्त कर सकेंगे।

करुणापति त्रिपाठी

विषयसूची

अध्याय ४

अध्याय ५

अध्याय ६

अध्याय ७

अध्याय ८

अध्याय ९

संकेत सूची

इस ग्रंथ में कुछ संकेत चिह्न भी प्रयुक्त हुए हैं। उनका स्पष्टीकरण नीचे दिया जाता है—

= इस चिह्न का अर्थ है, बराबर।

। स्वरों के ऊपर यह चिह्न उनका निर्बल उच्चारण प्रकट करता है।

√ = धातु चिह्न।
* = कल्पित रूप।
> = उत्पन्न करता है।
< = उत्पन्न हुआ है या बना है।
अ०त० = अर्द्ध तत्सम
अधि०,अधिक०=अधिकरण कारक
अप० = अपभ्रंश
अपा० = अपादान कारक
अ०पु०, अन्य० पु० = अन्य पुरुष
अ० मा० = अर्द्ध मागधी
अव० = अवधी
आ० आ० = आधुनिक आर्यभाषा
आत्मने० = आत्मनेपद

ति० = तिर्यक्
तृ० = तृतीया
द्वि० व०, द्विवच० = द्विवचन
पंच० = पंचमी विभक्ति
प० अप०, पश्चि० अप०=पश्चिमी अपभ्रंश
प० हिं० = पश्चिमी हिंदी
पदमा० = पद्मावत
प० च० = पउम चरिउ
प्र० = प्रथमा विभक्ति
प्र०वा० = प्रश्नवाचक
पु०, पुं०लि० = पुंलिंग
पु० वा० = पुरुषवाचक
पु० हिं० = पुरानी हिंदी

प्राक्कथन

इधर कुछ दिनों से विद्वानों का ध्यान अपभ्रंश भाषा और साहित्य की ओर आकर्षित हुआ है और अपभ्रंश ग्रंथ प्रचुर मात्रा में प्रकाशित किए जा रहे हैं। अपभ्रंश को प्रकाश में लाने का श्रेय प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् पिशेल को है। आपने सर्वप्रथम सन् १८७७ ई० में हेमचंद्र कृत प्राकृत व्याकरण का संपादन किया। तदुपरांत लगभग २५ वर्ष के अनवरत परिश्रम से प्राकृत भाषाओं का सर्वांगपूर्ण एक प्राकृत व्याकरण १९०० ई० मे प्रकाशित किया। यह व्याकरण आज भी प्राकृत भाषाओं का अत्यंत उपयोगी व्याकरण है। इसकी सर्वांग-पूर्णता पर मुग्ध होकर विद्वानों ने पिशेल को प्राकृत का पाणिनि कहा है। प्राकृत व्याकरण मे ही अपभ्रंश को स्थान दिया जाता है। तदनंतर सन् १९०२ ई० मे आपने अपने प्राकृत व्याकरण के परिशिष्ट के रूप मे माटेरियालेनत्सुर केंटनिस डेस अपभ्रंश का प्रकाशन कराया। इस पुस्तक मे उन्होने अपभ्रंश विषयक सामग्री का संग्रह एवं निर्देश किया था। उन्हे अत्यंत खेद के साथ कहना पड़ा कि अपभ्रंश का बहुत सा साहित्य नष्ट हो गया था। परंतु खेद है कि यह विद्वान् अपने कार्य को अधिक गति न दे सका और सन् १९०२ ई० मे सब कुछ छोड़ कर इस संसार से चल बसा।

पिशेल के कार्य को एक अन्य जर्मन विद्वान् ने गति दी। आपका नाम हेर्मान याकोबी है। आप भारतीय प्राच्यविद्या विशारद एवं जैनागमों के पूर्ण पारगत विद्वान् थे। आप १९१३-१४ मे भारत पधारे और राजपूताना तथा गुजरात के जैन भंडारों का निरीक्षण किया। अहमदाबाद मे आपको एक जैन मुनि

के पास धनपाल कृत 'भविसयत्त कहा' पुस्तक के दर्शन हुए। पुस्तक देखते ही वे फड़क उठे और तुरंत उसकी प्रतिलिपि का प्रबंध कराया और फोटो भी लिया। उसी प्रकार राजकोट में आपको नेमिनाथ चरिउ की भी प्रति प्राप्त हुई। आप सन् १९१४ ई० मे अपने देश जर्मनी लौट गए और शीघ्र प्रथम जर्मन महायुद्ध प्रारंभ हो गया। अतः याकोवी साहिब का यह कार्य कुछ रुक गया। उन्होंने बड़े परिश्रम से १९१७ ई० में म्युनिच एकेडेमी से भविसयत्त कहा का प्रकाशन कराया और सन् १९२८ ई० मे सनत्कुमार चरिउ को विस्तृत भूमिका के सहित प्रकाशित कराया। सनत्कुमार चरिउ नेमिनाथ चरिउ का ही एक भाग है।

पाश्चात्य विद्वानों की प्रेरणा से भारतीय विद्वानों को भी प्रोत्साहन मिला। महाराज वड़ौदा की आज्ञा से वड़ौदा प्राच्य ग्रंथ माला का प्रकाशन प्रारंभ हुआ और उनके ही आजानुसार श्रीयुत दलाल ने जैन भांडारों का निरीक्षण किया। जिसके फलस्वरूप उनको भी 'भविसयत्त कहा' की पांडुलिपि मिली। यह वह समय था कि जव प्रथम विश्व युद्ध चल रहा था। इसलिये याकोवी द्वारा 'भविष्यत कहा' के प्रकाशन की आशा कम थी। अतः श्रीयुत दलाल ने गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज से 'भविष्यत कहा' को प्रकाशित कराने की योजना वनाई। मूल भाग छप भी चुका था कि श्रीयुत दलाल १९१८ ई० मे इन्फ्लुएंजा से पीड़ित होकर असमय मे ही चल वसे। भूमिका भाग का कार्य श्रीयुत डा० पांडुरंग गुणे को करना पड़ा और यह ग्रंथ प्रकाशित हुआ। इस प्रकार दक्षिण के विद्वानों का ध्यान अपभ्रंश की ओर आकर्पित हुआ। पूना के विशाल राजकीय संग्रहालय मे हरिवंशपुराण, पउमचरिउ आदि ग्रंथों की सूचना वहांकी नामावली मे थी परंतु उनके

संग्रहकार डा० पिटर्सन तथा भंडारकर आदि ने उन्हें प्राकृत ग्रंथों की सूची में अंकित कर दिया था। सन् १९१८ ई० में पूना में भंडारकर ओरिएंटेल रिसर्च इंस्टीट्यूट की स्थापना हुई। वहाँ डेकेन कालेज पूना तथा बंबई सरकार की बहुत सी पांडुलिपियाँ स्थानांतरित हुईं और विद्वानों को उनके अवलोकन का अवसर प्राप्त हुआ। मुनि जिनविजय जी को 'संदेश रासक' की प्रति भी मिल चुकी थी। इधर 'जैन साहित्य संशोधक' नामक पत्र का प्रकाशन प्रारंभ हुआ और विद्वानों ने जैन अपभ्रंश साहित्य को प्रकाश में लाने में तत्परता दिखाई। डा० हीरालाल जैन ने कारंजा के प्राचीन जैन भांडार का अवलोकन किया और वहाँ करकंड चरिउ, सावयधम्म दोहा आदि ग्रंथों के विषय में उन्होंने कुछ सूचना प्रयाग विश्वविद्यालय के मुख पत्र मे प्रकाशित कराई। इस प्रकार १९१५ ई० से १९३० ई० तक अर्थात् १५ वर्ष के समय में अपभ्रंश साहित्य का प्रचुर प्रकाशन हो गया।

डा० याकोवी के स्वर्गवास के उपरांत डाक्टर अल्सडोर्फ का कार्य सराहनीय है आपने 'कुमारपाल प्रतिबोध' के अंतर्गत अपभ्रंश उदाहरणों का व्यवस्थित रूप से अध्ययन किया और उसको हंबर्ग यूनिवर्सिटी से सन् १९२८ ई० मे प्रकाशित कराया। यह तो पाश्चात्य विद्वानों की बात रही। इधर भारतीय विद्वानों में डा० हीरालाल जैन, डा० उपाध्ये, डा० परशुराम वैद्य, पं० लालचंद गांधी, प्रो० भायाणी, प्रो० मोदी, तथा मुनि जिनविजय आदि ने अपभ्रंश साहित्य को प्रकाश मे लाने का स्तुत्य प्रयत्न किया।

एक ओर जब यह कार्य हो रहा था दूसरी ओर बंगाल के विद्वानों ने भी प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य को प्रकाशित किया। बंगाल की रायल एशियाटिक सोसाइटी द्वारा

'प्राकृत पैंगलम्' का प्रकाशन श्री चंद्रमोहन घोष द्वारा संपादित होकर हुआ। हेमचंद्र कृत 'देशी नाममाला' भी प्रकाशित हुई। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री, डा० बागची तथा डा० शहीदुल्ला के प्रयत्नों से कीर्तिलता, बौद्धगान ओ दूहा अथवा दोहा कोश तथा चर्यापद प्रकाशित हुए। इस तरह पूरब और पश्चिम में भी अपभ्रंश साहित्य की उपलब्धि होने लगी।

गत ५० वर्षों मे इस प्रकार अपभ्रंश साहित्य का प्रचुर मात्रा मे उद्धार हुआ तथा उसका विभिन्न दृष्टिकोण से अध्ययन किया गया। सर्वप्रथम भाषाविज्ञानियों ने इसके अस्तित्व का पता लगाया और भारतीय आर्यभाषा के क्रम में इसका स्थान निर्धारित किया। आधुनिक भाषाओ के उद्गम और विकास पर भी विद्वानों ने कार्य किया। इस प्रकार का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ ग्रियर्सन का 'लिंग्विस्टिक सर्वे' है। उसकी भूमिका मे विद्वान् लेखक ने आर्यभाषा के विकास पर भी प्रकाश डाला है। उनके तथा अन्य विद्वानों के परिश्रम से अपभ्रंश से संबंध रखनेवाली जो पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है, उसे हम चार वर्गों मे रख सकते हैं—

१. भाषाविज्ञान संबंधी सामग्री—यह वह सामग्री है जिसमे विद्वानों ने अपभ्रंश भाषा का विकास और उसकी मुख्य मुख्य विशेषताओं पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। यह साहित्य अत्यंत विशाल है और बड़ा उपयोगी है। यहाँ उदाहरणार्थ प्रमुख प्रमुख लेखक तथा उनकी कृतियों का नाम दिया जा रहा है—

(क) ग्रियर्सन—लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, (ख) डा० चटर्जी—ओरिजिन एंड डेवेलपमेंट आफ बंगाली लेंग्वेज, (ग) तिस्सेतोरी—पुरानी राजस्थानी, (घ) हार्नले—ए ग्रामर आफ

ईस्टर्न हिंदी, (च) वूलनर—ऐन इन्ट्रोडक्शन टू प्राकृत, (छ) श्रीयुत आप्टे तथा भंडारकर——फिलोलोजिकल लेक्चर्स, (ज) डा० वैद्य-प्राकृत व्याकरण, (झ) प्रो० जगन्नाथप्रसाद—अपभ्रंश दर्पण, (ट) डा० तगारे——हिस्टोरिकल ग्रामर आफ अपभ्रंश, आदि।

२. भाषा साहित्य, संस्कृति तथा इतिहास ग्रंथ—— डा० कीथ—हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, डा० विंटरनिट्ज—हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर, भाग १ व २; श्री रमेशचंद्र दत्त——हिस्ट्री आफ इंडियन सिवलिजेशन, विद्याभवन बंबई—हिस्ट्री आफ इंडियन पीपिल एंड कल्चर, भाग १—४; महा-महोपाध्याय गौरीशंकर हीराचद ओझा—मध्यकालीन संस्कृत; आचार्य रामचंद्र शुक्ल—हिंदीसाहित्य का इतिहास, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिंदी साहित्य की भूमिका तथा हिंदी साहित्य, आदि।

३. मूल पुस्तक विस्तृत भूमिका सहित—स्वयंभू—पउम चरिउ; पुष्पदंत—महापुराण, णायकुमार चरिउ, जसहर चरिउ; कनकामर—करकंड चरिउ; देवसेन—सावयधम्म दोहा; योगीद्र—परमात्मप्रकाश, योगसार, नेमिनाथ चरिउ, धनपाल—भविसयत्त कहा, धाहल—पउमसिरी चरिउ; अबुर्रहमान—संदेश रासक; सिद्धों का दोहा कोश, चरिया पद; विद्यापति—कीर्तिलता, आदि।

४. संग्रह ग्रंथ——इन ग्रंथो में छोटे छोटे अपभ्रंश काव्य सगृहीत है——प्राचीन गुर्जर काव्यसंग्रह; गांधी—अपभ्रंश काव्यत्रयी; अगरचंद नाहटा—ऐतिहासिक जैन काव्यसग्रह, राहुलजी—काव्यधारा, प्रोफेसर मोदी—अपभ्रश पाठमाला, आदि।

इस विशाल सामग्री से हिंदी जगत् भी सर्वथा अपरिचित

न रह सका। सर्वप्रथम श्रीयुत पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी जी ने पुरानी हिंदी के नाम से नागरी प्रचारिणी सभा के मुख्य पत्र मे सन् १९२१ ई० में एक लेख दिया। आपने परवर्ती अपभ्रंश को पुरानी हिंदी का नाम दिया। जव कि अन्य विद्वान् उसे पुरानी गुजराती अथवा पुरानी राजस्थानी मानते थे। पं० रामचंद्र शुक्ल ने सवसे प्रथम हिंदी साहित्य का इतिहास जो वास्तव में इतिहास है, लिखा। उन्होंने अपभ्रंश का अपने इतिहास मे संकेत किया परंतु उसको वह महत्व नही दिया जो कि हिंदी की अंतरात्मा को समझने के लिये आवश्यक था। आचार्य हजारीप्रसाद ने इसको सर्वप्रथम अनुभव किया और उन्होने सन् १९४० ई० में विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। पुनः १२ वर्ष के उपरांत दृढ़तापूर्वक उन्होंने हिंदी भावधाराओं पर अपभ्रंश का प्रभाव स्वीकार किया। इस विषय पर शोध कार्य भी हुआ और डा० रामसिंह तोमर, डा० कोछड़ तथा डा० डी० के० जैन के शोध निवंध भी प्रकाशित हुए। इनसे पहले वंवई और पूना विश्वविद्यालय मे ग्रंथों का प्रकाशन तथा व्याकरण संवंधी ग्रंथ शोध कार्य के रूप में प्रकाशित हो चुके थे। इन प्रकाशित निवंधो मे प्रायः एकागी दृष्टिकोण अपनाया गया है। किसी ने अपभ्रंश भाषा के विकास पर ध्यान दिया है तो किसी ने किसी ग्रंथ का संपादन किया है। डा० तगारे ने ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अपभ्रंश व्याकरण का अध्ययन किया है। 'अपभ्रंश भाषा' का 'हिंदी भाषा' अथवा 'अपभ्रंश साहित्य' का 'हिंदी साहित्य' पर प्रभाव स्पष्ट करना एक वात है, और अपभ्रंश भाषा को तथा उसके साहित्य को हिंदी भाषा एवं साहित्य की अंतरात्मा को समझने के लिये परमावश्यक मानना दूसरी वात है। जव एक भाषा

दूसरी भाषा के संपर्क में आती है तब उनमें आदान प्रदान होना है। एक का प्रभाव दूसरी पर ढूंढ़ा जा सकता है परंतु वे अपने मूल ढाँचे मे अपनी प्रकृति के अस्तित्व को बनाए रहती हैं। अपभ्रंश और हिंदी में यह बात नही है। हिंदी भाषा की मूल प्रवृत्तियों मे अपभ्रंश का रूप झलक रहा है, उसका वाक्यविन्यास एवं उसका शब्दकोश सब प्रकार से अपभ्रंश से निकला हुआ प्रतीत होता है। अपभ्रंश साहित्य की चेतनाएं, भावधाराएं तथा मुख्य मुख्य प्रवृत्तियाँ हिंदी साहित्य मे स्पंदित एवं प्रतिध्वनित हो रही हैं। अपभ्रश काल की साधारण जनता की ऐहिक शृंगारप्रियता का मूर्तिमय चित्र विद्यापति की पदावली में स्पष्ट हो रहा है। अतः समस्त विषय को इसी दृष्टि से उपस्थित करने का यह नवीन एवं मौलिक प्रयास है। विषय को 'अपभ्रंश काव्यपरंपरा एवं विद्यापति' के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत निबंध नौ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में अपभ्रंश शब्द की निरुक्ति तथा विभिन्न अर्थों में प्रयोग मूल ग्रंथों के आधार पर खोजा गया है और उसके विषय मे विभिन्न प्राचीन एवं अर्वाचीन मतों की समीक्षा की गई है। साथ ही यह बताया गया है कि अपभ्रंश शब्द का प्रचलन अत्यंत प्राचीन काल से है और वह महाभाष्यकार के समय से पहले प्रचलित था। प्रारंभ मे वह विकृत शब्दों के अर्थ में रहा और कालातंर मे जब संस्कृत का प्रयोग कथ्य भाषा के रूप मे न रहा तो जो भाषा उसके स्थान पर आई उसी को अपभ्रंश कहा गया। वस्तुतः प्रारंभिक प्राकृत एवं पालि ही अपभ्रंश भाषा के नाम से अभिहित की जा चुकी हैं।

दूसरे अध्याय मे अपभ्रंश भाषा की उत्पत्ति के क्रमिक विकास पर प्रकाश डाला गया है। अपभ्रंश भाषा किस प्रकार

बन गई इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालने के लिये भारतीय आर्यभाषा के प्रारंभ से लेकर अपभ्रंश तक के भाषाविकास पर प्रकाश डालना परम आवश्यक समझा गया है। बीच बीच में जो विभिन्न मत प्रचलित हैं उनकी भी समीक्षा की गई है। भारतीय आर्यभाषाओं के मध्यकाल पर भी प्रकाश डाला गया है। मध्यकाल की इन भाषाओं का समान नाम प्राकृत है। उनकी विशेषताओं पर भी संक्षेप में संकेत किया गया है और अंत में अपभ्रंश भाषा की मुख्य मुख्य विशेषताओं का उल्लेख है।

तीसरे अध्याय मे अपभ्रंश के विभिन्न रूपों का वर्णन किया गया है। अपभ्रंश मध्यकाल मे शताब्दियों तक उत्तर मे मुलतान से दक्षिण में मान्यखेट तक, तथा पश्चिम में गुजरात से पूरब में बिहार बंगाल तक समझी जानेवाली कथ्य भाषा रही है। धर्मप्रचारकों ने इसी के द्वारा अपना प्रचार किया है। पूरब मे सिद्धों की वाणी इसी के द्वारा जनता के समक्ष आई है। पश्चिम मे जैन मुनियों का धर्म प्रचार अपभ्रंश द्वारा हुआ है। मध्यदेश मे भी इसका प्रचार रहा है ऐसा प्रमाण अब उपलब्ध होता है। अतः अपभ्रंश के विभिन्न क्षेत्रीय भेदों तथा प्राकृत वैयाकरणों द्वारा वर्णित भेदों पर विचार किया गया है। अपभ्रंश काल की राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक पृष्ठभूमि का संक्षेप मे वर्णन तथा प्राप्त साहित्य का वर्गीकरण कर के उसके काव्यात्मक रूप का परिचय उपस्थित किया गया है।

चौथे अध्याय मे भी अपभ्रंश साहित्य के विभिन्न रूपों का परिचय है। मुख्यतः विभिन्न शैलियों तथा प्रवृत्तियों के विकास पर अधिक ध्यान दिया गया है।

पाँचवे अध्याय मे गत अध्यायों मे वर्णित साहित्य पर

एक विहंगम दृष्टि डाली गई है और अपभ्रंश द्वारा विकसित एवं प्रतिपादित काव्यस्वरूपों, काव्यगत रूढियों पर प्रकाश डाला गया है। अपभ्रंश काव्यचिंतन ने संस्कृत साहित्य द्वारा प्रतिपादित काव्यपरिभाषाओं को तथा उनके स्वरूपों को किस प्रकार परिवर्तित किया है, विकसित किया है, यही इस अध्याय का मुख विषय है। अपभ्रंश द्वारा प्रचलित काव्यरूप पुराण, चरिउ, कहा, रास आदि शब्दों की व्याख्या की गई है और इनमें प्राप्त विचारधारा का विश्लेषण किया गया है।

छठे अध्याय मे अपभ्रंश के परवर्ती रूप को हिंदी के आदि रूप में देखने का प्रयास है तथा सोदाहरण सिद्ध किया गया है कि हिंदी अपभ्रंश का ही विकसित रूप है। यही अपने परवर्ती रूप मे अवहट्ठ कहाती थी। यह अवहट्ठ केवल अपभ्रंश का नवीन नाम है। अतः हिंदी के काव्यात्मक रूप एवं भाषासंबंधी दोनों ही पक्षो पर विचार किए गए हैं।

सातवें अध्याय मे 'अवहट्ठ' मे कविता करनेवाले पूरब के कवि विद्यापति के विषय मे विचार उपस्थित किए गए है। विद्यापति के जीवनकाल में अपभ्रंश का प्रचार साहित्य से भी उठ गया था और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का स्वरूप मुखर हो उठा था। ये संक्रांतिकाल के अंतिम कवि हैं। इनके बाद का साहित्य आधुनिक भाषाओं की भाव-भंगिमा से युक्त है। उनकी पदावली की भाषा एक ओर हिंदी से साम्य रखती है तो दूसरी ओर बंगला से। यद्यपि निस्संदेह वह मैथिली का आदि रूप है। अत. इस विद्वान् की कविता एवं रचनाओं का संक्षिप्त वर्णनकर मूल स्रोतो पर प्रकाश डाला गया है। इस विषय मे हमारा दृष्टिकोण यह है

कि मुक्तक कविता का मूल स्रोत तत्कालीन सामाजिक तथा राजनीतिक वातावरण होता है। यद्यपि कवि अपने पूर्ववर्ती साहित्य से समुचित मात्रा में प्रेरणा ग्रहण करता है।

आठवें अध्याय में अवहट्ठ और पदावली की भाषा की सामान्य विशेषताओं का वर्णन किया गया है।

नवें अध्याय मे विद्यापति के काव्यतत्व पर प्रकाश डाला गया है और संक्षेप मे उनसे संबंधित विभिन्न प्रश्नों की भी समीक्षा की गई है। उनके शृंगारतत्व पर विशेप ध्यान दिया गया है क्योंकि हम उन्हें शुद्ध शृंगारी कवि ही मान सके हैं जिन्होंने कामशास्त्र संबंधो सिद्धांतों की साहित्यक अभिव्यक्ति की है। विद्यापति के अन्य पक्ष पर पर्याप्त लिखा जा चुका है। अतः हमने उन विषयों का विस्तार करना अनावश्यक समझा है।

संक्षेप मे समस्त निवंध अपभ्रंश भाषा और साहित्य के उद्भव और विकास की कहानी है, और उसकी स्वच्छंद प्रवृत्ति को देखने का मौलिक प्रयास है जिसका निष्कर्ष है कि प्राकृत और अपभ्रंश की प्रेरणा द्वारा ही विद्यापति शृंगारात्मक पदों की रचना कर सके हैं जिसमें परकीया तत्व की प्रतिष्ठा हुई और ऐंद्रिक वासना को अपूर्व स्थान मिला। यह वर्णन इतना भावात्मक था कि वैष्णव साहित्य ने इसे स्वीकार कर लिया। राधा और कृष्ण जो केवल नायक और नायिका थे। आगे चलकर देवत्व पदवी को प्राप्त हुए और वंगाल में राधा की उपासना का प्रचार हो गया।

मेरा परम सौभाग्य है कि मेरा यह शोधकार्य आचार्य-प्रवर प० कृष्णानंद पंत जी की देखरेख में पूरा हुआ है। आपके तत्वावधान मे रहकर ही इस कार्य की समस्त रूपरेखा रची गई है। आपने मेरे अध्ययन का मार्गनिर्देश ही नही

किया वरन् सामग्री जुटाने में तथा समय समय पर विचार, परामर्श तथा प्रेरणा देकर मेरी अपूर्व सहायता की है। आपके सत्परामर्श एवं शुभ आशीर्वाद के फलस्वरूप ही यह प्रबंध पूर्ण हो सका है। अतः मैं उनका हृदय से आभार प्रदर्शन करता हूँ।

आपके अतिरिक्त जिन विद्वानों ने इस शोध कार्य में मेरी सहायता की है उनमें सबसे प्रमुख स्थान डा० हरवंशलाल शर्मा, एम० ए०, डी० लिट०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष हिंदी एवं संस्कृत विभाग, अलीगढ़ विश्वविद्यालय, का है। उन्होंने जिस सहृदयता एवं सौजन्य से मेरे इस कार्य को प्रगति देने में प्रेरणा दी है, साथ जा जाकर सामग्री का संचयन कराया है, उसका वर्णन करना मेरी सामर्थ्य से बाहर है। अतः आपके प्रति सस्नेह कृतज्ञता प्रकट करना मैं अपना परम धर्म समझता हूँ।

सामग्री संकलन के लिये मुझे काशी विश्वविद्यालय; गोयनका पुस्तकालय, ललिताघाट काशी; नागरीप्रचारिणी सभा, काशी; भंडारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना; अलीगढ़ विश्वविद्यालय; मेरठ कालेज पुस्तकालय; जैन एकेडेमी के संचालक श्रीयुत कामता प्रसाद जैन का निजी संग्रहालय, अलीगंज तथा जयपुर एवं नागरीप्रचारिणी सभा आगरा, नारायण समाचार पत्रालय खुरजा तथा स्थानीय जैन मंदिर तथा जैन पुस्तकालय आदि आदि स्थानों पर जाना पड़ा। इन पुस्तकालयों के संचालकों, कार्यकर्ताओं तथा कर्मचारियों ने जिस उदारता एवं सौजन्य का परिचय दिया उसको प्रकट करने के लिये मेरे पास शब्द नहीं हैं। उनकी वह कार्यतत्परता मेरे लिये सदैव स्मरणीय वस्तु रहेगी। मैं हृदय से उनका आभारी हूँ। विशेषकर जैन एकेडेमी के संचालक, सुलेखक तथा पत्रकार

कामनाप्रसाद जैन जी का। आपकी कृपा से मुझे उज्जैन का जैनमदिर प्रवेशसुगम हो गया और शास्त्रों को देखने की सुविधा प्राप्त हो सकी।

मेरे धन्यवाद के पात्र मेरे सहयोगी, मित्र तथा विद्यार्थी भी हैं जिन्होंने अपना कार्य छोड़कर भी मेरी सहायता की है और उन्ही की सहायता के फलस्वरूप यह कार्य आज पूर्ण हो रहा है।

अंत में मैं उन सभी महानुभावों, इष्ट मित्रों, लेखकों तथा कवियों को धन्यवाद देता हूँ जिनकी प्रत्यक्ष एवं परोक्ष सहायता मुझे सदैव प्राप्त होती रही है तथा जिनके शुभ आशीर्वाद एवं शुभ कामनाओं से मेरा यह शोधकार्य संपन्न हुआ है।

———

अपभ्रंश काव्यपरंपरा और विद्यापति

अध्याय १

अपभ्रंश शब्द की निरुक्ति और उसका विभिन्न अर्थों में प्रयोग

आजकल अपभ्रंश शब्द भाषाविशेष के अर्थ में ही प्रायः प्रयुक्त होता है, परंतु प्राचीन संस्कृत ग्रंथों तथा कोशों को देखने से ज्ञात होता है कि यह शब्द भाषा के अर्थ मे ईसा की कुछ शताब्दियों पश्चात् ही प्रयोग में आया होगा। संस्कृत भाषा का धातुवैचित्र्य तथा शब्दनिर्माण में सुगमता प्रसिद्ध ही है। अतः कहा भी है 'धातूनामनेकार्थत्वम्'। अपभ्रंश शब्द शुद्ध संस्कृत भाषा का है जिसका अर्थ कोशों में प्रायः एक सा ही किया गया है। कुछ प्रसिद्ध कोशों की उद्धरणी नीचे दी जाती है —

हिंदी शब्दसागर—अपभ्रंश– संज्ञा पुं० [सं०] नीचे गिरना, पतन, बिगाड़, शब्द का विकृत रूप, प्राकृत भाषाओं का परवर्ती रूप जिससे उत्तर भारत की आधुनिक आर्यभाषाओ की उत्पत्ति मानी जाती है। वि० विगड़ा हुआ।

अपभ्रष्ट—वि० [सं०] बिगड़ा हुआ, गिरा हुआ।

बृहत् हिंदी कोश —अपभ्रंश—पु० [सं०] नीचे गिरना, पतन; बिगाड़; शब्द का विकृत रूप; प्राकृत भाषाओं का परवर्ती रूप जिनसे उत्तर भारत की आधुनिक भाषाओं की उत्पत्ति मानी जाती है। वि० विगड़ा हुआ।

हिंदी विश्वकोश– अपभ्रंश [सं० पुं०] अपभ्रंश-घञ्। गिराव, गलाव। [२] भाषा विशेष। भाषा देखो। [३] विगड़ा हुआ।

पद्मकोश – अपभ्रंश [न] अपभ्रंश-घञ्। गिरना। अपभ्रश्यते अधर्महेतुतता पत्यतेयऽनेन, करणे घञ्

जिसके द्वारा गिरा जाता है। साधु शब्द से भिन्न अपशब्द यज्ञादि मे जिसके कहने से पाप होता है।

वाचस्पत्य– संस्कृताभिधान, (जिल्द १)। अपभ्रंश – प्र० अप+भ्रंश् – घञ्। अप क्षरणे, अधःपतने। अत्यारुढ़िर्भवति महतामप्यपभ्रंशनिष्ठा। (शाकुं०)। अपभ्रंशति स्वभावात् प्रच्यवते। अप+भ्रश – कर्तरि अच्। साधुशब्दस्य शक्तिवैफल्य प्रयुक्तान्यथोच्चारणयुक्ते अपशब्दे। 'त एव शक्तिवैकल्यप्रमादा-लसतादिभिः अन्यथोऽच्चरिताः शब्दा अपशब्दा इतीरिता'। इति हरिणा साधुशब्दनामेवान्यथोच्चारणेऽपशब्दतोक्तेः तस्य स्वभावतो भ्रंशात् तथात्वम्। अनपभ्रंशतानादिर्यदादभ्युद-योग्येति।–हरिः। 'आभीरादिं गिरः काव्येष्वपभ्रंश गिरः स्मृताः। शास्त्रेषु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम्।'––दंडी।

अपशब्द--प्र० अप वैपरीत्ये प्रा० त०। शक्तिवैकल्यप्रमा-दादिना साधुशब्दस्यान्यथोच्चारणसाध्ये अपभ्रंश शब्दे, त एव शक्तिवैकल्यप्रमादालसतादिभिः।

अन्यथोच्चरिताः शब्दा अप शब्द इतीरिताः इति। हरिः 'म्लेच्छाह्वानाभयदपशब्दः' इति।

युगलकोश—(पं० जी० डी० व्यास)। अपभ्रंश—प्र० अशुद्ध, अपभ्रष्ट, व्याकरणरीत्यनुसार न हो वह शब्द अर्थात् विगड़ा हुआ, अपशब्द।

अपभ्रंशस्तु पतने भाषाभेदापशब्दयोः।
आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इतिस्मृताः।
शास्त्रेपु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम्॥

––काव्यादर्श १–३६

वैजयंती कोश—

अपभ्रंशोपशब्दे स्यात्, भाषाभेदप्रपातयोः ॥
अपदेशस्तु लक्षेस्यान्निमित्तव्याजयोरपि ॥७॥
शेषकांडे पुंल्लिगाध्यायः, पृष्ठ २६५।

अंग्रेजी नोट्स—(पृ० ३२३ में) बैडली प्रीनाउंस्ड वर्ड, अनग्रे-मैटिकल लैंग्वेज़, फोलिंग।

नानार्थ रतनमाला : इरु गुप्त

अपभ्रंशो निपतने भाषाभेदापशब्दयोः ॥

अंग्रेजी नोट्स—फीलिंग डाउन ए प्राकृत लैंग्वेज, करेपटेड वर्ड।

संस्कृत कोश—आप्टे।

अपभ्रंश—(अ) फीलिंग डाउन और अवे, ए फाल, अत्यारूढि-र्भवति महतामप्यपभ्रंशनिष्ठा। शकुं० ४। ए करेपटेड वर्ड, करेपशन (हैन्स) ऐन इनकरेक्ट वर्ड वेदर फार्म्ड अगेन्स्ट दी रूलस आफ ग्रामर और यूज्ड इन सेन्स नौट स्ट्रिक्टली संस्कृत, सी अपशब्द।३। ए करेप्ट लैंग्वेज, वन आफ दी लोएस्ट फार्म्स आफ प्राकृत डाइलैक्ट यूज्ड वाई काउहर्ड्स एटसेक्ट्रा (इन काव्याज्) इन शास्त्राज् एनी लैंग्वेज अदर दैन संस्कृत।

आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः।
शास्त्रेषु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम् ॥
—काव्य० १

अपशब्द—१. ए बैड और अनग्रामेटिकल वर्ड : इन फार्म आर मीनिंगः त एव शक्ति वैकल्यप्रमादालसतादिभिः अन्यथोच्चारिता शब्दा अपशब्दा इतीरिताः ॥ अपशब्द शतं माघे सुभाषित २, वलगर स्पीच, ३. अनग्रामेटिकल लैंग्वेज, ४. ए रिप्रोचफुल वर्ड आफेनसिव एक्सप्रेशन, सेन्सर।

संस्कृत कोश : मौनियर विलियम ।

अपभ्रंश—फालिंग डाउन आर अवे, ए बैड फाल, ए करेप्टेड वर्ड, अनग्रेमिटिकल लैंग्वेज, दी मोस्ट करेप्ट आफ प्राकृत डाइलेक्ट्स । दी स्पेलिंग आफ अपभ्रंश इज इन करेक्ट एकोर्डिंग टू सम ग्रेमेरियन्स ।

शब्द कल्पद्रुम

अपभ्रंश—प्र० : अप+ भ्रंस्+घञ् : ग्राम्य भाषा ।

अपभाषा—तत् पर्यायः । अपशब्द :२ । इत्यमरः ॥ पतनम् । यथा । अत्यारुढिर्भवति महतामप्यपभ्रंशनिष्ठा । इत्यभिज्ञान शाकुन्तलम् ॥ अधःपतनम् । ध्वंसः । अधोगतिः ।

शब्दार्थ चिंतामणि : प्रथम भाग :

अपभ्रंश—पु० : अपशब्दे । अशास्त्र शब्दे । असंस्कृत शब्दे । ग्राम्य भाषायाम् । यथाह दण्डी ।

आभीरादिगिर : काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः ।
शास्त्रेषु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम् ॥ इति ॥

संस्कृतादपभ्रंश्यति । भ्रंशुः अधःपतने । पचाद्यच् । पतने यथा । अत्यारूढिर्भवति महतामप्यपभ्रंशनिष्ठा । इति अभिज्ञान शाकुंतलम् ।

विभिन्न कोशों मे 'अपभ्रंश' शब्द का अर्थ देखने तथा उसकी निरुक्ति पर विचार करने से ज्ञात होता है कि यह भ्रंशु धातु मे 'अप' उपसर्ग के योग से बनता है। 'अप' उपसर्ग और भ्रंशु धातु दोनों अधःपतन, गिरना, विकृत होना आदि के अर्थ मे प्रयुक्त होते हैं ।

---

१. भृशु, भ्रशु अध.पतन इति दिवादौ ।
भृशु - भ्रंशु—अधःपतने :–सिद्धांत कौमदी, तत्वबोधिनी, निर्णय-सागर प्रेस, पृ० १६४, २१६ ।

प्रायः साधारण जन प्रमाद अथवा आलस्यवश कुछ तत्सम शब्दों को उनके शुद्ध रूप में उच्चारण नहीं कर सकते थे। अतः उनका उच्चारण कुछ भिन्न हो जाता था और उच्चारण के अनुसार रूप में भी भिन्नता आ जाती थी। शिष्ट मान्यता के अनुसार कभी कभी इनका प्रयोग भी शुद्ध नहीं होता था। इन्ही कारणों से ऐसे शब्दों को अपभ्रंश अथवा अपशब्द के नाम से पुकारा जाता था। कालांतर में 'अपभ्रंश' शब्द एक भाषाविशेष का वाचक बन गया। इस भाषा को कुछ कोश-लेखकों ने प्राकृत का ही एक रूप माना है[1] और कुछ ने भाषा का एक भेद[2]। कोशों ने उस समय प्रचलित एवं उपलब्ध साहित्य तथा व्याकरण ग्रंथों को अपने कथन का आधार माना है। उनका मत प्रयोग के आधार पर है। अतः शब्द के विभिन्न अर्थ, प्रयोग तथा कालक्रमानुसार अर्थविपर्यय को स्पष्ट करने के लिये यह आवश्यक है कि शब्द को उन्हीं स्थानों पर खोजा जाय जहाँ वह प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार काव्य, शास्त्र (व्याकरण शास्त्र) तथा आलंकारिकों की उपलब्ध उक्तियों का संग्रह करना तथा उनपर विवेकपूर्ण दृष्टि से विचार करना ही उचित जान पड़ता है।

अपभ्रंश का उल्लेख सर्वप्रथम हमे महर्षि पतंजलि के महाभाष्य में प्राप्त होता है[3]। महर्षि पतंजलि का समय डा० कीथ के अनुसार ईसा से १५० वर्ष पूर्व है[4]। महाभाष्यकार ने आचार्य व्याडि का नाम लिया है। आचार्य व्याडि के प्रसिद्ध

---

१. वन आफ दी लोएट फार्म्स आफ प्राकृत : आप्टे।

२. भाषाभेद प्रपातयोः, वैजती।

३. महाभाष्य, निर्णय सागर प्रेस।

४. कीथ हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पेज ५।

ग्रंथ का नाम 'संग्रह' सुना जाता है परंतु इसके विषय में अभी निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता है[1]। वाक्यपदीयम् के रचयिता भूर्तहरि ने इन आचार्य व्याडि का मत इस प्रकार दिया है—

शब्दसंस्कार हीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते।
तमपभ्रंशमिच्छन्ति, विशिष्टार्थ निवेशिनम् ॥

वार्तिक—शब्द प्रकृतिरपभ्रंशः इति संग्रहकारो नाप्रकृतिरपभ्रंशः स्वतंत्रः कश्चिद्विद्यते। सर्वस्यैव हि साधुरेवापभ्रंशस्य प्रकृतिः। प्रसिद्धेस्तु रुढितामापद्यमाना स्वातन्त्र्यमेव केचिदपभ्रंशा लभन्ते। तत्र गौरिति प्रयोक्तव्ये अशक्त्या प्रमादादिभिर्वा गाव्यादयस्तत्प्रकृतयोपभ्रंशाः प्रयुज्यन्ते[2] ॥

उपर्युक्त अवतरण से यह स्पष्ट है कि 'संग्रहकार' आचार्य व्याडि भी 'अपभ्रंश' शब्द से परिचित थे। भर्तहरि ने 'वाक्यपदीयम्' की वृत्ति में शब्दप्रकृति पर विचार करते हुए लिखा है कि 'संग्रहकार' की सम्मति में अपभ्रंश की प्रकृति संस्कृत है। परंतु अभी तक 'व्याडि का कोई ग्रंथ प्रकाशित नही हुआ और न उसकी उपलब्धि का समाचार मिला। अतः इस परोक्ष प्रमाण के आधार पर अपभ्रंश शब्द का इतिहास इतना पहिले दिखाना युक्तिसगत नहीं प्रतीत होता[3]। कारण आचार्य व्याडि तथा उनका ग्रंथ 'संग्रह' केवल अनुमान का विषय है[4]।

---

1 एमंग अदर्स पतंजलि मैन्शन व्याडि आफ हूज वर्क—संग्रह—मच हैज वीन कनजैकचर्ड बट वैरी लिटिल नोन। पेज ४२१ : कीथ हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर।

२. वाक्यपदीयम्, प्रथम कांड, कारिका १४८,: लाहौर संस्करण।

३. नमवरसिंह—हिंदी के विकास में अपभ्रश का योग, पृष्ट ३।

४. कीथ-हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पेज ४१६

अतः अब हमें महाभाष्यकार के कथन की ओर ध्यान देना चाहिए। भाष्यकार लिखते हैं—

'भूयांसोह्यपशब्दाः, अल्पीयांसः शब्दाः। एकैकस्य शब्दस्य बहवोपभ्रंशाः। तद्यथा। गौरित्यस्य—गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिकेत्येवमादयोपभ्रंशा[1]।

अर्थात् अपशब्द बहुत से हैं और शब्द थोड़े हैं। एक एक शब्द के बहुत से अपभ्रंश पाए जाते हैं, जैसे गौ शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि अपभ्रंश हैं। यहाँ अपभ्रंश शब्द से पतंजलि उन शब्दों को ग्रहण करते हैं जो उनके समय में संस्कृत के बदले स्थान स्थान पर पाए जाते थे[2]। उनके अनुसार गौः जैसे शब्द हैं अथवा साधु शब्द है, और लोक में इसके गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि जो विविध रूपांतर मिलते हैं, वे अपशब्द हैं अथवा असाधु शब्द हैं।

महाभाष्यकार के बाद हम देखते है कि व्याकरण में अपभ्रंश शब्द का यह अर्थ रूढ़ हो गया। यही नही वैयाकरणों ने प्रायः 'गौ' वाले उदाहरण भी दुहराए हैं। दंडी (७वी शती ई०) ने इसी परंपरा की ओर संकेत करते हुए कहा है कि शास्त्र में संस्कृत से इतर शब्द को अपभ्रंश कहा जाता है[3]। दंडी के इस कथन की पुष्टि अन्य वैयाकरणों द्वारा होती है। भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीयम् मे संस्कारहीन शब्दों को अपभ्रंश संज्ञा दी जाने का उल्लेख किया है[4]। समय समय पर

---

१. महाभाष्य, निर्णय सागर प्रेस।

२. डा० श्यामसुंदर दास, हिंदी भाषा और साहित्य, पृ० १५।

३. दंडी—काव्यादर्श १।३६

४. भर्तृहरि—वाक्यपदीयम्, कांड १, १४८। हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृष्ठ ३ की पाद टिप्पणी से उद्धृत।

वैयाकरण लोग अपने मत का इसी प्रकार संकेत करते रहे हैं। यथा महाभाष्य के टीकाकार कैयट जिनका समय १०वीं शती के लगभग माना जाता है, उन शब्दों को अपभ्रंश मानते हैं जो लोक में साधु शब्दों के समान अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

पतंजलि ने जिन अपभ्रंश शब्दों का उल्लेख किया है, उनका संबंध किस भाषा से था ? इसका उत्तर हमें प्राकृत वैयाकरणो द्वारा प्राप्त होता है। प्राकृत के सर्वप्रथम व्याकरण-कार चंड ने अपने प्राकृत लक्षण में एक सूत्र दिया है—**गौर्गावि**[1]। इस सूत्र से इतना स्पष्ट अवश्य हो जाता है कि चंड के समय मे प्राकृत में गावी शब्द प्रयुक्त होता था। पाश्चात्य और अन्य भारतीय विद्वानों ने अपनी खोज और तर्कों के आधार पर इस शब्द के पौर्वापर्य के संबंध पर विचार किया है। हम यहाँ कुछ मत तथा अवतरण देना परम आवश्यक समझते हैं।

महर्षि पतंजलि के पश्चात् नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरत मुनि का नाम आता है। आपने अपने नाट्यशास्त्र में प्राकृत पाठ्य का निर्देश करते हुए कहा है—

> एतदेव विपर्यस्तं, संस्कार गुणवर्जितम्।
> विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्तरात्मकम्।
> त्रिविधं तच्च विज्ञेयं नाट्ययोगे समासतः।
> समान शब्दं विभ्रष्टं देशीगतमथापिच॥[2]
>
> —नाट्य०, १७।२।३

---

१. महाभाष्य, निर्णय सागर प्रेस, बंबई।
२. भरत मुनि, नाट्यशास्त्र, चोखंबा सिरीज, बनारस।

अर्थात् प्राकृत तीन प्रकार की होती है—(१) जिसमें संस्कृत के समान शब्दों का प्रयोग हो, (२) जिसमें संस्कृत के विकृत शब्दों का प्रयोग हो तथा (३) जिसमें देशी भाषा के शब्दों का प्रयोग हो। प्राकृत के विभ्रष्ट शब्द वे ही हैं जिन्हें महर्षि पतंजलि ने अपभ्रंश कहा है।

इसी क्रम में आगे नाट्यशास्त्रकार सात भाषाओं का उल्लेख करते हैं—

मागध्यवंतिजा प्राच्या शौरसेन्यर्धमागधी।
वाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्त भाषाः प्रकीर्तिताः॥
—नाट्य० १७-४६

इन सात भाषाओं के साथ कुछ विभाषाओं के नाम है—

शकाराभीर चांडाल शबर द्रमिलांध्रजा.।
(शबराभीर चांडाल सचर द्रविडोद्रजाः)
हीना वनेचराणा च विभाषा नाटके स्मृता.॥
—नाट्य० १७।५०

भरत मुनि का भाषाविषयक ज्ञान बड़ा व्यापक है। उन्होंने केवल नाम निर्देश ही नही किया अपितु विभाषाओं के स्थानों का भी वर्णन किया है तथा साथ साथ उनकी कुछ प्रवृत्तियों की ओर भी संकेत किया है। यथा—

हिमवत्सिंधुसौवीरान् ये जनाः समुपाश्रिताः।
उकारबहुलां तज्ज्ञस्तेषु भाषा प्रयोजयेत्॥

उपर्युक्त अवतरणों से तीन बाते स्पष्ट होती है—(१) यह एक विभाषा का प्रचार बताते है, (२) जिस विभाषा की प्रवृत्ति उकार बहुला थी, (३) यह भाषा हिमवत् प्रदेश तथा सिंधु एवं सौवीर प्रदेश मे प्रचलित थी। उत्तरकालीन भाषावेत्ताओं ने अपभ्रंश को उकारबहुला माना है। अन.

स्पष्ट हो जाता है कि भरत मुनि के समय में अपभ्रंश नाम की कोई भाषा विकसित न थी अथवा कम से कम साहित्य में उसका प्रचार न था। भाषा का नाम तो प्राकृत ही था जो स्थानभेद से अनेक नाम से प्रसिद्ध थी परंतु प्राकृत में बीज रूप से अपभ्रंश वर्तमान थी और वह हिमवत् प्रदेश, सिंधु और सौवीर देश की विभाषा थी।

भरत मुनि के भाषा संबंधी विचारों से एक और बात यह भी स्पष्ट होती है कि उनके समय में साहित्य मे संस्कृत के साथ साथ प्राकृत का प्रयोग भी पर्याप्त रूप में होता था और प्राकृत को ही भाषा कहा जाता था। अभिनवगुप्त ने अपनी विवृति मे भाषा और विभाषा का भेद स्पष्ट किया है—

'भाषा संस्कृतापभ्रंशः, भाषापभ्रंशस्तु विभाषा सा तत्तद्देश एव गह्वरवासिनां प्राकृतवासिनां च, एता एव नाट्ये तु।'[1]

—नाट्य० पृ० ३७६

अर्थात् संस्कृत से विकृत या अपभ्रष्ट प्राकृत का नाम भाषा और प्राकृत से विकृत बोली विभाषा कहाती है।

प्रतीत होता है कि विभाषाओं ने अभी साहित्यिक रूप नही धारण किया था। संभवतः वह लोक मे बोली जाने-वाली बोलियाँ थी जिनका प्रचार अशिक्षित एवं वनवासियों मे था। वे ही लोग इनका व्यवहार करते थे।

काव्यालंकार के रचयिता भामह का समय ईसा की छठी शताब्दी है। वे काव्य के भेद बताते हुए लिखते हैं—

शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा।
सस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा॥

—काव्यालंकार, १।१६।२८

---

१. डा० कोछड़—अपभ्रंश साहित्य, पृ० १ से उद्धृत

यहाँ अपभ्रंश शब्द एक काव्यविशेष के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जो काव्य का एक भेद भी कहा जा सकता है। आगे चलकर कथा तथा आख्यायिका का वर्णन करते हुए उन्होंने पुनः अपभ्रंश शब्द का प्रयोग किया है।

'संस्कृतं संस्कृताचेष्टा कथापभ्रंशभाक् तथा'[1]

ईसा की सातवी शताब्दी में दंडी ने अपना काव्यादर्श लिखा। आपने 'अपभ्रंश' को वाङ्मय के एक भेद के रूप में स्वीकार किया ——

तदेतद्वाङ्मयं भूयः संस्कृतं प्राकृत तथा।
अपभ्रंशश्च मिश्रं चेत्याहुरार्यश्चतुर्विधम्[2] ॥

—काव्यादर्श, ३२

आगे अपने कथन को पुनः स्पष्ट करते हैं—

आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः।
शास्त्रेषु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम् ॥

—काव्यादर्श, ३६

अर्थात् शास्त्रों में (व्याकरण शास्त्र मे) संस्कृत से इतर भाषा अपभ्रंश कही जाती है और काव्यों मे आभीरादि की बोलियाँ। यहाँपर यह ध्यान रखना अनुचित न होगा कि 'अपभ्रंश' शब्द व्याकरण में संस्कृत से इतर भाषा के लिये प्रयुक्त होता था तथा काव्यों में आभीरादि की बोलियों के लिये। आगे चलकर दंडी ने अपभ्रंश में प्रयुक्त होनेवाले छंदों का वर्णन किया है —

ओसरादिरपभ्रंशो नाटकादि तु मिश्रकम्[3] ॥

—काव्यादर्श, ३७

---

१. दंडी काव्यादर्श, पृ० २६ (टीका से)।

२. वही, पृ० ३२ तथा ३५

३. वही, पृ० ३६।

टीकाकार ने किसी अन्य टीका से एक अन्य श्लोक उद्धृत कर इसका अर्थ स्पष्ट किया है —

अपभ्रंशनिवन्धेस्मिन् सर्गाः कडवकाभिधाः।
तथापभ्रंशयोग्यानि छन्दांसि विविधानि च ॥ इति।

यह श्लोक स्पष्टतः 'अपभ्रंश' भाषा में साहित्यरचना का उल्लेख करता है परंतु इसका समय निर्धारित नहीं किया जा सकता। दंडी के उपर्युक्त अवतरणों से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि 'अपभ्रंश' शब्द अब एक भाषा का द्योतक हो गया था जिसका कुछ रूप काव्य अथवा साहित्य में गृहीत हो चुका था; परंतु क्या इस भाषा में आभीरादि की भाषा का भी योग था? इसपर हम आगे चलकर विचार करेंगे।

शक संवत् ४०० का एक शिलालेख प्राप्त हुआ है। उससे पता चलता है कि उस समय अपभ्रंश में रचना होती थी। इस लेख में वल्लभी (सौराष्ट्र) के राजा धरसेन द्वितीय ने अपने पिता गुहसेन को संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश तीनों भाषाओं की प्रबंधरचना में चतुर बताया है —

'संस्कृतप्राकृतापभंशभाषात्रयप्रतिबद्ध प्रबंधरचनानिपुणत-रांत.करण'—इत्यादि वलभीराजगुहसेनविशेषणे (इ० ए० १०, २८४)

पर प्रोफेसर व्यूलर इस लेख को प्रामाणिक नहीं मानते।

विक्रमी संवत् ८३५ मे जैन लेखक उद्योतन सूरि हुए हैं। भाषा की दृष्टि से उनकी पुस्तक कुवलयमाला कथा अत्यंत उपयोगी ग्रंथ है। उन्होने संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश को साहित्यिक भाषा स्वीकार किया है। यथा —

---

१. काव्यादर्श, पृ० ३६।

२. अपभ्रंश काव्यत्रयी, पृ० ९६।

आयरिणऊण य चिंतियं णेण –'अरे कथलीए उण भासाए एणं उल्लवियइ केणावि किंपि । हूँ, अरे, सवक्कअं ताव ण होइ, जेण तं असेयपयसमासणिवाउवसग्गविभत्तिलिंगपरिअप्पणा कुवियप्पसंगदुग्गमं दुज्जणहिययं पिव विसमं ।

इमं पुण एरिसं । ता किं पाययं होज्ब । हूँ । तंपि णो जेण तं सकलकलाकलावमालाजलकल्लोलसंकुलं लोयवुत्तंतमहोअहिमहा-पुरिसमहणुग्गयामयणीसंदबिंदुसंदोहं संघडिएक्केक्कमवण्णपयणा-णारूवविरयणासहं सज्जणवयणं पिव सुहसंगयं ।

एयं पुण ण सुट्ठु । ता किं अवहंसं होहिइ । हूँ । तं पि णो जेण सक्कयपाययउभयसुद्धासुद्धपयसमतरंगरंगंतवग्गिरं णवपाउसजलयपवाहपूरवव्वालियगिरिणइसरिसं समविसमं पण-यकुवियपियपणइणिसमुल्लावसरिसं मणोहरं ।

एयं पुण ण सुट्ठु । किं पुण होहिइ त्ति चिंतंतयेण पुणा समाणिअं । अरे अत्थि चउत्थी भासा पेसाया ता पुण इमा होहि त्ति'[1] । (ताडपत्र प्रति—पत्र ५७-५८)

यह सुनकर इसने विचारा—अरे ! यह किस भाषा मे कोई कुछ कह रहा है ? हूँ अरे । यह संस्कृत तो नही हो सकती, क्योंकि वह तो अनेक पद समास निपात उपसर्ग विभक्ति लिंग की परिकल्पना और कुविकल्पों के संग से दुर्गम और दुर्जन हृदय के समान विषम होती है ।

यह इस प्रकार है । तो क्या यह प्राकृत है । हूं ! यह वह भी नही क्योंकि वह भी समस्त कलाओ के कलापों की माला रूपी जल कल्लोल समूहयुक्त लोकवृत्तात महासागर महापुरुषों के मुख से निकले हुए अमृतबिंदु समूह समान संगठित एक एक

---

१. अपभ्रंश पाठावलि, पृष्ठ ८६ । कुवलयमाला कहा, पृ० ७१

पद और नानारूपता को न सहन करने से सज्जन वचन के समान सुख संगत होती है।

यह भी पुनः ठीक नही। तो क्या 'अपभ्रंश' है। हूँ! वह भी नही, क्योंकि वह भी संस्कृत प्राकृत दोनों के शुद्ध अशुद्ध पदों की सम तरंगों से सुंदर नव वर्षा ऋतु के प्रवाहपूर से प्लावित गिरि सरिता के समान सम, विषम और प्रणय में कुपित प्रिय प्रणयिनी के समुल्लास के समान मनोहर होती है।[1]

इसके उपरांत आदि प्रशस्ति मे भी उल्लेख मिलता है—

पाययभासारइया मरहट्ठयदेसिवण्णयणिबद्धा
सुद्धा सयलकहच्चिय तावस जिण सत्थवाहिल्ला ॥
कोऊहलेण कत्थइ परवयणवसेण सक्कयणिबद्धा
किंचि अवब्भंसकया का विय पेसाय भासिल्ला ॥[2]

आ प्रमाणे अपभ्रंश एक विकसित अने संस्कृत अने प्राकृतनी पंक्तिमां बेसवा योग्य भाषा तरीके उद्द्योतन सूरिए गणी छे। आ उपरांत अपभ्रंश दोहा पण आ कथामां स्थले स्थले देखा दे छे।

अर्थात् उपर्युक्त प्रमाण से अपभ्रंश संस्कृत तथा प्राकृत के समान एक विकसित भाषा थी जिसका रूप इसके उपरांत स्थल स्थल पर दोहाओं मे देखा जाता है।

नवी शताब्दी मे रुद्रट अपने 'काव्यालंकार' मे काव्य को गद्य पद्य मे विभक्त करने के अनंतर भाषा के आधार पर उसका छह भाग मे विभाजन करते हैं[3] —

---

१. उपर्युक्त अवतरण में तीनों भाषाओं के विशेषण अथवा उनकी विशेषताएं द्रष्टव्य हैं।

२. अपभ्रंश पाठावलि, पृष्ठ ८७।

३. राजशेखर, काव्यमीमांसा।

भाषाभेदनिमित्तः षोढा भेदोस्य संभवति । २.११
प्राकृत संस्कृत मागध पिचाशभाषाश्च शौरसेनी च ।
षष्ठोत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः ॥ २.१२

काव्यमीमांसाकार राजशेखर का समय भी प्रायः दसवीं शताब्दी माना जाता है। काव्यमीमांसा में अपभ्रंश शब्द कई स्थानों पर उपलब्ध होता है। अपने पूर्ववर्ती अन्य आलंकारिकों की भाँति उन्होंने भी अपभ्रंश की भिन्न साहित्यिक सत्ता को स्वीकार किया है। काव्यपुरुष के शरीर का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं[1] —

शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं, प्राकृतं बाहुः ।
जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम् ॥
—अ० ३, पृ० ६

आगे चलकर भाषाओं के क्षेत्र का भी निर्देश प्राप्त होता है। यथा—

गौडाद्याः संस्कृतेस्थाः परिचितरुचयः प्राकृते लाटदेश्याः
सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च ।
—अ० १०।४८

यह ध्यान रखना चाहिए कि इससे प्रथम भी राजशेखर ने भाषाचतुष्टय मे अपभ्रंश की स्थिति को स्वीकार किया है। यथा —

अन्योपभ्रंशगीर्भिः किमपरमपरो भूत भाषा ।
—अ० १०

इसी प्रकार दशम अध्याय मे आपने अपभ्रंश के काव्य-क्षेत्र का भी वर्णन किया है।

नमि साधु (१०६९ ई०) नामक जैन विद्वान् ने

१. राजशेखर, काव्यमीमांसा ।

काव्यलंकार की टीका लिखी है। आपकी २।१२ की टीका द्रष्टव्य है—

'प्राकृतेति। सकल जगज्जन्तूनां व्याकरणादिभिरनाहित-संस्कारः सहजो वचनव्यापारः प्रकृतिः, तत्र भवं सैव वा प्राकृतम्। 'आरिसवयणे सिद्धं देवाणं अद्धमागहा वाणी' इत्यादिवचनाद् वा प्राक् पूर्वंकृतं प्राकृतं वालमहिलादिसुवोधं सकलभाषानिवंधनभूतं वचनमुच्यते। मेघनिर्मुक्तजलमिवैक-स्वरूपं तदेव विभेदानाप्नोति। अतएव शास्त्रकृता प्राकृत-मादौ निर्दिष्टं तदनु संस्कृतादीनि। पाणिन्यादिव्याकरणोदित-शब्दलक्षणेन संस्करणात् संस्कृतमुच्यते[1]।'

अर्थात् संपूर्ण जगत् के जंतुओं के व्याकरणादि से असंस्कृत स्वाभाविक व्यापार को प्रकृति कहते हैं और प्रकृति से उत्पन्न होनेवाली प्राकृत कहलाती है। 'आरिसवयणे सिद्धं देवाणं अद्धमागहा वाणी' अतः प्राकृत प्राक् (=पहिले) + कृतं (=की गई) भाषा का नाम है जो कि वालक और स्त्रियों के लिये सुवोध और समस्त भाषाओं के गुंफन का कारण कही जाती है। मेघ से गिरे हुए जल की भाँति एकस्वरूपिणी होने पर भी जो देशभेद एवं संस्कार करने से विशेषता प्राप्त करने के कारण 'संस्कृत' आदि विभेद प्राप्त कर लेती है। अतएव शास्त्रकार (रों) ने प्राकृत का पहिले निर्देश किया है और तदनंतर संस्कृत आदि का।

पाणिनि आदि के व्याकरणनियमों से संस्कृत होने के कारण वह संस्कृत कही जाती है और प्राकृत भाषा ही कुछ विशेष लक्षणों के साथ 'मागधी' कहलाने लगती है। वही

---

१. प्राकृत भाषाओ अने साहित्य, पृ० १२

कुछ भेद से पैशाची है। शौरसेनी भी प्राकृत ही है। और प्राकृत ही अपभ्रंश है।

नमि साधु ने 'प्राकृतमेवापभ्रंशः' (प्राकृत ही अपभ्रंश है) कहकर अपने एक विशेष दृष्टिकोण का परिचय दिया है। अपने पूर्वकालिक ग्रंथकारों द्वारा निर्दिष्ट तीन प्रकार की अपभ्रंश—उपनागर, आभीर और ग्राम्या का निर्देश करते हुए वे स्वीकार करते हैं कि अपभ्रंश के इससे भी अधिक भेद हैं। इनकी दृष्टि में अपभ्रंश को जानने का सर्वोत्तम साधन लोक ही है, क्योंकि उस समय तक 'अपभ्रंश' लोकभाषा के रूप में प्रचलित हो गई थी।

नमि साधु ने एक स्थल पर ऐसा उल्लेख किया है—

आभीरीभाषापभ्रंशस्था कथिता क्वचिन्मागध्यामपि दृश्यते।

इससे प्रतीत होता है कि अपभ्रंश का कोई रूप इस काल में मगध तक फैल गया था और उसी की कोई बोली मगध में भी बोली जाती थी[२]।

सरस्वती कंठाभरण के रचयिता भोज का समय संभवतः ईसा की ११वीं शताब्दी के प्रारंभ में माना जाता है[३]। भोज ने वाच्य औचित्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

संस्कृतेनैव कोप्यर्थः प्राकृते नैव चापरः।
शक्यो रचयितुं कश्चिदपभ्रंशेन जायते॥ १०॥
पैशाच्या शौरसेन्यान्यो मागधान्यो निवध्यते।
द्वित्राभिः कोपि भाषाभिः सर्वाभिरपि कश्चन॥ ११॥

---

१. अपभ्रंश साहित्य, डा० कोछड़, पृ० ५
२. वही, पृ० ५।
३. कन्हैयालाल पोद्दार, संस्कृत का इतिहास, भाग १, पृ० १५।

अर्थात्, कुछ अर्थ संस्कृत द्वारा, कुछ प्राकृत, तथा कुछ अपभ्रंश द्वारा ही प्रकाशित किए जा सकते है, कुछ पैशाची में, कुछ शौरसेनी, कुछ मागधी और कुछ सभी भाषाओं द्वारा भली प्रकार व्यक्त हो सकते हैं।

कहाँ कौन सी भाषा अच्छी मानी जाती है, इस विषय मे वे लिखते हैं—

शृण्वंति लटभं लाटाः प्राकृतं संस्कृतद्विषः।
अपभ्रंशेन तुष्यंति स्वेन नान्येन गुर्जराः॥ १३ ॥

संभवतः अपभ्रंश का प्रचार इनके समय में गुजरात में अधिक था। इन्होंने षड्भाषाओं के लिये राजशेखर के बाल रामायण से एक श्लोक दिया है—

गिरः श्रव्या दिव्याः प्रकृतिमधुराः प्राकृतधुरः
सुभव्योऽपभ्रंशः सरसरचनं भूतवचनम्।
विदग्धानामिष्टे मगधमथुरावासिभणितिः
निवद्धा यस्तेषां स इह कविराजो विजयते ॥२६॥

सरस्वती कंठाभरण के द्वितीय परिच्छेद के अनुशीलन से यह स्पष्ट है कि 'अपभंश' को साहित्य में स्थान प्राप्त हो चुका था और उसकी रचना भी सुभव्य मानी जाती थी। श्रेष्ठ कवि होने के लिये अपभ्रंश की रचना से अभिज्ञता रखना आवश्यक एवं वांछनीय था।

इसके अनंतर मम्मट (११वीं शताब्दी), वाग्भट (११४० ई०), विष्णु धर्मोत्तर पुराणकार, हेमचंद्र, नाट्यदर्पण में रामचंद्र तथा गुणचंद्र (१२वी शताब्दी) और काव्यलता-परिमल मे अमरचंद्र (१२५० ई०) सब अपभ्रंश को

---

१. सरस्वती कंठाभरण, पृ० १२२–१२३।

संस्कृत और प्राकृत की कोटि की साहित्यिक भाषा स्वीकार करते हैं[1]।

वाग्भट्ट अपभ्रंश को देशभाषा कहते हैं--

अपभ्रंशस्तु यच्छुद्धं तत्तद्देशेषु भाषितम्।

—वाग्भटालंकार, २.३

विष्णुधर्मोत्तार के कर्ता की दृष्टि में देशभेदों की अनंतता के कारण अपभ्रंश भी अनंत हैं—

अपभ्रष्टं तृतीयं च तदनन्तं नराधिप।
देशभाषा विशेषेण तस्यान्तो नेह विद्यते ॥

—विष्णु०, ३.३

नाट्यदर्पण में अपभ्रंश को देशभाषा कहा गया है। अमरचंद्र षड् भाषाओं में अपभ्रंश की भी गणना करते हैं—

संस्कृतं प्राकृतं चैव शौरसेनी च मागधी।
पैशाचिकी चापभ्रंशं षड्भाषाः परिकीर्तिताः ॥

—काव्यकल्पलतावृत्ति, पृ० ८

उपर्युक्त अवतरणों का हम यही निष्कर्ष निकालते है कि अपभ्रंश शब्द का प्रयोग महाभाष्यकार के समय से है। यह शब्द कालक्रम से एक भाषाविशेष के लिये प्रयुक्त होने लगा। संस्कृत से साथ साथ इस भाषा मे भी रचनाएँ हुईं। जिन शब्दों को प्रारंभ में अपशब्द अथवा अपभ्रष्ट कहा गया है उनका भी प्रयोग लोक में प्रसिद्ध एवं प्रचलित था। अतः शब्द के तुलनात्मक विवेचन एवं बुद्धिसंगत विवेचन करने के लिये हमें संस्कृतेतर भाषाओं के अवतरणों पर भी ध्यान देना परमावश्यक हो जाता है। नीचे कतिपय प्रसिद्ध अवतरण देने का प्रयास किया जाता है।

---

१. डा० कोछड़, अपभ्रंश साहित्य, पृ० ७-६।

सर्वप्रथम महाभाष्यकार ने 'गो' शब्द के लिये जो अपभ्रंश शब्द दिए है उनका प्रयोग जैन धर्मग्रंथों मे मिलता है, यथा[1] —

१. 'खीरीणियाओ गावीओ', 'गोणं वियालं' ।

—आचारांगे (श्रु० २, उ० ४,५)

२. 'गावीए पुण दिराणं तणंपि खीरहणमुवेइ ।'

—आवश्यकचूर्णी

३. गोणीणं संगेल्लं ।

—व्यवहारसूत्रे (उ० ४)

४. वच्छग गोणी खुज्जा०, 'गोणी चंदणकंथा०'

—आव० नि० (गा० १३३, १३६)

५. एत्थं गोणीएँ दिट्ठंतो । अप्पराहुथा उ गोणी । गोणिसरिच्छो उ गुरू ।'

—दशवैकालिकवृत्तौ, पृ० ५ हरिभद्रसूरिणोद्धृतः पाठः ।

प्रसिद्ध कवि स्वयंभू ने पउमचरिउ ग्रंथ अपभ्रंश मे रचा है । स्वयंभू का समय ६७७ ई० से ६६० ई० तक माना जाता है ।[2] कवि ने अपनी कथा को नदी का रूपक दिया है । जिस नदी के दोनों किनारे संस्कृत तथा प्राकृत हैं और इसमे देसी भाषा रूपी सुंदर जल भरा हुआ है[3] ।...इसी प्रकार अपनी विनम्रता

---

१. अपभ्रंश काव्यत्रयी की भूमिका, पृ० ७२ (पाद टिप्पणी)

२. (क) पउमचरिउ की भूमिका, भाग १, पृ० ७

(ख) राहुल—काव्यधारा, पृ० २३—पाद टिप्पणी में राहुल जी ने यह समय ६७६-९५६ के बीच का माना है ।

३. देसीभाषा उभय तडुज्जल कवि दुक्कर, घण सद्द सिलायल ।—४, पउम चरिउ, २-४, पृ० ४

का प्रदर्शन करते हुए उन्होंने 'रड्डावद्ध कव्वु करमि'[1] तथा गामिल्ल भास परिहरणाइ'[2] आदि शब्दों का प्रयोग किया है। पउमचरिउ की चौथी प्रशस्ति से पता चलता है कि इन्होंने अपभ्रंश का व्याकरण लिखा था जो अब अप्राप्य है। स्वयंभू अपभ्रंश के कवि ही नही अपितु इस स्वच्छंद भाषारूपी मातंग को नियमन करनेवाले भी थे।[3]

हिंदी काव्यधारा, पृ० ३३ पर राहुलजी ने 'अवहत्थ' शब्द को भी अपभ्रंश के अर्थ में स्वीकार किया है परंतु वहाँ यह शब्द भाषा के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ। मूल में यह शब्द 'अवहत्थेवि' है जिसका अर्थ है छोड़कर। अर्थात् कवि समस्त खलजनों का परित्यागन कर मगध नगर का वर्णन प्रारंभ करता है। संभवतः राहुलजी ने यह अपभ्रंश शब्द का अर्थ भी दूसरा ही लिया है।[4]

कवि पुष्पदंत अधिक स्पष्ट स्वर में कहते हैं—

सक्कउ पायउ पुणु अवहंसउ वित्तउ उप्पाइउ सपसंसउ।[5]

---

१. ववसाउ तो वि णउ परिहरमि वरि रड्डावद्धु कव्वु करमि॥ २६
पउमचरिउ पृ० ५।

२. छुड्डु होन्तु सुहासिय वयणाइं। गामिल्ल भास परिहरणाइं॥११.
वही, पृ० ५

३. तावच्चिय सच्छंदो भमइ अवब्भंसप (मत्त २) भायगो।
जाव ण सयंभु वायरण अंकुसो (तच्छिरे २.) पडइ। ४
वही, पृ० १।

४. (क) अवहत्थेवि खलयणु णिरवसेसु पहिलउ णिरु वण्णमि
मगहदेसु॥४-१ वही, पृ० ५

(ख) इसका प्रकारांतर राहुलजी ने इस प्रकार किया है—

अपभ्रंशे उ खल जन अनवशेष।
पहिले उ मैं वर्णउ मगह देश।

—काव्यधारा, पृ० ३३

५. पुष्पदंत महापुराण, भाग १, ५-१८-६, पृ० ८६

पुष्पदंत के युग में स्त्रियों के लिये अपभ्रंश का संस्कृत तथा प्राकृत के साथ साथ पढ़ना आवश्यक माना जाता था।

१२वीं शताब्दी में अब्दुल रहमान ने संदेश रासक रचा है। कविपरंपरा के अनुसार जहाँ उन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवियों की प्रशंसा की है वहाँ उन सब कवि पुंगवों को प्रणाम किया है, जिन्होंने अवहट्ट, संस्कृत, प्राकृत तथा पैशाची भाषा को विभूषित किया है[1]। संदेश रासककार यद्यपि प्राकृत भाषा की गीतरचना में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था तब भी उसने साधारण जनता के लिये अपभ्रंश मे काव्यरचना की थी।[2]

११वी शताब्दी के प्रसिद्ध विद्वान् हेमचंद्र का नाम वैयाकरणों में हम पहले उल्लेख कर चुके हैं। वस्तुतः अपभ्रंश भाषा को सुव्यवस्थित रूप देने का श्रेय इन्हीं सज्जन को है। आपने संस्कृत में सूत्रबद्ध अपभ्रंश का व्याकरण लिखा। प्रचलित तथा स्वरचित उदाहरण देकर अपभ्रंश को स्थायित्व प्रदान किया। कुमारपाल चरित महाकाव्य के अष्टम सर्ग की रचना अपभ्रंश मे की गई है।

अभी तक जो अवतरण संगृहीत हैं वे प्रायः गुजरात, मालवा तथा आधुनिक महाराष्ट्र प्रदेश के हैं। स्वभावतः प्रश्न उठता है कि क्या अपभ्रंश पश्चिमी क्षेत्र की भाषा रही है ? महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री, डा० बागची तथा डा० शहीदुल्ला एवं राहुलजी द्वारा संपादित दोहा कोशों ने इस भ्रम को दूर कर दिया है। राहुलजी ने अपनी काव्यधारा मे कुछ

---

१. अवहट्टय सक्कय पाइयमि पेसाइयमि भासाए।
लक्खणछंदाहरणे सुकइत्त भूसियं जेहि ॥ ६ – संदेश रासक, पृ० ३।

२. संदेश रासक, प्रथम प्रक्रम, छंद ४ की टीका, पृ० २।

प्रसिद्ध वाणियाँ दी हैं। इन वाणियों में अपभ्रंश तथा अवहट्ट शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। विद्यापति ने १४वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पुनः इस शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने अपनी कीर्तिलता में कहा है —

सक्कअ वाणी बहुअ न भावइ, पाउअ रस को मम्म न पावइ।
देसिल वअना सब जन मिठ्ठा तं तैसन जम्पओं अवहट्ठा।[1]

ज्योतिरीश्वर ठाकुर कृत वर्णरत्नाकर ईसा की १४वीं सदी का प्रसिद्ध ग्रंथ है। आपने भाटवर्णना के अंतर्गत छह भाषा और ७ उपभाषाओं का उल्लेख किया है, यथा—

पुनु कइसन भाट, संस्कृत, पराकृत, अवहठ, पैशाची, सौरसेनी, मागधी छह भाषाक तत्वज्ञ; शकारी, अभिरी, चांडाली, सावली, द्राविली, औतकलि, विजातीया सातह उपभाषाक कुशलह।[2]

प्राकृत पैंगलम् के टीकाकार वंशीधर (१६वी शताब्दी) ने भी इस शब्द का प्रयोग किया है। उनकी राय से प्राकृत पैंगलम् की भाषा अवहट्ट ही है। वे लिखते हैं—

पढमं भास तरंडो णाओ सो पिंगलो जअइ (१, गाहा)

टीका—प्रथमो भाषातरंडः प्रथम आद्यः भाषा अवहट्ठ भाषा यया भाषया अयं ग्रंथो रचितः सा अवहट्ठ भाषा तस्या इत्यर्थः त··· प्प पारं प्राप्नोति तथा पिंगल प्रणीत छंदःशास्त्रं प्राययावहट्ट भाषारचितैः :तद्ग्रंथ पारं प्राप्नोतीति भावः सो पिंगल णाओ जअइ उत्कर्षेण वर्तते।[3]

---

१. कीर्तिलता : नागरी प्रचारिणी सभा, संस्करण, पृ० ६।
२. ज्योतिरीश्वर, वर्णरत्नाकर, पृ० ४४
३. प्राकृत पैंगलम्, पृ० ३

आधुनिक अन्वेषण तथा शोध प्रबंधों ने भी अपभ्रंश भाषा की उत्पत्ति एवं विकास पर प्रकाश डाला है। इस कार्य मे पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों ने सराहनीय प्रयास किया है। भाषाविज्ञान के अध्ययन ने इसका मार्ग और भी प्रशस्त कर दिया है। भिन्न भिन्न भारतीय आर्य-भाषाओं के व्याकरणों का तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक अध्ययन करने की अभिरुचि तथा मध्यकालीन संस्कृति के प्रति निष्ठा ने विद्वानों का ध्यान अपभ्रंश साहित्य की ओर आकर्षित किया। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् जेकोवी, पिशेल तथा एलस्ड्रोफ एवं होर्न्यूल ने अपभ्रंश एवं प्राकृत ग्रंथों का संपादन किया। डा० वूलनर ने प्राकृत व्याकरण लिखा है। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी तथा डा० सुकुमार सेन ने भाषा-विज्ञान संबंधी मत उपस्थित किए हैं। डा० ग्रियर्सन का लिंग्विस्टिक सर्वे अपने प्रकार का एक अनोखा ग्रंथ है। डा० वागची, डा० शहीदुल्ला खाँ तथा महापंडित राहुल जी ने भी दोहा कोश का पुनः संपादन कर अपभ्रंश विषयक अपनी मान्यता प्रकट की है। डा० हरिवल्लभ भायाणी, श्री जिन विजय मुनि, डा० कात्रे, डा० पी० एल० वैद्य तथा प्रोफेसर मोदी एवं डा० हरिवंश कोछड़ आदि विद्वानों ने भी अपभ्रंश साहित्य को प्रकाश में लाने का सराहनीय प्रयत्न किया है। डा० तगारे की हिस्टोरिकल ग्रामर आफ अपभ्रंश तुलनात्मक दृष्टि से लिखी हुई वड़ी सुंदर पुस्तक है। अतः इन विद्वानों के भी निष्कर्षों का संक्षेप मे उल्लेख करना असंगत न होगा।

डा० विंटरनिट्ज ने अपभ्रंश का प्रयोग ८वीं शताब्दी

ई० में बौद्धों द्वारा माना है।[1] डा० वूलनर का मत अधिक व्यापक है, उससे अपभ्रंश की उत्पत्ति तथा विकास पर भी प्रकाश पड़ता है।[2] जर्मन विद्वान् जेकोवी की धारणा है कि अपभ्रंश एक मिश्रित भाषा है जिसने अपना शब्दकोश प्राकृतों से तथा व्याकरण के नियम देसी भाषाओं से ग्रहण किए हैं।[3] डा० ग्रियर्सन के अनुसार अपभ्रंश देसी बोलियों का वह विकसित रूप था जो प्राकृतों के विकसित होने पर तथा साहित्यिक भाषा का पद प्राप्त करने पर भी अपने को विकसित करती रही।[4] श्रीयुत भंडारकर अपभ्रंश को प्राकृत तथा आधुनिक आर्यभाषाओं के मध्य की कड़ी मानते हैं। अपभ्रंश, पुरानी हिंदी तथा पुरानी गुजराती एवं ब्रजभाषा में अधिक साम्य प्राप्त होता है।[5] डा० हार्नले के अनुसार अपभ्रंश का काल बहुत दूर खिंच जाता है। वह इसे पैशाची की समकालीन स्वीकार करते हैं परंतु इसका कोई लिखित रूप नहीं मिलता। वह कभी तो पाली को ही प्राचीन अपभ्रंश मान लेने के लिये प्रस्तुत हैं।[6]

डा० तगारे[7] के अनुसार भी अपभ्रंश शब्द पाँचवी से

---

१. विंटरनिट्ज, हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर, भाग २, पृ० २२६ (पाद टिप्पणी)

२. डा० वूलनर, इंट्रोडक्शन टू प्राकृत, पृ० ६-७

३. डा० भायाणी द्वारा संदेश रासक की भूमिका, पृ० ४६ के आधार पर।

४. डा० ग्रियर्सन, लिंग्विस्टिक सर्वे, पृ० १२२।

५. आर० जी० भंडारकर, कलक्टेड वर्क्स, वॉलियूम ४, पृ० ३६२।

६. डा० हार्नले, ग्रामर आफ ईस्टर्न हिंदी, भूमिका, पृ० २०।

७. डा० तगारे, हिस्टोरिकल ग्रामर आफ अपभ्रंश, पृ० ४।

१२वीं शताब्दी तक एक साहित्यिक भाषा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस भाषा में पर्याप्त रचना हुई है। स्वयं लेखकगण इसको अपभ्रंश अथवा देसी भाषा या मध्य वर्ग की भाषा स्वीकार करते रहे हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्लजी ने प्राकृत की अंतिम अवस्था अपभ्रंश से हिंदी साहित्य का आविर्भाव माना है।[1] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपभ्रंश की अनेक रचनाओं की चर्चा की है और उनको हिंदी साहित्य के आदिकालीन काव्यरूपों के विकास में सहायक स्वीकार किया है।[2]

डा० कोछड़ लिखते हैं—'अपभ्रंश शब्द का प्रयोग यद्यपि महाभाष्य से भी कुछ शताब्दी पूर्व मिलता है तथापि अपभ्रंश शब्द का व्यवहार भाषा के रूप मे कब से प्रयुक्त होने लगा, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। भाषाशास्त्र के विद्वानों ने अपभ्रश साहित्य का आरंभ ५०० या ६०० ई० से माना है; किंतु अपभ्रंश भाषा के जो लक्षण वैयाकरणों ने निर्दिष्ट किए है उनके कुछ उदाहरण हमें अशोक के शिलालेखों मे मिलते हैं। उदाहरण के लिये संयुक्त र और उकारांत पदों का प्रयोग। इसी प्रकार धम्मपद में भी अनेक शब्दों मे अपभ्रंश रूप दिखाई देते है। ललितविस्तर और महायान संप्रदाय के अन्य बौद्ध ग्रंथों की गाथा संस्कृत में भी अपभ्रंश रूप दृष्टिगोचर होते है। प्रसिद्ध ऐतिहासिक तारानाथ ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि बौद्धों के संमितीय

---

१. रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ३।
२. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य का आदिकाल, पृ० १३।

समुदाय के त्रिपिटक के संस्करण पाली, संस्कृत और प्राकृत के अतिरिक्त अपभ्रंश में भी लिखे गए[१]।'

डा० धीरेंद्र वर्मा के अनुसार भी 'अपभ्रंश' (५००-१००० ई०) भाषा वस्तुतः अपनी मूल प्राकृत की विकसित अवस्था ही है। साहित्य में तो हमें प्राकृत के उस रूप के दर्शन होते हैं जो वैयाकरणों द्वारा माँजी गई थी और नियमों द्वारा बाँध दी गई। वह भाषा अब शिष्ट लोगों की हो गई। इसमें रचनाएँ होने लगी और इसकी मधुरता संस्कृत से अधिक स्वीकृत की गई। गाथा सप्तशतीकार का कहना है कि कामचिंतन (शृंगार का आनंद) प्राकृत के विना लज्जास्पद है[२]। वाक्पतिराज को नवीन अर्थ, हृदयस्पर्शी शब्दयोजना प्राकृत में ही प्राप्त होती हैं[३]। प्राकृत के इस मधुर एवं साहित्यिक रूप के प्राप्त होने पर भी सर्वसाधारण अपनी बोली को बनाए रहे, उसी को वैयाकरणों ने अपभ्रंश की संज्ञा प्रदान की।[४] एक प्रकार से वह प्राकृत भी थी और प्राकृतजननी भी और विकसित होकर अपभ्रंश भाषा कहलाई। डा० उदयनारायण तिवारी भी मध्यभारतीय आर्यभाषाओं के अंतिम सोपान को अपभ्रंश मानते हैं।[५]

---

१. डा० कोछड़, अपभ्रंश साहित्य, पृ० ६।

२. अमय पाइयकव्वं पढिउं सोउ च जे न जाणंति।
कामस्स तत्ततत्तिं से कुणंति ते कह न लज्जन्ति॥
—गाथा सप्तशती, १-२।

३. णवमत्थ दंसणं संनिवेस सिसिराओ बंधरिद्धीओ।
अविरल मिणमो आ भुवण बंधमिह णवर पययम्मि॥
—गउडवहो, श्लोक ९२।

४. बाबूराम सक्सेना, भाषाविज्ञान, पृ० २४०।

५. डा० उदयनारायण तिवारी, हिंदी भाषा का उद्गम और विकास, पृ० १२०।

आधुनिकतम मत डा० हीरालाल जैन का है। आपके मत का सारांश इस प्रकार है। प्राकृत भाषा की अंतिम अवस्था अपभ्रंश है। आधुनिक आर्यभाषाएं हिंदी, गुजराती, मराठी तथा बंगला सब अपभ्रंश से ही विकसित हुई हैं। अपभ्रंश का सर्वप्रथम उल्लेख महाभाष्य में मिलता है जहां वह एक ही शब्द के अनेक अपशब्द होना स्वीकार करता है; यथा गो शब्द के गावी; गोता, गोणी आदि आदि अपभ्रंश शब्द कहे गए हैं। यह स्पष्ट है कि इस समय अपभ्रंश किसी भाषा अथवा बोलीविशेष का वाचक न था, वह केवल संस्कृत से विकृत शब्दों का वाचक था। अतः इस स्वरूप में पाली और प्राकृत भी संभवतः, ईसा से १५० वर्ष पूर्व अपभ्रंश प्रसिद्ध थी।

भरत मुनि के नाट्यशास्त्र मे तत्कालीन भाषाविषयक पर्याप्त सूचना उपलब्ध होती है।

भरत मुनि का भाषाविषयक व्यापक दृष्टिकोण भाषा-विज्ञान की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। अपभ्रंश के अध्ययन के संबंध में हमे जो बात अधिक आकर्षित करती है वह यह है कि हिमालय और सिंध देश में एक उकारबहुला भाषा व्यवहृत होती थी। यह बात सर्वप्रसिद्ध है कि संपूर्ण प्राकृतों मे केवल अपभ्रंश में कर्ता तथा कर्म कारक में पद उकारांत होते हैं, तथा अन्य कई परिस्थितियों मे ओ भी उ हो जाता है। यही कारण है कि अपभ्रंश उकारबहुला हो जाती है। अतः उत्तरपश्चिमी भारत ही अपभ्रंश का मूल स्थान प्रतीत होता है।

परंतु नाट्य शास्त्रकार का जिस अपभ्रंश अथवा विभ्रष्ट भाषा से परिचय था वह केवल एक विभाषा अथवा बोली थी, उसे अभी साहित्यिक भाषा की पदवी नही प्राप्त हुई थी। नाट्य-

शास्त्र की निश्चित तिथि तो अभी पूर्ण रूप से ज्ञात नही परंतु इतना अवश्य निश्चित है कि वह ईसा की प्रथम शताब्दी में रचा गया था। छठी शताब्दी तक अपभ्रंश इतनी विकसित हो गई थी कि आलंकारिक भामह तथा दंडी को इसे काव्य का माध्यम स्वीकार करना पड़ा। इसमे गद्य तथा पद्य दोनों प्रकार की रचनाएँ होती थी।

रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में (नवी शताब्दी) अपभ्रंश को केवल स्थान ही नही दिया अपितु देशानुसार उसके भेद भी स्वीकार किए हैं।[1]

डा० हीरालाल ने सावयधम्म दोहा की भूमिका में इस प्रकार लिखा है—

प्रस्तुत ग्रंथ धार्मिक उपदेश तथा सूक्ति की दृष्टि से तो सुंदर है ही पर उसका विशेष महत्व उसकी भाषा में है। जैन भंडारों की सूचियों में इस भाषा के ग्रंथ प्रायः 'मागधी भाषा' के नाम से दर्ज किए हुए मिलते हैं किंतु यह भाषा न तो मागधी है और न अन्य (शौरसेनी) प्राकृत। किंतु इन प्राकृतों ने प्रचलित देसी भाषाओं के पूर्व जो रूप धारण किया था वही इन ग्रंथों मे पाया जाता है। यह उनका विकसित या अपभ्रष्ट रूप है और इसी से इस भाषा का नाम अपभ्रंश पड़ा।[2]

अतः समस्त विद्वानों के मतों, संस्थापनाओं तथा निष्कर्षों के आधार पर हम निम्नलिखित तथ्य पर पहुंचे है—

(१) अपभ्रंश शब्द का प्रचलन अत्यंत प्राचीन है। यह महाभाष्यकार पतंजलि के समय से पहले भी प्रचलित था।

---

१. हिस्ट्री एंड कलचर आफ इंडिया पीपिल, वौल्यूम ८, पृ० २१२।
२. डा० हीरालाल, सावयधम्मकी भूमिका, पृ० ७।

(२) आरंभ में इसका अर्थ विकृत या बिगड़ा हुआ होता था। संस्कृत शब्दों के विकृत रूपों को अपशब्द, असाधु अथवा अपभ्रंश कहा जाता था। यह शब्द अपाणिनीय शब्दों के लिये प्रयुक्त होने लगा[1]।

(३) ईसा के लगभग १५० वर्ष पूर्व पालि तथा प्रचलित प्राकृत भाषाएँ भी अपभ्रंश कही जाती थी।[2]

(४) भरत मुनि के समय में अपभ्रंश के अर्थ मे विभ्रष्ट शब्द प्रयुक्त होने लगा था। अपभ्रंश एक विभाषा या बोली के लिये प्रयुक्त होने लगा था जो हिमवत् तथा सौवीर देश में बोली जाती थी।

(५) यह बोली जानेवाली विभाषा अथवा बोली उ कार-बहुला थी। अतः इस विभाषा में अपभ्रंश बीज रूप में वर्तमान थी। आभीर, शबर जाति का संयोग भी इस भाषा के प्रचलन में अधिक रहा है। यह जाति बाहर से आई थी और संभवतः संस्कृत के शब्दों के शुद्ध उच्चारण और प्रयोग में असमर्थ रही। विजेता होने पर भी विजित जाति के सांस्कृतिक प्रभाव से अपनी भाषा को तथा उसके शब्द कोश को संस्कृत का सा रूप देने अथवा संस्कृत को अपने साँचे में ढालने के प्रयत्नों का स्वरूप ही यह नया रूप बना जिसे विद्वानों ने विभ्रष्ट माना है।

(६) छठी शताब्दी में तथा उससे अग्रिम यह शब्द एक साहित्यिक विभाषा के लिये प्रयुक्त होने लगा था। साथ ही ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय अपभ्रंश के स्वतंत्र साहित्य का निर्माण होने लगा था। वैयाकरण तथा आलंकारिक सभी

---

१. शब्दशास्त्रविरुद्ध यत्तदसाधु प्रचक्षते।—सरस्वती कंठाभरण, १.७

२ हिस्ट्री एंड कलचर आफ दी इंडियन पीपिल, पृ० २२६।

अपभ्रंश को भाषा के रूप में मानते थे तथा। काव्य के रूप मे भामह और दंडी दक ने भी स्वीकार किया था।

(७) यद्यपि अपभ्रंश भाषा वैयाकरणों तथा आलंकारिकों ने स्वीकार कर ली थी। परंतु जो उन्होंने वर्णन किया है उससे पता चलता है कि यह माध्यम साहित्य में कुछ निम्न वर्ग के पात्रों के लिये अपनाया जाता था। अथवा जो कवि अथवा लेखक अपनी रचना को सर्वसाधारण के लिये अथवा प्रचार के लिये रचते थे वे ही अपभ्रंश को अपनाते थे।

(८) नवीं शताव्दी में अपभ्रंश को आभीर, शवर आदि की भाषा मानना बंद हो गया। यह सर्वसाधारण की भाषा मानी जाने लगी। इस समय तक यह सौराष्ट्र से लेकर मगध तक फैल गई। स्थानभेद से इसमे कुछ विभिन्नता आ गई थी।

(९) जैनसाधुओं तथा सिद्धों ने इस भाषा को अधिक अपनाया।

(१०) ग्यारहवी शताव्दी में यह मुख्य साहित्य की भाषा वन गई। अव संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा पैशाची भाषाचतुष्टय मुख्य भाषा हो गई थी। साहित्य की भाषा हो जाने से इसे व्यापकता मिली। देशभेद से इसके अनेक भेद हो गए। एक भेद का प्रचार मुख्य रूप से मगध मे होने लगा।

(११) अपभ्रंश का काल मुख्य रूप से ५०० या ६०० ई० से १२०० ई० तक कहा जा सकता है, यद्यपि रचना इसमे १७ वीं शताव्दी तक होती रही है।

(१२) लगभग आठवी शताव्दी से अपभ्रंश की महत्ता स्वीकृत हो गई थी। विद्वान् इसकी प्रशंसा करने लगे थे। अतः स्पष्ट है कि जो साहित्य सर्वसाधारण के लिये रचा जाता था उसका माध्यम अपभ्रंश ही होती थी।[1]

---

१. डा० ए० एन० उपाध्ये, इन्ट्रोडक्शन टू परमात्मा प्रकाश, पृ० ८१।

अध्याय २

अपभ्रंश भाषा की उत्पत्ति और विकास

संसार की भाषाओं का इतिहास बड़ा ही मनोरंजक एवं चित्ताकर्षक होता है। भारतीय भाषाओं ने अपने जीवन में अनेक उलटफेर देखे है। मानवीय जीवन की भाँति वे भी विकसित एवं परिवर्तित होती रही हैं। उनका इतिहास भी बड़ा मनोरंजक एवं चित्ताकर्षक होने के साथ साथ विद्वानों में विवाद का विषय है[1]। 'अपभ्रंश' स्पष्टतः अपने विकास-क्रम में मध्यकालीन आर्यभाषा का अंतिम सोपान है, परंतु फिर भी प्राकृत वैयाकरणों ने इसके विषय मे अनेक भ्रांति उत्पन्न कर दी है। अतः अपभ्रंश के विकास को हृदयंगम करने के लिये तथा उसकी पृष्ठभूमि को समझने के लिये भारतीय आर्यभाषाओं के विकास पर एक दृष्टि डालनी होगी।

प्राचीन आर्यभाषा का आदि रूप क्या था, यह कहना बहुत कठिन ही नही अपितु असंभव है। उस समय की न कोई पुस्तक उपलब्ध है और न शिलालेख। यद्यपि यह बात निर्विवाद है कि भाषा का लिखित रूप उसके बोलचाल के रूप से अलग होता है। लेख अथवा पुस्तक तो भाषा को कुछ स्थिरता देने के प्रयास मात्र हैं। भाषा सदैव परिवर्तनशील रहती है। वह स्वच्छंद कलकलनिना-

---

१. (क) डा० एस० सेन, कंपेरेटिव ग्रामर आफ मिडिल इन्डोआर्यन, पृ० ४।

(ख) डा० उदयनारायन तिवारी, हिंदी भाषा का उद्गम और विकास, पृ० १२०।

दिनी सरिता की भाँति सतत प्रवहमान रहती है, जिसके स्वरूप में प्रतिक्षण न जाने कितने परिवर्तन होते है परंतु वे साधारणतः दृष्टिगोचर नही होते और यदि होते हैं तो विस्मृत हो जाते हैं। प्राचीन भाषाओं का बोलचाल का स्वरूप क्या था, यह बड़ा कठिन प्रश्न है। अन्य साधनों की अनुपलब्धि के कारण हमें लिखित साहित्य का ही आधार लेना पड़ता है। अतः उसी आधार पर हम विकास के क्रम एवं स्वरूप को समझने का प्रयत्न करेगे।

संसार की सबसे प्राचीन पुस्तक ऋग्वेद है। यह माना जाता है कि इसको रचना एक समय, स्थान एवं व्यक्ति द्वारा न होकर विभिन्न समयों, स्थानों तथा व्यक्तियों द्वारा हुई है। कारण, किसी मंत्र में कंधार में बसनेवाले आर्यसमूह के राजा दिवोदास का उल्लेख है तो किसी में सिंधु नद के किनारे बसे हुए आर्यों के राजा सुदास का। मंत्रों की भाषा में भी कुछ विभिन्नता है। कारण स्पष्ट है—इतिहास साक्षी है कि भारत मे आर्यों का आगमन ई० से २००० वर्ष से १५०० वर्ष तक रहा। वे एक साथ न आकर धीरे धीरे आते रहे। यहाँ के आदिवासियों को उन्होंने परास्त किया। शनैः शनैः आर्यों ने समस्त आधुनिक पंजाब पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। यहाँ से वे धीरे धीरे पूर्व की ओर बढते चले गए और मध्यदेश, काशी, कौशल, मगध, विदेश, अंग वंग तथा कामरूप भी इनके अधिकार में आ गए। समस्त उत्तरी भारत में आर्यों के राज्य स्थापित हो गए। अनार्य जाति अपना महत्व खोकर इनके अधीन हो गई और कालांतर में इन्ही में घुलमिल गई। ग्रीक राजदूत मेगस्थनीज के समय तर्क आर्य जाति का प्रसार दक्षिण में भी पहुँच गया था।

आर्यों का यह प्रसार केवल राजनीतिक विजय न था। राजनीतिक प्रभाव के साथ साथ उनकी भाषा तथा संस्कृति भी भारत में अपनी धाक जमाने लगी। यह सब होते हुए भी आर्यों का संपर्क विजित- जाति से बढ़ने लगा जो अनिवार्य था। ज्यों ज्यों संपर्क बढ़ता गया तथा आर्यों का प्रसार बढ़ता गया त्यों त्यों भाषा में स्थानीय प्रभाव के कारण अंतर आने लगा। एक ही शब्द विभिन्न प्रकार से उच्चरित होने लगा। कोई 'क्षुद्रक' कहता था तो कोई 'क्षुल्लक'। द्विवचन में युवां, युवं तथा वां का प्रयोग प्राप्त होता है। पश्चात्, पश्चा; युष्मासु, युष्मे; देवासः देवाः आदि आदि अनेक रूपों का प्रचलन वैदिक भाषा में है। संभवतः कुछ लोग विभक्ति न लगा-कर केवल प्रातिपदिक का ही प्रयोग करते थे। यथा, परमे व्योमन्। कुछ शब्दों के छोटे रूप को स्वीकार करने पर कटिबद्ध थे। वे आत्मना का त्मना कहना ही श्रेयस्कर समझते थे। शब्दों के रूपों के साथ साथ ध्वनिपरिवर्तन भी हो रहा था। अक्षर 'ड' भिन्न भिन्न स्थानों में ल, ड़, ढ, ल्ह की भाँति उच्चरित होने लगा था। चतुर्थी के स्थान में षष्ठी, भवति के स्थान मे भवाति, भवत्, भावत् आदि शब्द प्रयोग मे आने लगे थे[1]। ये सब विभिन्न प्रयोग ही हमारी धारणा के आधार हैं।

वैदिक भाषा की इस स्वतंत्रता तथा व्यापकता को महाभाष्यकार ने भी स्वीकार किया है—

व्यत्ययो बहुलम् ३–१–८५। बहुलम्, योगविभाग कर्तव्यः, छंदसि विषये सर्वविषयो भवंति। सुपां व्यत्ययः। तिङां व्यत्ययः। वर्णव्यत्ययः। लिंगव्यत्ययः। पुरुषव्यत्ययः।

---

१. डा० श्यामसुंदर दास, हिंदी भाषा और साहित्य, पृ० ५५।

काल व्यत्ययः। आत्मनेपद व्यत्ययः। परस्मैपद व्यत्ययः इति।

नाम विभक्तियों, क्रिया विभक्तियों, वर्णों, लिंगों, पुरुषो, काल, आत्मनेपद तथा परस्मैपद का व्यत्यय (उल्टा पुल्टा) होता है। सुप् तिङ् उपग्रह लिंग नराणाम्, काल हल अच् स्वर कर्तृ यङां च। व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृद् एषां सोपि च सिध्यति बाहुलकेन[1]।

जब इस प्रकार की विषमता की अभिवृद्धि हुई, एक स्थल के आर्यों को दूसरे स्थल के आर्यों की भाषा को समझने में कठिनाई का अनुभव होने लगा तब विद्वानों का ध्यान भाषा में एकरूपता तथा स्थिरता लाने की ओर गया। लौकिक मोह को छोड़ वे भाषा को शिष्ट एवं व्यापक बनाने में कटिबद्ध हुए। भाषा बोली से कुछ ऊपर उठी और वह साहित्यिक भाषा बनी। इसी भाषा मे संभवतः ऋक् संहिता का निर्माण हुआ। कुछ विद्वानों का मत है कि वैदिक भाषा में विभिन्नता का कारण आर्यों का समय समय पर आगमन है अर्थात् आर्यगण सभी एक साथ भारत में नही आए। विभिन्न दल विभिन्न समय पर भारत मे प्रविष्ट हुए। जो दल आया वह अपने पूर्ववर्ती समुदाय को पूर्व की ओर ढकेलता गया। निस्सदेह जो आर्य पहिले आ गए थे उनकी भाषा मे तथा नवागंतुकों की भाषा मे अंतर होना अत्यंत स्वाभाविक था। यही कारण है कि वैदिक भाषा में अधिक उलटफेर प्राप्त होते हैं।

उपर्युक्त मत यद्यपि तर्कसंगत प्रतीत होता है परंतु उसे

---

१. भिक्षु जगदीश काश्यप, पालि महा व्याकरण, भूमिका, पृ० १३-१४।

सर्वांश मे स्वीकृत नहीं किया जा सकता। ऋग्वेद की भाषा उस समय की साहित्यिक भाषा हो परंतु उसमें कुछ न कुछ अंश तत्कालीन बोलचाल की भाषा का अवश्य है। ऋग्वेद की बोल-चाल की भाषा में विजित जाति के संपर्क से कुछ न कुछ प्रयोग-वैचित्र्य अवश्य प्राप्त हुआ होगा जिसका निश्चय करना अब सुलभ नहीं। आर्य विद्वानों ने अपनी भाषा को स्थायी बनाने का भरसक प्रयत्न किया। व्याकरण एवं शिक्षाग्रंथों का प्रणयन हुआ। भाषा का संस्कार हुआ, उसके पठन पाठन का प्रसार हुआ। आर्याधिष्ठित सभी प्रदेशों में यह बोली समझी जाने लगी। यह संभव हो सकता है कि कुछ लोग उसको बोल न सकते हों, परंतु समझ अवश्य लेते थे। यही भाषा संस्कृत कहलाई, जिसका समय वैदिक संस्कृत के उपरांत आता है अर्थात् वैदिक संस्कृत ने ही लौकिक संस्कृत को जन्म दिया। धीरे धीरे संस्कृत का प्रभाव जम गया और वह देश की प्रधान भाषा बन गई।

कुछ विद्वान् इस मत को नही स्वीकार करते। उनके मता-नुसार संस्कृत कभी बोलचाल की भाषा नही रही, वह केवल ब्राह्मणो की गढ़ी, यज्ञों के अवसर पर बोली जानेवाली, पाधा, पुरोहितों की बोली क्या ठठोली थी। यह धारणा उनकी संभवतः संस्कृत व्याकरण की अपूर्व पूर्णता के कारण ही है परंतु वे भूल जाते हैं कि वैयाकरण शब्दानुशासन करता है वह शब्द पर शासन नही कर सकता। शब्दों पर शासन करनेवाले होते हैं वक्ता, कवि तथा लेखक अथवा जन समुदाय। वैयाकरण वेचारा तो उन्ही के राज्य मे रहकर केवल लेखाजोखा किया करता है। अतः पाणिनि ने जो अपने व्याकरण में खेती बारी, लेन-देन, वाणिज्य व्यापार, चुंगी, कर, पोत, लुहार, सुनार, बढ़ईगीरी, ढोलढमक्का, चिड़िया, चुनमुन, फूलपत्ती, नापजोख आदि आदि

के अतिरिक्त पूर्वी, उत्तरी प्रयोग, मुहाविरे आदि लिखे हैं; कात्यायन तथा पतंजलि ने जो अनेक व्यवहारसाक्षिक, सूक्ष्म विवेचन किए हैं, वे उनके मनसूबे नही, किंतु गंभीर गवेषणा, सारवान् सर्वेक्षण, व्यापक विचार और व्याकरणपटुता के परिणाम हैं जो अभी थोड़े दिन हुए अँगरेजी जैसी समृद्ध भाषा में फलीभूत हुए हैं।[1]

कुछ विद्वान् आदि कवि द्वारा प्रयुक्त वाक्य से भ्रमित हो गए हैं। सुंदरकांड मे हनुमानजी महारानी सीताजी से वार्तालाप करना चाहते हैं, उस समय वे सोचते है —

यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति ॥

—वा० रामायण, सुंदरकांड, ३०।१८

अर्थात् हनुमानजी सोचते हैं कि यदि मैंने द्विजातियों द्वारा प्रयुक्त संस्कृत वाक् का प्रयोग किया तो कदाचित् मुझे रावण समझकर सीता भयभीत हो जायँगी। अतः ऐसी भाषा का व्यवहार होना चाहिए कि सीता को संदेह न हो। मुझे 'मानुषं वाक्यमर्थवत्' भाषा का प्रयोग करना चाहिए। आदि कवि के इस कथन से तीन निष्कर्ष स्पष्टतः प्रतीत होते हैं —

(१) द्विजातियों की अथवा शिष्ट समुदाय की भाषा संस्कृत थी।

(२) साधारण जन की भाषा (मानवी भाषा) कुछ विभिन्न थी।

(३) तीसरी बात यह है कि प्रत्येक भाषा व्यवहारक्षम, शिष्टजन प्रयुक्त होने पर संस्कृत हो सकती है।

---

१. डा० श्यामसुंदरदास–हिंदी भाषा और साहित्य, पृ० ६।

संस्कृत शब्द विशेषणवत् प्रयुक्त है। स्वयं संस्कृत शब्द भी यही बतलाता है कि वह सजाया गया अथवा सँभारा गया है। शब्द की निरुक्ति भी यही अर्थ स्पष्ट करती है। यह अत्यंत स्वाभाविक है कि शिक्षित समुदाय द्वारा भाषा के प्रयोग मे एक विशिष्टता रहती है। परंतु यह विशिष्टता अकाट्य प्रमाण नही कि वह भाषा जनसाधारण की भाषा से सर्वथा पृथक् होती है। यदि द्विजाति तथा ब्राह्मण वर्ग (विशेषकर, पठित समाज) संस्कृत का अधिक शुद्धता एवं शिष्टता से प्रयोग करते थे तो इसका अर्थ यह कदापि नही कि संस्कृत सर्वसाधारण की भाषा नहीं थी। आज भी आक्सफोर्ड तथा केम्ब्रिज के शिक्षित समुदाय में अँगरेजी के उच्चारण में अपनी निजी विशिष्टता रहती है परंतु इसके आधार पर यदि कोई यह मान बैठे कि अंग्रेजी सर्वसाधारण की भाषा नही है तो यह बुद्धि का वैषम्य ही होगा।

श्रीयुत् भंडारकर भी हमारे इस मत से सहमत हैं। वे भी मानते हैं कि संस्कृत एक समय भारत की भाषा थी। उन्हे तो आश्चर्य होता है कि विद्वानों को संस्कृत के विषय मे यह विश्वास ही क्योकर हुआ कि वह सर्वसाधारण की भाषा नही थी। यदि इसका आधार केवल शब्दरूप तथा धातुरूप की विविधता है तो यह अन्य प्राचीन भाषाओं मे भी उपलब्ध होती है। इसके आधार पर योरप की अन्य भाषाओ को इस पद से नही हटाया जाता। यदि व्याकरण की जटिलता और एकरूपता असंभावना उत्पन्न करती है तो यह तर्क भी ठीक नही। संस्कृत मे शब्दचयन, अभिव्यक्ति तथा शब्दरूपों की पर्याप्त स्वतन्त्रता है। कई शब्दों के कई रूप, अपवादस्वरूप प्राप्त होते हैं। एक ही धातु आत्मनेपद तथा परस्मैपद दोनो में प्रयुक्त होती है।

एक ही धातु के एक ही लकार में विभिन्न रूप होते हैं। ये इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि भाषा जनसाधारण की बोलचाल की भाषा थी। वस्तुतः इस भ्रांति का कारण यह है कि संस्कृत व्याकरण संसार में अद्वितीय है। इसके वैयाकरणों ने अपनी भाषा का सम्यक् अध्ययन किया और प्रत्येक पक्ष पर विवेकपूर्ण दृष्टि डाली। उसका परिणाम यह हुआ कि व्याकरण तो सर्वांगपूर्ण बन गया परंतु भाषा का रूप सर्वसाधारण को कठिन प्रतीत होने लगा।[१]

अस्तु सर्वगुण संपन्न संस्कृत बहुत काल तक जन-साधारण की बोलचाल मे व्यवहृत भाषा न रही। आर्यों के प्रसार से भाषा का क्षेत्र भी बढा और स्वाभाविक ध्वनिविकार शनैः शनैः भाषा मे प्रविष्ट होने लगे। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान ने स्पष्ट कर दिया है कि एक ही ध्वनि देशभेद से विभिन्न रूप धारण कर लेती है। जब संस्कृत का प्रचार पंजाब से लेकर कामरूप तक पहुँच गया तथा विजित जाति का संपर्क घनिष्ठ होता गया तब संस्कृत में भी परिवर्तन के लक्षण प्रकट होने लगे। शनैः शनैः संस्कृत शिष्ट समुदाय मात्र की भाषा रह गई और जनसाधारण की बोली पृथक् हो गई। भौगोलिक तथा धार्मिक क्रांति ने इस अंतर को और भी व्यापक तथा शीघ्रगामी कर दिया। विप्लव का केंद्र मगध रहा। बौद्ध और जैन धर्मप्रवर्त्तकों ने अपने अपने उपदेश को सर्वसुलभ बनाने के लिये प्रारंभ मे जनसाधारण की भाषा को चुना। जैन लोगों ने इस भाषा का नाम प्राकृत कहा है। यथा —

(क) सक्कता पागता चेव दुहा भणितिओ आहिया।
सरमंडलंमि गिज्जंते, पसत्था इसिभासिता॥
—स्थानांग सूत्र (आ० समिति प्रकाशन, पृ० ३९४)

---

१. आर० जी० भंडारकर, कलेक्टेड वर्क्स, भाग ४, पृ० ५०८।

(ख) सक्कया पायया चेव भणिइश्रो होंति दोण्णि वा ।
—अनुयोगद्वार सूत्र (श्रा० समिति प्रकाशन, पृ० १३१)

(ग) सक्कय पायय वयणाण विभासा जत्थ जुज्जते जं तु ।
—वृहत्कल्पभाष्य (लि०वृत्ति, पृ० ९)[1]

अर्थात् जैन धर्मशास्त्रों के अनुसार दो प्रकार की भाषा थी, एक संस्कृत और दूसरी प्राकृत । परन्तु ऋषिभाषित होने के कारण प्राकृत को प्रशस्त स्वीकार किया गया है ।

इसी प्रकार बौद्ध ग्रंथ चुल्लवग्ग (५।६१) में एक कथा आती है जिससे स्पष्ट होता है कि 'मागधी भाषा' को अपनाने में बुद्ध का क्या प्रयोजन था । कथा इस प्रकार है—

'अपनी अपनी भाषा में धर्म सीखने की आज्ञा'[2]

'उस समय यमो यमोते कुल नामक ब्राह्मण जाति के सुंदर (कल्याण) वचनवाले, सुंदर वचन बोलनेवाले दो भाई भिक्षु थे । वे जहाँ भगवान् थे वहाँ गए, जाकर भगवान् को अभिवादन कर एक ओर बैठे । एक ओर बैठे उन भिक्षुओं ने भगवान से कहा—

भन्ते, इस समय नाना नाम, गोत्र, जाति, कुल के (पुरुष) प्रव्रजित होते हैं । वह अपनी भापा मे बुद्ध वचन को (कहकर उसे) दूषित करते हैं । अच्छा हो भन्ते, हम बुद्ध वचन को छंद मे वना दे ।

---

१. (क) संस्कृता प्राकृता चैव द्विधा भणिती आख्याते ।
स्वरमंडले गीयमाने प्रशस्ता ऋषिभाषिता ॥
(ख) संस्कृता प्राकृता चैव भणिती भवतो द्वे वा ।
(ग) संस्कृतप्राकृतवचनानां विभाषा यत्र युज्यते यत् तु ।
— अपभ्रंश काव्यत्रयी की भूमिका, पृ० ७४ ।

२. वैदिक छंद में अट्ठ कथा ।— पाली महाव्याकरण भूमिका, पृ० ६ ।

भगवान ने फटकारा—भिक्षुओ, यह अयुक्त है, अनुचित है ··। भिक्षुओ, न यह अप्रसन्नों (=श्रद्धारहितों) को प्रसन्न करने के लिये है, न प्रसन्नों की (श्रद्धा को) बढाने के लिये है। बल्कि भिक्षुओं, यह अप्रसन्नों को और भी अप्रसन्न करने के लिये है, और प्रसन्नों (=श्रद्धालुओं) मे से भी किसी किसी की श्रद्धा को उल्टा करनेवाला है।

फटकार कर धार्मिक कथा कह भगवान ने भिक्षुओ को संबोधित किया—

भिक्षुओ, **अनुमति देता हूँ अपनी भाषा में बुद्धवचन सीखने को।'**

उपर्युक्त अवतरण से स्पष्ट है कि (१) विद्वान् लोग वैदिक भाषा के प्रति श्रद्धा रखते थे, (२) वैदिक भाषा के अतिरिक्त एक अन्य भाषा भी थी जिसका प्रयोग अन्य जन करते थे। संभवतः यह लौकिक संस्कृत के प्रति भी संकेत हो सकता है अथवा अन्य प्रांतीय भाषा के प्रति भी; (३) बुद्ध अपने उपदेशों की महत्ता के प्रतिपादन के लिये भाषा का आवरण नही चाहते थे तथा अंतिम बात यह है कि (४) उस समय भाषाओं मे स्थानीय एव प्रातीय भेद प्रमुख हो उठे थे और जनसाधारण की बोली शिष्ट संप्रदाय की बोली से पृथक् हो गई थी। अतः बुद्ध ने स्पष्ट शब्दों मे बुद्ध वचन को अपनी अपनी भाषा में सीखने की अनुमति प्रदान की है।

स्वतः प्रश्न उठता है कि बुद्ध ने अपने उपदेश किस वाणी में दिए ? संभवतः सर्वजनहिताय उसी वाणी का प्रयोग बुद्ध ने किया होगा जो कम से कम संपूर्ण मध्य देश मे सामान्य रूप से समझी जाती होगी। इसका लिखित रूप हमें प्राचीन बौद्ध ग्रंथो मे तथा अशोक के शिलालेखों मे प्राप्त होता है।

यह भाषा प्राकृत ही होगी जो कभी पहली प्राकृत और बाद को पालि के नाम से प्रसिद्ध हुई प्रतीत होती है। पालि के अनंतर ही भाषाओं ने वह रूप अपनाया जो साहित्यिक प्राकृतों के नाम से अभिहित किया जाता है। इन विविध प्राकृतों के रूप तथा उत्पत्ति के विषय मे कुछ विचार कर लेना युक्ति-संगत ही जँचता है।

प्राकृत किसे कहते हैं? प्राकृत की उत्पत्ति किस प्रकार हुई? पाइअ सद्द महण्णवो (प्राकृत शब्दमहार्णव) नामक कोशकार पं० हरगोविंद त्रिविक्रम चंद्र शेठ अपने कोश की भूमिका में लिखते है—

जो भाषा अति प्राचीन काल में इस देश के आर्य लोगों की कथ्य भाषा (बोलचाल की भाषा) थी, जिस भाषा में भगवान् महावीर और बुद्धदेव ने अपने पवित्र सिद्धांतों का उपदेश दिया था, जिस भाषा को जैन और बौद्ध विद्वानों ने विविधविषयक विपुल साहित्य रचना कर अपनाया है, जिस भाषा में श्रेष्ठ काव्यनिर्माण द्वारा प्रवरसेन, हाल आदि महाकवियों ने अपनी अनुपम प्रतिभा का परिचय दिया है, जिस भाषा के मौलिक साहित्य के आधार पर संस्कृत के अनेक उत्तम ग्रंथों की रचना हुई, संस्कृत के नाटक ग्रंथों में संस्कृतभिन्न जिस भाषा का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है, जिस भाषा से भारतवर्ष की वर्तमान समस्त आर्य भाषाओं की उत्पत्ति हुई और जो भाषाएँ भारत के अनेक प्रदेशों मे आजकल भी बोली जाती हैं, इन सब भाषाओं का साधारण नाम है प्राकृत, क्योंकि ये सब भाषाएँ एक मात्र प्राकृत के ही विभिन्न रूपांतर हैं जो समय और स्थान की भिन्नता के कारण उत्पन्न हुए हैं। इसी से इन भाषाओ के व्यक्तिवाचक नामो के आगे 'प्राकृत' शब्द का

प्रयोग आजतक किया जाता है। जैसे, प्राथमिक प्राकृत, आर्ष या अर्धमागधी प्राकृत, पालि प्राकृत, पैशाची प्राकृत, शौरसेनी प्राकृत, महाराष्ट्री प्राकृत, अपभ्रंश प्राकृत, हिंदी प्राकृत, बंगला प्राकृत आदि[1]।'

श्रीयुत शेठ के कथन से प्राकृत का रूप तथा उसकी व्यापकता स्पष्ट होती है। आप भी प्राकृत का प्रयोग सर्वप्रथम बौद्ध जैन मत के प्रवर्तकों द्वारा स्वीकार करते हैं तथा यह भी मानते हैं कि प्राकृत ही आधुनिक आर्यभाषाओं की जननी है और अपभ्रंश भी प्राकृत का ही एक रूप है; परंतु यह किस प्रकार उत्पन्न हुई इसके लिये हमे अन्य ग्रंथों का सहारा लेना पड़ता है। प्राकृत के वैयाकरण प्रसिद्ध आचार्य हेमचंद्र लिखते हैं—

अथ प्राकृतम्[2] ॥१॥

अथ शब्द आनन्तर्यार्थोधिकारश्च ॥ प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवं तत आगतम् वा प्राकृतम्। संस्कृतानन्तरं प्राकृतमधिक्रियते। संस्कृतानन्तरं च प्राकृतस्यानुशासनं सिद्धसाध्यमान भेद संस्कृतयोनेरेव तस्य लक्षणं न देशस्य इति ज्ञापनार्थम्।

अन्य विद्वानों ने इस शब्द की निरुक्ति इस प्रकार की है--

प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवं प्राकृतमुच्यते[3] ॥

प्रकृतिः संस्कृतम् तत्र भवत्वात् प्राकृतं स्मृतं[4]।

---

१ हरगोविंद त्रिविकमचद्र शेठ–पाइअसद्द महण्णवो, उपोद्घात, पृ॰ १।

२. हेमचंद्र, शब्दानुशासन, आठवाँ अध्याय, प्रथम सूत्र।

३. मार्कंडेय, प्राकृत सर्वस्व।

४ प्राकृतचंद्रिका, पाइअ सद्द महण्णवो की भूमिका से उद्धृत, १९८।

प्रकृतेः संस्कृतायास्तु विवृतिः प्राकृती मता[१]।
प्राकृतस्य तु सर्वमेव संस्कृतं योनिः[२]।

इन सब अवतरणों का एकमात्र अर्थ यही है कि प्राकृत की उत्पत्ति संस्कृत से हुई क्योंकि 'प्राकृत' शब्द की उत्पत्ति 'प्रकृति' से है और प्रकृति का अर्थ है संस्कृत।

प्राकृत शब्द की दूसरी निरुक्ति इस प्रकार है—

प्राकृत—प्र=प्रकृष्ट+अकृतम्=अकार्यम्; जिसके अकार्य प्रकृष्ट हों अर्थात् नीच। (२) प्रकृति से उत्पन्न प्राकृत—स्वाभाविक। अथवा प्रकृत्या—स्वभावेन सिद्ध प्राकृतम् अथवा प्रकृतीनाम् साधारणजनानामिदम् प्राकृतम्[३]।

इस निरुक्ति से पश्चिमी विद्वान् सहमत नहीं। अध्यापक वेवर का कहना है कि संस्कृत भाषा समस्त आर्य जाति की बोलचाल की भाषा नहीं हो सकती। यह केवल विद्वानों की भाषा है। वैदिक भाषा से ही एक ओर सुघटित और सुप्रणालीवद्ध होकर संस्कृत भाषा की उत्पत्ति हुई और दूसरी ओर मानव के प्रकृतिसिद्ध तथा अनियमित वेग से प्राकृत भाषा का चलन है। प्राचीन वैदिक भाषा ही क्रमशः भ्रष्ट होकर जनसाधारण की प्राकृत भाषा हो गई है। फिर वही वैदिक भाषा वैयाकरणों के हाथ से सुघटित और पंडितों के हाथ से मार्जित होकर संस्कृत रूप में परिणत हुई। प्राकृत भाषा का अनियमित रूप संस्कृत भाषा में नहीं, किंतु वैदिक भाषा मे पाया जाता है। जैसे, कुट=कृत (ऋक् १।५६।४), काट=कर्त, यावत्सः, यावचः, कृकलास=कृकदासृ, खुल्लक=क्षुद्रक,

---

१. प्राकृतचंद्रिका, पाइअ सद्द महण्णवो की भूमिका से उद्धृत, पृ० ८।

२. षड्भाषाचंद्रिका, वही

३. नगेंद्रनाथ वसु, हिंदी विश्वकोश, भाग १४, पृ० ६७१।

भ्रज=भृज इत्यादि। यहाँ तक कि रामायण, भारतादि काव्यों में भी ऐसी बहुत सी कथाएँ हैं जो उस समय की प्रचलित प्राकृत भाषा से गृहीत हुई हैं, जैसे, 'गोपेन्द्र' की जगह 'गोविंद' ।

अध्यापक ऑफ्रेक्ट साहब के मत से 'अध्यापक वेवर ने कहा है कि प्राकृत भाषा वैदिक भाषा की समकालीन है, यह समीचीन नही। ऋग्वेद की भाषा कभी भी सारे भारत में प्रचलित न थी। आर्यों के आदि निवास केवल पंजाब में ही उसका प्रचार था। आर्यों के चारों तरफ बहुसंख्यक अनार्य जाति का वास था, वे विजेता की भाषा ग्रहण करने को बाध्य हुई। उन्ही के मुख से आर्यभाषा विकृत होती थी। फिर आर्य संतान भी शूद्र कन्या ग्रहण मे बाध्य हुए तथा उनके संश्रव से आर्यगृह मे अनार्य भाषा प्रचलित हुई। अंत मे राजनीतिक विप्लव में अनार्य जाति ने ही राज्यशासन लाभ किया और उन लोगों के प्रभाव से उनकी भाषा जनसाधारण में प्रचलित हुई। सचमुच रामायण, महाभारतादि में अथवा धर्मशास्त्र मे, यहाँतक कि वेद की ब्राह्मणभाषाविद् परिषद् या पंडितमंडली को छोड़कर जनसाधारण में कभी भी कथित भाषा रूप में प्रचलित न रही'।

अध्यापक लासेन के मत से 'वैदिक भाषा वे एक समय कथित भाषा होने पर भी पाणिनि के समय 'भाषा' कहने से तत्कालीन प्रचलित संस्कृत भाषा समझी जाती थी, ऐसा पाणिनि की उक्ति से जाना जाता है। किसी किसी वैदिक मंत्र में प्राकृत का विकृत रूप तो देखा जाता है पर प्राकृत भाषा मे टूटाफूटा रूप होने मे अनेक समय लगे हैं। इन कारण संस्कृत और प्राकृत भाषा की उत्पत्ति एक समय में

---

१. नगेंद्रनाथ वसु, हिंदी विश्वकोश, भाग १४, पृ० ६३१।

स्वीकार नहीं कर सकते। हिंदू आर्यों के भारत में फैलने के बाद प्राकृत की उत्पत्ति हुई; परंतु स्थानविशेष की संस्कृत से प्राकृत का उद्भव हुआ, यह भी स्वीकार नही किया जा सकता। कारण, स्थानभेद से संस्कृत भाषा का भेद अब तक भी निर्णीत नही हुआ। अशोक के समय प्राकृत भाषा लिखित भाषा रूप मे व्यवहृत हुई थी। इस समय पूर्व भारत, गुजरात और काबुल का पूर्वांश इन तीन स्थानों में स्थानीय प्राकृत का प्रचार था। सुतरां मूल प्राकृत भाषा की उत्पत्ति इसके भी पहिले हुई है। कारण बुद्ध की उक्ति संस्कृत और प्राकृत दोनों ही भाषा मे लिपिवद्ध हुई थी'।

अध्यापक वेनफाई के मत से 'अशोक के समय दो प्रकार की भाषा प्रचलित थी, एक गुजरात मे एक मगध में। इन दोनो भाषाओं की गठन देखने से मालूम होता है कि उक्त प्रदेशों मे संस्कृत भाषा के साथ एकत्र प्राकृत भाषा नही थी। **एक समय वहाँ जिस संस्कृत भाषा का प्रचार था, वही क्रमशः प्राकृत भाषा में परिणत हो गई।** अतएव अशोक के अभ्युदय के बहुत पहिले संस्कृत भाषा मृत हो चुकी थी और प्राकृत भाषा का सत्रपात हुआ था। बौद्ध धर्म की पवित्र भाषा पालि है। प्रथम बौद्धगण यह निर्देश कर गए हैं कि उन्होंने संस्कृत भाषा मे अपने धर्म ग्रंथों की रचना नही की किंतु अपनी कथित भाषा मे लिपिवद्ध की है। यह भाषा मगध की प्रचलित भाषा है। इसके साथ संस्कृत का जो सबंध है, वही सबंध संस्कृत के साथ उक्त भाषा का भी देखा जाता है। अधिक संभव है कि खृष्ट पूर्व ६ठी शताब्दी में जिस समय बौद्ध धर्म का अभ्युदय हुआ, उस समय जनसाधारण संस्कृत भाषा मे बोलचाल नही करते थे। अंततः इसके तीन सौ वर्ष पहिले यदि संस्कृत को जनसाधारण की भाषा मान ले, तो अत्युक्ति नही।'[१]

---

१. नगेंद्रनाथ वसु, हिंदी विश्वकोश, भाग १४, पृ० ६७१।

इस प्रकार यूरोपीय भाषातत्वविदों के मत का संक्षेप में वर्णन कर कोशकार कहता है कि 'उक्त पंडितों में से प्रत्येक की बात में कुछ न कुछ सत्यता का अंश अवश्य है। इसमे संदेह नही। यथार्थ मे आर्यजाति की आदि भाषा वेद में है। उस वैदिक भाषारूप स्रोतस्वती से संस्कृत और प्राकृत दोनों ही धारा निकली हैं।

पाश्चात्य विद्वानो मे सर जार्ज ग्रियर्सन का नाम भी प्रसिद्ध है। आपका विशालकाय ग्रंथ लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया आधुनिक भारतीय भाषाओं के उद्गम एवं विकास पर एक अभूतपूर्व ग्रंथ है। उसकी भूमिका मे आपने भी इस प्रश्न को उठाया है और प्राकृत में तीन स्तरों की कल्पना की है।[1] प्राकृतों का सर्वप्रथम स्तर केवल अनुमानजन्य है। ऋग्वेद की भाषा अत्यंत प्राचीन है। यह भी सत्य है कि उसमें बहुत कुछ अंश तत्कालीन कथ्य भापा का है परंतु फिर भी कोई न कोई प्रादेशिक भाषा ऐसी रही होगी जो सर्वसाधारण के निकट अधिक रही होगी। यह भाषा वैदिक भापा से पूर्व भी हो सकती है और वैदिक भाषा के साथ साथ भी वर्तमान रह सकती है। इसी भाषा को आदिप्राकृत अथवा प्राकृत का प्रथम स्तर माना गया है।

दूसरे स्तर मे दो भाषाएं हैं जो प्राकृत कहलाती है। द्वितीय स्तर की प्राकृतें बौद्ध तथा जैन धर्म के आविर्भाव काल से दसवी शताब्दी तक प्रचलित रही। प्राकृतो का तीसरा स्तर वह है जो अपभ्रंश के नाम से प्रसिद्ध है। ग्रियर्सन महोदय को पेटर्सन का यह मत कि प्राकृते संस्कृत की ही विभ्रष्ट रूप है,

---

१. सर जार्ज ग्रियर्सन, लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, भूमिका, पृ० १४।

स्वीकार नही। आपका दृष्टिकोण शुद्ध भाषावैज्ञानिक है। वह प्राकृतों मे विकास पाते हैं। संस्कृत, वैदिक, लौकिक तथा प्राकृतों का तुलनात्मक अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ विभ्रष्टता नही अपितु विकास का साम्राज्य है। ध्वनियों का परिवर्तन नियमित है, सरलीकरण की प्रवृत्ति है तथा उच्चारण सौकुमार्य का स्पष्ट प्रयत्न है।[1]

भारतीय विद्वान् भी प्रायः किसी न किसी रूप मे इन्ही मतों को स्वीकार करते हैं। पाइअ सद्द महण्णवो के निर्माता तो स्पष्टतः सर जार्ज ग्रियर्सन के मत का उपयोग करते हुए कहते हैं[2]—

इस तरह अनेक युक्ति और प्रमाणों से साबित होता है कि प्राकृत की उत्पत्ति वैदिक अथवा लौकिक संस्कृत से नही किंतु वैदिक संस्कृत की उत्पत्ति जिस प्रथम स्तर की प्रादेशिक प्राकृत भाषा से पूर्व मे कही गई है, उसी से हुई है।

प्राकृत तथा संस्कृत के संबंध मे नमि साधु के मत का हम पहिले अध्याय में उल्लेख कर चुके है। नमि साधु के मत से अर्धमागधी भाषा ही 'प्राकृत' है और वही देशभेद तथा संस्कारित होने के कारण संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के नाम से प्रसिद्ध है।[3]

नमि साधु जैन मुनि थे। उनकी व्याख्या उनकी धार्मिक भावना से अनुप्राणित है। अर्ध मागधी मूल प्राकृत थी यह न

---

१. सर जार्ज ग्रियर्सन, लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, भूमिका, पृ० १४।

२. शेठ, पाइअ सद्द महण्णवो, भूमिका, पृ० १२।

३. (क) शेठ, पाइअ सद्द महण्णवो, भूमिका, पृ० ६।

(ख) अपभ्रंश काव्यत्रयी, भूमिका, पृ० ८५।

स्वीकार किया जा सकता है और न सिद्ध ही हो सकता है। हाँ, यह अवश्य स्पष्ट है कि जैन विद्वानों ने अपने समय की जनसाधारण की भाषा को अपनाया तथा उसके प्रोत्साहन का स्तुत्य प्रयत्न किया। अतः उनका विशाल साहित्य तीनों प्रकार की प्राकृतों में ही नही अपितु आधुनिक भाषाओं में भी मिलता है।[1] अतः यह स्वीकार किया जा सकता है कि जिस समय जैन शास्त्र लिखे गए हों, उस समय जनसाधारण की कथ्यभाषा अर्द्धमागधी हो।

प्राकृत एवं संस्कृत के संबंध मे इन विभिन्न मतों को संक्षेप में इस प्रकार दिया जा सकता है—

१—अकृत्रिम अर्थात् स्वाभाविक भाषा 'प्राकृत' और व्याकरणादि से संस्कारित 'संस्कृत'।

२—सामान्य प्राकृत जनता की भाषा 'प्राकृत' और शिष्ट वर्ग की भाषा 'संस्कृत'।

३—'संस्कृत' प्रकृति से उत्पन्न होनेवाली भाषा 'प्राकृत'।

४—ऋग्वेद के समय में जो भाषा थी जिससे ऋग्वेद की भाषा उत्पन्न हुई वह 'प्राकृत'।

५—ऋग्वेद के प्रणयन काल से पूर्व जो भाषा थी वह 'प्राकृत' अर्थात् इस पूर्वप्राकृत से ही ऋग्वेद की भाषा बनी और वह अपने स्वाभाविक रूप मे जनता में प्रचलित रही।

६—अत्यंत प्राचीन काल में अर्थात् आर्यों के आगमन से पूर्व देशवासियों की भाषा 'प्राकृत'।

---

१. (क) विंटरनिट्ज, हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, भाग, २, पृ० ४२७-२८।
(ख) भायाणी, पउम चरिउ, भाग १, भूमिका, पृ० १।

७—ऋग्वेदकालीन संस्कृत का उद्भव होने के समय जो मगध की भाषा थी वह 'प्राकृत'।

८—ऋग्वेद के निर्माण काल से अष्टाध्यायी के समय तक समस्त उत्तरी भारत में जिसका प्रवाह कथ्यभाषा के रूप मे रहा वह 'प्राकृत' तथा जो साहित्यिक भाषा रही वह 'संस्कृत'।

अस्तु, यह बात निर्विवाद रूप से स्वीकार की जा सकती है कि प्राचीन आर्यभाषा संस्कृति की भाँति विकासोन्मुख रही है। इस बात के मानने में कोई बाधा नहीं है कि जब एक कथ्यभाषा शुद्ध साहित्यिक रूप धारण कर लेती है, तब भी जन-साधारण में उसी का कुछ न कुछ मूल रूप चलता रहता है। यह अंतर शनैः शनैः बढ़ता जाता है। कालांतर में साहित्यिक भाषा अपनी कथ्यभाषा के साम्य को खो बैठती है तथा साधारण जन साहित्यक भाषा को समझने में अपने को असमर्थ पाते हैं, और कथ्यभाषा की अपेक्षा साहित्यिक भाषा का प्रचार भी सीमित क्षेत्र में रह जाता है। वह शिष्ट वर्ग की भाषा हो जाती है। प्रतिक्रिया प्रारंभ होती है। जनसाधारण के लिये साहित्यनिर्माण होता है। नवीन नवीन उद्भावनाएँ जन्म लेती हैं, जिनका समावेश कथ्यभाषा में सुगमता से होता रहता है। कथ्यभाषा का क्षेत्र बढता है। विकास सदैव अतीत की पृष्ठभूमि पर ही संभव होता है। अतः कथ्यभाषा अपनी पूर्ववर्ती साहित्यिक भाषा से बहुत कुछ ग्रहण करती हुई, साम्यता रखती हुई, आगे बढ़ती है। कालांतर में जब यह पूर्णतः साहित्यिक बनती है, अनुशासित होती है, सुव्यवस्थित तथा सुघटित होती है तब पूर्ववर्ती साहित्यिक भाषा से भिन्न हो जाती है और नवीन रूप धारण करने पर भी अपने अतीत की छाया जीवन मे छिपाए रहती है। आर्यभाषा के विकास से यह सत्य नितांत स्पष्ट है।

आरंभ में पालि अथवा आदि प्राकृत मे जो वैदिक संस्कृत से साम्य है उसका कारण भी विकासक्रम है । कालांतर में संस्कृत के प्रभाव से पालि भी प्रभावित हुई। आधुनिक उत्तरी भारत की आर्यभाषाएँ भी संस्कृत से प्रभावित हैं। अस्तु, भारतीय आर्यभाषा के इस विकास को तीन भागों में रखा जा सकता है—

१–प्राचीन काल,

२–मध्य काल,

३–आधुनिक काल ।

प्राचीनकाल पतंजलि की संस्कृत तक चलता है। इसके प्रथम स्तर के नमूने हमें ऋग्वेद की भाषा में मिलते है। द्वितीय स्तर की भाषा हमें ब्राह्मण ग्रंथों तथा अन्य वेद मंत्रो एवं उपनिषदों की भाषा मे प्राप्त होती हैं। तीसरी स्तर की भाषा का रूप महाकाव्यों तथा पुराणों में सुरक्षित है।

भारतीय भाषा के विकास का मध्य काल बड़ा महत्वशाली है। इस काल मे नवीन नवीन परिवर्तनों ने प्राचीन आर्यभाषा को नवीन रूप दे दिया। यह परिवर्तन उत्तरापथ मे समान गति से नही हुए। परिवर्तनों का आरंभ मध्य देश से हुआ। भौगोलिक कारणों ने परिवर्तन की गति को तीव्रतर कर दिया। जनपदीय भाषाएँ भी कुछ कुछ प्रभाव डालने लगी। ६०० ई० पूर्व से लेकर १००० ई० तक लगभग १६०० वर्षों तक भारतीय भाषा विभिन्न प्राकृतों के रूप मे विकसित होती हुई अंतिम सोपान मे अपभ्रंश के नाम से प्रसिद्ध होकर आधुनिक आर्यभाषाओं के रूप मे परिवर्तित हो गई। यह भाषा का मध्य युग कहलाता है। डा० वूलनर तथा डा. उदयनारायण तिवारी

ने इस दीर्घकाल को सुविधा के अनुसार तीन पर्वो में विभाजित किया है[1]—

प्रथम पर्व—इसमें ईसा से लगभग ६०० वर्ष पूर्व से २०० ई० पूर्व तक के प्रारंभिक परिवर्तन हैं। इनका सामान्यतः उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। यह प्राचीन प्राकृत कही जा सकती है।

प्राचीन प्राकृतों के अध्ययन की सामग्री हमें (क) शिलालेखो की भाषा से जो (शिलालेख ई०से २५० पूर्व तक हैं। इनमें अशोक के शिलालेख अधिक महत्वशाली हैं)। (ख) हीनयान संप्रदाय का धार्मिक साहित्य, थेरवाद का त्रिपिटक (बुद्ध उपदेशों का संग्रह), मूल त्रिपिटक पर 'अट्ठकथा', महावंश तथा पालिजातकों से; (ग) प्राचीन जैन सूत्रों की भाषा से और (घ) प्राचीन नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत (अश्वघोष के नाटकों मे प्रयुक्त प्राकृत) से प्राप्त होती है।

द्वितीय पर्व—१०० ई० से ६०० ई० तक। (क) त्रिवेंद्रम से प्रकाशित भासरचित माने हुए नाटकों की भाषा तथा कालिदास आदि के नाटकों की प्राकृत (महाराष्ट्री, शौरसेनी आदि)। (ख) सेतुबन्ध, गाथा-सप्तशती, आदि काव्यों की महाराष्ट्री, प्राकृत (ग) प्राकृत व्याकरणों मे संगृहीत उदाहरण तथा लक्षण। (घ) चंड के व्याकरण मे निर्दिष्ट शब्द और विक्रमोर्वशी मे प्रयुक्त अंश।

---

१. (क) बूलनर—इन्ट्रोडक्शन टू प्राकृत, पृ० २।

(ख) डा० उदयनारायण तिवारी, हिंदी भाषा का उद्गम और विकास, पृ० ६०।

तृतीय पर्व—६०० ई० से १२०० ई० तक[1]। यह युग अपभ्रंश काल का है जिसकी अब पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। (क) हेमचंद्र कृत व्याकरण में संगृहीत दोहे, देसी नाममाला के पद्य। (ख) विक्रमोर्वशी नाटक में आए हुए पद। (ग) भविसयत्त कहा, महापुराण (पुष्पदंत), जसहरचरिउ, करकंड चरिउ, तथा प्राकृत पिंगल आदि आदि मे पाए जानेवाले छंद। (घ) सरस्वती कंठाभरण में संगृहीत उदाहरण। (च) सिद्ध साहित्य।

डा० सुकुमार सेन ने मध्यकालीन आर्यभाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण लिखा है। आपने भाषाओं के क्रम को इस प्रकार दिया है—

प्राचीन मध्यकालीन आर्यभाषाएँ
(२५०–१ वर्ष ईसा से पूर्व, अशोकन पालि)
|
द्वितीय मध्य आर्यभाषा
|
ईसा के जन्म से ३५० ई० तक (प्राचीन शिलालेख नियप्राकृत) तथा बुद्ध संस्कृत
|
प्राकृत | अपभ्रंश (३५०–६५०)
अवहट्ट (६५०–१०००)

यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो डा० सेन के विकास-क्रम मे तथा उपर्युक्त वर्णन मे कोई मौलिक अंतर नही है।

१ डा० उदयनारायण तिवारी इस समय को १००० ई० तक ही रखते हैं परंतु हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यह काल १२०० ई० तक चलता है।

काल निर्णय में थोड़ा सा अंतर अवश्य है। हमारे दृष्टिकोण से डा० वूलनर का विभाजन अधिक युक्तिसंगत है। डा० साहिब के मत से अपभ्रंश काल का प्रारंभ लगभग ईसा की चौथी शताब्दी में हो जाता है परंतु साहित्य मे उसका व्यवहार अधिकतर छठी शताब्दी में ही प्रारंभ हुआ। इसका स्पष्टीकरण हम आगे चल कर करेंगे। यहाँ इन दोनों पर्वों की भाषाओं का साधारण परिचय देना असंगत न होगा।

अधिकतर विद्वान् सहमत हैं कि भारतीय भाषाएँ तथागत बुद्ध के जन्म (६०० ई० पूर्व) तक अपने मध्य काल में प्रविष्ट हो चुकी थीं। आर्यों ने १००० ई० पूर्व से लेकर ६०० ई० वर्ष पूर्व तक समस्त भारत में अपना प्रसार कर लिया था। इस समय तक उत्तरपश्चिम मे गांधार प्रदेश से लेकर पूर्व मे विदेह (उत्तर विहार) एवं मगध (दक्षिण विहार) पर्यंत आर्य राज्य स्थापित हो चुके थे और स्थानीय अनार्य जातियाँ आर्य-भाषा को अपना चुकी थी। अनार्य जातियो के मुख मे आर्य भाषा का प्राचीन रूप अविकृत रूप से सुरक्षित रहना असंभव हो गया, और यह स्वाभाविक ही था। ब्राह्मण ग्रथो मे भी इसका संकेत मिलता है। वैदिक आर्यजन इस पूर्वी समुदाय को 'व्रात्य' नाम से पुकारते थे। साधारणतः 'व्रात्यों' के साथ आर्यो का व्यवहार अच्छा नही था परंतु वे आर्यभाषा का ही प्रयोग करते थे। ताण्ड्य ब्राह्मण अथवा पंचविंश ब्राह्मण मे एक पद मिलता है—'अदुरुक्त वाक्यं दुरुक्तमाहुः, अदीक्षता दीक्षता वाचम् वदंति' अर्थात् सरलता से उच्चरित होनेवाले वाक्य को वे कठिन बताते हैं और अदीक्षित भी दीक्षितों की वाणी का उच्चारण करते हैं। इस तांड्य ब्राह्मण के वचन के आधार पर यही निष्कर्ष निकाला जाता है कि संस्कृत के व्यजन समुदाय को सरल बनाने का प्रयत्न प्राय. ईसा से आठवी

शताब्दी पूर्व ही प्रारंभ हो गया था और यह प्रवृत्ति सर्वप्रथम मगध के आसपास के देशों में अधिक स्पष्ट हुई।[1]

अतः इस प्रकार यही संभव प्रतीत होता है कि आर्यभाषा का प्राकृत रूप सर्वप्रथम कोशल तथा मगध के अधिवासियों में प्रारंभ हुआ। यह परिवर्तन पूर्व से पश्चिम में भी फैले, परंतु बहुत दिनों तक उदीच्य भाषा प्राचीन भाषा के अधिक समीप बनी रही। इस प्रकार भाषा को जो नवीन रूप प्राप्त हुआ उसमें सामान्यतः आर्यभाषा की ऋ और लृ ध्वनियाँ लुप्त हो गईं; ऐ और औ के स्थान पर ए और ओ का प्रयोग होने लगा। इसी प्रकार अय् तथा अव् के स्थान पर ए तथा ओ ही रह गए। पदांत व्यंजनों का लोप हो गया और पदांत म् को अनुस्वार का रूप प्राप्त हो गया। ऊष्म व्यंजन श्, ष् तथा स् तीनों में से मगध की भाषा मे केवल श् (तालव्य) तथा अन्य जनपदीय बोलियों में केवल स् (दंत्य) उच्चारण रह गया। संयुक्त व्यंजन ध्वनियों का समीकरण होकर नया रूप प्रयोग मे आने लगा। 'क्त्', 'त्क', 'प्त', 'क्र', अब 'त्त', अक', 'त्त' आदि आदि ही लिखे जाने लगे। कुछ ऊष्म ध्वनियों मे तथा अर्ध-स्वरों में परिवर्तन हो गया, यथा—स्प > प्फ, स्न > न्न, त्स > च्छ, त्य् > च्च्, इत्यादि

प्राचीन आर्यभाषा के संगीतात्मक स्वराघात का लोप होकर जनपदीय भाषाओं में बलात्मक स्वराघात स्थान पाने लगा। ध्वनियों से भी अधिक परिवर्तन शब्द एवं धातु-रूपों मे हुआ। द्विवचन सर्वथा लुप्त हो गया। पदांत व्यंजनों के लोप से हलंत प्रातिपदिक समाप्त हो गए। अतः प्राचीन आर्य-

१. डा० सुनीतिकुमार चटर्जी—'ओरिजन एंड डेवलपमेंट आफ बंगाली लैंग्वेज, पृ० २७।

भाषा के रूपों में अंतिम स्वर की भिन्नता के कारण जो रूप-भिन्नता होती थी अब उसके लिये अवकाश ही न रहा। अतः अश्व, मुनि, साधु तथा पितृ के संबंध कारक मे 'अस्वस्स', 'मुनिस्स', 'साधुस्स', 'पितृस्स' एक से ही रूप होने लगे।

धातुओं के कालों एवं भावों की संख्या मे भी कमी हुई। अभिप्राय लुप्त हो गया, सामान्य तथा असंपन्न के रूप 'भूतकाल' मे मिल गए। असमापिका क्रियापदों की संख्या वहुत घट गई और गणो की संख्या भी अब दस से एक रह गई। ऐसे परिवर्तनो का सामूहिक परिणाम यह हुआ कि कुछ शब्दों का रूप वदल गया। यथा—वाक्पतिराज > वप्पीरिआ, समरादित्य कथा > समराइच्च कहा, वाष्पायमानं > वप्फायंतं आदि।

बुद्ध तथा महावीर स्वामी ने अपने उपदेशों को सर्वसाधारण के लिये सुलभ बनाने के हेतु इस नवीन जन-साधारण की भाषा को अपनाया। वौद्धागमों की भाषा पालि के नाम से प्रसिद्ध है और जैनियों के शास्त्रों ने उसे अर्द्ध-मागधी कहा है। जैनागम तो स्पष्टतः अर्द्ध मागधी को ऋषि वाणी स्वीकार करते हैं[1]। परंतु 'पालि' शव्द विद्वानों के लिये एक समस्या वन गया है। संस्कृत और प्राकृत में 'पालि' शव्द का अर्थ पंक्ति होता है और 'मूल ग्रंथ' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस तर्क के आधार पर कुछ विद्वानों का मत है कि 'पालि' से वौद्ध धर्मशास्त्र की पंक्ति या मूल 'त्रिपिटक' का

---

१. (क) अद्ध मागहाए भासाए भासत्ति अरिहा धम्मं।
—'अपभ्रंश काव्यत्रयी'—भूमिका, पृ० ८५।
(ख) आयरिस समा धरणी जायइ इह अद्ध मागही वाणी।
महावीर निर्वाणात्, ५३० (वि० सं० ६०) वर्ष विमल सूरि—वही, पृ० ८५।

बोध होता था तथा शनैः शनैः 'पालि' समस्त बुद्ध साहित्य की भाषा मान ली गई। पालि साहित्य प्रायः प्राकृत में नहीं गिना जाता यद्यपि यह प्राकृत का मुख्य अंग है।[1]

'पालि' को बौद्धागमों की भाषा स्वीकार कर लेने से भी जिज्ञासा की समाप्ति नहीं होती। जिस रूप में हमें अब 'पालि' प्राप्त होती है उसके स्वरूप को देखकर डा० सुकुमार सेन का यह कथन उचित ही है कि 'पालि' एक केवल साहित्यिक भाषा है जिसमे संस्कृत से पर्याप्त रूप में साम्य है।[2] भिक्षु जगदीश काश्यप पालि को वैदिक संस्कृत के अधिक निकट मानते हैं। ठीक है, परंतु साहित्यिक भाषा का आधार कोई न कोई जनपदीय बोली होती है। अब प्रश्न होता है कि 'पालि' किस जनपद की बोली पर आधारित थी ? यह हम पहिले कह चुके हैं कि कोशल, अयोध्या, काशी, मिथिला, मगध तथा अंग (भागलपुर) आदि प्राच्य देश के अंतर्गत थे। बुद्ध तथा महावीर ने प्राच्य भाषा मे अपने धर्मों का उपदेश दिया था। अतः इस आधार पर कुछ विद्वान् पालि को मागधी मानते हैं। पालि डिक्शनरी मे 'पालि' को कोशल की भाषा माना है, क्योंकि बुद्ध अपने को 'कोशल खत्तिय' कहते थे और उनकी जन्मभूमि कपिलवस्तु थी। अनेक भाषातत्वज्ञ विद्वान् 'पालि' में कर्ता की विभक्ति 'ओ', दन्त्य स, र, 'ज' का प्रयोग तथा अन्य मागधी की विशेषताओं का अभाव पाकर पालि को मागधी

---

१ वुलनर—इन्ट्रोडक्शन टु प्राकृत, पृ० ८५।

२. डा० सुकुमार सेन, कम्पेरेटिव ग्रामर आफ मिडिल इंडो-आर्यन, पृ० १४।

३. भिक्षु जगदीश काश्यप पालि महाव्याकरण भूमिका, पृ० ३-२६।

नही मानते। डा० चटर्जी की संमति से 'पालि' ध्वनि तथा रूपरचना में अन्य प्राकृतों की अपेक्षा शौरसेनी प्राकृत से मिलती जुलती है।[1]

आधुनिक गवेषणाओं से तिब्बती परंपरा का पता चला है। चीन से भी बौद्ध साहित्य एवं ग्रंथों का पता चला है। इन विभिन्न मतों पर विहगम दृष्टि डालने से यही बात प्रतीत होती है कि त्रिपिटक का मूल रूप मागधी में रहा होगा और तब अन्य भाषाओं अथवा जनपदीय बोलियों मे इसका अनुवाद हुआ होगा। मागधी भाषा प्राच्या का ही रूप थी। 'श' का बाहुल्य इसकी निजी विशेषता थी अवश्य परंतु वह सर्वसाधारण मे रही होगी। शुद्ध प्राच्या वह भाषा मानी जा सकती है जो काशी, कोशल, विदेह और मगध मे लोकव्यवहार में प्रयुक्त होती थी। बुद्ध ने इसी भाषा मे अपने उपदेश दिए होगे। बुद्ध के निर्वाण के बाद बुद्ध वचन संग्रह के हेतु बुद्ध सभा हुई। इसमे भाग लेनेवाले 'भिक्खुओं' मे 'महाकस्सप' प्रमुख थे। यह मध्यदेशवासी थे। उस समय मध्यदेशीय भाषा अधिक प्रभावशाली थी। अतः त्रिपिटक का अनुवाद मध्यदेशीय भाषा मे भी हुआ और उत्तरपश्चिम की भाषा में भी। राजकुमार महेंद्र ने मध्यदेशीय भाषा मे अनूदित त्रिपिटक को अपनाया और यही त्रिपिटक सिंहल पहुँचा। यह त्रिपिटक मागधी से अनूदित था अतः बहुत कुछ प्रयोग मागधी के रह गए और कदाचित् व्यापकता की दृष्टि से पैशाची के रूप भी आ गए। सिंहल में प्रतिष्ठित हो जाने के उपरांत यह शुद्ध साहित्यिक भाषा बन गई जिसका आधार मध्य देश की भाषा था।[2]

---

१. डा० सुनीतकुमार चटर्जी—ओरिजिन एंड डेवलपमेंट आफ बंगाली लैंग्वेज, पृ० ४७।

२. वही।

जैसा हम पहले कह चुके हैं 'पालि' ने कुछ प्राचीन एवं लुप्त प्रयोगों को बचाकर अपना संबंध वैदिक संस्कृत से बनाए रखा है। विशेषण तथा संख्यावाचक शब्दों के रूप संस्कृत के समान चलते हैं। धातु रूपों में भी विविधता प्राप्त होती है परंतु गणों का विधान शिथिल हो गया है। तीन ऊष्म ध्वनियों में से केवल एक स् रह गई है। 'पालि' की मुख्य मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(१) पदांत हलंत व्यंजन का लोप यथा—संस्कृत विद्युत्= विज्जु।

(२) पाणिनीय व्याकरण के अनुसार पदांत स्थित म् के स्थान पर अनुस्वार न होकर, सारस्वत के अनुसार होना है। पालि में अंत्य म् सदैव अनुस्वार हो जाता है। चित्तम्=चित्तं।

(३) विसर्ग का प्रयोग समाप्त हो गया है। अकारांत पदों के अंत में विसर्ग ओ मे परिवर्तित हो जाते हैं। यथा— गतः=गतो, देवः = देवो ।

(४) पालि मे रेफ का प्रयोग नही होता। संस्कृत शब्दो मे रेफ का लोप होकर परवर्ण को द्वित्व हो जाता है। यथा— कर्म = कम्म, धर्म = धम्म, निर्जलः = निज्जलो।

यदि रेफ हकार के ऊपर होता है तो दोनों के बीच में पूरा हो जाता है। यथा—तर्हि=तरहि, महार्हः = महारहो।

यदि रेफ यकार पर हो तो यकार सहित रिय का रूप हो जाता है। अथवा कही कही लोप हो जाता है। यथा— आर्यम्=अरियं, पर्याय. =परियायो, कार्यम् = करियं।

पाद के आदि का रेफ लुप्त हो जाता है। यथा—क्रीतः = कीतो, क्रुध्यति = कुज्झति।

पद के मध्यस्थ वर्णो के साथ यदि रेफ का प्रयोग होता है

तो उसे द्वित्व हो जाता है। यथा—प्रक्रमः = पक्कमो; समग्रः = समग्गो। अपवाद—पाद के मध्य अथवा अंत में एक से अधिक व्यंजन वर्ण के उपरांत रेफ के आने पर उसका लोप हो जाता है, यथा—इन्द्रः = इंदो, अन्त्रम्=अन्तं

जहाँ तक आकृति एवं ध्वनि का प्रश्न है, पालि अन्य प्राकृतों की अपेक्षा प्राचीन संस्कृत के अधिक निकट है। यद्यपि पालि मे कुछ स्वरों का लोप हो गया है परंतु व्यंजनों को अन्य प्राकृतों को भाँति निष्प्राण नही किया गया। पालि ने रूपों की समृद्धि को भी नही खोया है। अतः पालि प्राकृतों का पहिला स्तर है।

अशोक के अभिलेखों की भाषा—पालि के उपरांत अभिलेखों की प्राकृत है। ये अभिलेख सम्राट अशोक द्वारा ईसा से पूर्व २७३ से २३१ ई० पूर्व तक अपने विशाल साम्राज्य के विभिन्न भागों मे प्रस्तर खडों, चट्टानों, स्तंभों तथा गुफाओं की भित्तियो पर उत्कीर्ण कराए गए थे। ऐतिहासिक दृष्टि से तो ये महत्वपूर्ण हैं ही भाषा के विकास क्रम के अध्ययन मे भी इनका महत्व कम नही है। इनमे मध्यभारतीय आर्य-भाषा का प्राचीन रूप प्राप्त होता है। इन अभिलेखों की एक विशेषता यह भी है कि ये जनसाधारण के बोध के लिये लिखे गए थे। अतः इनमे विभिन्न जनपदीय बोलियों का स्वरूप भी संनिहित है। मध्यभारतीय आर्यभाषाओं की विभिन्न शाखाओं की सामग्री इनमे सुरक्षित है।

विषय की दृष्टि से अशोक के अभिलेख तीन श्रेणियो मे रखे जा सकते हैं। प्रथम मे छह शिलालेख आते है। इनमे से

---

१. डा० गुने—ऐन इन्ट्रोडक्शन टु कम्पेरेटिव फिलोलोजी, पृ० १६६।

दो शिलालेख, उत्तरपश्चिम सीमांत प्रांत में[1], पेशावर से ४० मील उत्तरपूर्व, शहबाज गढ़ी मे और पंजाब के हजारा जिले में मानसेरा स्थान से एक मील पश्चिम को ओर पहाड़ों पर खुदे हैं। ये दोनों लेख खरोष्ट्री लिपि मे है जो दाएँ से बाएँ को लिखी जाती है। तीसरा लेख गुजरात मे गिरनार (प्राचीन रेवतक) पर्वत के अंचल मे उत्कीर्ण है। चौथा देहरादून जिले में देहरादून से चकरौता जानेवाली सड़क पर २६ मील की दूरी पर कालसी नामक स्थान पर है, पाँचवाँ और छठा शिलालेख कलिंग, (आधुनिक) उडीसा मे धौली और जौगढ नामक स्थानो में है। ये चारों शिलालेख ब्राह्मी लिपि मे है । इन सभी शिलालेखों में अशोक के धर्म एवं शासन संबंधी सिद्धांतों का वर्णन है।

दूसरी श्रेणी के लघु शिलालेख हैं। इनमे से तीन मैसोर (वर्तमान केरल) राज्य मे, सिद्धपुर, रामेश्वर और ब्रह्मगिरि मे है, चौथा शाहाबाद जिले मे सहसराम मे, पाँचवाँ जबलपुर जिले मे रूपनाथ मे, छठा जयपुर राज्य मे वैराट में, सातवाँ वैराट में ही था परंतु अब कलकत्ता मे रायल ऐशियाटिक सोसायटी के भवन मे रखा है, और आठवा (प्राचीन) निजाम राज्य के अंतर्गत, मास्की नामक गाँव में है। एक लघु-शिलालेख मद्रास मे मिला है। इन अभिलेखों से अशोक की जीवनी पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है।

तीसरी श्रेणी मे आठ स्तंभलेख, गुहालेख और अन्य लघु अभिलेख आ जाते है। स्तंभलेख अंबाला, मेरठ, कोशांबी, बिहार के चंपारन जिले में लौरिया ग्राम के

---

१. यह प्रदेश विभाजन के उपरांत पाकिस्तान में चले गए हैं।

समीप दो, तथा रामपुरवा में एक, नेपाल की तराई में, संमिनदेई, तथा निम्मलीव ग्राम मे स्थापित किए गए थे। अंबाला और मेरठ के स्तंभ आजकल दिल्ली में हैं और कोशांबी का स्तंभ इलाहाबाद के किले में है। इनके अतिरिक्त सारनाथ, सांची इत्यादि स्थानों में लघु स्तम्भलेख प्राप्त हुए हैं। गया के समीप, बराबर की पहाड़ी में, तीन गुहालेख उत्कीर्ण हैं।

इन अभिलेखों को पढ़ने तथा जनता के समक्ष रखने का श्रेय प्रसिद्ध योरोपीय विद्वान् प्रिंसेप कनिंघम को है। उन्होने इन्हें सन् १८७० ई० मे प्रकाशित कराया, यद्यपि अब ये पुराने हो गए है। इस समय इनका सबसे अच्छा वर्णन ब्यूलर का माना जाता है। अशोक के अभिलेखो में शिलालेख विशेष महत्वपूर्ण है।

सक्षेप मे यह शिलालेख मागधी के प्राचीनतम उदाहरण है। इनसे ३०० ई० पूर्व की भाषा का ज्ञान प्राप्त होता है। अशोक की धर्मलिपियो मे भाषा के तीन रूप पाए जाते है —

(१) उत्तरपश्चिमी (यह खरोष्ट्री लिपि मे लिखे-हुए शाहबाजगढ़ी तथा मानसेर के लेखों मे पाया जाता है तथा इसकी ध्वनि संस्कृत से मिलती है)

(२) दक्षिणपश्चिमी रूप अर्थात् गुजरात की भाषा का रूप।

(३) प्राच्य भाषा।

इन लेखों से प्रतीत होता है कि अशोक के समय मे कम से कम चार बोलियाँ प्रचलित थी। सबसे मुख्य मगध की पालि थी जिसमें ये लेख लिखे गए होंगे। उत्तर-

पश्चिम तथा दक्षिणपश्चिम के शिलालेखों में पूर्वी भापा के शब्द देखकर ज्ञात होता है कि प्राच्यभापा कथित भाषा तथा राजभाषा थी और उसी आदर्श के अनुकूल अन्यान्य भाषाओं को भी बनाने की कोशिश की जाती थी। अशोक के बाद के सांची, नासिक आदि शिलालेखों मे भी प्राच्यभाषा की विशेषताएं पाई जाती हैं।

ईसा से पूर्व काल के दो अन्य प्राकृत अभिलेख प्रस्तुत प्रसंग में उल्लेखनीय है–कलिंगराज खारवेल का हाथीगुंफा अभिलेख और यवन राजदूत भागवत् हिलिओदोरस का वेसनगर अभिलेख। हाथीगुंफा अभिलेख के संशोधित पाठ की कुछ पंक्तियाँ यह हैं—

'नमो अरहंतान नमो सव्वसिद्धानं। अइरेन महाराजेन महामेधवाहनेन चेतिराज वंसवद्धनेन प्रसथसुभलक्खणेन चतुरंतलुरठनगुण उपेतेन कलिंगाधिपतिना सिरी खारवेलेन पंदरस वसानि सिरिकलारसरीखता कीलिता कुमारकीजिका।

संस्कृत प्रतिरूप

नम. अर्हता, नमः सर्वसिद्धानाम्। ऐरेन महाराजेन महामेघवाहनेन चेदिराजवंशवर्द्धनेन प्रशस्तशुभलक्षणेन चतुरन्तलुण्ठनगुणोपेतेन कलिंगाधिपतिना श्रीखारवेलेन पंचदश वर्षाणि श्रीकडारशरीरवता क्रीडिता. कुमारक्रीडिकाः।

हिंदी अनुवाद अर्हतो को नमस्कार। सभी सिद्धो को नमस्कार। कलिंगाधिपति श्री खारवेल वीर महीपति महा मेघवाहन, चेदि राजवंश शिरोमणि ने, जो प्रशस्त और शुभ लक्षणो से युक्त था तथा चारों दिशाओं को [illegible] करने के गुणो से समलंकृत था, श्री [illegible] शरीर से पंद्रह वर्ष तक राजक्रीडा की।

पालि के साथ इस अभिलेख की भाषा का साम्य सुस्पष्ट है। इसके अतिरिक्त संस्कृत की गंभीर शैली का प्रभाव अनुलक्षणीय है। वेसनगर अभिलेख मे भी संस्कृत का प्रभाव स्पष्ट है। यवनराज अंतिअलिखित के राजदूत हिलिओदोरस ने भगवान् वासुदेव के नाम पर एक गरुडध्वज का वेसनगर मे निर्माण कराया था। इसपर ये पंक्तियां उत्कीर्ण है—

'देवदेवस वासुदेवस गरुडध्वजे अयं कारिते इअ हिलिउदोरेण भागवतेन दियस पुत्रेण तखसिलाकेनयोनदूतेन आगतेन महाराजस अंतलिकिसत उपंता सकांस रञो कासीपुतस भागभद्रस त्रातारस वसेन चतुदसेन राजेन वधमानस।

इसका संस्कृत प्रतिरूप यह होगा—

'देवदेवस्य वासुदेवस्य गरूडध्वजः अयं कारितः इह हेलिउदोरेण भागवतेन दियस्य पुत्रेण तक्षशिलाकेन यवनदूतेन आगतेन महाराजस्य अंतलिखितस्य उपांतात् सकाशं राज्ञः काशीपुत्रस्य भागभद्रस्य त्रातारस्य (=त्रातुः) वर्षेण चतुर्दशेन राज्येन वर्धमानस्य।

हिंदी अनुवाद—महाराज अंतिअलिखित के समीप से, चौदह वर्ष के राज्य से वर्धमान, शरणागत पालक, काशीपुत्र राजा भागभद्र के पास आए हुए, दियेक पुत्र तक्षशिला निवासी. यवनदूत भागवत, हिलिओदोरस ने देवाधिदेव वासुदेव के इस गरुडध्वज का यहाँ (वेसनगर) मे 'निर्माण' कराया।

इस अभिलेख की भाषा का पालि से साम्य स्पष्ट है। इन दोनो अभिलेखो से विदित होता है कि धीरे धीरे संस्कृत का प्रभाव पुन बढने लगा था। बुद्ध एवं अशोक के प्रयत्नों से लोकभाषाओ का सार्वजनिक एवं राजकीय कार्यों मे

व्यवहार बढ़ा था। परंतु कालक्रम के साथ लोकभाषाओं में स्थानीय विशेषताएँ एवं परिवर्तन इतने बढ गए थे कि एक जनपद के निवासी के लिये अन्य जनपद की भाषा को समझ सकना सरल न रह गया। अतः शिष्ट समाज की भाषा संस्कृत ही राजकीय व्यवहार एवं विभिन्न जनपदों मे पारस्परिक विचारविनिमय का माध्यम बन गई। यही कारण है कि ईसा की बाद की शताब्दियों के अभिलेख संस्कृत मे उपलब्ध होते हैं।

मध्य भारतीय आर्यभाषा के संक्रांति काल (२०० ई० पू० ३०० ई०) मे एक नवीन परिवर्तन ने भाषाओं के स्वरूप में प्रवेश किया। स्वरमध्यग अघोष स्पर्श व्यंजनों के स्थान पर सघोष व्यंजनों का व्यवहार होने लगा। इस प्रकार, क ख, ट ठ, त थ, प फ क्रमशः ग घ, ड ढ, द ध, ब भ, हो गए, यथा–शरत् > सरद्, एक> एग, शुक > सुक >-सुग्र।

संक्रांतिकालीन मध्य आर्यभाषा के अध्ययन की सामग्री मध्य एशिया मे आधुनिक खोजों से प्राप्त हुई है। यहाँ अश्वघोष (१०० - २०० ई०) के दो संस्कृत नाटकों की खंडित प्रतियाँ मिली हैं। लूडर्स महोदय ने इनका संपादन किया है। इन नाटकों में जिस प्राकृत का प्रयोग किया गया है, उससे संक्रांति काल की भाषा का कुछ परिचय मिलता है। इन नाटकों के अतिरिक्त 'धम्मपद' का प्राकृत संस्करण भी उपलब्ध हुआ है। सर आरेलस्टेन महोदय की खोजों के परिणामस्वरूप मध्य एशिया के शानशान राज्य के राजकीय पत्र प्राप्त हुए हैं। इनकी भाषा तत्कालीन प्राकृत की एक शाखा है। निय नामक स्थान से इनकी अधिकांश

सामग्री प्राप्त होने के कारण इस प्राकृत को 'निय प्राकृत' के नाम से अभिहित किया गया है।

अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत-अश्वघोष के नाटकों में तीन प्रकार की प्राकृतों का प्रयोग हुआ है—(१) दुष्ट की भाषा, (२) गणिका एवं विदूषक की भाषा और (३) गोभस की भाषा। इन विभिन्न प्राकृतों का स्वरूप अशोक के अभिलेखों में प्रयुक्त प्राकृतों जैसा ही है। साहित्यिक रचना होने के कारण इनपर संस्कृत का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में पड़ा है। इनमे स्वरमध्यग अघोप व्यंजन के स्थान पर सघोप व्यंजन के प्रयोग का केवल एक उदाहरण 'सुरद' (सुरत) मिलता है। इन नाटकों का रचनाकाल ईसा की प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी माना जाता है।

'दुष्ट' के मूल में नाटककार ने जो भाषा रखी है, उसमें प्राचीन मागधी की सभी विशेषताएं है। इसमें 'र' के स्थान पर 'ल' का प्रयोग किया गया है, यथा—कालना <कारणा, 'ष' 'स' के स्थान पर 'श' का व्यवहार हुआ है, यथा—किश्श <किष्य (<कस्य), और 'अ' एवं 'ओ' का स्थान 'ए' ने ग्रहण किया है, यथा—वुत्ते <वृतः, केलेमि <करोमि। प्राचीन मागधी के समान इस प्राकृत में भी 'अहम्' का प्रतिरूप 'अहकं' हो गया है और संबंध कारक एक-वचन का रूप 'हो' प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है, यथा मक्कटहो < मर्कटस्य।

गणिका एवं विदूषक की बोली प्राचीन शौरसेनी के सदृश है। पालि से इसकी समानता स्पष्ट है। अतः इसमें हमें मध्य देश की बोली के मध्यकालीन स्वरूप के दर्शन होते हैं। 'ऋ' के स्थान पर इसमे 'इ' आया है, यथा—हिदयेन < हृदयेन,

पदांत के 'अः' के स्थान पर 'ओ' का प्रयोग हुआ है, यथा—दुक्करो < दुष्करः, 'न्य्' एवं 'ज्ञ्' का परिवर्तन 'ञ्ञ' के रूप में हुआ है, यथा—हञ्ञन्तु < हन्यन्तु, अकितञ्ञ < अकृतज्ञ, 'व्य' का 'व्व', यथा—धारयितव्वो < धारयितव्यो तथा 'क्ष्' का 'क्ख', यथा—पेक्खामि < प्रेक्षामि, सक्खी < साक्षी, हो गया है। वर्तमान कालिक कृदंत प्रत्यय 'मान' का प्रयोग हुआ है, यथा—भुंजमानो, इत्यादि। इनके अतिरिक्त कुछ विचित्र रूप भी इस प्राकृत में मिलते हैं, यथा—तुवव < त्वम् (प्राचीन ईरानी तुवम्), इमस्स < *इमस्य=अस्य, कहिं < *कधिम्, करोथ (=कुरुथ), भवाम् < भवान्, करिय (=कृत्वा)।

गोभम् द्वारा प्रयुक्त प्राकृत को लूडर्स महोदय ने अर्धमागधी का प्राचीन रूप माना है। इसमें 'र्' के स्थान पर 'ल्' तथा 'अः' के स्थान पर 'ए' आया है, परंतु 'श्' का प्रयोग नहीं हुआ है। उदाहरण यह है—भट्टिदालके < भर्तृदारिके।

निय प्राकृत—मध्य एशिया के प्राचीन शानशान राज्य मे खरोष्ट्री लिपि मे लिखे हुए जो पत्र सर आरेल स्टेन की खोज से प्रकाश मे आए हैं, वे ईसा की तीसरी शताब्दी के है। इनकी भाषा मूलतः भारत के उत्तरपश्चिम अंचल की भाषा है (जिसका परिचय अशोक के शाहबाजगढ़ी एवं मानसेरा अभिलेखों मे मिलता है) परंतु पड़ोसी ईरानी, तुखारी, मंगोल आदि भाषाओं से भी यह प्रभावित हुई है। प्राकृत धम्मपद की भाषा का भी यही स्वरूप है। भाषा साहित्यिक है। प्राचीन रूपों का प्राधान्य है। लिपि खरोष्ट्री है। अतः दीर्घ स्वरों के स्थान पर ह्रस्व स्वर तथा संयुक्त व्यंजनों के स्थान पर एक ही व्यंजन मिलता है। संक्षेप मे इसकी मुख्य मुख्य विशेषताएं इस प्रकार हैं —

(१) तत्सम एवं अर्द्ध तत्सम रूपों में 'अय्' तथा 'अव्' अविकृत रूपों मे प्राप्त होते है।

(२) पदांत 'य' अथवा 'या' ई मे बदल जाता है।

(३) ऋ का प्रतिरूप साधारणतः रि हुआ पर कहीं कही अपभ्रंश की भाँति अ, इ, उ भी मिलते हैं।

(४) ए का स्थान प्रायः इ ने ले लिया है।

(५) पड़ोसी अनार्य बोलियों का प्रभाव भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। कही अघोष स्पर्श व्यंजनों के स्थान पर सघोष व्यंजनों का प्रयोग हो गया है, यथा—दनु <तनु।

(६) 'श', 'ष', 'स' तीनों व्यंजन सुरक्षित रहे परंतु अधिकतर 'स' की प्रवृत्ति रही है। ऊष्म व्यंजन युक्त संयुक्त व्यंजनों में विकार हो गया है और कही कही श का स्थान ष ने ले लिया है।

(७) द्विवचन अपना रूप केवल दो शब्दों मे बनाए रह सका है, यथा—पदेभ्यम् और पादयोः।

(८) निय प्राकृत के सर्वनामों के रूप द्रष्टव्य हैं—

अहु (=अहम्), तुओ (=त्वम्), महि (=मह्यम्), तहि (=तुभ्यम्) आदि।

(९) कर्मवाच्य कृदंतीय के भूतकालिक रूप नियमित रूप से प्राप्त होते हैं। इनमे अन्य पुरुष के एकवचन के रूप मे कोई प्रत्यय नही लगाया जा सकता परंतु बहुवचन में 'अन्ति' प्रत्यय का प्रयोग हुआ है।

(१०) अशोक के उत्तरपश्चिम प्रदेश के अभिलेखों की भाँति निय प्राकृत मे भी 'त्वा' प्रत्यय के स्थान पर 'त्वि' का प्रयोग हुआ है, यथा निति (—श्रु = श्रुत्वा), अप्रृछिति (=अपृष्ट्वा)।

द्वितीय पर्व : साहित्यिक प्राकृतें—अशोक के अभिलेखों की भाषा के तुलनात्मक विवेचन से स्पष्ट है कि जनता की प्रवृत्ति सरलीकरण की ओर अधिक थी। स्वर एवं व्यंजन के परिवर्तन समान गति से लौकिक भिन्नता एवं भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार चल रहे थे। यह क्रम मध्यभारतीय आर्यभाषा के संक्रांति काल में बना ही नही रहा अपितु नवीन रूप धारण करने लगा। परिणाम यह हुआ कि भाषा का रूप शनैः शनैः बदलने लगा। स्वरमध्यग सघोष स्पर्श व्यंजनों के उच्चारण मे शिथिलता आ गई तथा थोड़े दिनो में शिथिलता ने लोप का ही रूप धारण कर लिया।

व्यंजन एवं स्वर ध्वनियों के परिवर्तन के साथ साथ शब्द एवं धातुरूपों के सरलीकरण की प्रक्रिया भी चलती रही। संज्ञा शब्दो मे प्रायः अकारांतवत् ही रूप प्रचलित हो गए। कारकों के केवल दो वर्ग ही रह गए। भाषा पुनः धीरे धीरे विश्लेषणात्मक रूप की ओर पग बढाने लगी। परंतु अभी तक यह बात अत्यंत स्पष्ट है कि भाषा के प्रचलन का रूप तो परवर्तित अवश्य हो गया परंतु संस्कृत का रूप ज्यों का त्यों रहा। मध्य युग की इन प्रचलित भाषाओं की सामान्य संज्ञा प्राकृत है। प्राकृत शब्द के रूप एवं उत्पत्ति के संबंध मे हम प्रारंभ में ही विस्तृत विवेचन कर चुके हैं।

उत्तरकालीन प्राकृत वैयाकरण पालि एवं अशोक के अभिलेखों की भाषा के प्रति उदासीन रहे हैं। संभवतः वे इन लेखों से परिचित न थे अथवा उनकी ओर ध्यान देना उन्होने आवश्यक न समझा। वैयाकरणों ने संस्कृत नाटकों मे प्रयुक्त प्राकृत तथा जैनागमों की भाषा के आधार पर ही अपने विचार अभिव्यक्त किए हैं। प्राकृत वैयाकरणों मे

सर्वप्रथम नाम वररुचि का है। १२वीं शताब्दी में जैन आचार्य हेमचंद्र का कार्य प्राकृत व्याकरण के क्षेत्र में विशेष प्रशंसनीय है। आपने प्राकृत के साथ अपभ्रंश का भी उल्लेख किया है। इन वैयाकरणो ने जिस भाषा का व्याकरण दिया है वह लोक आधारित होते हुए भी साहित्यिक बन गई थी। लोकभाषा मे देशभेद से अनेक उपभाषाएँ, शाखा एवं उपशाखाएँ रही होंगी परंतु साहित्यिक रचना के अभाव में उनका रूप अब प्रायः नाम मात्र मे ही अवशिष्ट है। इस प्रसंग को समाप्त करने से पहले इन साहित्यिक प्राकृतों का भी हम संक्षेप मे वर्णन करना आवश्यक समझते हैं। प्राकृत वैयाकरणों द्वारा उल्लिखित विशेषताओं का दिग्दर्शन संक्षेप में दिया जाता है[1]—

साहित्यिक प्राकृतों के भेद—मुख्य मुख्य प्राकृतों के नाम इस प्रकार है —

महाराष्ट्री शौरसेनी मागधी	नाटकों की प्राकृत
अर्द्धमागधी जैनमहाराष्ट्री जैनशौरसेनी	जैनागमों की भाषा
अपभ्रंश	उत्तर काल की प्राकृत

महाराष्ट्री प्राकृत सब प्राकृतों मे श्रेष्ठ मानी गई थी। कुछ विद्वानों का मत है कि महाराष्ट्री भाषा का अर्थ राष्ट्र की व्यापक भाषा से है और वह शौरसेनी का ही विकसित रूप है। गीत काव्य के लिये वह अत्यंत उपयोगी थी। श्री

---

१. डा० उदयनारायन तिवारी, हिंदी भाषा का उद्गम और विकास, पृ० ११८

भंडारकर का मत है कि वह भाषा महाराष्ट्र प्रदेश की भाषा थी[1]। परंतु यह निर्विवाद है कि इसके रूप हमे सेतुबंध, गाथासप्तशती, गउडवहो तथा कुमारपालचरित आदि आदि सुंदर काव्यग्रंथों में प्राप्त होते हैं। महाराष्ट्री प्राकृत गीत साहित्य के लिये इतनी प्रसिद्ध हो गई थी कि बाद में नाटकों में गद्य मे शौरसेनी बोलनेवाले पात्रों के लिये संगीत या पद्य में महाराष्ट्री का प्रयोग उपलब्ध होता है।

आचार्य हेमचंद्र ने अपने व्याकरण मे महाराष्ट्री को ही प्राकृत नाम दिया है और इसकी प्रकृति संस्कृत माना है। अन्य वैयाकरणों ने भी महाराष्ट्री को मुख्य प्राकृत मानकर अन्य प्राकृतो की विभिन्नताओं का उल्लेख किया है। जहाँ उन्हें साम्य उपलब्ध हुआ है वहा 'शेषं महाराष्ट्रीवत्' कहकर छोड़ दिया है।[2]

महाराष्ट्री प्राकृत की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि इसमे स्वरमध्यग स्पर्श व्यंजनों का लोप हो गया है। इस प्रकार क्, त्, प्, ग्, द्, व् वर्ण पूर्णतः लुप्त हो गए हैं। और ख्, थ्, फ्, ध् तथा भ् के स्थान पर केवल प्राण ध्वनि 'ह' बच रही है। अतः प्राकृत > पाउअ, प्राभृत > पाहुड, कथयति > कहेइ, रूप महाराष्ट्री मे प्राप्त होते हैं। यह मध्यभारतीय आर्यभाषा के द्वितीय पर्व के विकास की चरमावस्था है। शौरसेनी एवं महाराष्ट्री प्राकृत मे प्रमुख भिन्नता इसी परिवर्तन मे है। अन्यथा महाराष्ट्री प्राकृत शौरसेनी से बहुत

१. आर० जी० भंडारकर, कलेक्टेड वर्क्स, भाग ४, पृ० (३२०) —
महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।
सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबंधादि यन्मयम्॥

२. वररुचि, प्राकृत प्रकाश—१२।३२।

अधिक साम्य रखती है। निस्संदेह महाराष्ट्री प्राकृत आधुनिक मराठी शब्द का पूर्व रूप है और शौरसेनी से सादृश्य होने के अतिरिक्त इसमें आधुनिक मराठी के शब्दरूपों के पूर्व रूप भी विद्यमान है। शौरसेनी एवं महाराष्ट्री मे स्वरमध्यग व्यंजनों के विषय मे इस भिन्नता का कारण यह भी हो सकता है कि किसी प्रदेश की भाषा मे अन्य देशों की भाषा की अपेक्षा परिवर्तन की गति अधिक तीव्र रहती है। संभव है कि महाराष्ट्री मे शौरसेनी की अपेक्षा परिवर्तन अधिक तीव्र गति से होता रहा हो। परंतु इन सब समस्याओ पर विचार कर श्रीमनमोहन घोष इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि वास्तव मे महाराष्ट्री प्राकृत शौरसेनी का ही विकसित रूप है। इन दोनों प्राकृतो मे पहले स्थानगत भेद न होकर कालगत भेद था। इसके बाद महाराष्ट्री दक्षिण में पहुँची और वहाँ काव्यभाषा बन गई।

डा० हार्नले के मत मे महाराष्ट्री भाषा महाराष्ट्र देश में उत्पन्न नही हुई। महाराष्ट्री का अर्थ विशाल राष्ट्र की भाषा है और राजपूताना तथा मध्यदेश प्रभृति उसी विशाल राष्ट्र के अंतर्गत थे। इस युग में मालवा, अवंति तथा उज्जैन की प्रधानता थी। अतः राजसंरक्षण प्राप्त होने से यह बात अनुपयुक्त भी नही मानी जा सकती।

महाराष्ट्री प्राकृत की अन्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं —

(१) कही कही ऊष्म व्यंजन ध्वनि के स्थान पर 'ह' हो गया है, यथा—पाषाण>पाहाण, अनुदिवसं>अनुदिहं। इन उदाहरण मे मध्यग व्यजन 'द' का लोप इसलिये नही हुआ कि अनु तथा दिवस पृथक् पृथक् शब्द है।

(२) अपादान कारक के 'एकवचन मे अहि' प्रत्यय लगता है, यथा—दूराहि (=दूरात्)।

(३) अधिकरण एकवचन के रूप 'म्मि' अथवा 'ए' के योग से बनते हैं, यथा—लोए अथवा लोअम्मि > लोकेस्मिन्।

(४) कृ धातु के रूप वैदिक भाषा के समान निष्पन्न होते हैं, यथा—कुणइ < कृणोति (वै०)

(५) 'आत्मन्' का प्रतिरूप महाराष्ट्री में 'अप्प' हुआ है (शौ० भा० अत्त)।

(६) क्रिया के कर्म वाच्य का 'य' प्रत्यय, 'इज्ज' में बदल गया है। यथा—पृच्छ्यते > पुच्छिज्जई, गम्यते > गमिज्जइ।

(७) पूर्वकालिक क्रिया का रूप 'उण' प्रत्यय के योग से बनता है, यथा पुच्छिउण (सं० पृष्ट्वा)

शौरसेनी—शौरसेनी मूलतः शौरसेन (मथुरा) की भाषा थी। मथुरा मध्य देश का ही भाग है। अतः यह संस्कृत के अधिक समीप रही। संस्कृत नाटकों में स्त्री पात्र और विदूषक इसका प्रयोग करते हैं, कर्पूरमंजरी में राजा भी इसका व्यवहार करता है। शौरसेनी प्राकृत की निजी विशेषताएं संक्षेप में इस प्रकार हैं —

(१) स्वरमध्यग 'द' 'ध' (मूल तथा 'त' 'थ' के परिवर्तित रूप, दोनों प्रकार के) सुरक्षित हैं। यथा—आगतः > आवदो, कथयतु > कधेदु, कृत > कद, किद।

(२) संस्कृत क्ष का क्ख (महाराष्ट्री में च्छ), यथा—कुक्षि > कुक्खि, इक्षु > इक्खु।

(३) संयुक्त व्यंजनों का सरलीकरण तथा पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ बनाने की प्रवृत्ति महाराष्ट्री तथा अर्धमागधी की अपेक्षा कम प्राप्त होती है।

(४) विधि प्रकार के रूप संस्कृत के समान बनते हैं,

महाराष्ट्री तथा अर्द्धमागधी के समान इनमे एज्ज प्रत्यय नही लगता। यथा—वट्टे > वर्तते (महाराष्ट्री एवं अर्द्धमागधी वट्टेज्ज)।

(५) कर्मवाच्य 'य' प्रत्यय शौरसेनी मे—ईअ हो जाता है, यथा—प्रच्छीअदि > पृच्छ्यति, गमीअदि > गम्यति।

मागधी—संस्कृत नाटको मे मागधी निम्न स्तर के मनुष्यों की भाषा है। मूलतः यह मगध की भाषा है। प्राच्य देश की भाषा होने के कारण वर्णविकार आदि मे अन्य लोक भाषाओं से यह बहुत आगे रही है। प्रसिद्ध नाटक मृच्छकटिक में शकार, वसंतसेना तथा चारुदत्त के तीनों नौकर मागधी का प्रयोग करते है। इसकी प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं —

(१) मागधी मे 'र' ध्वनि का सर्वथा अभाव है। 'र' के स्थान मे सर्वत्र 'ल' पाया जाता है, यथा—राजा > लाजा, पुरुषः > पुलिशे (शौ० पुरिसो), समर > शमल।

(२) मागधी शकार प्रधान है। स, श, ष के स्थान पर सर्वत्र 'श' ही व्यवहृत होता है। यथा—शुष्क > शुश्क, समर > शमल।

(३) ज > य तथा झ > व्ह, न > ण, यथा—जानाति > याणादि, जनपद > यणवद, जायते > यायदे।

(४) द्य, र्ग, र्य य्य, यथा—अद्य > अय्य, आर्य > अय्यं, अर्जुन > अय्युण।

(५) ण्य, न्य, ज्ञ, ञ्ज > ञ्ञ। यथा—पुण्य > पुञ्ञ, अन्य > अञ्ञ। राज्ञः > लञ्ञो, अजलि > अञ्ञलि।

(६) जिन संयुक्त—व्यंजनो मे प्रथम व्यंजन ऊष्म होता है उनमे वर्णविकार के अतिरिक्त समीकरण आदि अन्य परिवर्तन नही होते। यथा—शुष्क > शुश्क, हस्त > हश्त।

(७) च्छ < श्च, यथा—गच्छ > गश्च, पृच्छ > पुश्च ।

(८) क्ष > श्क, यथा—पक्ष > पश्क, प्रेक्षते > प्रेश्कदि ।

(९) शौरसेनी के समान मागधी में भी स्वरमध्यग 'द' सुरक्षित रहा, यथा—भविष्यति > भविश्शदि ।

(१०) कर्ता कारक एकवचन का प्रत्यय 'अः' > ए, यथा—सः > शे ।

प्राकृत वैयाकरणों ने मागधी की कुछ विकृति तथा विभाषाओं का उल्लेख किया है । चाडाली तथा शाबरी मागधी की विकृतियाँ हैं तथा शाकारी इसकी विभाषा प्रतीत होती है ।

अर्द्धमागधी—यह काशी कोशल की भाषा थी । पालि की भाँति जैन आचार्यों ने इस भाषा मे अपने शास्त्रो की रचना की है । लंबे लंबे समास तथा पुनरावृत्ति की प्रवृत्ति ने अर्द्धमागधी गद्य को रसविहीन कर दिया है परन्तु जैन आचार्यों ने महाराष्ट्री तथा शौरसेनी मे भी शास्त्ररचना की है । उनकी भाषा अर्द्धमागधी से बहुत प्रभावित रही है । अतः इसको जैन महाराष्ट्री एवं जैन शौरसेनी कहा गया है ।

अर्द्धमागधी मे, शौरसेनी एव मागधी दोनो के लक्षण मिलते है । इसमे 'र' तथा 'ल' दोनो ध्वनियाँ विद्यमान हैं और प्रथमा एकवचन का रूप एकारान्त (मागधी के समान) तथा ओकारान्त (शौरसेनी के समान), दोनो प्रकार के उपलब्ध होते है । 'श्' तथा 'ष्' के स्थान पर इसमें 'स' हो गया है । 'स्म' का प्रतिरूप 'स' मिलता है, यथा—लोकेस्मिन् > लोकम्हि > लोयंसि, तस्मिन् > तंसि । अर्द्धमागधी की एक प्रमुख विशेषता यह है कि स्वरमध्यग

लुप्त स्पर्श व्यंजनों का स्थान 'य' ध्वनि ले लेती है। इसको य श्रुति कहते है। यथा—सागर > सायर, स्थित > ठिय, कृत > कय (हिंदी किया)। कही कही स्वरमध्यग सघोष स्पर्श व्यंजन भी सुरक्षित है, यथा—लोगंसि < लोकेस्मिन्। 'स्स' के स्थान पर यहाँ प्रायः 'स' रह गया है और पूर्ववर्ती स्वर दीर्घ हो गया है, यथा—वास < वस्स < वर्ष। अन्य प्राकृतों की अपेक्षा अर्धमागधी में दंत्य व्यंजनों के मूर्धन्यादेश की प्रवृत्ति वहुत अधिक है। संस्कृत की पूर्वकालिक क्रिया के प्रत्यय 'त्वा' एवं 'त्व' अर्धमागधी में 'त्ता' एवं 'च्चा' के रूप मे सुरक्षित रहे। 'तुमुन्नन्त' शव्दों का व्यवहार अर्धमागधी मे पूर्वकालिक क्रिया के समान किया गया, यथा—काउं > कर्तुम् का प्रयोग 'कृत्वा' के स्थान पर हुआ है।

प्राकृत वैयाकरणों ने पैशाची नाम की एक साहित्यिक प्राकृत का और उल्लेख किया है परंतु इसकी कोई साहित्यिक कृति सुरक्षित नहीं रही। कहा जाता है गुणाढ्य नामक महाकवि ने एक वृहत्कथा (वड्डकहा) लिखी थी। अनादृत होने से जो स्वय कवि द्वारा ही नष्ट कर दी गई। इस विशालकाय ग्रंथ के साथ साथ पैशाची का अस्तित्व भी लुप्त हो गया। केवल वैयाकरणों के आधार पर इसकी विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(१) सघोष व्यंजनो के स्थान पर समान अघोष व्यंजनों का प्रयोग, यथा—नगर > नकर, राजा < राच।

(२) स्वरमध्यग स्पर्श व्यंजनो का अलोप

उत्तरकालीन प्राकृत अथवा अपभ्रंश— प्राकृतों की उत्तरकालीन विकसित अवस्था ही अपभ्रंश भाषा है। जैन विद्वान् नमि साधु के 'प्राकृतमेवापभ्रंशः' विकास क्रम के अर्थ मे ही ठीक प्रतीत होता है। विद्वानो ने विभिन्न मत देकर

सीधी बात को उलझन में डाल दिया है। भारतीय आर्य-भाषाओं के वैज्ञानिक क्रमविकास को ध्यान मे रखते हुए यही कहना पड़ता है कि संस्कृत ही प्राकृत भाषाओ से पूर्ववर्ती भाषा होने के कारण साहित्यिक प्राकृतो की प्रवृत्ति बनी और उसी अर्थ मे समस्त प्राकृते अपभ्रंशों की प्राकृत हुई। अपभ्रंश में शौरसेनी तथा महाराष्ट्री प्राकृत से साम्य अधिक मिलता है।

गत लगभग २० वर्षो मे अपभ्रंश साहित्य प्रचुर मात्रा में प्रकाशित हुआ है। महाकाव्य, खंड काव्य, रास तथा प्रकीर्णक आदि ग्रंथ जनता के समक्ष आए है। साधारणतः अपभ्रंश मे प्राकृत भाषाओ का सा ही स्वरविधान, सानुनासिकता एवं निरनुनासिकता, सरलीकरण की प्रवृत्ति तथा देशीय भेद से स, श, प का परिवर्तन पाया जाता है। धातुरूप की जटिलता और भी कम की गई है। वस्तुतः बात यही है कि भाषा का विकासक्रम प्रगतिशील रहा और प्राकृत ने ही अपभ्रंश का रूप धारण कर लिया। अपभ्रंश हमारी आधुनिक आर्यभाषाओ तथा प्राकृत के बीच की भाषा है। यही अपभ्रंश आगे चलकर कभी कभी अवहट्ट, अथवा अवहट्ठा अथवा देसी वयना के नाम से पुकारी गई है।

अब प्रश्न होता है कि 'अपभ्रंश' का स्वतंत्र एवं विशिष्ट रूप कब प्रारंभ हुआ। अपभ्रंश की प्रारम्भिक अवस्था का पता केवल संस्कृत एवं प्राकृत ग्रंथो मे प्राप्त उद्धरणों के आधार पर ही लगाया जा सकता है जिनमें ठीक रूप 'अपभ्रंश' के लक्षण दृष्टिगोचर हों। नाट्यशास्त्र में

३२वे अध्याय में कुछ छंद प्राप्त होते हैं जिनमे अपभ्रंश की कतिपय विशेषताएं उपलब्ध होती हैं ।

१— मोरुल्लउ नचन्तउ । महागमे संभत्तउ ॥

२— मेहउ हतुं णेई जोरहउ । णिच्च णिप्पहे एहु चंदहु॥

३— एसा हंसवहूहि इच्छाकारणाउ ।
गंतुं जु उस्सुइया कंतं संगइया ॥

४—पिय वाइ वायतुं उसुवसंत कालउ ।
पियकामुको पिय मदणं जणंतउ ॥

५—वायदि वादो एह पवाहि रुसिद इव ।

उपर्युक्त छंदों मे 'उकार' प्रवृत्ति तो स्पष्ट है ही, मेह, जोरह आदि संज्ञा शब्द तथा एहु, एह जैसे सर्वनाम रूप और मोरुल्लउ में उल्ल स्वार्थिक प्रत्यय आदि विशेषताएँ ऐसी हैं जो अपभ्रंश की आरंभिक अवस्था की सूचना देती हैं।[1] प्रारंभिक अपभ्रंश का दूसरा नमूना कालिदास कृत विक्रमोर्वशीय नाटक के चतुर्थ अंक मे प्राप्त होता है —

मइं जाणिअं मिअ लोअणि णिसिअरु कोइ हरेइ ।
जाव ण णव तडि सामलो धाराहरु वरिसेइ ॥१॥

गन्धुम्माइय महुअर गीएहिं ।
अज्जन्तेहिं परहुअ रव तूरेंहि ॥
पसरिय पवणुव्वेल्लिर पल्लव निअरु ।
सुललिअ विविह पआरे णच्चइ कप्प अरु[2] ॥२॥

कुछ बिखरे हुए उदाहरण उद्योतनसूरि कृत 'कुवलयमाला

---

१. भविस्सयत्त कहा की भूमिका, पृ० ५१ पर डा० गुणे द्वारा उद्धृत ।

२. प्रामाणिकता में संदेह है ।

कहा' से उपस्थित किए जा सकते है। कुवलयमाला मे गद्य के नमूने भी उपलब्ध होते हैं। यथा[1]—

गद्य का नमूना—'रे रे आरोट्ट। भण रे जाव ण पम्हुसह। जनार्दन पुच्छह कत्थ तुज्झे कल्ल जिमिअल्लया? तेण भणिउ—साहिउं जे तेतउतस्स वलक्खइएल्लयह तणए जिमिअल्लया। तेण भणियं किं सा विसेमहिला वलक्खइएल्लिश्व ?। तेण भणिउ अहहा। सा य भडारिअ संपूरण्ण स्वलक्खक्ख गायत्रि यद्वहसिअ।'

अस्तु, भाषाओं के जन्म काल का निर्धारण करना सरल नहीं है। वह केवल अनुमानतः ही कहा जा सकता है। साधारणतः अपभ्रंश का समय हम ६००–१२०० ई० तक मानते हैं। परंतु जो साहित्य अब उपलब्ध है उसके आधार पर यही कहा जा सकता है कि ई० सन् ८०० से लेकर १४०० ई० तक अपभ्रंश साहित्य का प्रचार विशेष रहा, यद्यपि रचनाएँ संवत् १६०० तक होती रही। अपभ्रंश भी अपने युग मे सर्वसाधारण की कथ्य भाषा रही है। इसका प्रयोग जैन प्रचारकों तथा सिद्धों ने अपनी वाणी मे किया है। अपनी प्रारंभिक स्थिति मे विद्वानों ने इसे ही देसी भाषा स्वीकार किया और विद्यापति के समय तक इसका नाम अवहट्ट हो गया।

शब्द अवहट्ट का प्रयोग ज्योतिरीश्वर ठाकुर के

---

1. अपभ्रंश काव्यत्रयी की भूमिका, पृ० १०४।
'रे रे आरोट्ट। भण रे। यावद् न विस्मरति; जनार्दन। पृच्छसि कुत्र यूयं कल्ये जिमितवन्त। तेन भणितम्—कथयामि, यः स तस्य (?) वलक्षयितस्य मध्ये (?) जिमितवन्तः। तेन भणितम्—कि ... सा [illegible] वलक्षयिता (?)। तेन भणितम् अहह। सा च भट्टारिका सपूर्ण सुलक्षणा गायत्री यादृशी।'

'वर्णरत्नाकर' (१३२५ ई०) में मिलता है[1]। भाट द्वारा ७ भाषाओं के नाम गिनाए गए हैं, उनमे अपभ्रंश भी एक है। प्राकृत पैंगलम् के टीकाकार वंशीधर[2] तथा विद्यापति[3] एवं अद्दहमाण ने अपने संदेश रासक[4] में अवहट्ट का प्रयोग किया है। अपभ्रंश काव्यत्रयी की भूमिका मे विद्वान् लेखक श्री गांधी ने आठवी शताब्दी के उद्योतन सूरि की 'कुवलय माला कहा' का एक उदाहरण दिया है जिसमें 'अवहंस' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस अवतरण मे अपभ्रंश (अवहंस) की प्रशंसा करते हुए कहा है कि अपभ्रंश शुद्ध हो या कि संस्कृत प्राकृतमिश्रित हो, वह पहाड़ी कुल्या की भाँति अप्रतिहतगति है तथा प्रणयकुपिता प्रियतमा के संलाप की तरह मनोहर है[5]।

---

१. 'पुनु कइसन भाट, संस्कृत, पराकृत, अवहट, पैशाची, सौरसेनी, मागधी छहु भाषाक तत्वज्ञ'।

—ज्योतिरीश्वर—वर्णरत्नाकर, कल्लोल ६, पृ० ४४।

२. टीका—प्रथमो भाषा तरडं, प्रथम आद्यः भाषा अवहट्ट भाषा। यया भाषया अय ग्रंथो रचितः सा अवहट्ट भाषा।

—प्राकृत पैंगलम् की टीका।

३. सक्कय वाणी वहुअन भावइ
पाउअ रस को मम्म न पावइ
देसिल वअना सब जन मिट्ठा
तं तैसन जपजो अवहट्टा।

— कीर्तिलता, (नागरी प्र० सभा, १ १६–२२)।

४. अवहट्टय सक्कय पाइयंमि पेसाइयमि भासाए।
लक्खणछंदाहरणे सुकइत्त भूसिय जेहि ॥ ६ ॥

—संदेश रासक, पृ० ३।

५. सक्कय पाय-उभयसुद्धासुद्धपयसमतरंग रंगतवग्गिरं णवपाउ-सजलयप्पत्राहपूरपव्वालिय गिरिणइसरिसं समविसमं पणाय-कुवियपियपणइणीसमुल्लावसरिसं मणोहरं।

—अपभ्रंश काव्यत्रयी को भूमिका, पृ० ९७।

प्राचीन कवि पुष्पदंत[1] ने भी 'अवहंसउ' कहकर इस भाषा को स्मरण किया है। इन सब प्रयोगों के आधार पर हमारा यही निष्कर्ष है कि अवहट्ट अपभ्रंश का ही रूप है। यह भाषा क्षेत्रीय भाषाओं से प्रभावित है। अपभ्रंश के तथा अवहट्ट के विभिन्न रूपों तथा उपलब्ध साहित्य के विषय मे हम आगे चलकर विचार करेगे, परंतु यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि अवहट्ट को मिथिला अपभ्रंश मानना भी वैज्ञानिक अध्ययन के विपरीत है। 'बौद्धगान ओ दूहा' नामक अपभ्रंश ग्रंथ के प्रकाशन से पूर्वी प्रदेशों मे चेतना की एक लहर दौड़ गई। शास्त्री,[2] चटर्जी[3] तथा विनयतोष भट्टाचार्य ने दूहा कोश की भाषा को पुरानी बगला माना, बरुवा ने इसे पुरानी आसामी कहा। राहुलजी ने दोहा कोश का नवीन संस्करण निकलवाया है, उसमें वे लिखते हैं—'इस प्रकार अपभ्रंश की सर्वप्रथम कृति सरह के दोहों के रूपों मे आज भी मौजूद है। महापंडित राहुल का मत नितांत स्पष्ट है कि दोहा कोश की रचना अपभ्रंश मे है। वस्तुस्थिति तो यही प्रतीत होती है कि वास्तव मे अपभ्रंश ने कुछ काल के लिये उत्तरी भारत में एक ऐसी भाषा का रूप धारण कर लिया था जो सर्वत्र

---

१. सक्कय पायउ पुणु अवहंसउ।—पुष्पदंत—महापुराण, संधि ५, कडवक १८, पृ० ८६

२. बौद्ध गान ओ दूहा की भूमिका, कलकत्ता। संस्करण,

३. डा० सुनीति कुमार चटर्जी—ओरिजिन एंड डेवलपमेंट आफ बंगाली लैंग्वेज, पृ० ३९८-३९९।

४. दोहा कोश की भूमिका, (राहुलजी), पृ० ८।

अधिक मात्रा मे समझी जाती थी,[1] उसमें क्षेत्रीय विशेषताओं के साथ एक ऐसा रूप भी प्राप्त होता है जो सर्वव्यापी कहा जा सकता है। प्रायः परवर्ती अपभ्रंश रचनाएँ न्यूनाधिक रूप में सर्वत्र एक रूप रही हैं, उनमें प्रत्येक भाषा के शब्द किसी न किसी रूप मे गृहीत हैं। अतः प्रत्येक भाषाभाषी को उनमे अपनी भाषा का मूल रूप प्राप्त हो जाता है।

'अपभ्रंश' शब्द के अत्यंत प्राचीन तथा मान्य होते हुए भी प्रारंभ मे अपभ्रंश भापा देसी भापा अथवा भाषा के नाम से पुकारी गई है। इस विषय को अधिक न बढ़ाकर हम केवल महा-पंडित राहुल का मत देकर संतोष करेंगे। राहुलजी कहते है— 'अब प्राकृत का स्थान उसकी जिस पुत्री ने लिया, जो विश्लिष्ट नही अश्लिष्ट भाषा थी। धातु रूपो और शब्दरूपों की पुरानी परिपाटी अब बहुत कुछ खत्म सी कर दी गई। लकारों की प्रचुरता समाप्त करके भूतकाल के लिये निष्ठा प्रत्यय का प्रयोग होने लगा। श्लिष्ट से अश्लिष्ट रूप में भाषा का परिवर्तन एक बड़ी क्राति थी, जो कि प्राकृत की उत्तराधिकारिणी भापा मे देखा गया। इस भाषा का स्मरण सबसे पहले हर्ष के समकालीन (६०६-६४८ ई०) महाकवि बाण के हर्पचरित' मे मिलता है। वहाँ इसका आज का रूढ़ नाम 'अपभ्रश' नही मिला है, बल्कि केवल 'भापा' कहकर पुकारा गया है'। 'भाषा' से हमेशा वर्तमान भाषा का ही अर्थ लिया

---

1. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३७०, नाथूराम प्रेमी—
'अपभ्रंश भापा किसी समय द्रविड़ प्रांतो और कर्नाटक को छोड़कर प्राय: सारे भारत में थोड़े बहुत हेर फेर के साथ समझी जाती थी। अतएव इस भापा में भी जैन कवि विशाल साहित्य निर्माण कर गए हैं'।

जाता रहा है। पाणिनि वैदिक (छान्दस्) भाषा से भिन्न भाषा को 'भाषा' कहते हैं, यद्यपि पाणिनि के समय ईसा पूर्व चौथी सदी में प्रचलित भाषा वह अवैदिक संस्कृत भाषा नहीं थी, जिसे पाणिनि 'भाषा' कहते है। गोस्वामी तुलसीदास जिसे 'भाषा भणिति' कहते है, वह निश्चय ही उनके समय की प्रचलित भाषा थी। आज भी उत्तरी भारत मे 'भाखा' से अभिप्रेत है, वर्तमान भाषा। बाण ने जिस मित्रमंडली के साथ घुमक्कड़ी की थी उसमें 'भाषाकविः ईशान: पर मित्र', भी था। भाषा से बाण का अभिप्राय प्राकृत भाषा का नही था, क्योंकि 'हर्षचरित' में वही अपने साथी 'प्राकृतकृत् कुलपुत्रो वायुविकार.' का नाम लिया है। प्राकृत के कवि वायुविकार से भाषाकवि ईशान का नाम अलग देना ही बतलाता है कि बाण के समय प्रचलित भाषा प्राकृत नही थी। नई भाषा का नाम अभी अपभ्रंश रूढ़ नही हो पाया था, पर बाण का भाषा से मतलब अपभ्रंश से ही है[1]।'

राहुल जी का मत उनके निष्पक्ष अध्ययन एवं विवेकपूर्ण दृष्टि का फल है। इसी मत का समर्थन हमे पं० दामोदर कृत 'उक्तिव्यक्ति प्रकरण' नामक ग्रंथ से प्राप्त होता है। आचार्य जिनविजय मुनि उसकी भूमिका मे लिखते है[2]—

'...ग्रंथकार इसमे प्रयुक्त देशभाषा का कोई विशिष्ट नामनिर्देश नही करता है। इसे केवल, सामान्य रूप से अपभ्रंश नाम से उल्लिखित करता है। उस समय संस्कृत एवं प्रौढ़ प्राकृत के सिवा लोकव्यवहार की प्रचलित देशभाषा के लिये विद्वान् जन अपभ्रंश नामका व्यवहार करते थे। अपने समय

१. श्री राहुल— दोहा कोश की भूमिका, पृ० [illegible]।
२. उक्तिव्यक्ति प्रकरण की भूमिका पृ० [illegible]।

में अपने देश में प्रचलित, लोकव्यवहृत अपभ्रंश भाषा का संस्कृत व्याकरण की पद्धति से किस प्रकार का संबंध है और किस प्रकार लोकभाषा के लोकरूढ़ उक्तियों, शब्द प्रयोगों द्वारा संस्कृत के व्याकरण का आधारभूत स्थूल ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है—इसका विचार पंडित दामोदर ने इस ग्रंथ में निबद्ध किया है। इसमें प्रयुक्त 'उक्ति' शब्द का अर्थ है लोकोक्ति अर्थात् लोकव्यवहार में प्रयुक्त भाषापद्धति, जिसे हम हिंदी मे 'बोली' कह सकते हैं। लोकभाषात्मक 'उक्ति' की जो 'व्यक्ति' अर्थात् व्यक्तता(=स्पष्टीकरण), तत्संबंधी विचार का विवेचन इस ग्रंथ में किया गया है अतः इसका नाम 'उक्तिव्यक्ति शास्त्र' रखा गया है।

हमारी मान्यता के विरुद्ध प्रसिद्ध विद्वान् डा० कीथ का मत है। वे अपभ्रंश को मध्यकालीन आर्यभाषा का विकसित रूप न मानकर आभीरों की बोली मात्र लिखते हैं, और दंडी के काव्यादर्श तथा वात्स्यायन के 'कामसूत्र' के श्लोकों का प्रमाण देते हैं[१]। आचार्य केशवप्रसाद मिश्र ने इस मत का पूर्णतः खंडन किया है[२]। उन्होंने स्वयं डा० कीथ के कथन मे असंगति ढूँढ़ निकाली है क्योंकि अंत में स्वयं डा० कीथ ने अपभ्रंश की समानता गुजराती तथा प्राचीन राजस्थानी से स्वीकार कर ली है। डा० श्यामसुंदरदास ने इस विषय को बड़े ही सुंदर शब्दों मे स्पष्ट किया है अतः हम उन्ही के शब्दो के लोभ को हटा नही सके। वे अपने हिंदी भाषा और इतिहास मे लिखते हैं[३]—

---

१. नागरीप्रचारणी पत्रिका, वर्ष ५६, अंक १-४, संवत् २००८
२. वही, ,,
३. डा० श्यामसुंदरदास—हिंदी भाषा और साहित्य।

'हमें यहाँ पिशल और ग्रिअर्सन का पक्ष लेकर उनके मत का समर्थन नहीं करना है, हमें तो केवल यह कहना है कि अपभ्रंश देशभाषा क्या एक प्रकार से राष्ट्रभाषा थी और इसका प्रचार समस्त उत्तरापथ में था। डा० कीथ ने जिनके आधार पर अपना मत स्थिर करने का प्रयत्न किया है उनका आशय ही कुछ और है, जो डाक्टर कीथ के अनुकूल नहीं कहा जा सकता। दंडी ने अपने काव्यादर्श में लिखा है कि काव्यों (दृश्य और श्रव्य दोनों) में आभीर आदि की बोली को, शास्त्रों (व्याकरण आदि) में संस्कृत भिन्न भाषा मात्र को अपभ्रंश कहते हैं। केवल इस उल्लेख के आधार पर यह सिद्धांत नही निकाला जा सकता कि अपभ्रंश आभीर आदि विदेशियों की बोली थी। नाट्यग्रंथों में जहाँ भिन्न भिन्न पात्रों की बोलियों का निर्देश रहता है उसका तात्पर्य यह नहीं होता कि उस पात्र की परंपरा-प्राप्त अथवा जातीय बोली वही है। नाट्यकार इस विषय में केवल पूर्वाचार्यों का अनुसरण कर पात्रविशेष की भाषा का निर्देश कर देते हैं। उससे यह कदापि न समझना चाहिए कि जिस पात्र की जो भाषा नाट्यशास्त्र में लिखी है वह उसकी मातृभाषा है। अथवा यदि यह मान भी लिया जाय कि आरंभ में जब आभीर आदि जातियों ने भारत मे प्रवेश किया उस समय यहाँ प्रचलित प्राकृतों मे उन्ही के विकृत उच्चारण और उन्ही के कुछ स्वकीय शब्दों के मेल से अपूर्णता उत्पन्न हुई हो और इसी नाते अपभ्रंश का संबंध आभीर आदि जातियों से जोड़ा गया हो, तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि आरंभ से अंततक अपभ्रंश उन्हीं की बोली थी

और उस दशा में भी उसमें इतना अधिक वाङ्मय प्रस्तुत हुआ कि भारतवर्ष के प्रामाणिक आलंकारिकों ने संस्कृत और प्राकृत के समान ही अपभ्रंश साहित्य का उल्लेख करना भी आवश्यक समझा। जिस प्रकार विदेशी मुसलमानों के ससर्ग से वनी हुई हिंदुस्तानी भाषा मुसलमानों की भाषा नही, किंतु समस्त देश की राष्ट्रभाषा है उसी प्रकार आभीर आदि के संपर्क से उत्पन्न अपभ्रंश भी समस्त देश की भाषा थी जिसमे प्रचुरता से साहित्यनिर्माण हुआ। मार्कंडेय ने अपने 'प्राकृतसर्वस्व' मे 'आभीरी विभाषा' लिखकर अपभ्रश का पृथक् निर्देश किया है। इससे स्पष्ट है कि आभीरों की जो वोली थी वह साहित्यिक भाषा नही थी। मार्कंडेय ने 'प्राकृतचंद्रिका' के श्लोक उद्धृत कर बहुत सी अपभ्रंशों का उल्लेख किया है जो सब प्रांतीय विभाषाएँ जान पड़ती हैं। आजकल की हिंदी की भी तो बहुत सी विभाषाएँ संप्रति भी व्यवहार मे आती हैं। इससे यह कोई नही कह सकता कि अवधी हिंदी ही हिंदी है, प्रायः समस्त उत्तरापथ मे प्रचलित हिंदी, हिंदी नही है। कीथ ने दूसरा प्रमाण रुद्रट का दिया है और उससे मालूम नही क्या समझकर यह निष्कर्ष निकाला है कि अपभ्रंश कभी देशभाषा नही थी। आश्चर्य है कि जव रुद्रट ने स्पष्ट शब्दो मे 'षष्ठुस्तु भूरि भेदो देशविशेषादपभ्रंशः' लिखकर देशभेद के कारण अपभ्रंश की विभिन्नता का उल्लेख किया है, और उसके टीकाकार नमिसाधु ने इस विषय को उदाहरणो द्वारा नितांत विशद कर दिया है तव भी कीथ को कैसे संदेह हुआ। उसे पढ़कर कोई दूसरा अर्थ लगाया ही नही जा सकता। देशभेद के

कारण जिस भाषा का भेद हो उसको देशभाषा नहीं तो और क्या कहते हैं ? अस्तु, इस प्रसंग को हम और अधिक बढ़ाना नहीं चाहते। हमारा तात्पर्य केवल इतना ही है कि कीथ ने जिन आधारों पर अपने नए मत का निश्चय किया है, वे ठीक नही है, अतएव वे सिद्धात भी भ्रामक हैं'।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्रंश शब्द सर्वप्रथम संस्कृत से इतर विकृत शब्द के लिये प्रयुक्त होता रहा, कालातर मे भाषा के क्रमपूर्वक विकास के अनुसार वह भाषाविशिष्ट के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। क्रमशः मूल भाषा से वैदिक संस्कृत की उत्पत्ति हुई और पुनः वह कट छटकर अथवा सुसंस्कृत होकर साहित्यिक भाषा बनी परंतु कुछ अंश मे जनसाधारण की बोली बनी रही। प्राचीन बोलचाल की भाषा प्रथम प्राकृत के नाम से पुकारी गई जिसको हमने मूल भाषा कहा है। यही पहिली प्राकृत (मूल भाषा) दूसरी प्राकृत मे परिवर्तित हुई। इसकी तीन अवस्था मानी गई है—पहिली पालि, दूसरी शौरसेनी आदि प्राकृते तथा तीसरी अपभ्रंश है। अपभ्रंश का समय ६ठी शताब्दी से १२वी शताब्दी तक का है यद्यपि इसमे रचनाओ का क्रम १६वी व १७वीं शताब्दी तक चलता रहा है। यह अपभ्रंश भाषा एक समय समस्त उत्तरापथ की राष्ट्र-भाषा रही है। यही आगे चलकर पूर्व मे अवहट्ठ के नाम से प्रसिद्ध है। इसी भाषा में मध्ययुग का समस्त साहित्य है जो विशेषकर जैन साहित्य तथा सिद्ध साहित्य के नाम से प्रसिद्ध है। यह साहित्य बहुत कुछ प्रकाशित है और अब भी बहुत सा अप्रकाशित। हम आगे केवल प्रकाशित साहित्य के आधार पर ही अपना कथानुक्रम चलाएँगे। कथानुक्रम

प्रारंभ करने से पहले अपभ्रंश भाषा की विशेषताओं का वर्णन भी देना हम अपना कर्तव्य समझते हैं। अपभ्रंश की मुख्य मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

अपभ्रंश की विशेषताएँ

संक्षेप मे अपभ्रंश की निम्नलिखित विशेषताएँ गिनाई जा सकती हैं—

ध्वनि विकारों मे—(१) संस्कृत एवं प्राकृत से प्राप्त अंत्य स्वरों का ह्रास। (२) उपांत्य स्वरों की मात्रा की सुरक्षा। (३) आद्य अक्षर में क्षतिपूरक दीर्घीकरण द्वारा व्यंजनद्वित्व के स्थान पर एक व्यंजन का प्रयोग और (४) समीपवर्ती स्वरों का संकोच।

पदविधान मे—(१) अकारांत पुंलिंग शब्दरूपों की प्रधानता, (२) लिंगभेद प्रायः समाप्त, (३) प्रथमा, द्वितीया, संबोधन मे विभक्ति प्रत्ययों का अप्रयोग, (४) सविभक्तिक कारकों के केवल दो समूह तृतीया, सप्तमी और चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी तथा इनके रूपों मे भी संमिश्रण और परसर्गों का प्रयोग, (५) पुरुषवाचक सर्वनामों के रूपों में स्वल्पता (६) विशेषणमूलक सर्वनामों के रूप प्रायः नामों के अनुसार, (७) धातुओं के कालरूपों में विविधता की कमी और (८) कृदंत रूपों का अधिक प्रयोग।

अपभ्रंश काल मे भारतीय आर्यभाषा संश्लिष्ट रूप त्याग कर विश्लेषात्मक बन गई। आधुनिक आर्यभाषाओं में यह प्रवृत्ति पूर्णतया विकसित हुई।

ध्वनि विचार

अपभ्रंश में 'प्राकृत' की सभी ध्वनियाँ विद्यमान रहीं।

इस प्रकार अपभ्रंश में निम्नलिखित स्वर एवं व्यंजन ध्वनियाँ मिलती हैं—

स्वर ध्वनियाँ

ह्रस्व— अ, इ, उ, ऍ, ऑ

दीर्घ—आ, ई, ऊ, ए, ओ

और ऋ (सिद्ध हेम० ८. ४. ३२९); यथा, तृणु, सकृदु इत्यादि में।

अपभ्रंश की अनुलेखन पद्धति पूर्णतया प्राकृत एवं संस्कृत की अनुगामिनी रही। ऍ, ऑ (ह्रस्व) जैसी नवीन ध्वनियों के लिये नवीन चिह्न नहीं बनाए गए। उत्तर भारत के लेखक ह्रस्व 'ऍ' 'ऑ' ध्वनियों के लिये 'इ' 'उ' का व्यवहार करते रहे। इसी प्रकार 'अ' के संवृत एवं विवृत भेदों की भिन्नता प्रदर्शित करने के लिये भी कोई नवीन चिह्न काम मे नहीं लाए गए। विभिन्न आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं (बंगाली, अवधी इत्यादि) में 'अ' के उच्चारण की भिन्नता से अनुमान किया जा सकता है कि अपभ्रंश में भी 'अ' का उच्चारण भिन्न भिन्न रहा होगा। परंतु अनुलेखक पद्धति की रूढिवादिता के कारण लिखित साहित्य में इसके कोई प्रमाण नहीं मिलते। इसी प्रकार लुप्त मध्यग व्यंजन के स्थान पर किसी किसी लेखक ने 'अ' रहने दिया, किसी ने 'य' श्रुति का समावेश किया और किसी ने पूर्व स्वर अथवा व्यंजन के साथ इसकी संधि कर दी। अनुलेखन पद्धति की इस प्राचीनपरकता के कारण अपभ्रंश की ध्वनियों का ठीक ठीक ज्ञान प्राप्त कर सकना असंभव सा हो गया है।

व्यंजन ध्वनियाँ

'क, ख, ग, घ' (कंठ्य), 'च, छ, ज, झ' (तालव्य), 'ट, ठ, ड, ढ, ण' (मूर्धन्य), 'त, थ, द, ध, न' (दंत्य),

'प, फ, ब, भ, म' (ओष्ठ्य), 'य, र, ल, व' (अन्तस्थ), 'श' (पूर्वी अप०), 'स, ह' (ऊष्म)।

स्वर विकार

प्राकृत वैयाकरणों ने अपभ्रंश मे स्वरपरिवर्तन को अनियमित बताया है, परंतु वास्तव में इस संबंध मे अपभ्रंश ने साहित्यिक प्राकृतों का अनुसरण किया है। यहाँ हम अपभ्रंश के उन मुख्य मुख्य स्वरविकारों का उल्लेख करेंगे जो आ० भा० आ० भाषाओं मे विकसित हुए।

(१) अंत्य स्वरलोप अथवा ह्रस्वीकरण; अंत्य स्वर के ह्रस्वीकरण एवं लोप की प्रवृत्ति मध्यभारतीय आर्यभाषा में हम पीछे देख चुके हैं। अपभ्रंश मे यह प्रवृत्ति चलती रही और आधुनिक भा० आ० भाषाओं के विकास में इस प्रवृत्ति ने बहुत भाग लिया। बिहारी, कश्मीरी, सिंधी और कोंकणी के अतिरिक्त अन्य सभी आ० भा० आ० भाषाओं में यह प्रवृत्ति पाई जाती है। क्षेत्रित > खेती, उपाध्याय > उज्झा (हिं० ओझा) में अंत्य स्वर का लोप हो गया है। अंत्य स्वर के ह्रस्वीकरण के उदाहरण ये हैं—पिअ < प्रिया; संझ < संध्या; अवेज्ज (पूर्वी-अप०) < अविद्या। ह्रस्वीकरण की प्रवृत्ति के फलस्वरूप अम्हि < *अस्मे; तुम्हि < तुष्मे इत्यादि मे ए > इ हो गया है। इसी प्रकार परि < परम, सइं < स्वयम्; अवसि < अवश्यम् इत्यादि भी इसी प्रवृत्ति के उदाहरण हैं।

(२) उपधा स्वर की सुरक्षा, अपभ्रंश मे उपधा स्वर को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है; यथा गोरोअण < गोरोचन, खवणउ < क्षपणक, अंधआर < अंधकार; भुवंगम < भुजंगम; पोक्खर (पूर्वी अप०) < पुष्कर। परंतु कही कहीं उपधा स्वर मे मात्रा परिवर्तन हो गया है, यथा—पहण < पाषाण, बम्भचार < ब्रह्मचर्य, गुहिर < गभीर, सरुव < स्वरूप।

कहीं कही अंत्याक्षर में व्यंजन ध्वनि के लोप हो जाने पर उपधा और अंत्यस्वर का संकोच भी हो गया है। यह प्रवृत्ति विशेषतया पूर्वी अपभ्रंश मे परिलक्षित होती है; यथा—मट्टी < *मट्टिआ, मृत्तिका; इंदि < इंदिय < इंद्रिय; पाणी < पानीय। पश्चिमी अपभ्रंश में इस प्रवृत्ति के उदाहरण विरल हैं। केवल खेत्ती < खेत्तिआ < क्षेत्रिता (हि० खेती); पराई < परकीया; पोट्टलि < पोट्टलिका (हि० पोटली), चौरासी < चतुरशीति; पुत्थ एवं पोत्था < पुस्तक (हि० पोथी, पोथा) इत्यादि कुछ ही उदाहरण मिलते है।

स्वराघात के अभाव अथवा समीकरण या विषमीकरण के कारण भी उपधा स्वर मे गुणात्मक परिवर्तन हो गए हैं; यथा—खयर < खदिर; मज्झिव < मध्यम, उत्तिम (पूर्वी अप०) < उत्तम इत्यादि।

(३) अपभ्रंश में शब्द के आदि अक्षर के स्वर को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति पाई जाती है। इसका कारण संभवत: यह था कि स्वराघात प्राय: आदि अक्षर पर पड़ता था। परन्तु स्वराघात विहीन आदि अक्षर के स्वरों मे मात्रिक परिवर्तन अथवा लोप के उदाहरण भी मिलते है। गहिर < गंभीर, जहण < जघन; ढक्क < ढक्का; तलाउ < तडाग, वहुत < वहुत्व, वयणु < वचनम्, खाय < खात < खादित, गाम < ग्राम; झाण < ध्यान इत्यादि शब्दों मे आदि स्वर सुरक्षित हैं; परंतु कासु < कस्सु < कस्य, तासु < तस्य, अप्पाण < आत्मन्, जीह < जिह्वा, तिण्ण < त्रीणि; ऊसव < उत्सव इत्यादि मे आदि स्वर में मात्रिक परिवर्तन और भितर < (भीतर) < अभ्यन्तर, रण्ण < अरण्य; रहट्ट < अरघट्ट इत्यादि में उसका लोप हो गया।

आदि अक्षरगत स्वर के अतिरिक्त, उपधा से पूर्ववर्ती अक्षर

स्वर जो 'क्, ग्, च्, ज्, त् द्, प्,' के लुप्त होने के कारण सन्निकट आ गए थे, वे या तो (१) संकुचित होकर एकाकार हो गए; यथा, जेह<जइस<याहश; सुहेल्ली<सुखकेली; चोत्थी<चतुर्थी (हिं० चौथी); चोद्दह<चतुर्दश (हिं० चौदह); पोम<पदुम<पद्म; उआर<उपकार; सोण्णार< स्वर्णकार; दूण<द्विगुण; उखल<उदूखल इत्यादि; अथवा (२) उसके स्थान पर 'य' 'व' श्रुति का संनिवेश हो गया; यथा, सहयार<सहकार।

सानुनासिकता तथा निरनुनासिकता की प्रवृत्तियाँ प्राकृत काल से चली आ रही थीं। अपभ्रंश ने भी इनको अपनाया। अकारण अथवा स्वतः सानुनासिकता के उदाहरण पंखि< पक्षिन्; वंक<वक्र इत्यादि हैं और हउं<अहकम्; सइं<स्वयम् इत्यादि मे सानुनासिकता क्षतिपूर्ति के रूप मे है। इसी प्रकार सीह√सिंह; बीस<विंशति इत्यादि निरनुनासिकता के उदाहरण हैं।

अपभ्रंश मे पररूप ग्रहण—यथा, झुणि∧ध्वनि; विउस< विद्वस्; तिरिच्छ<तिर्यक् इत्यादि; स्वरभक्ति-यथा, मुरुक्खे< मूर्ख; कसण<कृष्ण इत्यादि। अपिनिहित—यथा, केर< कार्य; अच्छेरय<आश्चर्य, पोम<पद्म इत्यादि की प्रवृत्तियाँ भी साधारणतया दिखाई देती हैं।

व्यंजन विकार

अपभ्रंश में आदि व्यंजन को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति सामान्यतः परिलक्षित होती है परंतु आदि व्यंजन के महाप्राणकरण, यथा—खिल्लियइं<कीलका, √झलण<ज्वल् (हिंदी 'झलक' 'झलमल' इत्यादि शब्द इसी धातु से संबद्ध हैं) तथा इसके विपरीत

अल्पप्राणकरण, यथा—कुहिय < *खुहिय < क्षुभित; एवं मूर्धन्यीकरण, यथा—ठड्ढ < स्तब्ध; वहिणि < भगिनी, के उदाहरण भी मिल जाते हैं। इसी प्रकार आदि य > ज होता है, यथा—याति > जाइ, यमल > जमल।

प्राकृत के समान अपभ्रंश में भी प्रा० भा० आ० भाषा के अंत्य व्यंजनों का लोप हो गया, यथा—कृत < किय; गज < गय; गत < गय।

मध्यग व्यंजनों का अपभ्रंश मे प्रायः लोप हो गया है और महाप्राण व्यंजनों के स्थानपर 'ह' रह गया है; यथा—परकीया > पराइय; योगिनि > जोई; गोरोचन > गोरोअण; राजन् > राअ; चतुर्थ > चउत्थ; पाद > पाअ; पाय > पाअ; सखि > सहि; दीर्घ > दीह; कथा > कहा; अधस्तात् > अहुठ्ठइं; मुक्ताफल > मुक्ताहल; शोभा > सोह; कही कही लुप्त मध्यग व्यंजन के स्थान पर 'य' 'व' श्रुति का सन्निवेश भी किया गया है; यथा—स्तोक > थोवा; युगल > जूयल; लोचन > लोयण; गजपुर > गयउर; भूत > भूव; उदधि < उवहि; सपत्न > सयत्त।

यद्यपि अपभ्रंश में मध्यग व्यंजन के लोप करने की प्रवृत्ति अधिक दिखाई देती है; परंतु वैकल्पिक रूप से उनको कही कही सघोष भी किया गया है; यथा—विक्षोभकर > विच्छोहगरु; विचिकित्सा > विजिगिच्छा; आगत > आगदो; दीप > दीव; सुखेन > सुघि; शपथ > सवधु (शौ०), सफल > सभल (शौ०); और कही कही मध्यग व्यंजन सुरक्षित भी हैं, यथा—एक > एक्कु; नुगज > नुगय, अचेतन > अचेयण; अचिन > अजिय; एतावत् > एत इत्यादि।

स्वरमध्यग 'म' अपभ्रंश में प्रायः सुरक्षित है, परंतु वैकल्पिक रूप से वँ में भी बदल गया है, यथा—कमल > कवँल एवं कमल इत्यादि।

अपभ्रंश मे संयुक्त व्यंजन क्ष > क्ख–ख (पूर्वी अप०), छ—च्छ; (पश्चि०अप०); यथा – पक्षी > पाखी (बंगला), (पच्छी—पंछी), त्व > तु (पू० अप०), (प०-अप०) यथा—त्वम् > तुहुं (पू० अप०); पइं (प० अप०), द्व > व, यथा - द्वादश > बारह; द्वे > वे; द्वार > बार। संयुक्त 'र' के लोप की प्रवृत्ति विशेष है, यद्यपि कहीं कही वह सुरक्षित भी है; यथा – चक्रवर्ती > चक्कवै प्रिय > प्रिय; ध्रुव > ध्रुव इत्यादि।

ष्ण > न्ह, यथा—कृष्ण > कान्ह; स्म > म्ह; यथा-अस्मै > अम्ह।

अपभ्रंश को एक विशेषता है व्यंजन के साथ 'र' का आगम; यथा –पश्यति > प्रस्सदि; व्यास > व्रास इत्यादि। यह प्रवृत्ति भाषा में संस्कृत की उदात्तता लाने के प्रयत्न-स्वरूप चल पड़ी होगी।

प्राकृतो के समान अपभ्रंश मे भी 'ड, द, न, र' के स्थान पर 'र'; यथा—अवरटित > ओरालिय, प्रदीप्त > पलित्त; नवनीत > लोण, दारिद्रय > दालिद्द तथा 'व-व' के स्थान में 'म', यथा – शवर > समर; यावत् > जाम एवं 'व' के स्थान 'व', यथा—वचन > वअण के प्रयोग की प्रवृत्ति चलती रही। इसी प्रकार व्यंजन विपर्यय; यथा - वाराणसी > वाणारसी; दीरघ > दीहर; ह्रद > द्रह, व्यंजन द्वित्व, यथा–काच > कच्च; यूथ > जुत्थ, एवं क्षतिपूरक सानुनासिकता, यथा-वयस्या > वयंसि; वक्र > वंकी के उदाहरण भी अपभ्रंश मे मिल जाते हैं।

शब्दरूप

अपभ्रंश की निजी विशेषताएँ, शब्दरूपों मे अधिक स्पष्ट होती है। ध्वनिविकार मे अपभ्रंश ने प्राकृत की परंपरा को आगे बढ़ाया, परंतु शब्दरूपों के निर्माण में म० भा० आ० भाषा की एवं एकीकरण सरलीकरण की प्रवृत्तियों को विकसित करने के साथ साथ इसने कुछ अपनी नवीन प्रवृत्तियाँ भी प्रदर्शित की जो आ० आ० भाषाओं मे पूर्णतया विकसित हुईं।

प्रा० भा० आ० भाषा के व्यंजनांत प्रातिपदिक 'पालि' के समय से ही लुप्त होने लगे थे। अपभ्रंश ने अंतिम व्यंजन का लोप कर, यथा—आत्मन > अप्प, जगत् < जग; मनस > मण; अथवा उसको अकार युक्त कर, यथा—आत्मन् > अप्पण; आयुष् > आउस; युवन् > जुवाण, सभी प्रातिपदिकों को स्वरांत बना लिया। परंतु अपवादस्वरूप कुछ व्यंजनांत रूप भी अपभ्रंश मे मिल जाते है; यथा—रायाणो > राजान, वभाण > ब्रह्माण इत्यादि। ऋकारात प्रातिपादिकों के 'ऋ' को अपभ्रंश ने 'अर' अथवा 'इ' मे परिवर्तित कर दिया, यथा—पितृ > पियर; भ्रातृ > भायर—भाइ, भर्तृ > भत्तार; मातृ > माइ इत्यादि।

स्वरात प्रातिपदिक भी अपभ्रंश मे विविधता त्यागकर एकरूपता की ओर अग्रसर हुए। अंतिम दीर्घ स्वर को ह्रस्व करने की अपभ्रंश की प्रवृत्ति ने इस कार्य मे बहुत हाथ बंटाया। इससे दीर्घ स्वरात प्रातिपदिक अपभ्रंश में समाप्त-प्राय हो गए; यथा—पूजा > पुज्ज, क्रीडा > कील, [illegible] > सियय; मालती > मालइ, विपत्ती > [illegible] निशा > णिसि कथा > कहि। इस प्रकार अपभ्रंश मे केवल [illegible] प्रातिपदिक ही रह गए, और प्रातिपदिकों के [illegible]

से मुक्त होकर आर्यभाषा की बहुत कुछ जटिलता दूर हो गई।

'अ इ उ' कारांत प्रातिपदिकों में भी अकारांत प्रातिपदिकों की ही प्रधानता रही और 'इ उ' कारांत प्रातिपदिकों के कारक रूप बनाने के लिये, इनके साथ 'अकारांत' प्रातिपदिकों के विभक्तिक प्रत्ययों का व्यवहार किया जाने लगा; यथा—तृतीया एक० व० मे देवें <देवेन; गिरिएँ <गिरिणा, महुएँ < मधुना।

प्रातिपदिकों एवं शब्द रूपों के एकीकरण का प्रभाव अपभ्रंश के लिंगविधान पर भी पड़ा। 'अ इ उ' कारांत प्रातिपदिकों के रूपों में बहुत कुछ समानता होने के कारण और सभी लिंगों मे एक प्रकार के ही विभक्तिक प्रत्यय जुड़ने के कारण इन प्रातिपदिकों के शब्दरूपों से लिंगभेद का ज्ञान नही हो पाता; यथा—कुम्भइं <कुम्भान् (पुं०), रहइं <रेखा (स्त्री०) एवं अम्हइं <अस्मे (उभय लि०)। 'आ ई ऊ' कारांत सभी प्रातिपदिक अपभ्रंश में स्त्रीलिंग है। परंतु 'आ ई ऊ' कारांत प्रातिपदिक अपभ्रंश में अत्यल्प संख्या में है और 'इ उ' कारांत प्रातिपदिकों में 'अकारांत' प्रातिपदिकों के विभक्तिक प्रत्ययों का ही प्रयोग करने से लिंगविधान के क्षेत्र मे अपभ्रंश में 'पुंलिग' की प्रधानता स्थापित हो गई।

नपुंसक लिंग अपभ्रंश में लुप्त हो गया, स्त्रीलिंग के रूप भी बहुत कम रह गए और लिंगविपर्यय के कारण 'अ इ उ' कारांत प्रातिपदिकों मे पुंल्लिग रूपों का प्राधान्य हो गया।

द्विवचन का लोप पाली और प्राकृत मे ही हो चुका था; अतः अपभ्रंश मे भी द्विवचन लुप्त रहा और इसको प्रकट

करने के लिये 'द्वि' शब्द की सहायता ली गई; यथा—'धेनु दुइ'=दो गाएँ, 'महु कंतहो वे दोसडा'=मेरे प्रिय के दो दोष है, इत्यादि ।

म० भा० आ० भाषा में कारक विभक्तियों के ह्रास की जो प्रवृत्ति पाली से प्रारंभ हुई थी, वह अपभ्रंश में उत्तरोत्तर बढ़ती गई। अपभ्रंश मे केवल तीन कारक समूह हैं—१. कर्ता, कर्म, संबोधन, २. करण, अधिकरण और ३. संप्रदान, संबंध और अपादान।

कर्ता कर्म संबोधन समूह के एकवचन में प्रायः शब्द का प्रातिपदिक रूप मिलता है; यथा—पुत्त, देव, अथवा उकारांत, एकारांत, ओकारांत; यथा—पुत्तु, पुत्तों, सुन्नए, या 'उ' अथवा 'ऊँ' के योग से निष्पन्न; यथा—पुत्ताउ, पुत्तऊँ, मिलता है। 'उकारांत' रूप अपभ्रंश की प्रधान विशेषता है। ध्वनि संबंधी दुर्बलता के कारण प्राकृत का 'ओकारांत' रूप अपभ्रंश में 'उकारांत' हो गया। 'एकारांत' रूप पूर्वी अपभ्रंश में मिलते हैं, इनको मागधी प्राकृत का प्रभाव समझना चाहिए। प्रथमा एकवचन में आकारांत रूप भी कही कही मिल जाते हैं; यथा—ढोल्ला।

इस समूह के बहुवचन मे प्रायः एकवचन के 'अ, आ-कारांत' रूप मिलते हैं। 'अ इ उ' कारात नपुंसक लिग प्रातिपदिकों के साथ अंतिम स्वर को दीर्घ कर अथवा विना ऐसा किए ही 'इ' के संयोग से भी बहुवचन का रूप बनाया गया है; यथा—कमलइं-कमलाइं, वारिइं-वारीइं, महुइं-महूइं। कहीं कही पुंलिङ्ग 'अकारांत' शब्द के बहुवचन में भी इस नपुंसकलिंग रूप का प्रयोग हुआ है; यथा—चोरइं ~ चौराः, हारइं > हारान्।

करण, अधिकरणसमूह के एकवचन में, अपभ्रंश ने हूँ, इ, ए, एँ, अहि, एँहि, ऍहि, इण, एण विभक्तियों का प्रयोग किया है; यथा - पुत्तिं-पुत्ति, देवे देवे, गिरि गिरिए', मुद्धए मुद्धइ, पुत्तेहि-हि, पुत्तिण पुत्तण। 'इण' और एण' विभक्ति प्रत्यय प्राकृत से अपभ्रंश मे चले आए। संपूर्ण अपभ्रंश साहित्य में इ और ए रूपों का बाहुल्य है; ये अपभ्रंश के अपने रूप हैं। इस समूह के वहुवचन के रूप 'हि' अथवा 'हि' के योग से वनाए गए हैं; यथा, देवहिं, गिरिहिं, मुद्धिहि, मुद्धहि इत्यादि। संस्कृति के तृतीया वहुवचन की विभक्ति एभिः तथा सप्तमी वहुवचन की विभक्ति 'अस्मिन्' के विकृत रूप एहि और अहिं के संमिश्रण एवं विनिमय से अपभ्रंश के इन विभक्ति प्रत्ययों का प्रादुर्भाव जान पडता है।

संप्रदान, संवंध कारक के रूपों में एकरूपता अपभ्रंश से पूर्व ही प्रारंभ हो चुकी थी। अपभ्रंश काल में अपादान कारक के लिये भी इसी रूप का प्रयोग होने लगा। इस समूह के एकवचन के रूप प्रधानतया 'ह-हे-हु-हो' योग से निष्पन्न हैं; यथा देवहे देवहु (पंच०) देवहो देवह, गिरिहे, मुद्धहे और वहुवचन मे 'हु-हुं ह' का प्रयोग हुआ है; यथा—देवहुं (पंच०) देवहुं (च० ष०); गिरिहुं (च०, पंच०, ष०) गिरिहं (च० ष०) मुद्धहु (च०, पंच०, ष०) इत्यादि।

अपभ्रंश मे एक विशेप प्रवृत्ति यह पाई जाती है कि कहीं कहीं कर्ता, कर्म और संवंध कारक के एकवचन वहुवचन की विभक्ति का लोप कर दिया गया है। अचार्य हेमचंद्र ने भी विभक्तिलोप की इस प्रवृत्ति की ओर ध्यान दिया है (सिद्ध हे० ८।४।३४४-४५)। उन्होने लुप्त विभक्तिक पदो के ये उदाहरण दिए हैं—

जिवँ जिवँ बंकिम लोअणह णिरु सामलि सिक्खेइ ।
तिवँ तिवँ अम्महु निअय सर खर पत्थरि तिक्खेइ ।।

यहाँ 'बंकिम' (<वक्रिमाणं) में द्वितीया विभक्ति 'सामलि' (<श्यामला) में प्रथमा तथा 'सर' (<शरं) में द्वितीया विभक्ति लुप्त हैं, तथा 'अइमत्तहं चत्तंकुसहं गयकुंभइँ दारंतु' में 'गय' (<गजानां) में षष्ठी विभक्ति का लोप किया गया है। इसी प्रकार सप्तमी विभक्ति के लोप के उदाहरण भी मिल जाते हैं; यथा 'महुज्झ घर सिद्धात्था बंदेइ' मे 'घर' के स्थान पर घरे < गृहे होना चाहिए था ।

लुप्तविभक्तिक पदों के कारण वाक्यविन्यास मे अस्पष्टता आना स्वाभाविक था और विभक्ति प्रत्ययों के घिसते रहने एवं अत्यल्प संख्या में अवशिष्ट रह जाने से अर्थबोध में कठिनाई पड़ने लगी। इन बाधाओं को 'अपभ्रंश' में अनुसर्गों या परसर्गों के प्रयोग द्वारा दूर किया गया। 'परसर्ग' रूप की दृष्टि से स्वतंत्र शब्द थे और किसी पद के साथ कारक संबंध प्रकट करने के लिये इनका प्रयोग किया गया। परंतु विभक्ति प्रत्यय से परसर्ग भिन्न हैं, क्योंकि शब्दरूप में परिवर्तन होने पर भी इनमे परिवर्तन नही होता। अपभ्रंश में निम्न परसर्गों का प्रयोग मिलता है।

करण कारक में 'सहुं' एवं 'तण' परसर्गों का व्यवहार किया गया है। सहुं' का संबंध संस्कृत'सह' अथवा 'सम' से जोड़ा जाता है; यथा 'जउ पवसन्ते सहुँ न गयऊ' (यदि प्रवसते हुए (प्रिय) के साथ न गई, हेम० ४।४१६) ।

संप्रदान में 'रेसि' तथा 'केहि' परसर्ग मिलते हैं; यथा, 'तउ केहि अन्नहि रेसि' (हेम० ८ ४. ४२५) । अपादान में

'होंतउ' और 'हांत' परसर्ग आए हैं; यथा, 'तहां होंतउ आगदो' (हेम० ८. ४. ३५५)। 'अह होंतु (कि) न सच्चविउ' (सनत्कुमार चरिउ), संबंध कारक में 'केरअ, केर एवं केरा' तथा अधिकरण में 'थिउ, मज्झि तथा मज्झे' का प्रयोग हुआ है। केरअ-केर - केरा संस्कृत √कृ से संबंधित हैं। 'थिउ' < स्थित, यथा; हिअअ थिउ जइ नीसरइ, जाणउ मुंज सरोसु' (हेम० ८. ४. ४३९) और मज्झि मज्झे < मध्य; यथा, 'चंपय कुसुमहो मज्झि (हेम० ८. ४. ४४४), 'जीवहि मज्झे एइ' (हेम० ८. ४. ४०६)।

षष्ठी एवं सप्तमी के परसर्गों का अपभ्रंश में प्रचुर प्रयोग हुआ; चतुर्थी परसर्ग का प्रयोग भी कुछ कम नहीं मिलता, परंतु तृतीया एवं पंचमी के परसर्ग अभी तक इतने अधिक प्रयोग में नहीं आए। संज्ञा शब्दों की अपेक्षा सर्वनाम शब्दों के साथ परसर्गों का व्यवहार अधिक हुआ है। सर्वनाम शब्द संज्ञा शब्दों की अपेक्षा अधिक व्यवहार में आते हैं; अतः उनके अर्थ अपेक्षाकृत शीघ्रता से घिसकर क्षीण हो गए है और तब उनके साथ परसर्गों का प्रयोग आवश्यक हो गया।

सर्वनाम

अपभ्रंश में पुरुषवाचक सर्वनामों के निम्न रूप मिलते हैं—
उत्तमपुरुष एकव० प्र० हउं, द्वि० तृ० मइं, पंच० प०, च० महु मज्झु, स० मई महु मज्झु।

वहुवचन—प्र० द्वि०—अम्हे—अम्हइं, तृ० अम्हेंहि, च०, पंच० प०-अम्हहं, स० अम्हासु। मध्यमपुरुष एकवचन - प्र० तुहुं, द्वि, तृ०, स०-पइं तइं, च०, प०, पंच०-तउ, तुज्झ, तुध्र।

वहुवचन—प्र० द्वि०—तुम्हे तुम्हइं, तृ०—तुम्हेंहि, च०, पं०, प०—तुम्हहं, स०—तुम्हासु।

अन्य पुरुष— (पुं० नपुं०) एकवचन प्र०—सो सु, द्वि०—तं, तृ०—तेण ते, च०, ष०—तसु तासु तस्सु तहो, पंच०—ता तौ तहाँ, स०—तम्मि तद्र ।

बहुवचन प्र०—ते ति, द्वि०—ताइं तें, तृ०—तेहिं, च०, ष०—तहं ताहं ताण, स०—तहि ।

स्त्रीलिंग—एकवचन प्र०—सा, द्वि०—तं, तृ०—ताए, च०, ष०—तहे तासु ।

इन रूपों से स्पष्ट है कि उत्तमपुरुष एकवचन की प्रकृति 'अहु' और 'म' एवं बहुवचन की 'अम्ह' है। मध्यम पुरुष के रूपों में प्रथमा का 'तुहुं' अथवा 'तुहु' अपभ्रंश का अपना रूप है। जान पड़ता है अस्म > अहु के सादृश्य पर तुष्म > तुहु रूप अपभ्रंश ने अपनाया। पइं एवं 'तुध्र' भी अपभ्रंश के अपने विशेषण रूप हैं।

दूरवर्ती निश्चयवाचक सर्वनाम संस्कृत 'अदस' अपभ्रंश में 'ओइ' (हिं० वह) के रूप में आया।

निकटवर्ती निश्चयवाचक सर्वनाम संस्कृत 'एतद्' एवं 'इदम्' में से एतद् > एहु के रूप मे अपभ्रंश में अधिक प्रयुक्त हुआ। इसके निम्न रूप मिलते हैं—

पुंलिग—ए०व० एहो, (हिं० यह), व०व० एह (हिं० ये)।

स्त्रीलिंग—ए०व० एह, व०व० एईउ एहाउ ।

नपुंलिंग—ए०व० एहु, व०व० एइइं एईइं एहाइं ।

संबंधवाचक सर्वनाम संस्कृत 'यद्' ने अपभ्रंश में 'जे जो' रूप ग्रहण किए। प्रश्नवाचक एवं अनिश्चयवाचक संस्कृत 'किम्' की अपभ्रंश मे तीन प्रकृतियां मिलती हैं क, कि, कवण। इनमे 'कवण' अधिक प्रचलित हैं। इनमें

वि अथवा पि अपि जोड़कर अनिश्चयवाचक रूप बनाए गए; यथा—केवि, कुवि, किंपि, केणवि इत्यादि।

निजवाचक संस्कृत 'आत्मन्' अपभ्रंश में 'अत्त' एवं-अप्प इन दो रूपों में प्रयुक्त हुआ।

परिमाणवाचक सर्वनाम—वड्ड, त्तुल, त्तिय, त्तिउ प्रत्ययों के योग से बने (यथा— जेवड्ड, जेतुल, जेत्तिय, जित्तिउ) हिं० जितना (इत्यादि)। गुणवाचक सर्वनाम 'इसो एहु' के योग से (यथा—जइसो जेहु) (हि० जैसा) तथा संबंधवाचक 'रिस' प्रत्यय जोड़कर; यथा—तुम्हारिस (हिं० तुम्हारा), हम्हारिस (हिं० हमारा) बनाए गए।

धातुरूप

अपभ्रंश मे धातुरूपों के सरलीकरण एवं एकीकरण की प्रवृत्ति बहुत आगे बढ़ गई। आत्मनेपद परस्मैपद का भेद म०भा०आ० भाषा के प्रारंभकाल से ही समाप्त होने लगा था और अपभ्रंश तक आते आते वह लुप्त हो गया। गणभेदों की जटिलता भी अपभ्रंश काल तक समाप्त हो गई। धातुओं के रूप प्रायः भ्वादिगण का अनुसरण करने लगे। प्रा०भा०आ० भाषा की व्यंजनांत धातुएँ अपभ्रंश मे स्वरांत हो गईं, क्योंकि अपभ्रंश ने उनका विकरणयुक्त रूप अपनाया; यथा–सं०√चल् > अप० (चल) 'अ' विकरण जोड़कर। अपभ्रंश में प्रा०भा०आ० भाषा की अनेक धातुएं उपसर्ग और प्रत्यय सहित गृहीत हुईं; यथा— वइसइ विट्ठह < उपविष्ट। अनेक अनुरणनात्मक धातुओ का अपभ्रंश में प्रयोग होने लगा; यथा—खुसखुसइ, घुढघुडइ, खुडक्कइ, घुडक्कइ आदि। प्राकृत काल से ही अनेक देसी धातुओं का प्रयोग होने लगा था। अपभ्रंश में देशी धातुओ की संख्या बढ़ती गई।

अपभ्रंश में कालरचना के संबंध में तिङंत रूपों के स्थान पर कृदंत रूपों का व्यवहार बहुत बढ गया। तिङंत रूप केवल वर्तमान एवं भविष्यत् में चलते रहे। अन्य कालों में कृदंत रूपों के साथ अहइ, अच्छ जैसी सहायक क्रियाओं का प्रयोग किया गया। इससे प्रा०भा०आ० भाषा की धातु-रूप संबंधी जटिलता समाप्त हो गई और आ०आ० भाषाओं का मार्ग प्रशस्त हो गया।

अपभ्रंश में निम्नलिखित तिङंत रूप मिलते हैं—

सामान्य वर्तमान काल—

एक०व० अन्यपु०—करइ करेइ, म०पु०—करहि करसि, उ०पु० करहुँ करिमु।

व०व० अन्यपु०—करहिं करंति, म०पु०- करहु करह, उ०पु०-करहुँ करिमु।

वर्तमान आज्ञार्थ—करि करु करे।

विध्यर्थ—

एकव० अन्यपु०—करिज्जउ, म०पु०—करिज्जहि,—इ, उ०पु०-करिज्जउँ।

व०व० अन्यपु०—करिज्जंतु,—ज्वहु, म०पु०—करिज्जहु, उ०पु०—किज्जउँ।

सामान्य भविष्यत्-काल—

एकव० अन्यपु०—करेसइ करेहइ, म०पु०—करेसहि करेसघि करीहिसि, उ०पु०—करेसमि करीहिमि करिमु।

व०व० अन्यपु०—करेसहिं करेहिंति, म०पु०—करेसहु करेसहो, उ०पु०—करेसहुं।

कृदंत रूप मूलतः विशेषण होते हैं। अतः उनमें लिंग वचन का भेद होता है। अपभ्रंश में कृदंत रूप निम्नलिखित हैं।

वर्तमान कृदंत—'अंत'—'माण',—'अंती' (स्त्री०) के योग से; यथा—पवसंत, जोअंत, जोअंती (स्त्री०), वट्टमाण आदि।

भूत कृदंत—'इअ'—'हउ',—'इय',—'इयो',—'इअअ', 'इऔ' के योग से; यथा—किअ, भणिय, हुअ, गय, इत्यादि।

भविष्य और विधिकृदंत—'इएव्वउं'—'एव्वउं', 'एवा'-'एव्व' जोड़कर; यथा, करिएव्वउं, मरेव्वउं, सोएवा, देक्खेव्व।

पूर्वकालिक क्रिया—'इ'—'इउ'—'इवि',—'अवि',—'एप्पि'—'एप्पिणु',—'ए-वि',—'एविणु' के योग से; यथा—करि, करिउ, करिवि, करवि, करेप्पि, करेप्पिणु, करेवि, करेविणु।

अपभ्रंश में धातु का प्रेरणार्थक रूप 'अव' विकरण के योग से; यथा-दावइ (√दा 'देना'), चिंतवइ (√चिंत), ठावइ (√स्था—'रखना'), अथवा 'आव' विकरण द्वारा, यथा-णच्चावइ (√नर्त > √णच्च्), वोल्लावइ (> बोल्ल 'वोलना') या मूलधातु के स्वर मे वृद्धि कर; यथा—मारइ (√मर < √मृ), णासइ (√णस > √नश) बनाया गया।

अपभ्रंश काल तक आते आते भारतीय आर्यभाषा व्यवहिति अवस्था की ओर बहुत बढ़ चुकी थी। अपभ्रंश में भाषा की इस प्रवृत्ति के कारण संयुक्त क्रियाएँ विकसित हुईं, यथा—'जइ भग्गा घर एंतु' (यदि घर भागा आता) इत्यादि।

———

अध्याय ३

अपभ्रंश भाषा के विभिन्न रूप

भाषाविज्ञानियों के मतानुसार अपभ्रंश मध्यभारतीय आर्यभाषा के विकास का अंतिम सोपान है[1]। यह वह लोक-भाषा रही है जो एक समय समस्त उत्तरापथ में सर्वसाधारण में समझी जाती थी। अतः आज जो अपभ्रंश साहित्य उपलब्ध है उसमें भाषागत भेद बहुत कम हैं। इसका प्रचार बहुत व्यापक था। महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने अपनी 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति' नामक प्रसिद्ध पुस्तक में अपभ्रंश का प्रचार लाट (गुजरात), सुराष्ट्र, त्रवण (मारवाड), दक्षिण पंजाब, राजपूताना, अवंती और मंदसोर आदि में स्वीकार किया है, परंतु इसके साथ ही उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि इसका प्रयोग प्रायः भारत के दूर दूर के विद्वान् करते थे[2]। यह भी निश्चित है कि ईसा की छठी शताब्दी में इस भाषा में साहित्य रचा जाने लगा था। राज्य दरबारों में भी इसे मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। जनसाधारण इसे अपना चुका था अत. उसमें विभिन्न भेदों का होना नितांत स्वाभाविक ही था।

इस तथ्य की ओर पुराने वैयाकरणों का भी ध्यान

१. डा० उदयनारायन तिवारी—हिंदी भाषा का उद्गम और विकास, पृ० १२० ।

२. महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा—मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ० ११०

गया। उन्होंने अपभ्रंश के विविध भेदों की चर्चा की है। 'विष्णुधर्मोत्तर' ने देशभेद से अपभ्रंश के अनेक भेदों की परिकल्पना की है[1]। ग्यारहवी शती मे नमिसाधु ने अपभ्रंश के तीन मुख्य भेद माने हैं—उपनागर, आभीर और ग्राम्य। परवर्ती वैयाकरणों ने इन्ही तीनों भेदों को नागर, उपनागर तथा ब्राचड़ की संज्ञा प्रदान की है। सत्रहवी शताब्दी के प्रसिद्ध प्राकृत वैयाकरण मार्कंडेय ने अपने प्राकृत सर्वस्व मे यह भी लिखा है—

> ब्राचडो लाट वैदर्भावुपनागर नागरी।
> बार्बरावन्त्यपंचाल टाक्कमालव कैकयाः॥
> गौडौढ़ वैवपाश्चात्य पाण्ड्य कौन्तल सैंहलाः।
> कालिंग्य प्राच्य कार्णाट कांच्य द्राविड गौर्जराः॥
> आभीरो मध्यदेशीयः सूक्ष्मभेद व्यवस्थिताः।
> सप्तविंशत्यपभ्रंशाः वैतालादि प्रभेदतः॥[2]

अर्थात् कुछ लोगों के अनुसार ब्राचड, लाट, वैदर्भ, उपनागर, वार्बर, अवंत्य, पाचाल, टाक्क, मालव, कैकय, गौड, औढ़, पाश्चात्य, पांड्य, कौंतल, सिंहल, कलिंग्य, प्राच्य, कार्णाट, कांच्य, द्राविड, गौर्जर, आभीर, मध्यदेशीय तथा वैताल आदि नाना भेदों से २७ प्रकार की अपभ्रंश होती हैं। यह वर्गीकरण पुराने आचार्यों को भी स्वीकृत नही था। उन्होने स्वयं इसका तर्कपूर्ण खंडन किया है अत. यह विचारणीय नही।

विचारणीय वर्गीकरण नमिसाधु और मार्कंडेय का है।

---

१. देशभाषा विशेषेण तस्यांतो नैव विद्यते।
—विष्णु धर्मोत्तर पुराण ३।३

२. मार्कण्डेय—प्राकृत सर्वस्व।

मार्कंडेय ने नागर अपभ्रंश का विवेचन विस्तार के साथ किया है, व्राचड़ और उपनागर के लिये केवल एक सूत्र विधान किया है। मार्कंडेय के अनुसार व्राचड़ अपभ्रंश सिंधु देश की भाषा ठहरती है।

आधुनिक विद्वानों ने अपभ्रंश का वर्गीकरण क्षेत्रीय आधार पर किया है। डा० याकोवी ने 'सनत्कुमार चरिउ' की भूमिका में अपभ्रंश को पूर्वी, पश्चिमी, दक्षिणी तथा उत्तरी चार विभागों में रखा है। इस विभाजन का कोई वैज्ञानिक आधार उपलब्ध नही होता। डा० तगारे ने डा० याकोवी के वर्गीकरण की त्रुटियों की ओर संकेत किया है। उनका मुख्य तर्क यह है कि उत्तरी अपभ्रंश मे कोई रचना उपलब्ध नही और जो है वह बहुत समय उपरात की है[1]। इस वर्गीकरण के स्थान पर डा० तगारे ने अपभ्रंश को केवल तीन वर्गों में रखा है। उनके मतानुसार अपभ्रंश का क्षेत्रीय विभाजन समयविस्तार से इस प्रकार है[2]—

(१) पश्चिमी अपभ्रंश—यह भाषा प्रायः उन विभागों में प्रचलित थी जो आज हिंदी, गुजराती तथा राजस्थानी के क्षेत्र हैं। ग्रिअर्सन ने इन्हे अपनी लिंग्विस्टिक सर्वे की प्रथम जिल्द के प्रथम भाग में शौरसेनी का क्षेत्र माना है[3]।

(१) दक्षिणी अपभ्रंश—मुख्यतः यह महाराष्ट्री क्षेत्र की भाषा है जिसके अंतर्गत महाराष्ट्र, बरार तथा मराठी बोलनेवाले नागपुर के आसपास के प्रांत संमिलित हैं।

(३) पूर्वी अपभ्रंश—जो मुख्यतः मगध देश की भाषा

---

१ डा० तगारे—हिस्टारिकल ग्रामर आफ अपभ्रंश पृ०, १६।
२ वही— " पृ० १५।
३ ग्रिअर्सन—लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, भाग १ जिल्द १।

है और प्रायः बंगाल, बिहार तथा उड़ियाभाषी क्षेत्रों में प्रचलित थी।

ग्रिअर्सन के अनुसार अपभ्रंश के भेद के प्राकृतों के अनुसार थे। प्रत्येक प्राकृत का एक अपभ्रंश रूप था, जैसे शौरसेनी प्राकृत का शौरसेनी अपभ्रंश, जो ब्रजभाषा की जननी बनी; मागधी प्राकृत का मागधी अपभ्रंश, महाराष्ट्री प्राकृत का महाराष्ट्री अपभ्रंश आदि। जैसा हम पहले कह चुके हैं कि यह मत भी कुछ अधिक तर्कसंगत नहीं जंचता क्योंकि अभी तक जितना साहित्य प्रकाशित हुआ है उससे यह बात प्रमाणित नहीं होती। डा० तगारे ने समस्त रचनाओं के समय एवं स्थान के अनुसार वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया है और अपने त्रिविध वर्गीकरण का प्रतिपादन किया है। अपने कथासूत्र को बढ़ाने के लिये हम यहाँ उन्हें देना परम आवश्यक मानते है जो इस प्रकार हैं[1]—

(१) पाश्चात्य अपभ्रंश

लेखक	रचना	तिथि	क्षेत्र
१. कालिदास	विक्रमोर्वशी, चतुर्थ अंक अपभ्रंश पद	५०० ई०	मालवा
१. जोइंदु (योगीन्द्र)	परमात्माप्रकाश योगसार	छठी से १०वीं तक	
३. देवसेन	सावयधम्म दोहा	९३३ ई०	धार
४. रामसिंह	पाहुड दोहा	१०वी सदी	राजपूताना
५. धनंजय	अपभ्रंश पद दशरूपक में	”	मालवा
६. धनपाल	भविसयत्त कहा	”	गुजरात

१. डा० तगारे—हिस्टोरिकल ग्रामर आफ अपभ्रंश, पृ० १६।

७. भोज	सरस्वती कंठाभरण में संगृहीत अपभ्रंश पद	१०००-१०५०	मालवा
८. जिनदत्त	चर्चरी (अपभ्रंश काव्यत्रयी में संकलित)	१११३-११५५	गुजरात
९. लक्षमनांगिनी	अपभ्रंश पद्य (सुपासनाचरिउ मे)	११४२	,,
१०. हरिभद्रसूरि	सनत्कुमार चरिउ	११५९	,,
११. हेमचंद्र	सिद्धहेम तथा कुमारपाल चरित	१०८२-११७२	गुजरात
१२. सोमप्रभ	कुमारपालप्रतिबोध	११९५	,,

उपर्युक्त कुछ रचनाओं के समय तथा स्थान के विषय में मतभेद है। सबसे मुख्य कालिदासकृत विक्रमोर्वशी के चतुर्थ अंक के अवतरण हैं। कुछ विद्वान् उनको कालिदासकृत स्वीकार नहीं करते। उनके समस्त तर्कों का सारांश यह है —

(१) राजा उत्तम पात्र है अतः वह अपभ्रंश अथवा प्राकृत में नाट्यशास्त्र की मर्यादा के अनुकूल नहीं बोल सकता।

(२) टीकाकार कात्यायन इसके विषय मे मौन हैं।

(३) दक्षिण की पांडुलिपियों मे ये पद्य नहीं प्राप्त होते।

(४) बहुत से पद्य अनावश्यक पुनरुक्तियां हैं, तथा अनर्गल और असंबद्ध हैं। कुछ तो संस्कृत पद्यों के विरोधी भी हैं।

(५) कालिदास के अन्य नाटकों में अपभ्रंश का कोई प्रयोग नहीं[1] ।

डा० तगारे तथा डा० उपाध्ये दोनों विद्वान् इन तर्कों में कोई विश्वास नहीं रखते । उनके अनुसार इनका उत्तर इस प्रकार है—

(१) नाट्यशास्त्र उत्तम पात्रों को भी भाषापरिवर्तन की अनुमति देता है, विक्रमोर्वशी के चतुर्थ अंक मे राजा पागल है ।

(२) टीकाकार की अनभिज्ञता कोई प्रमाण नही मानी जा सकती । दूसरे टीकाकार रंगनाथ ने इन पद्यों पर टीका लिखी है ।

(३) उत्तर की पांडुलिपियों में यह पद्य प्राप्त हैं । कालिदास स्वयं उत्तर के निवासी थे । दक्षिण की पांडुलिपियाँ अभिनय के दृष्टिकोण से लिखी गई हैं । दाक्षिणात्य दर्शकों को अपभ्रंश से कोई प्रेम न होना स्वाभाविक ही है । अतः वे पद्य छोड़ दिए गए होगे ।

(४) यह तर्क भी ठीक नही प्रतीत होता । राजा पागल है । पागल के प्रलाप सदैव अनर्गल, असंबद्ध तथा विचारहीन होते हैं । डा० उपाध्ये तो यह भी कहते हैं कि आधुनिक काल मे भी नाटकों मे कुछ गायन रखे जाते हैं जो नितांत भ्रष्ट तथा अर्थहीन होते हैं, उनका कथावस्तु से कोई संबंध नहीं होता । वे केवल दर्शकों के मनोविनोद के लिये रखे जाते हैं[2] ।

---

१. उपर्युक्त तर्क श्री एस० पी० पंडित द्वारा संपादित विक्रमोर्वशी की भूमिका के आधार पर डा० तगारे ने अपनी पुस्तक में पृष्ठ १७ पर दिए हैं ।

२. डा० उपाध्ये—परमात्मा प्रकाश तथा योगसार की भूमिका, (पादटिप्पणी), पृ० ५६ ।

(५) अन्य नाटकों में किसी प्रकार के पद्य न होना यह प्रमाणित नही करता कि लेखक दूसरी भाँति के पद्य नही लिख सकता या उसने लिखे नही ।[1]

डा० उपाध्ये का तो कहना है कि विद्वान् इन तर्कों को केवल इसलिये उपस्थित करते हैं कि वे अपभ्रंश की रचना को इतनी प्राचीनता देने में झिझकते हैं । परंतु अब जब यह सिद्ध हो गया कि अपभ्रंश के पद्य विमलसूरि के पउमचरिउ में (जो रचना कभी भी तीसरी शताब्दी के उपरांत नही मानी जा सकती) प्राप्त होते है तथा वल्लभी के गुहसेन का शिलालेख भी उपलब्ध है और अंत में आठवी शताब्दी में उद्योतन सूरि ने अपभ्रंश की स्थिति को स्वीकार किया है तो कोई कारण नहीं कि इन पद्यों को कालिदास कृत न माना जाय ।[2]

अन्य कृतियों तथा लेखकों के समय के विषय मे अब निर्णय प्रायः सर्वमान्य हो चुके है अतः उनका वर्णन केवल समय नष्ट करना होगा ।

(२) दक्षिणी अपभ्रंश

यह वर्ग भी अत्यंत प्रमुख है । परंतु ये पांडुलिपियाँ गुजरात पहुँची । वहाँ इनकी प्रातिलिपि हुई अतः थोडा बहुत पाश्चात्य रंग आ जाना कोई असंभव बात नही है ।

लेखक	रचना	तिथि	क्षेत्र
१. पुष्पदंत	महापुराण, नयकुमारचरिउ	९६५	मान्यखेट
	और जसहरचरिउ	९६५-७२	
२. कनकामर	करकंडचरिउ	९७५-१०२५	[illegible]

१. डा० तगारे – हिस्टोरिकल ग्रामर आफ अपभ्रंश, पृ० [illegible] ।

२. डा० उपाध्ये – परमात्मा प्रकाश तथा योगसार की भूमिका, पृ० ५६ ।

डा० तगारे ने इन काव्यों की भाषासंबंधी विशेषताओं को पृथक् करने का सराहनीय प्रयत्न किया है। आपने कुछ संज्ञापद तथा कुछ क्रियापद खोज निकाले हैं जो पश्चिमी अपभ्रंश से भिन्नता रखते हैं। यथा—

(१) दक्षिणी अपभ्रंश की ध्वनिसंबंधी विशेषता यह है कि संस्कृत 'ष' का विशेषतः इसमे छ होता है, जब कि अपभ्रंशों मे क्ख या ख होता है।

(२) अकारांत पुंलिग शब्द के तृतीया एकवचन मे अधिकांशतः एण वाला रूप मिलता है, जब कि परिनिष्ठित रूप एँकारांत है।

(३) उत्तम पुरुष में सामान्य वर्तमान काल की क्रिया 'मि' परक होती है, जैसे 'करमि', जब कि परिनिष्ठित रूप—उँ परक होता है, यथा—करउँ।

(४) अन्य पुरुष बहुवचन में सामान्य वर्तमान काल की क्रिया 'न्ति' परक होती है, जैसे करन्ति, जब कि परिनिष्ठित रूप हिं परक होता है, जैसे, करहिं

(५) सामान्य भविष्यत् काल के क्रियापद अधिकांशतः स परक होते हैं, यथा—करिसइ, जब कि परिनिष्ठित रूप प्रायः ह परक होते हैं, यथा—करिहइ।

(६) पूर्वकालिक क्रिया के लिये इ प्रत्यय का प्रयोग नहीं के बराबर अथवा बहुत कम है, जबकि यह प्रत्यय परिनिष्ठित अपभ्रंश मे सर्वाधिक प्रयुक्त होता है, जैसे, सुनि, चलि आदि।

उपर्युक्त विशेषताओं पर विवेकपूर्ण दृष्टि डालने से विशेषताएँ केवल शैलीगत ठहरती हैं। डा० तगारे स्वयं ही यह मानते हैं कि पुष्पदंत तथा कनकामर की रचनाओं मे कुछ पश्चिमी प्रभाव है। उसका कारण उन्होंने पांडुलिपियों की यात्रा

माना है[1]। परंतु जो प्रभाव उन्हें मिले हैं क्या वे प्राचीन प्राकृत के नहीं कहे जा सकते ? वस्तुतः प्राकृत विकसित होकर ही अपभ्रंश का स्वरूप ग्रहण करती जा रही थी। प्रतीत होता है कि डा० तगारे पुष्पदंत की भाषा को मराठी अपभ्रंश अथवा मराठी भाषा की जननी सिद्ध करने के मोह को नहीं हटा सके। तुलनात्मक दृष्टि से भविसयत्त कहा तथा महापुराण की भाषा में कोई विशेष अंतर नहीं। दोनों की रचना परिनिष्ठित भाषा में हुई है। थोड़ा बहुत अंतर जो उपलब्ध है वह शैलीगत है जो रचयिता भेद से पूर्णतः स्वाभाविक है। अतः यही निष्कर्ष उचित है कि दक्षिणी अपभ्रंश नामक पृथक् क्षेत्रीय अपभ्रंश की सत्ता निराधार एवं अनावश्यक है।

(३) पूर्वी अपभ्रंश

	लेखक	रचना	तिथि	क्षेत्र
१.	कन्ह	दोहा कोश	७००-१२००	बंगाल
२.	सरहपा	,,	१००० ई०	,,

डा० तगारे की 'पूर्वी अपभ्रंश' की मान्यता सरह और कन्ह के दोहा कोशों पर आधारित है। आपने प्राकृत पैंगलम्, उक्तिव्यक्ति प्रकरण तथा विद्यापति की कीर्तिलता एवं कीर्तिपताका को अपने विचारक्षेत्र की सीमा से बहिष्कृत कर दिया है। यद्यपि उन्होंने डाकार्णव महायोगिनी तंत्र का नाम लिया है परंतु उसको भी छोड़ दिया है। चरियापदों का नाम भी वे भूल गए हैं। चरियापदों में सिद्धों की रहस्यमय वाणियां हैं। इनकी संस्कृत छाया उपलब्ध नहीं अत: कहीं कहीं अर्थ का पूर्णतः पता नहीं चलता। इन पदों में योगशास्त्र तथा

---

[1] डा० तगारे—हिस्टोरिकल ग्रामर आफ अपभ्रंश, पृ० १८।

कामशास्त्र की बातों का ऐसा रहस्यमय संमिश्रण है कि पाठक को अर्थ स्पष्ट नहीं होता। चरियापदों की अपेक्षा दोहा कोश कम अस्पष्ट है।

अभी तक 'बौद्ध गान ओ दूहा' तथा दोहा कोश महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री तथा शहीदुल्ला द्वारा संपादित प्राप्त थे। महापंडित राहुल जी ने अपनी भोट तथा तिब्बत की यात्रा से लौटकर विहार राष्ट्रभाषा परिषद् से दोहा कोश का सुसंपादन किया है। डा० तगारे ने इस पूर्वी अपभ्रंश में भी कुछ अपभ्रंश ध्वनियों का परिवर्तन खोज निकाला है। यथा--

(१) क्ष>ख, क्ख, यथा, क्षण>खण
(२) त्व>तु, त्त, जैसे त्वम्>तुहुं, तत्व>तत्त
(३) द्व> दु, जैसे द्वार>दुआर
(४) व> ब, जैसे, वज्र>वज्ज, वेद>वेअ

डा० तगारे ने जो भी विशेषताएँ लक्षित की हैं वे ठीक हैं। परंतु उनकी इस वात से हम सहमत नहीं हो सके कि इनके आधार पर कोई पूर्वी अपभ्रंश की कल्पना की जा सकती है। दोनों दोहाकोशों में वही वोली के चिह्न परिलक्षित होते हैं जो पाश्चात्य अथवा शौरसेनी अपभ्रंश मे हैं। प्रथमा अकारांत शब्दों में उकार के दर्शन होते हैं। दोहाकोश से मिलताजुलता वहुत सा सहजिया साहित्य श्रीयुत वेंदाल ने सुभाषित संग्रह मे प्रकाशित कराया है। इन सव संग्रहों मे डा० चटर्जी के अनुसार पश्चिमी अपभ्रंश के चिह्न प्राप्त होते हैं।[1] वस्तुतः दोहाकोशो की रचना वहुत कुछ परिनिष्ठित

---

१. डा० सुनीतिकुमार चटर्जी—आरिजिन डेवलपमेंट आफ बंगाली लैंग्वेज, पृ० ११२।

अपभ्रंश में ही हुई है जो पछाही भाषा थी, उसमें कहीं कहीं केवल पूर्वीपन दृष्टिगोचर होता है।

चरियापदों में दोहा कोशों की अपेक्षा अधिक पूर्वीपन है और यह स्वाभाविक भी है क्योंकि चरियापद जनसाधारण के गाने के लिये लिखे गए थे। साखी (दोहा) को पश्चिम की परिनिष्ठित भाषा में कहना तथा सबदी (पद) को स्थानीय पूर्वी बोली में गाने की परंपरा कबीर तक चलती हुई मिलती है। विद्यापति ने अपनी भाषा को 'अवहट्टा' कहा है। यही नाम 'उक्तिव्यक्ति प्रकरण' के लेखक पंडितवर दामोदर ने सामान्य रूप से 'अपभ्रंश' के नाम से उल्लिखित किया है।

साहित्य की भाषा में प्राच्य और पाश्चात्य का अंतर अथवा क्षेत्रीय भेद प्राकृत काल से ही चला आ रहा था और अपभ्रंश युग में यह भेद मिट गया था, इसका कोई निश्चित तथा युक्तिसंगत ऐतिहासिक प्रमाण नहीं उपलब्ध होता। अतः डाक्टर तगारे का यह त्रिवर्गीय वर्गीकरण पूर्णतः ठीक नहीं। इस त्रिवर्ग में दक्षिणी अपभ्रंश नामक भेद कल्पना मात्र है। पूर्वी अपभ्रंश का भेद वास्तविक है। पूर्वी अपभ्रंश की सभी विशेषताएं चरियापदों में सुरक्षित हैं।

वैभाषिक एवं शैलीगत भेद रहते हुए भी अपभ्रंश का परिनिष्ठित रूप एक था। यह साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिये स्वीकृत भाषा थी जो प्रायः समस्त उत्तरापथ में समझी जाती थी और जिसमें साहित्यरचना होती थी। यह मध्यदेशीय भाषा शौरसेनी से प्रभावित थी। प्रसिद्ध वैयाकरण हेमचंद्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में 'शेषं शौरसेनीवत्' लिखकर

---

१. उक्तिव्यक्ति प्रकरण की भूमिका, पृ० [illegible]

इसी तथ्य की ओर संकेत किया है। डा० नामवर सिंह ने इस परिनिष्ठित तथा साहित्यिक अपभ्रंश का मूल आधार पश्चिमी प्रदेशों की बोली को माना है जो ऐतिहासिक दृष्टि से शौरसेनी परंपरा में थी[1]।

अब प्रश्न होता है कि क्या 'अपभ्रंश' केवल एक कृत्रिम साहित्यिक भाषा मात्र थी ? क्या उसका कोई लोकनिष्ठित रूप था ? यदि हाँ तो उसका स्वरूप क्या था ?

जैसा हम पहले कह चुके हैं प्रत्येक साहित्यिक भाषा का मूल आधार कोई न कोई जनभाषा होती है। वही अन्य विभाषाओं को भी आत्मसात् कर नवीन प्रवृत्तियों को जन्म देती हुई राष्ट्रीयता अथवा अंतःप्रांतीयता का रूप धारण कर लेती है। कभी कभी यह रूप इतना बदल जाता है कि वह अपनी मूलभाषा से भी साम्य खो बैठती है। प्रारंभ में अपभ्रंश को भी देसी भाषा कहकर ही संबोधित किया गया था। जैसा हम गत अध्याय में कह चुके हैं कि प्राचीन काल से ही बोल-चाल की भाषा को 'देसी भाषा' अथवा भाषा कहा गया है। पाणिनि के समय में संस्कृत, पतंजलि के समय में प्राकृत तथा प्राकृत के उपरांत अपभ्रंश देसी भाषा रही होगी। यही कारण है कि प्रारंभ के कवियों ने इस अपभ्रंश को देसी भाषा अथवा इसकी रचना को सर्वसाधारण की रचना कहकर संबोधित किया है। 'पउमचरिउ' में स्वयंभू से अपनी कथा को 'देसी' भाषा में कहना लिखा है। पुष्पदंत ने महापुराण की भाषा को 'ण वियाणमि देसी[2]' कहकर

---

१. डा० नामवर सिंह—हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० ४२-८३।

२. पुष्पदंत—महापुराण १. ८. ६, पृ० ६।

इसी बात का समर्थन किया है। जब अपभ्रंश का स्थान आधुनिक आर्यभाषाओं ने ग्रहण किया तो वे भी 'देसी' शब्द से प्रारंभ में अभिहित हुईं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपनी भाषा को अवधी न कहकर 'भाखा' कहा है। प्रसिद्ध मराठी संत ज्ञानेश्वर जी ने भी 'अम्हां प्राकृता देशी कारे बन्धे गीता' कहकर इसी प्राचीन परंपरा का निर्वाह किया है। अतः अपभ्रंश भी लोकभाषा अवश्य रही यह निर्विवाद है। ६०० ई० से १२०० ई० तक यह लोकभाषा रही। १२वीं शताब्दी के उपारांत भी १३वी १४वीं तक इसमें साहित्यरचना होती रही। यह काल इसके परवर्ती रूप का था। विभिन्न देशभेद से विभिन्न आधुनिक आर्यभाषाएं शनैः शनैः अपने रूप का विकसित करने के लिये प्रयत्नोन्मुख दृष्टिगोचर होने लगी थी। आचार्य हेमचंद्र के समय तक अपभ्रंश का रूप पूर्ण रूप से विकसित हो चुका था। अतः उनका व्याकरण ही अपभ्रंश के विभिन्न रूपों के विवेचन करने मे अधिक सफल है।

प्राचीन भाषाओं का वास्तविक रूप जानने मे सबसे बड़ी बाधा यह है कि वे साहित्य के माध्यम द्वारा ही जानी जा सकती है। आधुनिक भाषाओं की भाँति उनका प्रचलित रूप बोलचाल के रूप मे प्राप्त न होकर केवल लिपि द्वारा ही प्राप्त होना है। लिपिकारों के प्रमाद से रूपसंबंधी विशेषताओं मे भी गडबडी हो जाती है। ध्वनि संबंधी सूक्ष्मताओं का ठीक ठीक निर्णय कठिन कार्य हो जाता है। ध्वनियों का परिवर्तन कभी कभी प्रायः लिपिकर्ताओं द्वारा स्पष्ट नहीं होता। यथा, अपभ्रंश के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि [illegible] दो ध्वनियां नहीं थीं। उसमें 'ए' तथा 'ओ' [illegible] प्रकार की ध्वनियां थीं परन्तु उनके [illegible]

व्यवहार में अथवा प्रयोग में नहीं आया। अतः प्राचीन भाषाओं के विषय में, उनके लोकनिष्ठित स्वरूप के विषय में निर्णय देना कठिन कार्य है। केवल यही कहा जा सकता है कि प्रारंभिक रचनाओं में भाषा का बहुत कुछ लोकनिष्ठित रूप रहता है। मध्य काल मे शुद्ध साहित्यिक रूप प्रधान होकर धीरे धीरे परवर्ती साहित्य मे तथा संक्रांति काल के साहित्य में अपना रूप छोड़ जाता है।

अपभ्रंश के परवर्ती काल की बहुत कम सामग्री उपलब्ध हो सकी है। जो भी काव्य प्रकाशित अथवा प्राप्त हो सके है उनपर भी मध्यदेशीय साहित्यिक अपभ्रंश (शौरसेनी अपभ्रंश) का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में परिलक्षित होता है। इस समय की मुख्य कृतियों में हम संनेह रासक (संदेश रासक), 'प्राकृत पैंगलम', 'पुरातन प्रबंध संग्रह', 'उक्तिव्यक्ति प्रकरण', 'वर्णरत्नाकर', 'कीतिलता', 'चर्यापद' तथा ज्ञानेश्वरी का नाम ले सकते हैं। यह सभी पुस्तक विद्वानों द्वारा संपादित होकर प्रकाश मे आ चुकी है जिनका वर्णन हम आगे चल कर करेंगे। यहाँ केवल इतना ही पर्याप्त है कि कुछ ग्रंथो मे विशेष-कर 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' मे हमे परवर्ती लोकभाषा के उदाहरण भी प्राप्त होते है। दूसरी बात यह ध्यान देने योग्य है कि परवर्ती काल मे भी यह भाषा पश्चिम में मुल्तान तथा पूर्व मे बंगाल तक अपने एक रूप को बनाए रही।

अतः यह भी विचारणीय हो जाता है कि मध्य-देशीय बोली को जिसका आधार कुछ लोग पश्चिम की बोली मानते हैं, यह गौरव किस प्रकार प्राप्त हुआ कि वह समस्त उत्तरापथ की साहित्यिक भाषा बन गई।

वह कौन कौन सी शक्तियाँ हैं अथवा परिस्थितियाँ है जिनके कारण उत्तर भारत की बोलियाँ मिल जुलकर इस युग में एक विशाल राष्ट्रीय अथवा जातीय भाषा के रूप में केंद्रीभूत हो उठी।

इतिहास साक्षी है भारत मे राजनीतिक सत्ता के साथ साथ भाषा प्राधान्य भी परिवर्तित होता है। आर्यों के आगमन पर यह केंद्र पश्चिम मे रहा पुनः कोशल तथा मगध और अंत में जब संस्कृत प्रधान भाषा हो गई तो पश्चिम में पुनः नवीन भाषाओं ने अपना विकास क्रम अपनाया[1]। यह एक भाषावैज्ञानिक तथ्य भी है कि राजनीतिक, आर्थिक तथा धार्मिक केंद्रोन्मुखता के कारण विविध स्थानीय बोलियाँ एक विशाल राष्ट्रीय भाषा के रूप में ढल जाती हैं। अपभ्रंश का युग प्रायः ६००-१२००ई० तक माना है। यह युग भारत में कई प्रकार की क्रांतियों का युग है। राजनीतिक सत्ता मगध के केंद्र से हटकर प्रायः प्राचीन मध्य देश में रही। सास्कृतिक केंद्र प्रायः कन्नौज तथा मथुरा के आसपास के नगर रहे। कभी यह धारा पश्चिमोन्मुखी होकर गुजरात एवं मालवा तक पहुंची। यद्यपि राजनीतिक चेतना का अपभ्रंश साहित्य मे अभाव है तथापि इस युग की परिस्थिति का विवरण अपभ्रंश साहित्य के अध्ययन मे तथा उसके व्यापक रूप को हृदयंगम करने मे सहायता करेगा। अतः संक्षेप मे राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का दिग्दर्शन किया जाता है।

राजनीति अवस्था—गुप्त साम्राज्य के छिन्न भिन्न

१. राइस डेविड्स—बुद्धिस्ट इंडिया, पृ० ६८ ।

हो जाने पर राजनीतिक सत्ता का केंद्र मगध से हट गया। हूणों के सतत एवं अनवरत आक्रमण एवं अत्याचारों ने एक भयानक अव्यवस्था फैलाकर नवीन राजनीतिक विभागों को जन्म दिया। पूर्वी काठियावाड़ में वल्लभी राज का उदय हुआ। गुर्जर लोगों ने अपने लिये नवीन राज्य स्थापित किए। गुजरात काठियावाड़, पंजाब, दक्षिण मारवाड़ तथा कन्नौज मे मगध के शक्तिहीन साम्राज्य के साथ नवीन राज्यों का उदय हुआ[1]।

सातवी सदी के आरंभ में थानेश्वर (कुरुक्षेत्र) में प्रभाकर वर्धन ने उत्तरापथ की ओर अपनी शक्ति बढ़ाई। इस वंश का प्रमुख राजा हर्षवर्धन हुआ। हर्ष ने पुनः समस्त उत्त रापथ को एक छत्र के अंतर्गत किया। हर्ष का राजत्वकाल भाषा और साहित्य के लिये विशेष हितकारी सिद्ध हुआ। यह राजा साहित्य तथा कला का प्रेमी था और संस्कृत तथा देसी भाषा (अपभ्रंश) सभी के कवियों और विद्वानों का संमान करता था।

हर्षवर्धन की मृत्यु के उपरांत हर्ष का साम्राज्य विच्छिन्न हो अनेक राज्यखंडों में विभक्त हो गया। पश्चिम की ओर से एक नई शक्ति का आक्रमण होने लगा। यह शक्ति इसलाम की थी। अरबों ने ७१०ई० में सिन्ध पर विजय प्राप्त कर ली। भारत में पुनः जागृत्ति की लहर आई और अरबों का प्रसार उस दिशा से रुक गया। परंतु अरबों के प्रवेश से हिंदू तथा अरब संस्कृति का परस्पर आदान प्रदान चल पड़ा। भारत से अनेक हिंदू विद्वान् बगदाद गए और अरब के विद्यार्थी भारत मे पधारे।

---

१. श्री वरदाचारी—हिस्ट्री आफ इंडिया, भाग १।

दर्शन, वैद्यक, ज्योतिष, इतिहास एवं काव्य आदि ग्रंथों का अनुवाद अरबी में हुआ। यह माना जाता है कि भारत से गणित का ज्ञान अरबों द्वारा ही यूरोप में पहुँचा। पंचतंत्र आदि की कहानियाँ भी अरबों की कृपा से योरोप को उपलब्ध हुई[1]।

नवीं शताब्दी में कन्नौज परपु नः प्रतिहारों का आधिपत्य हुआ। पुनः कन्नौज सबसे प्रतापी राजाओं की राजधानी बना। कुछ दिनों के लिये वह साहित्य एवं भाषा का प्रधान केंद्र हो गया। भोज और उसके वंशजों ने पर्याप्त रूप से साहित्य की श्रीवृद्धि की। इस नवी शताब्दी के मानचित्र पर (उत्तर भारत) ध्यान डालने से पता चलता है कि बंगाल मे पालवंश, कान्यकुब्ज में प्रतिहार तथा मान्यखेट में राष्ट्रकूट राजाओं ने अपना आधिपत्य जमा लिया। इन राजाओं में कान्यकुब्ज के आधिपत्य के लिये आपसी संघर्ष बराबर चलते रहे। परंतु इस समय कान्यकुब्ज ही उत्तरापथ को एकसूत्र में बाँधनेवाला प्रमुख केंद्र था।

दसवी शताब्दी से १३वी शताब्दी तक समस्त उत्तरापथ छोटे छोटे मंडलों मे विभक्त हो गया। ग्यारहवीं शताब्दी से अफगानिस्तान की ओर से इस्लाम के नए आक्रमण प्रारंभ हो गए। ११वी तथा १२वी शताब्दी मे भारत की हिंदू शक्ति अत्यंत छिन्नभिन्न हो गई। पाल, गहड़वार, चालुक्य, चंदेल और चौहानो के अतिरिक्त गुर्जर, सोलंकी तथा मालवा में परमार वंश के स्वतंत्र राज्य स्थापित हुए। इन विभिन्न राज्यों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा एव संघर्ष इतिहास मे प्रसिद्ध है। इनमें संगठन का सर्वथा अभाव था। अत. आक्रमणकारी

१. जयचंद विद्यालंकार—इतिहास प्रवेश, पृ० १७८।

सत्ता को इन्हें पराजित करने में किसी विशेष परिश्रम की आवश्यकता न हुई। बारहवी शताब्दी में अजमेर के चौहानों ने पुनः आती हुई इसलाम सत्ता को रोकने का प्रयत्न किया परंतु असफल रहे। परिणाम यह हुआ कि १३वीं शताब्दी से हिंदुओं की राजशक्ति पूर्ण अस्तव्यस्त एवं छिन्नभिन्न हो गई और धीरे धीरे समस्त उत्तरापथ इसलाम के झंडे के नीचे चला गया।

धार्मिक अवस्था—उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि राजनीति के क्षेत्र मे यह युग बड़े उथलपुथल का रहा है। धार्मिक क्षेत्र मे भी नाना प्रकार के मत मतांतरों का जन्म हुआ। राजा हर्ष के दरवार मे वाण नामक प्रसिद्ध कवि रहता था। उसने 'हर्षचरित' नामक पुस्तक लिखी है। धार्मिक इतिहास की दृष्टि से हर्षचरित मे एक अत्यंत महत्वपूर्ण प्रकरण है। वाण ने आगे अष्टम उच्छ्वास मे 'दिवाकर मिश्र' के आश्रम मे रहनेवाले उन्नीस संप्रदायों के अनुयायियों के नाम गिनाए है। दिवाकर मिश्र के आश्रम मे नानादेशीय तथा निम्नलिखित सिद्धांती उपस्थित थे[1]—(१) अर्हत, (२) मस्करी, (३) श्वेतपट, (४) पांडुरिभिक्षु, (५) भागवत, (६) वर्णी, (७) केशलुंचन, (८) कापिल, (९) जैन, (१०) लोकायतिक, (११) काणाद, (१२) औपनिषद्, (१३) ऐश्वरकारणिक, (१४) कारंधमी, (१५) धर्मशास्त्री, (१६) पौराणिक, (१७) साप्ततन्तव, (१८) शाब्द, (१९) पाचरात्रिक और अन्य

'हर्षचरित' का यह वर्णन यही प्रकट करता है कि

---

१. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १०५।

भारत में विभिन्न संप्रदायों का आरंभ ही नहीं अपितु प्रचुर मात्रा में प्रचार था। जहाँ तक धर्मों का प्रश्न है, मुख्यतः तीन ही धर्मों का उल्लेख मिलता है। इन तीनों के नाम बौद्ध, जैन तथा वैदिक हैं। अंतिम समय में इस्लाम धर्म का प्रवेश हो गया था। सभी धर्मावलंबियों ने, आश्चर्य का विषय है 'अपभ्रंश' में रचना की है। सभी कवियों की रचनाओं में धार्मिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। अतः संक्षेप में इन धर्मों की स्थिति का सामान्य वर्णन अप्रासंगिक न होगा।

बौद्ध धर्म महात्मा बुद्ध द्वारा प्रचलित हुआ था। उनके अनुसार जीवन दुःखमय है, जीवन और उसके सुखों की लालसा दुःखमूलक है, उस दुःख लालसा के नष्ट हो जाने से दुखों का नाश हो जाता है और पवित्र जीवन से लालसा नष्ट हो जाती है। बुद्ध, संघ तथा धर्म उनके तीन रत्न थे।

महात्मा बुद्ध का मध्यम पथ था जिसमें आचार, शुद्धता, अहिंसा तथा सर्वजनहिताय की भावना बद्धमूल थी। यहाँ वर्णाश्रम धर्म की मान्यता न थी। परंतु होते होते बौद्ध धर्म हर्षवर्द्धन के समय अत्यंत अवनत एवं विकृत हो गया था। काल के प्रभाव से बौद्ध धर्म प्राचीन धर्म (हिन्दू धर्म) के प्रभाव से अछूता न रह सका और आगे चलकर यह महायान तथा हीनयान नामक संप्रदायों मे विभक्त हो गया। कालांतर में यही महायान अनेक उपयानों मे विभक्त हो गया। महायान का शून्यवाद और विज्ञानवाद साधारण जनता को प्रभावित न कर सका। इसमें महासुखवाद के संमिश्रण से वज्रयान का प्रादुर्भाव हुआ। मंत्र तंत्रों का प्रयोग बढने लगा। मंत्र, हठयोग और मैथुन—तीनों तत्वों के समावेश से बौद्ध धर्म

मंत्रयान में परिवर्तित हो गया[1]। मंत्रयान, वज्रयान तथा सहजयान नामक संप्रदाय बौद्ध धर्म के ही विकृत रूप थे।

सहजयान का लक्ष्य था कि सहज मानव की जो आवश्यकताएँ हैं उन्हें सहज रूप से पूरा होने दिया जाय। परंतु शीघ्र ही सहज यान में भी तंत्र मंत्र, भूत प्रेत, जादू टोना आदि आदि नाना मिथ्या धारणाओं का प्राबल्य हो गया। सहजयान तथा वज्रयान से सिद्ध लोग बहुत प्रभावित हुए। वस्तुतः यह संप्रदाय चौरासी सिद्धों द्वारा ही अधिक प्रभावोत्पादक बना। हर्षवर्धन के समय में ही बौद्ध धर्म का पतन हो गया था। चीनी यात्रियों के लेखों से संघों की पतनावस्था का संकेत प्राप्त होता है।

जैन धर्म—इस धर्म का उदय भी उन्ही परिस्थितियों मे हुआ था जिनमे बौद्ध धर्म का। वस्तुतः जैन धर्म का आविर्भाव बौद्ध धर्म से कुछ पूर्व हो चुका था। जैन कथनानुसार महावीर स्वामी उनके २४वें तीर्थंकर थे जिनके नाम से यह धर्म अधिक विख्यात है अथवा जो इसके मुख्य प्रवर्तक माने जाते हैं। उनसे पहले २३ तीर्थंकर और हो चुके थे।

जैन धर्म के मुख्य सिद्धांत ये हैं—जैन धर्मावलंबी जीव, अजीव, आश्रव (मन, वचन और शरीर का व्यापार एवं शुभाशुभ के बंध का हेतु), संवर (आश्रव रोकने वाला), बंध, निर्जरा (बंध कर्मों का क्षय), मोक्ष, पुण्य और पाप ये नौ तत्व मानते है। जीव अनादि और अनंत है। जीव अर्थात् चैतन्य आत्मा का कर्ता और फल का

---

१ श्री राहुल जी—पुरातत्त्वनिबंधावली, पृ० १३१।

भोक्ता है। पृथ्वी जल, अग्नि, वायु और वनस्पति यह सब व्यक्त रूप से चैतन्य गुणवाले हैं। काल, स्वभाव, नियति, कर्म और उद्यम उत्पत्ति के मुख्य कारण हैं। इन्ही पांच निमित्तों से परमाणु (पुद्गल) नियमपूर्वक आपस में मिलते हैं, जिससे जगत् की प्रवृत्ति होती है और यही कर्म के फल देते है। जीव के साथ कर्मों का संयोग रहने से उनके भोग के वास्ते वह बार बार शरीर धारण करता है। जीव सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, तथा सम्यक् चरित्रों द्वारा कर्मबंधन से छूटकर अपने रूप में स्थित होता है। ये तीनों जैन धर्म के रत्न हैं। मुक्ति का मुख्य साधन केवल ज्ञान है। शरीर छोड़ने के बाद मुक्त चौसठ हजार योजन लंबी शिला पर अधर में स्थित होकर सदा अपने ही ज्ञान में लोकालोक देखता हुआ आनंद से रहता है। जैन लोग सृष्टि का कर्ता ईश्वर को नही मानते। उनके मतानुसार यह सृष्टि अनादि और अनंत है। प्रलय होने के समय वैताढ्य पर्वत पर सब प्रकार के जीवों के जोड़े रहते हैं, उन्हीं से पुनः सृष्टिक्रम प्रारंभ होता है। रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द और क्रिया से रहित अतीन्द्रिय, अविनाशी, अनुपाधि, अबंध, अक्लेशी, अमूर्त, शुद्ध, चैतन्य रूप आत्मा ही निश्चय देव है। इससे पृथक् कोई ईश्वर नही। आत्म-स्वरूप का यथार्थ बोध करनेवाला ईश्वर पद को प्राप्त हो जाता है। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और काया गुप्ति के साथ पंच महाव्रत (अहिंसा, सत्यभाषण, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) तथा क्षमा, निरभिमानता, तृष्णात्याग, तप, संयम, सत्य, शौच, अकिंचन और ब्रह्मचर्य आदि श्रमण धर्मों का पालन करनेवाला गुरु होता है। दया और अहिंसा जैनों का मुख्य धर्म है, वे वेदों को नहीं

मानते। उनमे व्रत, उपवास तपस्या का विशेष महत्व है। कई देवी देवताओं को भी जैनी मानते हैं। कई साधुओं आदि के अनशन व्रत से प्राण छोडने के उदाहरण भी मिले हैं[1]।

यह जैन धर्म भी कालांतर मे श्वेतांबर तथा दिगंबर नामक दो संप्रदायों में बँट गया। दक्षिण में दिगंबर तथा गुजरात राजपूताना में श्वेतांबरों का प्राधान्य है। जैनों ने अपभ्रंश साहित्य की सुरक्षा में बहुत योग दिया है। इनका साहित्य बड़ा सपन्न है। जैनियों ने दार्शनिक ग्रंथों के अतिरिक्त काव्य, नाटक, व्याकरण, ज्योतिष, आयुर्वेद, कोष, छंद, अलंकार, गणित तथा राजनीति आदि विषयों पर भी लिखा है। बौद्धों की अपेक्षा वे इस क्षेत्र में अधिक असांप्रदायिक है। फिर गुजराती, हिंदी, राजस्थानी, तेलगु, तमिल और विशेष रूप से कनड़ी साहित्य में उनका दान अत्यधिक है[2]।

प्राचीन वैदिक धर्म भी अपने रूप में नहीं रह सका था। इस धर्म के अंतर्गत भी नाना प्रकार के मत एवं संप्रदाय प्रचलित हो गए थे। जैन एवं बौद्ध मत से प्रभावित होकर इसमें भी नवीन नवीन साधनापद्धति प्रचलित हुई। मूर्तिपूजा का प्रचार हुआ। सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात वैष्णव अथवा भक्ति संप्रदाय का उद्भव एव विकास होना है। भागवत संप्रदाय का मुख्य ग्रंथ पाचरात्र सहिताएँ हैं। इस

---

१. जगमंदिरलाल जैनी—'आउट लाइस आफ जैनिज्म', पृ० ७-२६।

महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचंद ओझा—मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ० ८।

२. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी हिंदी साहित्य की भूमिका—पृ० २५७।

इस संप्रदायवाले अभिगमन (मंदिर में जाना), उपादान (पूजा की सामग्री एकत्र करना), इज्या (पूजा), स्वाध्याय (मंत्रों को पढ़ना) और योग से भगवान् का साक्षात्कार मानते थे। भगवान् के अवतारों की कल्पना की गई। आगे चलकर यह संप्रदाय उत्तर भारत में अधिक प्रचलित हुआ। इसके राम और कृष्ण के आश्रय से दो भेद हो गए।

वैष्णव अथवा भागवत संप्रदाय के साथ शैव संप्रदाय, शाक्त संप्रदाय, कौल संप्रदाय तथा वामाचार आदि अनेक संप्रदाय उठ खड़े हुए। वहुदेववाद भी प्रचलन में आ गया। गणेश[२], सूर्य, स्कंद, गंगा, सरस्वती आदि आदि की मूर्तियाँ बनी, मंदिर में स्थापित हुई तथा इनके विभिन्न वाहनादि की भी कल्पना हुई। दक्षिण में कुमारिल भट्ट तथा शंकराचार्य ने प्राचीन धर्म के पुनरुत्थान में अधिक सहायता दी। इनके प्रचार से जर्जरित बौद्ध धर्म को बड़ा धक्का लगा। संक्षेप मे यही कहा जा सकता है कि हमारे इस निर्दिष्ट काल मे यद्यपि तीनों धर्म प्रचलित थे परंतु ब्राह्मण धर्म की सबसे अधिक प्रधानता थी। बौद्ध धर्म तो मृतप्राय हो चुका था। जैन धर्म परिमित क्षेत्र में रह गया था। हिंदू धर्म में शैव मत का प्रचार बढ गया था। पिछले समय में बहुत से राजा शैव थे[३]। यद्यपि कभी कभी

---

१. महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचंद ओझा—मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ० १२

२. आर० जी० भंडारकर—वैष्णविज्म शैविज्म एंड अदर माइनर रिलीजन्।

महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचंद ओझा—मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ० ३१

३. महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचंद ओझा—मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ० ६१

इन संप्रदायों एवं मतों में भयानक दार्शनिक शास्त्रार्थ का वर्णन मिलता है परंतु धार्मिक असहिष्णुता का अभाव पाया जाता है। परवर्ती युग में तो धार्मिक विभिन्नता पारिवारिक जीवन तक में कोई व्याघात नहीं उत्पन्न करती थी। आपस मे विवाह संबंध होना मिलता है। 'न गच्छेत् जैन मंदिरम्' वाक्य के रहने पर भी जैनियों तथा अन्य जातियों में पारस्परिक संबंध अन्य मतावलंबियों से होते थे।

आठवीं शताब्दी में इस्लाम ने भी भारत में प्रवेश किया। मुसलमान विजेताओं ने तलवार के बल पर अपनी कुरान और रसूल के धर्म का प्रचार किया। इस्लाम धर्म अपने साथ नवीन भाषा, नवीन साहित्यपरंपरा तथा नवीन सभ्यता को लेकर आया जिसका परवर्ती जीवन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। प्रारंभ मे मुसलमानों ने भी अपभ्रंश साहित्य में योग दिया। कवि अब्दुल रहमान का संदेश रासक अपने ढंग का अनूठा ग्रंथ है।

राजनीतिक तथा धार्मिक परिवर्तनों एवं नवीन अभ्युदयों की भाँति सामाजिक अवस्था मे भी अव्यवस्था का प्रचार हो चला था। धनाढ्य एवं राजा लोगों के विलास एवं आमोदपूर्ण जीवन ने यद्यपि साहित्य, नृत्य, गीत तथा चित्रकला को प्रोत्साहन दिया, परंतु यह प्रयास सर्वथा विलास वृत्ति का ही परिचायक रहा। कला जीवन से पृथक् हो चली थी। इस युग के (६००–१२००) संस्कृत साहित्य पर विहगम दृष्टि डालने से पता चला है कि संस्कृत साहित्य अपनी चरम सीमा पर पहुँचा हुआ था। काव्य, अलंकार, छंदशास्त्र, नाटक आदि सभी अंग उन्नति करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। इस साहित्य मे केवल प्रेमगाथाएँ ही नही, किंतु वीर, करुण आदि रसो की अभिव्यक्ति का पूरा विकास देख पड़ता है।

कविता भारतीय आर्यों की अत्यन्त प्रिय वस्तु थी। केवल काव्य से संबंधित रचना ही कविता में नहीं लिखी गई, अपितु वैद्यक, ज्योतिष, व्याकरण, अंकगणित, बीजगणित आदि अनेक विषय के ग्रंथ कविता में लिखे गए।

संस्कृत के साथ प्राकृत भाषा के माधुर्य का भी राग अलापा गया। प्राकृत काव्यकार प्राकृत और संस्कृत में महिला और पुरुष का सा अंतर मानने लगे। शुद्ध शृंगार वर्णन प्राकृत में ही मधुर होता है[1]। नाटकों में प्राकृतों का प्रयोग अनिवार्यतः होने लगा। अनेक प्राकृत काव्यों का प्रणयन हुआ, परंतु यह ध्यान रहे कि इस समय प्राकृत केवल साहित्यिक भाषा थी। संस्कृत एवं प्राकृत शिक्षित एवं अभिजात वर्ग में ही समादृत थीं।

धार्मिक नेताओं तथा सर्वसाधारण जनता के संपर्क में आनेवाले व्यक्तियों ने अपभ्रंश को अपनाया। अपभ्रंश इस समय की लोकभाषा थी। यह भाषा इस समय सर्वसाधारणतः अंतरराष्ट्रीय भाषा के पद पर समासीन थी। अतः पूर्व मे सिद्धों ने अपनी अभिव्यक्ति का इसी भाषा द्वारा प्रकाशन किया। जैनाचार्यों ने श्रावकों की सुविधा के लिये अपने ग्रंथ अपभ्रंश भाषा मे लिखे। धार्मिक रंग में रँगी हुई आख्यायिकाएँ, चरिउ तथा पुराण लिखे गए।

---

१. अमयं पाइय कव्वं पढिउं सोउ च जे न जाणन्ति।
कामस्स तत्ततत्तिं कुणोत ते कह न लज्जन्ति॥
—गाथा सप्तशती १। तथा वज्जालग्गम् २

पाइयकव्वुल्लावे पडिवयणं सक्कएण जो देइ।
सो कुसुमसत्थरं पत्थरेण अबुहो विणासेइ॥
—वज्जालग्ग—म अपभ्रंश काव्यत्रयी की भूमिका. पृ० ७६।

कथा कहानियों से मालूम होता है कि अंतिम दिनों में परवर्ती गहड़वालों ने भी लोकभाषा का प्रयोग किया। जयचंद्र का महामंत्री विद्याधर लोकभाषा का अच्छा कवि था। दामोदर पंडित रचित 'उक्तिव्यक्ति प्रकरण' प्रकाशित हुआ है। यह पुस्तक राजकुमारों को स्थानीय भाषा पढ़ाने के लिये संस्कृत मे लिखी गई थी। पश्चिमी देश में भी अपभ्रंश और जैन मत के उन्नायक राजा हुए। सिद्धराज स्वयं जैन न था परंतु जैन मंत्रियों का पर्याप्त प्रभाव था। अपभ्रंश के प्रसिद्ध विद्वान् तथा जैन मत के आचार्य कलिकाल सर्वज्ञ हेमचंद्र सूरि को संरक्षण देने का श्रेय सिद्धराज को ही है। बंगाल मे ८४ सिद्धों ने अपनी वाणी का माध्यम अपभ्रंश को बनाया। तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक परिस्थितियों तथा व्यावसायिक केंद्रों के निर्माण ने अपभ्रंश को, जो तत्कालीन लोकभाषा थी, समस्त उत्तरापथ की राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया। राजाश्रय तथा जनता का प्रश्रय पाकर अपभ्रंश साहित्य अवश्य समुन्नत हुआ होगा। परंतु खेद है इसका बहुत सा साहित्य नष्ट हो गया प्रतीत होता है। जो साहित्य अब प्रकाश मे आया है वह धार्मिक है अथवा धर्मप्रश्रय प्राप्त है। धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियो ने साहित्य एवं भाषा पर भी अपना प्रभाव डाला। इस्लाम के आक्रमण तथा अन्य धार्मिक क्रांतियों का सामना बुद्ध मत न कर सका। सिद्धों की वाणी भी मूल रूप मे सुरक्षित न रह सकी। वह अधिकतर तिब्बत, नेपाल अथवा भूटान देश मे वहाँ के यात्रियों की कृपा से पहुँची और सुरक्षित रही। इस यात्रा मे उसमे उन देशों का प्रभाव भी आ गया है।

जैन धर्म अपने मूल निवासस्थान मगध से हटकर पश्चिमी भारत मे पल्लवित हुआ। अतः जैन ग्रंथो की पश्चिमी अपभ्रंश

में अर्द्धमागधी के कुछ लक्षण मिलना आश्चर्य की बात नही। मुसलमानों के आने से और भी नवीन परिस्थिति बनी। अतः अपभ्रंश मे भी परिवर्तन के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे। धीरे धीरे वह अवहट्ट अथवा अवहट्टा बनी और साहित्य की भाषा रह गई। यह बात विद्यापति की कीर्तिलता एवं पदावली से स्पष्ट है। कीर्तिलता एवं कीर्तिपताका की भाषा शुद्ध साहित्यिक रूप में है और पदावली तत्कालीन लोक भाषा में। यह वह समय था जब आधुनिक उत्तरी आर्यभाषाएँ अपने विकास में अग्रसर हो रही थी और अपने आदिकाल में अपभ्रंश से प्रभावित हो रहीं थी। अपभ्रंश हिंदी की ही निजी वस्तु नहीं अपितु, बँगला, मैथिली, अवधी, ब्रज, राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी तथा मराठी आदि आदि भाषाओं की जननी है। ग्रियर्सन ने आधुनिक आर्यभाषाओं और प्राकृत के बीच प्राकृत के नामानुसार विभिन्न अपभ्रंशों की कल्पना की है। यथा ब्रजभाषा की उत्पत्ति शौरसेनी अपभ्रंश से, अवधी की अर्द्धमागधी अपभ्रंश से तथा बँगला, मैथिली की उत्पत्ति मागधी अपभ्रंश से और मराठी की उत्पत्ति महाराष्ट्री अपभ्रंश से हुई है।

हेमचंद्र के प्राकृत व्याकरण के रचनाकाल (११४२ ई०) में यह पूर्णरूप से परिनिष्ठित भाषा बनकर अपने परवर्ती रूप को प्राप्त हो चुकी थी। हेमचंद्र ने अपने काव्यानुशासन में 'शिष्ट' अपभ्रंश से भिन्न 'ग्राम्य' अपभ्रंश को स्वीकार किया है। स्पष्ट है कि यह ग्राम्य अपभ्रंश सामान्य लोक-जीवन में व्यवहृत होनेवाली भाषा का ही कोई न कोई रूप होगा। हेमचंद्र ने अपना व्याकरण लिखकर अपभ्रंश के रूप को स्थिरता प्रदान की। अब परवर्ती लेखकों के लिये

भाषा का एक रूप बन गया। इसी रूप के आधारपर लगभग हेमचंद्र के ३०० वर्ष बाद तक रचना होती रही।

हेमचंद ने 'देशी नाममाला' नामक कोश की रचना की है और उसमें तत्कालीन प्रचलित शब्दों का संग्रह किया है। देशी नाममाला में ऐसे अनेक शब्द हैं जिनकी उत्पत्ति संस्कृत एवं प्राकृत से संदेहात्मक है। कोश में यत्र तत्र उदाहरण भी हैं। अतः डा० नामवर सिंह का अनुमान सत्य ही प्रतीत होता है कि हेमचंद्र के बाद अपभ्रंश में दो धाराएं चल पड़ीं। एक ने नियमों का कड़ाई से पालन किया, द्वितीय ने प्रचलित लोक-भाषा को अपनाया[1]। यह मिश्रित भाषा ही परवर्ती अपभ्रंश का वास्तविक रूप कही जा सकती है।

काल, देश तथा प्रसार के कारण अपभ्रंश में स्थानभेद आना स्वाभाविक था। जब अपभ्रंश सिंध में मुल्तान से लेकर बंगाल के समुद्रतट और कान्यकुब्ज से लेकर मान्यखेट तक मान्यता प्राप्त कर चुकी तो स्थानीय विशेषताओं का आना अनिवार्य था। परिवर्ती काल में राजनीतिक कारणों ने भी इस विकेंद्रीकरण मे योगदान दिया। पूर्ववर्ती काल में राजनीतिक तथा धार्मिक क्रांतियाँ केंद्राभिमुखी थीं तथा केंद्र प्रायः मध्यदेश था। परंतु अब केंद्र मुसलमानों के आक्रमण से अपनी वह आकर्षण शक्ति खो बैठा था। अपभ्रंश मे यह प्रभाव स्पष्टतः दृष्टिगोचर होते हैं। शनै शनैः देशभेद बढ़ने लगा तथा अततोगत्वा अपभ्रंश ने विभिन्न देशों में आधुनिक आर्यभाषाओं को जन्म दिया। वस्तुत. जो क्षेत्रीय भेद की

---

१. डा० नामवर सिंह—हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० ५२।

परिकल्पना प्रारंभ में की गई थी वह यदि परवर्ती अपभ्रंश में मानी जाती तो अधिक उपयुक्त होती। इस परवर्ती काल की भाषा को ही डा० उदयनारायण तिवारी ने संक्रांति काल की भाषा माना है तथा पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी इसे प्राचीन हिंदी कहना पसंद करते हैं।

संक्रांतिकालीन भाषा अथवा परवर्ती अपभ्रंश की जो सामग्री उपलब्ध है वह थोड़े बहुत कालक्रम के अंतर से इस प्रकार है।

पश्चिमी अपभ्रंश

(१) संदेशरासक	१२वीं सदीई० का पूर्वार्ध	अब्दुलरहमान	मुल्तान
(२) बाहुबलिरास[1]	११८४ई०	शालिभद्र सूरि	गुजरात
(३) थूलिभद्द फाग	१२००ई०	जिनपद्म सूरि	,,
(४) नेमिनाथ चौपई	१२००ई०	विनयचंद्र सूरि	,,
(५) समररास	१३१४ई०	अंबदेव सूरि	,,
(६) नेमिनाथ फागु	१३१४ ई०	राजशेखर सूरि	,,
(७) शालिभद्द कक्का	१३०० ई०	अज्ञात	,,
(८) षडावश्यक बालवोध	१३५४ ई०	तरुणप्रभ सूरि	,,[2]

मध्यदेशीय अपभ्रंश

(१) प्राकृत पैंगलम् (१२वीं सदी से १५वी सदी) मे उद्धृत बब्बर, जज्जल, विद्याधर आदि कुछ अज्ञात कवियों की रचनाएँ हैं जिनका रचनास्थान मुख्यतः मध्यदेश माना जाता है।

---

१. भारतीय विद्या—वर्ष २ अक १ में प्रकाशित।

२. पुस्तक नं० २ से ८ तक की सभी पुस्तके प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह में सगृहीत हैं।

(२) उक्ति व्यक्ति प्रकरण (१११४-११५५) यह ग्रंथ काशी कन्नौज के गहडवार नरेश गोविंदचंद्र के आश्रित पं० दामोदर की रचना है।

पूर्वी अपभ्रंश

(१) वर्णरत्नाकर—इस ग्रंथ में 'कविसमयों' का संग्रह किया गया है। इसके प्रणेता हैं कविशेखराचार्य ज्योतिरीश्वर ठाकुर और इसके संपादकों के मतानुसार इसका रचनाकाल १४वीं शताब्दी के प्रथम चरण का पूर्वार्ध है।

(२) कीर्तिलता—इसके रचयिता प्रसिद्ध कवि विद्यापति हैं। इनका समय भी चौदहवीं शताब्दी का अंत एवं पंद्रहवी शताब्दी प्रारंभ है। 'कीर्तिलता' की भाषा को इन्होंने 'अवहट्ट' नाम का दिया है। यह ग्रंथ गद्यपद्य मिश्रित है। पद्यों में 'साहित्यिक अपभ्रंश' एवं 'प्राकृत' के पुराने रूप गद्य भाग की अपेक्षा अधिक हैं। साधारणतः इसकी भाषा साहित्यिक अपभ्रंश-मिश्रित लोकभाषा है। अतः इससे तत्कालीन पूर्वी का थोड़ा सा परिचय प्राप्त होता है। विद्यापति की एक और रचना 'कीर्ति-पताका' है जिसकी प्रति नेपाल मे सुरक्षित बताई जाती है परंतु यह अभी पूर्ण रूप से प्रकाश में नही आ सकी है।

(३) चर्यापद—बंगला के प्राचीन रूप का कुछ परिचय हमें 'चर्यापदों' में मिलता है। ये कुल मिलाकर ४७ पद है और सहजिया संप्रदाय के सिद्धों की रचनाएँ है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री को ये पद नेपाल मे प्राप्त हुए थे। शास्त्री जी के अनुसार इनकी पांडुलिपि १२वी सदी की है, परंतु राखालदास वनर्जी ने इनकी इतनी प्राचीनता मे सदेह प्रकट किया है और इनको १४वीं सदी के अंतिम काल मे रखा है[1]।

---

1. डा० उदयनारायण तिवारी—हिंदी भाषा का उद्गम और विकास, पृ० १५६।

दक्षिण में इस काल की रचना संत ज्ञानेश्वर रचित गीता की टीका है। इसका रचनाकाल १३वीं शताब्दी माना जाता है परंतु अभी तक इसकी प्रामाणिक पांडुलिपि उपलब्ध नहीं हुई है। इसका जो रूप आज मिलता है वह संत ज्ञानेश्वर के ३०० वर्ष पश्चात् संत एकनाथ द्वारा संशोधित है। अतः इसके आधार पर 'ज्ञानेश्वरी' की मूल भाषा का पता चलाना कठिन कार्य है। श्री हरिनारायण आप्टे जैसे विद्वान् ने इसकी प्राचीनता पर संदेह प्रकट किया है[1]। यदि यह भाषा संत एकनाथ के समय की भी मान लें तो भी हमारा कार्य चल जाता है। क्योंकि इन परवर्ती भाषाओं में आधुनिक भाषाओं के रूप प्रकट होने लगे थे। शनैः शनैः उत्तरी भारत की आर्यभाषाओं ने उन स्वरूपों को अपनाया जो वर्तमान काल मे विभिन्न नामों से प्रसिद्ध है। नाना प्रकार की विभिन्नताओं के मूल में वे सभी इसी अपभ्रंश स्रोत से निकली हुई है।

अस्तु, भाषाविषयक इतना निर्देश करने के उपरांत जो साहित्य उपलब्ध है उसपर भी एक विहंगम दृष्टिपात करना हम परमावश्यक समझते है। इस शताब्दी के आरंभ तक अपभ्रंश भाषा और साहित्य के विषय में लोगों को बहुत कम ज्ञान था। जैसा हम पहिले कह चुके हैं कि अपभ्रंश साहित्य की सामग्री का पहला संग्रह जर्मन विद्वान् पिशेल के परिश्रम का फल था। इसमे अधिकतर हेमचंद्र कृत प्राकृत-व्याकरण के सभी छंद तथा ३५ पद्य अन्य हैं। इनके अतिरिक्त 'सरस्वती कंठाभरण' तथा विक्रमोर्वशीय के पद्य हैं। किंतु

---

१. श्री हरिनारायण आप्टे—विल्सन फिलालोजिकल लेक्चर्स आन मराठी, पृ० ७३, ७४।

पिछले २०-२५ वर्षों के भीतर श्रीयुत गुणे, दलाल, मुनि जिन विजय, प्रो० हीरालाल, पी० एस० वैद्य, ए० एन० उपाध्ये, प्रो० भायाणी आदि विद्वानों की सतत खोज एवं अनवरत साधना के फलस्वरूप बहुत से जैन अपभ्रंश ग्रंथ प्रकाश में आ गए है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री, डा० बागची तथा डा० शहीदुल्ला एवं महापंडित राहुल सांकृत्यायन की कृपा से पूर्वी अपभ्रंश के भी कुछ ग्रंथरत्न उपलब्ध हो सके हैं। जिनविजय जी ने 'उक्तिव्यक्ति प्रकरण' का संपादन कर मध्यदेशीय अपभ्रंश का पुनरुद्धार किया है साथ ही इस प्रकार के अन्य संग्रह ग्रंथ प्रकाशित करने का आश्वासन दिया है[1]। परंतु देश में अपभ्रंश का जो विशाल साहित्य है वह अभी बहुत कुछ अज्ञात है, अप्रकाशित है और बहुत से ग्रंथरत्नों के नाम केवल सूचियों में अंकित हैं। साधारण जनता का प्रवेश जैन भाडारों अथवा मंदिरों में कठिनाई से होता है। अतः यहाँ ज्ञात अथवा प्रकाशित ग्रंथों के आधार पर अपभ्रंश साहित्य का संक्षिप्त परिचय देने का प्रयत्न मात्र है।

परिचय लिखने से पहिले इस विशाल साहित्य को सुविधानुसार विभाजित कर लेना आवश्यक है। जैसा हम वर्णन कर चुके हैं अधिकतर साहित्य जैन मुनियों की कृतियाँ हैं जो प्रायः गुजरात, राजस्थान, मगध, मिथिला तथा बंगाल में रची गईं। प्रायः पूर्वी देशों की रचनाएं सिद्धों की रचना हैं। अतः देशानुसार वर्गीकरण इस प्रकार हो सकता है[2]—

(१) पश्चिमी प्रदेश का अपभ्रंश साहित्य जिसमें स्वयंभू,

---

१. मुनी जिनविजय—उक्तिव्यक्ति प्रकरण की भूमिका, पृ० ७।
२. डा० कोछड़—अपभ्रंश—साहित्य, पृ० ४८।

योगींद्र, धनपाल, हेमचंद्र आदि लेखक तथा कविगणों की कृतियों का वर्णन आ सकेगा।

(२) महाराष्ट्र अथवा दक्षिणी अपभ्रंश साहित्य जिसके अंतर्गत महान् कवि पुष्पदंत तथा मुनि कनकामर रखे जा सकते हैं।

(३) पूर्वी प्रांतों के अपभ्रंश में सिद्धों की रचना, तथा ज्योतिरीश्वर ठाकुर का वर्णरत्नाकर एवं विद्यापति की रचना रखी जा सकती है।

(४) मध्य देश में केवल पं० दामोदर का उक्ति व्यक्ति प्रकरण इस समय उपलब्ध है। अन्य यत्रतत्र बिखरी सामग्री की सूचना भी मिलती है।

दूसरा वर्गीकरण कालक्रम के अनुसार हो सकता है। परंतु बहुत से लेखकों के समय के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। अतः वह भी उपयुक्त नही जँचता। दूसरे भाषा के विकास से यह क्रम अधिक उपयुक्त होता परंतु यहाँ अधिक आवश्यकता प्रतीत नही होती।

तीसरा वर्गीकरण धार्मिक दृष्टि से किया जा सकता है। अर्थात् (१) जैन अपभ्रंश सहित्य, (२) जैनेतर अपभ्रंश साहित्य। जैनेतर साहित्य पुनः तीन विभागों में रखा जा सकता है।—

(१) ब्राह्मणों द्वारा रचित अपभ्रंश साहित्य (पं० दामोदर)।

(२) बौद्धों द्वारा रचित अपभ्रंश साहित्य (बौद्धगान औ दोहा आदि)।

(३) मुसलमानों द्वारा रचित अपभ्रंश साहित्य (संदेश रासक)।

चौथा वर्गीकरण काव्यरूपों की दृष्टि से किया जा सकता

है। समस्त अपभ्रंश साहित्य को हम प्रबंधात्मक काव्य और मुक्तक काव्यों में बाँट सकते हैं। प्रबंधात्मक अपभ्रंश साहित्य भी महाकाव्य और खंड काव्य इन दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। शास्त्रीय दृष्टि से यह वर्गीकरण ठीक हो सकता है, परंतु अपभ्रंश रचनाओं मे यह नाम स्वीकृत नहीं किए गए। वहाँ हमें अधिकतर पुराण, कहा, चरिउ, संधि, कुलक, चउपई, आराधना, रास, चाँचर, फाग, स्तुति तथा स्तोत्र आदि आदि नाम उपलब्ध होते हैं। 'अपभ्रंश' ने अपने सुदीर्घ जीवन मे भाषाकाव्यों की विविध संज्ञाएं निर्माण की हैं। श्री अगरचंद्र नाहटा ने ११५ संज्ञाओं का उल्लेख किया है[1]। जिनके नाम इस प्रकार है—

(१) रास (२) संधि, (३) चौपई, (४) फाग, (५) धयाल, (६) विवाहलो, (७) धवल, (८) मंगल, (९) वेलि, (१०) सलोका, (११) संवाद, (१२) वाद, (१३) झगडो, (१४) मातृका, (१५) बावनी, (१६) कवक, (१७) बारहमासा, (१८) चौमासा, (१९) पवाडा, (२०) चर्चरी, (चाचरि), (२१) जन्माभिषेक, (२२) कलश, (२३) तीर्थमाला, (२४) चैत्यपरिपाटी, (२५) संघवर्णन, (२६) ढाल, (२७) ढालिया, (२८) चौढालिया, (२९) छढालिया, (३०) प्रबंध, (३१) चरिउ (चरित), (३२) संबध, (३३) आख्यान, (३४) कहा (कथा), (३५) सतक, (३६) बहोत्तरी, (३७) छत्तीसी, (३८) सत्तरी, (३९) बत्तीसी, (४०) इक्कीसो, (४१) इकतीसो, (४२) चौवीसो, (४३) बीसी, (४४) अष्टक, (४५) स्तुति, (४६) स्तवन, (४७) स्तोत्र, (४८)

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५८, संवत् २०१०, अंक ४।

गीत, (४९) राजभाय, (५०) चैत्य वंदना, (५१) देववंदन, (५२) वीनती, (५३) नमस्कार, (५४) प्रभाती, (५५) मंगल, (५६) साँझ, (५७) बधावा, (५८) गहूँली, (५९) हीयाली, (६०) गूढ़ा, (६१) गजल, (६२) लावणी, (६३) छंद, (६४) नीसाणी, (६५) नवरसो, (६६) प्रवहण, (६७) वाहण, (६८) पारणो, (६९) पट्टावली, (७०) गुर्वावली, (७१) हमचडी, (७२) हींय, (७३) माला मालिका, (७४) नागमाला, (७५) रागमाला, (७६) कुलक, (७७) पूजा, (७८) गीता, (७९) पट्टाभिषेक, (८०) निर्वाण, (८१) संयम श्री विवाह वर्णन, (८२) भास, (८३) पद, (८४) मंजरी, (८५) रसावली, (८६) रसायन, (८७) रस लहरी, (८८) चंद्रावला, (८९) दीपक, (९०) प्रदीपका, (९१) फुलडा, (९२) जोड़, (९३) परिक्रम, (९४) कल्पलता, (९५) लेख, (९६) विरह, (९७) मूंदड़ी, (९८) सत, (९९) प्रकाश, (१००) होरी, (१०१) तरंग, (१०२) तरंगिणी, (१०३) चौक, (१०४) हुंडी, (१०५) हरण, (१०६) विलास, (१०७) गरबा, (१०८) बोली, (१०९) अमृतध्वनि, (११०) हालरियो, (१११) रसोई, (११२) कड़ा, (११३) भूलणा, (११४) जकडी, (११५) दोहा, कुंडलियाँ तथा छप्पय।

उपर्युक्त नामावली पर विवेकपूर्ण दृष्टि डालने से यह व्यक्त है कि वे काव्यों की विविधरूपता के परिचायक हैं। कुछ तो पद्य संख्या के आधार पर, प्रसिद्ध हैं, यथा—वीसो, इकतीसो आदि। कुछ का आधार जैन शास्त्रानुसार परंपराओं का वर्णन मात्र हैं। यथा—पट्टाभिषेक, निर्वाण, संयम श्री विवाह वर्णन आदि। जिस रचना में जैनाचार्यों के पट्टाभिषेक (आचार्य पद-

प्राप्ति) का वर्णन हो उसे पट्टाभिषेक रास एवं जिसमें स्वर्गप्राप्ति या निर्वाण वर्णन हो उसे निर्वाण रास तथा जिसमें दीक्षा वर्णन की प्रधानता हो उसे 'संयम श्री विवाह वर्णन' की संज्ञा दी गई है।[1]

अतः स्पष्ट है कि इन नामों के आधार पर कोई वैज्ञानिक वर्गीकरण नही हो सकता। स्वरूप दृष्टि से अपभ्रंश के पौराणिक काव्यों और चरित काव्यों में बहुत अंतर नही है।[2] पौराणिक काव्यों में विषय का विस्तार अधिक होने से संधियों की संख्या ५० से १२६ तक होती है, चरित काव्यों का विषय विस्तार मर्यादित एवं सीमित होता है। अतः डा० शंभूनाथ सिंह अपभ्रंश मे प्रबंध काव्य भेद की कल्पना निराधार मानते हैं।[3] वे लिखते हैं—

'वस्तुतः अपभ्रंश मे ये तीनों (पुराण, कथा तथा चरितकाव्य) इतने घुलमिल गए हैं कि उन सबका संमिलित नाम चरितकाव्य दे दिया गया है, अर्थात् प्रधानता उनमें काव्य की ही है, पौराणिकता, ऐतिहासिकता या कथावर्णन मात्र की नही। पुराण की परंपरा भी अपभ्रंश में संस्कृत के हिंदू पुराणों जैसी नहीं है। दिगंबर जैन आगम के प्रथमानुयोग मे तीर्थंकरों और अन्य महापुरुषों के जीवनचरित वर्णित हैं, उसी का परवर्ती और विस्तृत रूप महापुराण है, इस तरह

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका—वर्ष ५८, अंक ४, सं० २०१०, पृ० ४२६।

२. श्री हरिवल्लभ भायाणी—पउमसिरि चरिउ की भूमिका, पृ० १५। स्वरूपदृष्टिए अपभ्रंश पौराणिक काव्यों अने चरित-काव्यो वच्चे बहु फरक नथी।

३. डा० शंभूनाथ सिंह—हिंदी महाकाव्य का विकास और स्वरूप, पृ० १७४।

ये हिंदू पुराणों के ढंग के सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वंतरादि से युक्त पुराण नहीं। जिनसेन ने अपने आदिपुराण मे कहा है कि 'यह ग्रंथ महापुराण' इसलिये कहा गया है कि उसमें तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, बलदेवों, वासुदेवों और प्रतिवासुदेवों प्रभृति प्राचीन महापुरुषों के चरितवर्णन हैं और इसमें महान् उपदेश और श्रेयस्कर अनुशासन की बातें लिखी गई हैं। अन्य लोगों का कहना है कि पुराने कवियों की मूल रचना होने से यह पुराण कहलाता है।[1] कुछ जैनी इतिहास और पुराण में यह भेद मानते है कि इतिहास एक पुरुष की कथा होता है और पुराण तिरसठ पुरुषों की जीवन कथा[2]। किंतु सच तो यह है कि अपभ्रंश मे जैन कवियों ने पौराणिक कथावस्तुओं को ही काव्यात्मक रूप में ही लिखा है। अतः पुराण नाम से प्रचलित अधिकांश अपभ्रंश ग्रंथ काव्य ही माने जाने चाहिए, पुराण नही। **अधिक से अधिक उन्हें पौराणिक शैली का प्रबंध काव्य या महाकाव्य कह सकते** हैं। कथा नाम देकर लिखे गए अपभ्रंश काव्यों के सबंध मे भी यही बात लागू होती है। 'भविस्सयत्त कहा' जैसे कुछ ग्रंथ कथात्मक होते हुए भी महाकाव्य की कोटि मे रखे जा सकते हैं। संस्कृत, प्राकृत का कथा, आख्यायिकावाला काव्यरूप अपभ्रंश में नही के बराबर है। शुद्ध कथा रूप में जो रचनाएँ प्राप्त हैं वे धर्मकथाएँ हैं काव्य-कथा नहीं। चरित, कथा, और पुराण की तरह ही रासक, चर्चरी, फाग, लता, बेलि, रसायन, कौमुदी, संकीर्तन, प्रकाश, विलास, विजय, अभ्युदय आदि नाम देकर भी इस काल में

---

१. जिनसेन—महापुराण (संस्कृत), पृ० २०-२३।

२. पुष्पदंत—महापुराण (पी० एल० द्वारा संपादित १-६३ की टिप्पणी) तथा, पृ० ३१

प्रशस्तिमूलक प्रवंध काव्य लिखने की प्रथा प्रचलित हो गई थी, जैसे—अपभ्रंश में 'भरत बाहुवलिरास', 'स्थूलभद्द रास', 'संदेस रासक', 'कीर्तिलता' और संस्कृत में धर्मशर्माभ्युदय, पृथ्वीराज-विजय, सुकृतसंकीर्तन, कीर्तिकौमदी आदि आदि। अतः नाम देखकर काव्यरूप निर्णय नही किया जा सकता[1]।

अतः हम विवश होकर अपभ्रंश साहित्य का परिचय प्रबंध काव्य और मुक्तक काव्य का वर्गीकरण देकर ही करेंगे। प्रबंध काव्य महाकाव्य तथा खंड काव्य में पुनः विभाजित किए जा सकते हैं। मुक्तक भी दो प्रकार के हैं–(१) शुद्ध एवं शृंगारी रचनाएं तथा (२) धार्मिक एवं नीति संबंधी काव्य। अपभ्रंश साहित्य की विस्तृत सूची परिशिष्ट में दी गई है[2]। अत. यहाँ हम केवल प्रमुख प्रमुख काव्यकार एवं काव्यों पर ही प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

जैसा हम पहले कह चुके हैं कि अपभ्रंश के सर्वप्रथम कवि ईशान थे जिनका नामोल्लेख वाण ने अपने हर्षचरित मे किया है[3]। वाण ने ईशान कवि को भाषा का कवि कहा है। सभवतः उसका अभिप्राय अपभ्रंश भाषा के कवि से ही रहा होगा। परंतु खेद है कि अभीतक नामोल्लेख के अतिरिक्त ईशान कवि के विषय में अन्य कोई सामग्री उपलब्ध नही। अतः सर्वप्रथम अपभ्रंश के कवि स्वयंभू ही ठहरते है।

धक्कड़ कुल के पं० हरिषेण ने अपनी 'धम्म परिक्खा' में अपभ्रंश के तीन महाकवियों की प्रशंसा की है, उनमें

१. डा० शम्भूनाथसिंह—महाकाव्य का विकास तथा स्वरूप, पृ० १७४-७५।

२. देखिए परिशिष्ट क।

३. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल—हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० २२।

सबसे पहिले चहुमुह या चतुर्मुख हैं जिनकी अभी तक कोई रचना उपलब्ध नही हुई, दूसरे हैं स्वयंभू देव तथा तीसरे पुष्पदंत हैं। प्रोफेसर मधुसूदन मोदी ने स्वयंभू का नाम चतुर्मुख (चहुमुह) स्वयंभू लिखा है[1]। परंतु प्रेमीजी ने इस नाम के दो कवि माने हैं[2]। क्योंकि—

(१) स्वयं स्वयंभू ने अपने पउमचरिउ, रिट्ठणेमि चरिउ (हरिवंश) पुराण और स्वयंभू छंद इन तीनों ग्रंथों में कही भी 'चतुर्मुख स्वयंभु' नाम से अपना उल्लेख नही किया। सर्वत्र ही स्वयंभु लिखा है। और स्वयंभु पुत्र त्रिभुवन स्वयंभु ने भी अपने पिता का नाम स्वयंभु या स्वयंभु देव लिखा है। अपभ्रंश कवियों में अपनी कविता को नाममुद्रांकित करने की प्रथा पाई जाती है। प्राय: यह नाममुद्रा संधि के अंत में प्राप्त होती है। यथा, प्रथम संधि के अंत में —

इय एत्थ पउमचरिए घणंजयासिय सयम्भुव एव कए
'जिण जम्मुप्पत्ति' इमं पढमं चियं साहियं पव्वं।

यह मुद्रा प्राप्त होती है, जिसका अर्थ है इस प्रकार घनंजय के आश्रित स्वयंभु कवि जिन जन्म उत्पत्ति नाम का प्रथम पर्व कहता है[3]। संधि के अंत में तो कवि ने अपना नाम स्वयंभु कहा ही है प्रारंभ में भी उसने अपना नाम स्वयंभु ही लिखा है[4]। रिट्ठणेमि चरिउ (हरिवंश पुराण) में हमें तीन नाममुद्रा

---

१. प्रो० मधसूदन मोदी अपभ्रंश—पाठावली, पृ० ३६।
वही—भारतीय विद्या, अंक २-३ मार्च अगस्त सन् ४७ का लेख।
२. नाथूराम प्रेमी—जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३७०
३. स्वयभु—पउमचरिउ, पृ० १३ (१ १०)
४. स्वयंभु—पउमरिउ, पृ० १, छंद २

प्राप्त होती है। ये स्वयंभु, त्रिभुवन स्वयंभु तथा यशकीर्ति है। इनमें भी चतुर्मुख अथवा चहुमुह नही लिखा गया।

(२) महाकवि पुष्पदंत ने अपने महापुराण में अपने पूर्ववर्ती कवियों को स्मरण किया है। वे लिखते हैं —

चउमुहु सयंभु सिरिहरिसु दोणु णालोइउ कइ ईसाणु वाणु[1]।

अर्थात् मैंने न चतुर्मुख, स्वयंभु, श्रीहर्ष और द्रोण का अवलोकन किया है और न कवि ईशान और वाण का। महापुराण का टीकाकार भी अपनी टिप्पणी में इन व्यक्तियों की पृथक् सत्ता को स्वीकार करते हुए लिखता है—चउमुह कश्चित् कवि। स्वयंभु=पद्धडी वद्ध रामायण कर्ता आपली संघीय[2]।

(३) पुष्पदंत ने ६९वी संधि के प्रारंभ में पुनः लिखा है—

कहराउ सयंभु महायरिउ सो सयणसहार्साहि परियरिस।
चउमुहहु चयारि मुहाइ जहि सुकइत्तणु सीसउ काइ तहि।[3]

अर्थात् कविराज स्वयंभु महान आचार्य हैं, उनके सहस्रों स्वजन हैं, और चतुर्मुख के तो चार मुख हैं, उनके आगे सुकवित्व क्या कहा जाय। इन पंक्तियों में स्पष्ट रूप से कहा है कि स्वयंभु तथा चतुर्मुख दो पृथक् व्यक्ति थे।

(४) 'धम्म परिक्खा' में तीनों की पृथक् पृथक् स्तुति है।

---

१. पुष्पदंत—महापुराण पी० एल० वैद्य, (संपादित प्रथम भाग) पृ० ९।

२. वही ,,

३. वही भाग दो, पृ० ३६८।

४ नाथूराम प्रेमी—जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३७१।

(५) हरिवंश पुराण तथा 'पउमचरिउ' के वर्णन से भी चतुर्मुख का स्वयंभु से पृथक्त्व सिद्ध होता है।

(६) प्रकाशित 'पउमचरिउ' की पाद टिप्पणी में पाँच प्रशंसात्मक गाथाएँ दी हैं। ये गाथाएँ भी पउमचरिउ का अंश ही मानी जाती हैं। इनमें बताया गया है कि स्वयंभु कवि के अर्थ तथा शब्द दोनों मनोहर होते हैं, चतुर्मुख केवल मनोहर शब्दरचना में कुशल हैं तथा जलक्रीडा वर्णन में स्वयंभु को और गोग्रहण कथा में चतुर्मुख को विशेषता प्राप्त है[1]।

प्रशस्ति के अंतिम दोनों छंद केवल 'स्वयंभु छंद' नामक ग्रंथ की प्रशंसा में लिखे हुए प्रतीत होते हैं। अपभ्रंश कविता में छंदों की मर्यादा को सुव्यवस्थित करने का कार्य स्वयंभु ने किया। ये दोनों छंद उनके अपभ्रंश छंदों के आचार्यत्व को प्रकट करते हैं[2]।

(७) 'स्वयंभु छंद' के आधार पर भी दोनों दो व्यक्ति सिद्ध होते हैं।

(८) मुनि कनकामर भी स्वयंभु को स्मरण करते हैं—

जयएव सयंभु विसालचित्तु वाएसरिघरु सिरिपुप्फयंतु।[3]

परंतु स्वयंभु का नाम मुनि जी ने स्वयंभु ही लिखा है। चतुर्मुख नही। इसी प्रकार 'पंचमी चरिउ' में यही नाम प्राप्त होता है। अतः प्रो० एच० डी० वेलणकर तथा प्रो० हीरालाल जैन भी चतुर्मुख तथा स्वयंभु को पृथक् पृथक् व्यक्ति मानते हैं[4]।

---

१. स्वयंभु—पउमचरिउ, प्रथम भाग, पृ० १।

२. मुनि कनकामर—करकंड चरिउ, पृ० ४।

३. स्वयंभु—पउमचरिउ, पृ० १, प्रशस्ति छंद ४-५।

४. नाथूराम प्रेमी—जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३७२।

अस्तु यह अब निर्विवाद है कि चतुर्मुख और स्वयंभु दो कवि थे और दोनों ने अपभ्रंश साहित्य की श्रीवृद्धि की। परंतु अभी तक चतुर्मुख की रचनाओं के विषय में कुछ विशेष प्रकाश नही पड़ा। स्वयंभु अपभ्रंश के आचार्य थे, इन्होंने छंदशास्त्र तथा व्याकरणशास्त्र का भी निर्माण किया। स्वयंभु छंद चूड़ामणि, विजयशेषित या जयपरिशेष तथा कविराज धवल के विरद से भी प्रख्यात हैं।

यह सब होते हुए भी स्वयंभु अपने व्यक्तिगत जीवन के प्रति उदासीन रहे हैं। अंतःसाक्ष्य तथा वहिःसाक्ष्य के आधार पर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उनके पिता का नाम मरुतदेव था और माता का पद्मिनी। मरुतदेव भी कवि थे। केवल स्वयंभु छंद में उनके नाम से एक दोहा प्राप्त होता है।

स्वयंभु गृहस्थ थे, साधु या मुनि नही। उनके संभवतः तीन पत्नियाँ थीं। दो का नामोल्लेख 'पउमचरिउ' में प्राप्त होता है। एक का नाम आइच्चंवा (आदित्याम्बा) जिसने अयोध्याकाड लिखाया था और दूसरी का नाम सामिअव्वा जिसने विद्याधरकांड लिखाया था। दोनों परम पंडिता तथा सुशिक्षिता थी।

स्वयंभु के अनेक पुत्र थे। सबसे छोटे त्रिभुवन स्वयंभु ही साहित्य मे स्थान वना सके हैं। उक्त दो पत्नियों मे से ये किसके पुत्र थे, इसका कोई उल्लेख नही। सभव है कि इनकी माता कोई तीसरी हो[1]। जैसा निम्नलिखित पद्य से संकेत प्राप्त होता है।

सव्वे वि सुआ पंजरसुअव्व पढि अक्खराइं सिक्खंति।
कइमअस्स सुओ सुअव्वइ सुगब्भ संभूओ॥

अपभ्रंश में शुक और सुत दोनों के स्थान पर सुअ प्रयुक्त

---

१ स्वयंभु—पउमचरिउ, भूमिका, पृ० १०।

होता है। इस पद्य का अर्थ है कि सारे ही सुत पिंजरस्थ शुकों की भाँति पढ़े हुए अक्षर सीखते हैं, परंतु कविराजसुत (त्रिभुवन) श्रुत इव गर्भसंभूत है। अर्थात् जिस तरह श्रुति (वेद) से शास्त्र उत्पन्न हुए उसी तरह दूसरे पक्ष में त्रिभुवन सुअव्व गब्भ संभूत (सु-अव्वा के गर्भ से उत्पन्न हुए) हैं।

स्वयंभु ने अपने कुल गोत्र आदि का अधिक परिचय नही दिया और न अपने गुरु और संप्रदायों का उल्लेख किया। अपनी विचारधारा और मनोवृत्ति से वे अधिक उदार प्रतीत होते हैं। पुष्पदंत के महापुराण के संस्कृत टिप्पण में 'सयंभु पाथडी बद्धरामायणकर्ता आपलीसंघीयः[1]" ऐसा उल्लेख मिलता है। अतः वे यापनीय संप्रदाय के प्रतीत होते हैं। यापनीय संप्रदाय भी श्वेतांबर तथा दिगंबर संप्रदाय की भाँति एक जैन संप्रदाय था जो धार्मिक दृष्टि से अधिक उदार तथा समन्वय-वादी था। इसका प्रचार दक्षिण में अधिक था।

प्रश्न होता है कि कवि कहाँ का रहनेवाला था ? पिता पुत्र दोनों ने अपना जन्मस्थान नहीं लिखा और न किसी सम-सामयिक राजा ही का वर्णन किया है। अनुमान से इतना ही कहा जा सकता है कि वे दाक्षिणात्य थे और बहुत करके पुष्पदंत ही के समान बरार की तरफ के होंगे[2]; परंतु यह भी कहा जा सकता है कि वे कन्नड प्रदेश के हों। यद्यपि इस अनुमान का कोई युक्तिसंगत एवं शुद्ध प्रामाणिक आधार नही है। प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से नीचे लिखे तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं—

---

१. पुष्पदंत—महापुराण, पृ० ६, (पाद टिप्पण)।
२. नाथूराम प्रेमी—जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३७६।

(१) रिट्ठणेमि चरिउ में पाँचों पांडव, द्रोपदी तथा कुंती की उपमा सप्तमुखी गोदावरी से दी गई है। यथा—

संचल्लइ सत्ता इ पुरवारहो, गोदावरी मुहइम व सायरहो ॥
—रि० चरि० २१-१८-५।

(वे सातों महान नगरों की ओर इस प्रकार चले जिस प्रकार सप्तमुखी गोदावरी समुद्र की ओर प्रधावित होती है)।

यह उपमा जो दाक्षिणात्य न हो सहसा वर्णित नहीं कर सकता है।

(२) पउमचरिउ में मासों की गणना चैत्र से है जिसका अर्थ है कि उनके देश में चैत्र से वर्ष माना जाता है।

(३) यापनीय जैन संप्रदाय कर्नाटक राज्य में अधिक उन्नतिशील रहा है।

(४) नर्वदा, गोदावरी तथा दक्षिणी नदियों का चित्रोपम वर्णन उनके दक्षिण निवासी होने का प्रमाण है।

(५) मारुत देव, धवलइय्या, बंदइया, नाग आइच्चंवा, सामिअव्वा आदि नाम कर्नाकट देशवासियों जैसे हैं[1]।

यदि स्वयंभु को कर्नाकट प्रदेश का स्वीकार कर लें तो प्रश्न होता है कि उन्होने इस पाश्चात्य अपभ्रंश मे क्योंकर रचना की। डा० हरिवल्लभ भायाणी जी इन सब तर्कों पर विचारकर इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि कवि तथा उनके आश्रयदाता वरार की ओर से आए होंगे। अथवा दूसरा कारण यह भी कहा जा सकता है कि पश्चिमी अपभ्रंश जैन मुनियों द्वारा स्वीकृत थी। अतः धार्मिक प्रतिष्ठा एवं

---

१. स्वयंभु – पउमचरिउ की भूमिका, पृ० १२।

भावना को बनाए रखने के लिये कर्नाटक प्रदेश में भी पश्चिमी अपभ्रंश में रचना की गई।

स्वयंभु का समय ६७७ ई० से ६६० ई० तक का माना जाता है। जबतक कोई अन्य प्रमाण उपलब्ध न हो हम इसी पर संतोष करेंगे।

स्वयंभु का मत और संप्रदाय – स्वयंभु इस विषय में भी मौन हैं। जैसा हम पहिले कह चुके हैं कि महापुराण के संस्कृत टिप्पण के आधार पर वे यापनीय संघ के कहे जाते हैं। प्रेमीजी तथा उपाध्येजी ने बहुत से अभिलेखों तथा साहित्यिक उद्धरणों के आधार पर यापनीय संप्रदाय की महत्ता स्थापित की है और सिद्ध किया है कि किसी समय यह संप्रदाय कर्नाकट मे और उसके आसपास बहुत प्रभावशाली रहा है। कदंब राष्ट्रकूट, और दूसरे वंशों के राजाओं ने इस संघ को और इसके आचार्यो को अनेक भूमिदान किए थे[२]। यापनीय संघ धार्मिक मान्यताओं में अन्य धर्मो के प्रति उदार था और उनको आदर की दृष्टि से देखता था।

स्वयंभु को यापनीय संघ के कहे जाने का आधार उनकी विचारधारा है जो समस्त 'पउमचरिउ' में व्याप्त है। यद्यपि 'पउमचरिउ' का आधार एवं मूल स्रोत विमल सूरि का पउमचरिउ (प्राकृत) और रविषेण कृत पद्मपुराण (संस्कृत) हैं, परंतु स्वयंभु ने उनमें से ब्राह्मण-धर्मविरोधी समस्त भावनाओं को अथवा प्रसंगों को अपने ग्रंथ से निकाल दिया है और यदि कोई बात आ भी गई है तो

---

१. स्वयंभु—पउमचरिउ की भूमिका, पृ० ७।

२. नाथूराम प्रेमी- जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ४०-६०।

उसका आभास मात्र देकर कथाप्रसंग को आगे बढ़ा दिया है[1]। यह ठीक है कि स्वयंभु का लक्ष्य काव्यत्व की ओर अधिक था। इस कारण कथावस्तु में व्यवधान डालनेवाले अनावश्यक प्रसंगों को उन्होंने बहुत ही कम स्थान दिया है। परंतु दोनों अन्य पुराणों के तुलनात्मक अध्ययन करने पर स्वयंभु की उदारता की प्रशंसा किए बिना नही रहा जा सकता।

इसके अतिरिक्त हरिवंश पुराण तथा स्वयंभु छंद के अवतरण विशेष उल्लेखनीय हैं। हरिवंश पुराण में अभिमन्यु युद्धक्षेत्र मे मरणोन्मुख देवताओं का स्मरण करता है—

सउहद्देण एम चवंतएण, सौ सुमरिउ देउ मरंतएण ॥
जो सव्वह देवह अग्गलउ, तइलोक्क सिहरे जसु थावलउ ॥
जें अट्ठ वि कम्मइं णिज्जियइ, जें पंचेदियइं परज्जियइ ॥
जं धरिवि महारिसि मोक्खु गय, जसु तणए धम्मे थिय जीवदय ॥
जें णासिउ जाइ जरा मरणु, सो सव्वहो तिहुयण होअे सरणु ॥
जो वहइ णिरंजण परमछवि, जस सोउ (वि)ओउ विणासु णवि॥
जो ण इव णउसउ णइव सिय, ण पयट्ट एक्कवि जासु किय ॥
जो णिक्कलु संत पराहिपरु ॥
णारायणु दिणयरु वइसवणु, सिउ वरुणु हुवासणु ससि पवणु ॥
जो होउ मु होउ थुणंतु थिउ, एक्कंतें करेप्पिणु कालु किउ ॥
—रि० चरि० ५५-३०—१-१०

अर्थात्, सौभद्र ने मरते समय उस देवता का ध्यान किया जो देवताओ मे सर्वप्रथम है, जिसका आवास तीनों लोकों के शिखर पर है, जिसने आठो कर्मों पर विजय प्राप्त कर ली है, जिसने पंचेद्रियों को पराजित कर लिया है, जिसको धारण करने से

---

१. स्वयंभु—पउमचरिउ भूमिका, पृ० १६।

मुनिगण मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं, जिसके धर्म में दया प्रधान है, जो जरामरण से अतीत है, जो त्रैलोक्य को शरणदाता है, जो निरंजन परम छवि का धारण करता है, जो शोक हर्ष से विगत है, जो न नर है न नारी है, और न नपुंसक है, जो किसी कर्म में भाग नही लेता, जो अभेद्य है, शाश्वत है, उच्चातिउच्च है, जो नारायण है, दिनकर है, वैश्रवण है, शिव है, वरुण है, हुताशन है, चंद्र है, पवन है, अथवा जो भी है वह है। अभिमन्यु (सौभद्र) ने शांतिपूर्वक उसपर अपना मन लगाकर प्राण छोड़ दिए[1]।

इसी प्रकार का दूसरा अवतरण 'पउमचरिउ' में भी प्राप्त होता है—

किय वंदण सुह गइ गामियहो। भावे चंदप्पह सामियहों॥
'जय तुहु गइ तहुं मइ तुहुँ सरणु, तुहुं माय वप्पु तुहुं बंधु जणु॥
तुहुँ परम पक्खु परमत्तिहरु, तुहुँ सव्वहु परहुँ पराहिपरु॥
तुहुँ दंसणे णाणे चरित्ते थिउ, तुहुं सयल सुरासुरेहि णमिउ॥
सिद्धंते मते तुहुं वायरणे, सज्झाए झाणे तुहुँ तव चरणे॥

अरहन्तु बुद्ध तुहुँ हरि हरु वि, तुहुँ अण्णाण तमोहरिउ॥
तुहुँ सुहुमु णिरंजणु परमपउ, तुहुँ रवि बंभु सयंभु सिउ॥
—पउमचरिउ, ४३–१९–४, ९

अर्थात् रामचंद्रजी ने चंद्रप्रभ तीर्थंकर को प्रणाम किया जो दूसरों को मोक्ष देने में सहायता करते है और इस स्तोत्र का पाठ किया। हे भगवन् आप यति हैं, गति है, शरणदाता हैं, माता हैं, पिता हैं; बंधुजन है, आपकी जय हो। आप परमपक्ष हैं, परमार्तिहर है, आप सर्व हैं, परात्पर हैं अतः

---

१. स्वयंभु—पउमचरिउ की भूमिका, पृ० १६।

आपकी जय हो। आप दर्शन में, ध्यान में, चरित में स्थित हैं, आपको सुरासुर नमन करते हैं, आप ही शास्त्र, मंत्र तथा व्याकरण में व्याप्त हैं, आप ही सत्ध्यान हैं, तपाचरण हैं। आप ही अर्हंत हैं, आप ही बुद्ध हैं, हरि हैं तथा हर हैं, आप ही अज्ञानरूपी अंधकार के शत्रु हैं, आप ही शुभ हैं, निरंजन हैं, परमपद हैं, आप ही ब्रह्म हैं, स्वयंभू हैं, तथा शिव हैं (अतः आपकी जय हो[1] (।

इसी प्रकार स्वयंभु छंद में भी एक अवतरण मिलता है जिसमे भी सभी देवताओं के प्रति सद्भावना प्रकट होती है। अतः इन प्रमाणों के आधार पर हमारा निष्कर्ष यही है कि कवि स्वयंभु मे धार्मिक कट्टरता का अभाव है।

स्वयंभु की रचनाएँ—इस सयय स्वयंभु के कुछ ग्रंथ तो प्रकाशित एवं उपलब्ध हैं तथा कुछ का नाम मात्र प्राप्त है। स्वयंभु के दो पुराण—पउमचरिउ अथवा रामायण; हरिवंश पुराण अथवा रिट्ठणेमि चरिउ तथा एक प्राकृत छद स्वयंभु छंद के नाम से प्राप्त है। ये तीनों ग्रंथ स्वयंभु द्वारा रचे गए थे और तीनों मे ही उसके पुत्र द्वारा थोड़ा सा संवर्धन कर उन्हें पूर्ण वनाने का प्रयास किया गया है। सुद्धाया चरिउ तथा श्रीपंचमी कहा नामक दो ग्रंथों का और नाम प्राप्त होता है। परंतु ये दोनों ग्रंथ अभी अप्राप्य हैं। यद्यपि जैन विद्वान् स्वयंभु द्वारा अलंकार तथा व्याकरण ग्रंथों का भी प्रणयन स्वीकार करते हैं परंतु यह मत भी प्रो० भायाणी जो को केवल कपोलकल्पना प्रतीत होना है[2]।

---

१ स्वयंभु-पउमचरिउ, भाग दो, पृ० १८२।

२. स्वयंभु–पउमचरिउ की भूमिका, पृ० २१।

१—पउम चरिउ

यह ग्रंथ १२ हजार श्लोकप्रमाण का है। इसमें पाँच कांड और ९० संधियाँ हैं। विद्याधर कांड में २०, अउज्झा कांड में २२, सुंदर कांड में १४, युद्ध कांड में २१ और उत्तर कांड में १३, इस प्रकार कुल ९० संधियाँ एवं १२९६ कड़वक हैं। उनमें ८२ संधियाँ स्वयंभु की स्वरचित तथा ८ संधियाँ स्वयंभु के पुत्र त्रिभुवन स्वयंभु रचित हैं। यह ग्रंथ अभी पूर्ण प्रकाशित नही हुआ है। डा० हरिवल्लभ चुनीलाल भायाणी द्वारा संपादित होकर विद्याभवन बंबई से, इसके केवल दो भाग प्रकाशित हुए हैं। तीसरा भाग भी शीघ्र प्रकाशित होने की संभावना है।

'पउमचरिउ' रामायण की कथा है। रामकथा संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिंदी कवियों की प्रिय कथा रही है। जैन धर्म के अनुसार लक्ष्मण और राम आठवें वासुदेव तथा वलदेव हैं।[१] वस्तुत. स्वयंभु अपभ्रंश के आदिकवि वाल्मीकि हैं उनका यह ग्रंथरत्न अपभ्रंश की रामायण है।

स्वयंभु ने प्रारंभ में ही कहा है कि उन्होंने अपनी कथा को 'आर्ष' आधार पर कहा है। आर्ष आधार से उनका अर्थ है कि उन्होंने रविषेण तथा विमल सूरि का आधार अपनाया है, परंतु वर्णन करने में बहुत कुछ अंतर कर दिया है। आचार्य रविषेण तथा विमल सूरि के ग्रंथों में भी कुछ थोड़ा सा अंतर मिलता है जो संभवतः सांप्रदायिक मतभेद के कारण है। क्योंकि रविषेण दिगबर थे और विमल सूरि श्वेतांबर परंतु स्वयंभु यापनीय संप्रदायवादी थे जो सभी धर्मों के प्रति एक सा उदार था।

स्वयभु ने अपने काव्य का प्रारंभ बड़ी उदात्त भूमिका

---

१. पुष्पदंत--महापुराण, भाग २, परिशिष्ट ५, पृ० ५६८।

के साथ किया है। उनका मुख्य उद्देश्य सुंदर काव्य-भावना से प्रेरित है अत. जो भी अनावश्यक तथा कथाप्रसग के निर्वाह मे बाधक दृश्य या वस्तुएँ थी वे या तो पूर्णतः छोड़ दिए गए है या उनकी सूचना मात्र देकर कथा को आगे बढ़ा दिया है। जैसे हम पहिले कह चुके हैं कि कुछ परिवर्तन तो धार्मिक विश्वास तथा मन की उदारवृत्ति के कारण हैं। मरुत यज्ञ विध्वंस तथा लंबे लंबे धार्मिक प्रवचन, क्षेत्र वर्णन तथा काल वर्णन आदि प्रसंग छोड़ दिए गए है और कुछ अत्यंत संक्षिप्त कर दिए गए हैं। यद्यपि यह नही कहा जा सकता कि पउमचरिउ में धार्मिक उपदेश तथा विवरण संग्रह का सर्वथा अभाव है परंतु उनके वर्णन को पढने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्वयंभु का मन कथा को मनोरंजक तथा सौंदर्योत्पादक रूप मे वर्णन करने में अधिक रमा है। रसात्मकता उत्पन्न करने के लिये कवि ने विभिन्न मर्मस्पर्शी भावों के चित्रण, प्राकृतिक दृश्यों और घटनाओं के वर्णन में तथा वस्तुव्यापार के संश्लिष्ट और प्रासंगिक निरूपण मे पर्याप्त मौलिकता और धार्मिक रूढ़ियों से ऊपर उठने की स्वतंत्रता की प्रवृत्ति का परिचय दिया है[१]।

काव्यारंभ पुरानी परंपरा के अनुसार नम्रता का प्रदर्शन एवं अपनी अज्ञता, अक्षमता तथा धृष्टताप्रदर्शक शब्दो के साथ हुआ है। उन्होने राम कथा को सुंदर नदी का रूपक दिया है। तदुपरांत सज्जन एव दुर्जनो को स्मरणकर कवि ने लोक मे प्रचलित शंकाओं के समाधान के रूप में अपना कथासूत्र चलाया है। काव्यारंभ मे देवताओं की स्तुति, विषयवस्तु का निर्देश, अपनी असमर्थता और दीनता का निवेदन, पूर्ववर्ती कवियों की

१. डा० शम्भूनाथ सिंह—हिंदी महाकाव्य का स्वरूप और विकास, पृ० १८१।

प्रशंसा, सज्जनप्रशंसा तथा दुर्जननिंदा, देशवर्णन और नगर-वर्णन आदि के साथ साथ कथा का प्रारंभ होता है। मगध नरेश श्रेणिक (बिंबसार) प्रश्न करते हैं—

जइ रामहो तिहुअणु उवरे माइ तो रावणु कहि तिय लेवि जाइ॥
अण्णु वि खरदूसण समरे देव पहु जज्झइ तुज्झइ भिच्चु केव॥
किह तियमइ कारणे कविवरेण पाइज्जइ वालि सहोयरेण॥
किह वाणर गिरिवर उव्वहंति वधेवि मयरहरु समुत्तरंति॥
किय रावणु दहमुहु वीस हत्थु अमराहिव भुव बंधण समत्थु॥
वरिसद्ध सुअइ किह कुम्भयण्णु महिसा कोडिहि मि ण घाइ अण्णु॥
जे परिसेसिउ दहवयणु पर णारीहि समणु।
सो मंदोवरि जणणि सम किह लेह विहीसणु॥

अर्थात् यदि राम के उदर मे तीनों भुवन है, वह इतने शक्तिशाली हैं तो कैसे रावण उनकी स्त्री को हर ले गया? क्योंकर खरदूषण का युद्ध हुआ, किस स्त्री के कारण वालि को सहोदर ने मारा। किस प्रकार बंदरों ने पर्वत को उठाया, समुद्र को बाँधकर उसे पार किया। कैसे दसमुख और बीस हाथोंवाला रावण, अमराधिप इंद्र को बाँधने मे समर्थ हुआ? कुंभकर्ण किस प्रकार छह मास सोता था और कोटिशः महिष किस प्रकार पचा जाता था।

जिन्होंने परस्त्री को तंग करनेवाले दशमुख का दमन किया, उन्होंने किस प्रकार माता सदृश मंदोदरी को विभीषण को प्रदान किया।

कथा के प्रधान पात्र सब जिनभक्त हैं। वर्णन की दृष्टि से काव्यानुरूप अनेक सुंदर से सुदर दृश्य इसमें उपलब्ध है। रामकथा कहते समय स्वयंभु के सामने सदैव यही उद्देश्य

रहा। राम के रूप में उन्होंने न तो किसी महान आदर्श चरित्र की सृष्टि की और न उसमें अलौकिकता का कोई इंद्रजाल खड़ा किया। राम के रूप मे उन्होंने किसी राजा की सुख-वैभव की लालसा का वर्णन करने में भी अपनी शक्ति नहीं लगाई। राम के यथार्थ मानव चरित्र को इस जैन कवि ने जैसा अनुभव किया वैसा निश्छल रूप में रख दिया। स्वयंभु के राम वाल्मीकि के राम की ही तरह अपनी संपूर्ण मानवीय दुर्बलताओं और मानवीय शक्तियों के प्रतिनिधि बनकर आते हैं। एक ओर यदि वे दैवी विपत्तियों के प्रति पौरुष के प्रतिमान हैं तो दूसरी ओर शक्तिहत लक्ष्मण के मुमूर्षु शरीर पर असहाय साधारण पुरुष की भाँति बिलखनेवाले करुणाविगलित नवनीत हैं। यदि वे कर्मफल की सीमा मे निरंतर कार्यरत रहनेवाले कर्मवीर है तो कर्मशृंखला के बंधन मे कराहते हुए जीवनसंध्या बितानेवाले निर्वाणोन्मुख पथिक भी हैं।

प्रबंधकार कवि की भावुकता का सबसे अधिक पता यह देखने से चल सकता है कि वह आख्यान के अधिक मर्मस्पर्शी स्थलों को पहिचान सका है या नहीं[1]। कवि स्वयंभु ने आचार्य शुक्ल के अनुसार मर्मस्पर्शी स्थलों को चुनकर अपनी पूर्ण भावुकता का परिचय दिया है। राम को वन जाने का आदेश सुनकर उनकी माता चिंताकुल है। वह सोचती है जब राम वन चले जायँगे तो उनकी सेज सूनी हो जायगी। 'वह कहती है हे दशरथवंशदीप! तुम्हारे बिना अब पर्यंक पर कौन सोवेगा? तुम्हारे बिना अब कौन अथाई पर सुशोभित होगा? कौन अब अश्व तथा गजों पर आरूढ़ होगा?

१. आचार्य शुक्ल—त्रिवेणी, तुलसी की भावुकता, पृ० १००।

तुम्हारे बिना कौन अब कदुक क्रीड़ा करेगा' ? ... ...कितना सुदर माता के हृदय का चित्र है'।

बनगमन के इस करुण एवं हृदयद्रावक प्रसंग में सीता जी का बन को जाना सबसे अधिक करुणोत्पादक है। दशरथ के घर की राजवधू अब बन जाएगी। इसपर कवि ने बड़ी अनूठी उक्ति कही है—

णिय मंदिरहो विणिग्गय जाणइ णं हिमवतहो गंग महाणइ ॥
णं छंदहो णिग्गय गायत्ती णं सद्दहो णीसरिय विहत्ती ॥
णाइं कित्ति सप्पुरिल विमुक्की णाइं रंभणिय थाणहो चुक्की ॥
सुललिय चलणजुयलमल्हन्ती णं गव घड भड थड विहडती ॥
णेउर हार डोर गुफ्फती वहु तबोल पके खुप्पंती' ॥

अर्थात् जानकी जी मंदिर से क्या निकलीं मानो हिमालय से गंगा निकल पड़ी, छंदस् से गायत्री, शब्द से विभक्ति निकल पड़ी,... ..आदि।

इस प्रकार करुण रस के अनेक सुंदर स्थल पउमचरिउ में उपलब्ध होते हैं। भरत का लक्ष्मण के लिये विलाप, मंदोदरि विलाप, रावण के लिये विभीषण का विलाप तथा अजना सुंदरी के लिये पवनंजय का विलाप आदि सुंदर प्रसंग हैं। लक्ष्मण के आहत हो जाने पर भरत के शब्द उनके हृदय की अत्यंत व्याकुलता के द्योतक है। उन्हें अब भर्तृ-विरहिता नारी के समान पृथ्वी अनाथ दिखाई देती है—

हा पइ सोमित्ति ! मरंतएण, मरइ णिरुत्तउ दासराइ ॥
भत्तार विहूणिय णारि जिह, अज्ज अणाही हूय भाइ ॥

---

१. पउपचरिउ–उज्झाकण्डं, तेवीसमो संधि ४, पंक्ति ६-१०।
२. स्वयंभु–पउमचरिउ, उज्झाकंड, तेवीसमो संधि, ६-३ से ७।

जैन कवियो का धार्मिक उपदेश तो प्रायः सभी ग्रंथों में पाया जाता है। संसार को तुच्छ, नश्वर और दुःखबहुल बतलाकर शरीर की क्षणभंगुरता का प्रतिपादन कर संसार के मिथ्यात्व का उपदेश देते हुए इन्होने संसार के प्रति विरक्ति पैदा करने का प्रयत्न किया है। ऐसे निर्वेद के स्थलो मे ही 'पउमचरिउ' के कवि ने शांत रस की धारा बहाने का सफल प्रयत्न किया है। विरहज्वाला से दग्ध-हृदय राम विषादयुक्त होकर कहते है —

'सत्य ही संसार मे कही सुख नही, सच ही मेरु पर्वत के समान अपरिमित दुःख है, सच ही जरा, जन्म, मरण का भय लगा रहता है और जीवन जल विंदु के समान है। कहाँ घर, कहाँ परिजन, बंधु बांधव, कहाँ माता पिता, कहाँ हितैषी स्वजन, कहाँ पुत्र मित्र, कहाँ गृहिणी, कहाँ सहोदर, कहाँ भाई। जबतक संपत्ति है तभी तक बंधु स्वजन हैं, ये सब वृक्ष पर पक्षियो के वास के समान अस्थिर है[1]।

सच्चउ संसारे ण अत्थि सुहु सच्चउ गिरि मेरु समाणु दुहु ॥
सच्चउ जर जम्मण मरण भउ सच्चउ जीविउ जलबिंदु सउ ॥
कहो घरु केहा परियणु बंधुजणु कहो माय बप्पु कहो सुहि सयणु ॥
कहो पुत्तुमित्तु कहो किर घरिणि कहों भायसहोयर कहो बहिणि ॥
फलु जाव ताव बंधव सयण आवासिय पायवे जिह सउण ॥

शृंगार रस मे कवि ने स्त्रियों के सौंदर्य का वर्णन परंपरा-गत उपमानो द्वारा ही किया है। सीता के सौंदर्यवर्णन मे कलहंस-

---

१. पउमचरिउ—उज्झाकंडं, एगुणचालीसो संधि, ११-२ से ६ ।

गमना, कृशमध्या, विशाल नितंबा, आदि विशेषण परंपरा निर्वाह मात्र हैं। मुख को कमल, पीठ पर लहराती हुई वेणी से चंदन की लता पर लिपटी हुई नागिन की उपमा अत्यत प्रसिद्ध है। कवि के इस सौंदर्यवर्णन में स्थूल चित्र ही उपस्थित होता है। आंतरिक सौंदर्य का चित्र नही मिलता।

प्रकृति वर्णन—स्वयंभु के काव्य का क्षेत्र बहुत व्यापक है। हिमालय से लेकर समुद्र तक, रनिवासों से लेकर जनपदों तक, राजकीय जलक्रीड़ा से लेकर युद्धक्षेत्र तक जीवन के सभी क्षेत्रों में उनका प्रवेश है। वे प्रकृति के चित्रकार हैं, और भावों के जानकार हैं तथा चिंतन के आगार हैं। डा० नामवर सिह का यह कथन सर्वथा उपयुक्त है। कवि ने अनेक प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन किया है। सर, सरिता, वन उपवन तथा सागर आदि का बहुत सुंदर वर्णन मिलता है। परंतु यह प्रकृतिवर्णन भी प्राचीन परंपरायुक्त है। इस प्राकृतिक वर्णन में अलंकारों की छटा देखने योग्य है। समुद्र का वर्णन देखिए—

मण गमणेंहि गयण पयट्ठेहि, लक्खिइ लवण समुद्द किह।
नहि मंडयहो णहयल रक्खसेण, फाडिउ जठर पयेसु जिह॥

अर्थात् समुद्र क्या है, मानो नभतल रूपी राक्षस ने महिमंडल के जठर को फाड़ दिया हो। फटे हुए जठर प्रदेश में रक्त के बहने से एक तो समुद्र का रंग रक्त वर्ण होना चाहिए दूसरे इस उपमा से भयंकरता का भाव उतना व्यक्त नही होता जितन जुगुप्सा का भाव। इसी प्रकरण में कवि ने श्लेष से समुद्र की तुलना कुछ ऐसे पदार्थों से की है जिनमें शब्दसाम्य के अतिरिक्त अन्य कोई साम्य नहीं। इसी प्रकार के प्रयोग वाण की कादंबरी में प्रचुरता से उपलब्ध होते हैं।

उदाहरण के लिये…

मूहव पुरिसोव्व खलो णसीलु। दुजण पुरिसोव्व सहावखारु। णिद्धण आलाउव अप्पमाण। जौइसुव मीण कवकडय थाणु। महकव्व णिवंधुव सद्द गहिरु। इत्यादि

अर्थात् समुद्र सत्कुलोत्पन्न पुरुष के समान है क्योंकि दोनों सलोणशील है अर्थात् समुद्र सलवणशील और सत्कुलोत्पन्न पुरुष सलावण्यशील। इसी प्रकार समुद्र दुर्जन पुरुष के समान स्वभाव से क्षार है। निर्धन के आलाप के समान अप्रमाण है। ज्योतिर्मंडल के समान मीन कर्कट निधान है। महाकाव्य निबंध के समान शब्दगंभीर है[1]।

कवि प्रकृति के शात रूप की अपेक्षा उसके उग्र रूप का वर्णन करने में अधिक रुचि दिखाता है। भवभूति के समान धीरे धीरे कलकल ध्वनि से वहती हुई नदी की अपेक्षा प्रचंड वेग से उत्तुंग तरंगवाली गरजती हुई नदी कवि को अधिक आकर्षित करती है, और उसी के अनुरूप उसने गोदावरी का वर्णन भी किया है। प्रकृतिवर्णन में भाषा अनुप्रासयुक्त है और शब्दयोजना भावानुकूल है। शब्दों की ध्वनि नदी के प्रवाह को अभिव्यक्त करती है। घत्ता में भी बड़ी सुंदर कल्पना है। इसी प्रकार सागराभिमुख प्रवाहित होती हुई नर्मदा का अलंकृत वर्णन साजसज्जा से युक्त एक स्त्री के रूप मे किया गया है। नदी अपने प्रियतम सागर से मिलने के लिये जा रही है—

णम्मयाए मयरहरहो जंतिए, णाइं पसाहणु लइउ तुरंतिए॥
घवघवंति जे जल पवभारा, तेजि णाइं णेउर झंकारा॥

---

१. डा० कोछड़ अपभ्रंश साहित्य पृ० ६३।

पुलिणइं जाइं वे वि सच्छायइं, ताइं जे उड्ढणाइं ण जायइं ।।
जं जलु खलइ वलइ उल्लौलइ, रसणा दामु तं जि णं घोलइ ।।
जे आवत्त समुट्ठिय चंगा, ते जि णाइ तणु तिवलि तरंगा ।।
जे जल हत्थि कुम्भ सोहिल्ला, ते जि णाइं थरा अद्धुम्मिल्ला ।।
जो डिंडीर णियरु अंदोलइ णावई सो जे हारु रंखोलइ ।।
जं जलयर रण रगिउ पाणिउ तं जि णाइं तंवोलु समाणिउ ।।
मत्तहत्थि मयमइलिउ जं जलु, तं जिणाइं किउ अक्खिहिंकज्जलु ।।
जाउ तरंगिणिउ अवर ओहउ, ताउ जि भंगुराउ णं भउहउ ।।
जाउ भमरपंतिउ अल्लीणाउ, केसावलिउ ताउ णं दिण्णाउ ।।
—पउमचरिउ, चउदहमो संधि, ३-१-११ ।

अर्थात् नर्वदा के शब्द करते हुए जलप्रवाह नुपूर झंकार के सदृश हैं, दोनों सुंदर पुलिन वस्त्र के सदृश हैं, स्खलित और उच्छलित जल मेखला की भ्रांति को उत्पन्न करता है, जो आवर्त हैं वे त्रिवली के समान हैं, उसमें जो हस्तियों के उठे हुए गंडस्थल हैं वे अर्ध खुले हुए स्तनों के समान हैं। आंदोलित केशपुंज लहराते हुए हार के समान प्रतीत होते हैं। मस्त हाथियों के मदजल से श्यामल जल आखों में कज्जल की रेखा के समान प्रतीत होता है और नदी की तरंगों का टेढ़ापन सुंदर भौहों के समान है, मुखरित भ्रमरपंक्ति केशपंक्तियों की भाँति फैली हुई हैं,... ...इत्यादि।

जैसा कि प्रारंभ में प्रशस्ति में कहा गया है जलक्रीडा वर्णन में स्वयंभु अद्वितीय माने जाते हैं। उनका वसंत ऋतु मे माहेश्वरपुर के राजा सहस्रार्जुन का नर्वदा नदी में जलक्रीड़ा का वर्णन देखने योग्य है। प्रभात काल में सूर्य के उदयगिरि शिखर पर प्रकट होने पर कवि ने बड़ी सुंदर उत्प्रेक्षा की है।

वह कहता है कि प्रात:काल का सूर्य उदयगिरि पर चढ़कर यह देखता है कि रात्रि चंद्रमा को लेकर किधर छिप गई—

विमले विहाणए कियए पयाणए उदयइरि सिहरे रवि दीसइ ॥
मइ मेल्लेप्पिणु निसियरु लेप्पिणु कहि गय णिसि णाई गवेसइ ॥
—पउमचरिउ, १४-२ ।

जलक्रीडा वर्णन के साथ साथ वसंत श्री का वर्णन भी आलंकारिक एवं सुंदर भाषा मे किया गया है ।

इस प्रकार हम कह सकते है कि स्वयंभु ने अपने सुप्रसिद्ध काव्य में देवता, स्तुति आदि विषयों के साथ साथ राजनीति, दंडनीति, अर्थनीति तथा जैन धर्मातर्गत प्रसिद्ध प्रसिद्ध मान्यताओ का भी विशद वर्णन किया है। कही कहीं विभिन्न वस्तुओं की नामावली भी प्रस्तुत की गई है । बहुत सी परिपाटी संस्कृत और प्राकृत परिपाटी के अनुकूल ही है जो आगे चल कर हिंदी काव्य में भी अपनाई गई है ।

भाषा की दृष्टि से कवि ने साहित्यिक अपभ्रंश का ही प्रयोग किया है । अनुरणनात्मक शब्दों का प्रयोग, भावानुकूल शब्दयोजना, अलंकारमयी भाषा तथा उपमा, उत्प्रेक्षा, यमक, अनन्वय, तद्गुण आदि अनेक अलंकारों से युक्त स्वाभाविक प्रयोग के साथ भाषा को सुसज्जित करने का सफल प्रयत्न किया गया है । कवि ने ग्रंथ मे गंधोदकधारा, द्विपदी, हेलाद्विपदी, मंजरी, शालभंजिका, आरणाल, जममेटिया, पद्धडिक, वदनक, पाराणक, मदनावतार, विलासनी, प्रमाणिका, समानिका, भुजंगप्रयात आदि अनेक छदों का प्रयोग किया है[1] ।

२—रिट्ठणेमिचरिउ (हरिवंश पुराण)

यह ग्रंथ हरिवंश पुराण के नाम से प्रसिद्ध है । इसमें

१ स्वयंभु—पउमचरिउ, डा० भायाणी, भूमिका, पृ० ७८ ।

१८ हजार श्लोकप्रमाण हैं, ११२ संधियाँ हैं। इसमें तीन कांड हैं—यादव, कुरु और युद्ध। यादव में १३, कुरु में १९, और युद्ध में ६० संधियाँ हैं। संधियों की यह गणना युद्ध कांड के अंत में दी हुई है। यह भी बतलाया है कि प्रत्येक कांड कब लिखा गया और उसकी रचना में कितना समय लगा। इससे इन ९२ संधियों के क्रमत्व के विषय में तो कोई शंका नहीं हो सकती। यह तो निश्चयपूर्वक स्वयंभु देव की बनाई हुई है। इनसे आगे २० संधियाँ और मिलती हैं जो कांड (उत्तर) के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार इस ग्रंथ में कुल ११२ संधियाँ प्राप्त होती हैं।

उत्तर कांड अथवा परिवर्ती २० संधियों के विषय में बड़ा मतभेद है। १०० से ११२ तक की संधियाँ त्रिभुवन स्वयंभु की बनाई हुई हैं और इसकी पुष्टि इस बात से होती है कि अंतिम संधि तक की पुष्पिकाओं में त्रिभुवन स्वयंभु का नाम दिया हुआ है परंतु इन १२ संधियों मे से १०६, १०८, ११० और १११वी संधि के पद्यों में मुनि जसकित्य का नाम भी आता है जिससे एक बड़ी भारी उलझन खड़ी हो जाती है। इसमें तो संदेह नहीं कि इस अंतिम अंश में जस-कित्य का कुछ न कुछ हाथ अवश्य है परंतु वह कितना है इसका ठीक ठीक निर्णय करना कठिन है।

बहुत सोच विचार के बाद प्रेमी जी इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि मुनि जसकित्य को इस ग्रंथ की कोई ऐसी जीर्णशीर्ण प्रति मिली थी जिसके अंतिम पत्र नष्टभ्रष्ट थे और शायद अन्य प्रतियाँ दुर्लभ थीं अतः उन्होंने गोपगिरि (ग्वालियर) के समीप कुमर नगरी के जैन मंदिर मे व्याख्यान करने के लिये इसे ठीक किया। अर्थात् जहाँ जहाँ जितना अंश पढ़ा

नही गया या नष्ट हो गया था उसको स्वयं रचकर जोड़ दिया और जहाँ जहाँ जोड़ा वहाँ अपनी नाममुद्रा भी अंकित कर दी[1]।

ग्रंथ का प्रारभ 'पउम चरिउ' के ढंग से ही देवस्तुति, पूर्वकवि प्रशंसा, विनम्रता प्रदर्शन आदि के उपरांत श्रेणिक और गणधर के प्रश्नोत्तर रूप में हुआ है। वस्तुवर्णन, प्रकृति-चित्रण, जलक्रीड़ा आदि का वर्णन महाकाव्यों की प्रचलित शैली मे ही किया गया है। कलात्मकता, कथावस्तु के संघटन तथा संबंधनिर्वाह की दृष्टि से और भावात्मक स्थलों के विस्तृत वर्णन की दृष्टि से भी 'रिट्ठणेमि चरिउ' पउम चरिउ के समान ही उत्कृष्ट कोटि का महाकाव्य है।

कवि ने कथा का आधार महाभारत और हरिवंश पुराण को ही रखा है किंतु कही कही पर समयानुकूल परिवर्तन भी कर दिए हैं। उदाहरण के लिये द्रौपदी स्वयंवर में मत्स्यभेद की प्रतिज्ञा के स्थान पर केवल धनुष चलाने की प्रतिज्ञा का कवि ने उल्लेख किया है। यह परिवर्तन जैन धर्म की अहिंसा के प्रभाव के कारण किया गया प्रतीत होता है।

यादव काड की १३ संधियों मे कवि ने कृष्णजन्म, कृष्ण की बाललीला, कृष्णविवाह संबंधी कथाएं, प्रद्युम्न आदि की कथाएँ और नेमि जन्म की कथा दी है। इन संधियों मे नारद कलहप्रिय साधु के रूप मे हमारे सामने आते हैं। कुरु कांड की १९ संधियो मे कौरव पांडवों के जन्म, बाल्यकाल, शिक्षा आदि का वर्णन, उनके परस्पर वैमनस्य, युधिष्ठिर का जुआ खेलना, उसमे सब कुछ हार जाना तथा पाडवो के बारह साल

१ नाथूराम प्रेमी—जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २७१।

तक वनवास की कथा दी गई है। युद्ध कांड में कौरव पांडवों के युद्ध का सजीव वर्णन, पांडवों की विजय और कौरवों की पराजय का चित्र कवि ने अंकित किया है।

वर्ण्यविषय के विस्तार की दृष्टि से ग्रंथ में वर्णनबाहुल्य का होना स्वाभाविक था किंतु वर्णन इस प्रकार के नहीं जो ऐतिहासिक दृष्टि से इतिवृत्तात्मक मात्र हों[1]। वर्णनों मे अनेक स्थल ऐतिहासिक नीरसता से रहित हैं और काव्यगत सरसता से आप्लावित है। युद्ध कांड में अनेक प्रसंग योद्धाओं के सजीव चित्र उपस्थित करते हैं। शस्त्रों की झंकार को कर्णगोचर करनेवाले ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग कवि ने अनेक स्थलों पर किया है। ग्रंथ में कवि की कल्पना के चमत्कार के अनेक स्थल हैं।

नेमि जन्माभिषेक के समय बजनेवाले अनेक वाद्य यंत्रों की ध्वनि परंपरानुकूल है। युद्ध का सजीव वर्णन कीचक और भीम के युद्ध के वर्णन में देखिए—

तो भिडिय परोप्परु रणकुसल
बिण्णिवि णव णाय सहास बल
बिण्णिवि गिरि तुंग सिंग सिहर
बिण्णिवि जलहर रव गहिर गिर
बिण्णिवि दट्ठोट्ठ रुट्ठ वयण
बिण्णिवि गुंजाहल सम णयण
विण्णिवि णहयल णिह वच्छ यल
बिण्णिवि परिहोवम भुय जुयल
बिण्णिवि तणु तेयाह्य तिमिर
बिण्णिवि जिण चरण कमल णमिर

1. डा० कोछड़-अपभ्रंश साहित्य, पृ० ६६।

विरिणवि मंदर परिभमरण चल
विरिणवि विरणारण करण कुसल
विरिणवि पहरति पहरक्खम्मिहि
भुयदंडिहि वज्जदंड संमिहि
पयभारिहि भारिय विहिमि महि
महिपडरण पेल्लरणाहित्थ महि ।[1]

अर्थात् इसके उपरांत हजार हाथियों के समान शक्ति रखनेवाले रणकुशल दोनों भीम और कीचक परस्पर युद्ध मे भिड़ गए। दोनों पर्वत के उत्तुंग शिखर के सदृश थे, दोनों मेघ के गंभीर गर्जन के समान वाणीवाले थे, दोनों के नेत्र गुंजाफल सदृश थे, दोनों आकाश के सदृश विशाल वक्षस्थल वाले थे, दोनों परिघा सदृश भुजाओंवाले थे, दोनों ने शरीर के तेज से अंधकार को नष्ट कर दिया था, दोनों जिन चरणों में नमनशील थे, दोनों मंदराचल परिभ्रमण के समान गति-वाले और क्रियात्मक विज्ञान में कुशल, दोनों वज्रदंड के समान भुजदंडों से प्रहार करने लगे। दोनों ने पृथ्वी को अपने चरणभार से पूरित कर दिया[2]।

युद्धवर्णन सर्वत्र सुंदर है। संक्षेप में इस ग्रंथरत्न में भी हमें वही व्याकरणानुमोदित, भावानुकूल, समलंकृत, सरस कोमल कात पदावली के दर्शन होते हैं जिसका उल्लेख हम 'पउम चरिउ' में कर चुके हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह युग प्राकृत भापा का था। वाण की 'कादंवरी' तथा 'हर्ष-चरित' ने अपने परवर्ती कवियो पर धाक जमा ली थी। स्वयंभु ने स्वयं स्वीकार किया है। जहाँतक छंदो का प्रश्न है वे

---

१. प्रो० मोदी—अपभ्रंश पाठावली, पृ० ४६।
२. खेद है कि अभी तक यह सुदर ग्रंथ प्रकाशित नहीं हुआ है।

ही अपभ्रंश के छंद मिलते है जिनका हम प्रथम वर्णन कर चुके हैं।

३—स्वयंभू छद

यह पुस्तक छंद शास्त्र की है। इसमे प्राकृत छंदों के साथ साथ अपभ्रंश छंदों का भी वर्णन है।

त्रिभुवन स्वयंभु—यह कवि स्वयंभु के पुत्र थे। इनके विषय में इतना ही ज्ञात है जितना कि इनके पिता जी के जीवनी के प्रसंग में कहा जा चुका है। परंतु यह बात द्रष्टव्य है कि 'पउम चरिउ' में रामकाव्य की जो परंपरा स्वयंभु ने चलाई, उसे उनके छोटे पुत्र त्रिभुवन ने अग्रसर की। त्रिभुवन भी अपने पिता की भाँति पंडित तथा कवि थे। उनका स्वतंत्र रूप से कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं। केवल इन्होंने अपने पिता के काव्यों को ही पूरा किया। पिता ने 'पउम चरिउ' की ८३ संधि लिखकर ही छोड दी थी परंतु इन्होंने उन्हें ९० संधि तक पहुँचा दिया। कथानक और चरित्र की दृष्टि से स्वयंभु ने 'पउम चरिउ' को चरमोत्कर्ष पर समाप्त किया था परंतु त्रिभुवन को यह बात खटकी। वह चाहता था कि कथा की परिसमाप्ति जैन धर्मानुकूल हो अतः उसने कथाक्रम को आगे वढ़ाकर राम को जैन धर्म की दीक्षा में संमिलित कर उनका परिनिर्वाण पूरा कर दिया। साथ ही जन्म जन्मातंरों की उपदेशमूलक कथाओं का तथा कुछ धार्मिक प्रवचनों का प्रवेशकर पुराण को पूरी प्रतिष्ठा कर दी।

पुष्पदंत तथा महापुराण—अपभ्रंश महापुराण या तिसट्ठि महापुरिस गुणालंकारु के रचयिता पुष्पदंत हैं। पुष्पदंत अपभ्रंश के एक महान् कवि है। आपकी रचनाओं में जो ओज है, प्रवाह है, रस है तथा सौदर्य है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। भाषा पर

उन्हें अपूर्व अधिकार है। उनके शब्दों का भंडार विशाल है। शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों की ही छटा वहाँ उपलब्ध होती है। आपकी रचनाओं मे संगीतात्मकता एवं भावात्मकता दोनों का मणिकांचन संयोग है।

परंतु खेद है ऐसे प्रसिद्ध कवि की जन्म तिथि एवं जन्म स्थान का निश्चित रूप से पता नहीं। अंतःसाक्ष्य तथा वहिःसाक्ष्य के आधार पर यह स्पष्ट है कि ये काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे[१]। इनके पिता का नाम केशव भट्ट और माता का नाम मुग्धा देवी था।

उनके माता पिता पहिले शैव थे, परंतु पीछे किसी दिगंबर जैन गुरु के उपदेशामृत से जैन हो गए। जिन संन्यास लेकर ही उन्होने अपने शरीर का त्याग किया। नागकुमार चरिउ मे और लोगो के साथ कवि ने अंत मे अपने माता पिता के कल्याण की भी कामना की है और वहाँ इस बात को स्पष्ट किया है[२]। इससे अनुमान होता है कि कवि स्वयं भी पहले शैव था। यह बात एक दूसरे प्रसंग से भी स्पष्ट

---

१. अंतःसाक्ष्य

कसणसरीरें सुद्धकुरूवें मुद्धाएविगब्भसंभूवें।
कासवगोत्तें केसवपुत्तें कइकुलतिलएं सरसइणिलएं।
पुप्फयंतकइणा पडिउत्तउ सो भो भरह णिसुणि णिक्खुत्तउ।
—महापुराण, ३८—४, २, ३, ४, पृ० ५, भाग २।
भो भो केसवतणुरुह णवसररुहमुह कव्वरयणरयणायर।
—महापुराण, १–२, १०, पृ० ६, भाग १।

२. सिवभत्ताइं मि जिणसण्णासें वे वि मयाइं दुरियणिण्णासें।
बंभणाइं कासवरिसिगोत्तइं गुरुवयणामयपूरियसोत्तइं।
मुद्धाएवी केसवणामइं महु पियराइं होंतु सुहधामइं।
—णायकुमार चरिउ, पृ० १२१।

होती है। कवि के आश्रयदाता महामात्य भरत ने उनसे कहा कि हे कविवर आपने भैरव नरेंद्र का गुणगान किया है, आपने उसे पर्वत के समान, धीर, वीर, और अपनी समृद्धि के सुरेंद्र को जीतनेवाला वर्णन किया है। अतः आपको मिथ्यात्वभाव उत्पन्न हुआ है। आप महापुराण कहकर उसका प्रायश्चित्त कर डालो।......अति ललित गंभीर अलंकारयुक्त वाणी का क्या प्रयोजन यदि वह कुसुमसर को विदीर्ण करनेवाले परमभट्टार्क अर्हंत जिन की स्तुति करने में सर्वभाव से समर्थ न हो सके[1]।

उपर्युक्त प्रसंग से एक संकेत और भी प्राप्त होता है कि पुष्पदत ने महापुराण से प्रथम भैरव नरेंद्र की कोई यशोगाथा लिखी थी परंतु जिसका अभी ठीक ठीक पता नहीं। श्रीयुत प्रेमी जी का अनुमान है कि कदाचित् यह कथा 'कथामकरंद' होगी अथवा संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध स्तोत्र 'शिवमहिम्न' के कर्ता यही पुष्पदंत हों[2]। उत्तर पुराण के अंत में कवि ने अपना परिचय इस प्रकार लिखा है—

सिद्धिविलासिणिमणहरदूएं मुद्धाएवीतणुसंभूएं।
णिद्धणसंधणलोयसमचितें सव्वजीवणिक्कारणमित्तें।
\+ \+ \+
पुप्फयंतकइणा चुयपंकें जइ अहिमाणमेरुणामंके।
कयउ कव्वु भत्तिट्ठे परमत्थे जिणपयपंकयमउलियहत्थे।
कोहणसंवच्छरि आसाढइ दहमइ दियहि चंदरुहरुढइ।

अर्थात् 'सिद्ध विलासिनी के मनोहर दूत, मुग्धा देवी के शरीर से संभूत, निर्धनी और धनियों के प्रति समान दृष्टि

---

१. पुष्पदंत —महापुराण १, ९, १०–११, पृ० ७।
२. नाथूराम प्रेमी—जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३०२

वाले, सारे जीवों के अकारण मित्र, शब्दसलिल से बढे हुए काव्य स्रोतवाले, केशव के पुत्र, काश्यप गोत्री, सरस्वती विलासी, सूने पड़े हुए घरों, देवालयों में रहनेवाले, कलि के प्रवल पापपटलों से रहित, वेघरवार, पुत्रकलत्रहीन, नदियों, वापिकाओं, सरोवरों मे स्नान करनेवाले, जीर्णशीर्ण वस्त्र तथा वल्कल धारण करनेवाले, धूलिधूसरित अंगवाले, दुर्जनों के संग से दूर रहनेवाले, महीरम्या शय्यावाले और भुजलतारूपी तकियावाले, पंडित पंडित मरण की कामनावाले, मान्यखेट नगर में रहनेवाले, मन में अरहंत देव का ध्यान करनेवाले, भरत मंत्री द्वारा संमानित, अपने काव्यप्रवंध से लोगों को पुलकित करनेवाले, पापरूपी कीचड़ को धो डालनेवाले, ऐसे अभिमानमेरु पुष्पदंत ने, यह काव्य जिनपद कमलो मे हाथ जोडे हुए भक्तिपूर्वक क्रोधन संवत्सर की आसाढ सुदी दसवी को वनाया[1]।

उपर्युक्त अवतरण से कवि की निर्धनता, स्वाभिमानता तथा मान्यखेट को अपनाने का वर्णन तो प्राप्त होता ही है परंतु उनके जन्मस्थान अथवा शिक्षा आदि पर कोई प्रकाश नही पड़ता। जहाँतक व्यक्तित्व और स्वभाव का प्रश्न है पुष्पदंत शीघ्र अप्रसन्न होनेवाले स्वाभिमानी थे। उनका एक नाम 'खंड' था[2]। अभिमानमेरु, अभिमानचिह्न, काव्यरत्नाकर, कविकुलतिलक, सरस्वतीनिलय तथा कविपिसल्ल, (काव्यपिशाच या काव्यराक्षस) ये उनकी पदवियाँ थीं। 'अभिमानमेरु' पद उनके स्वभाव को व्यक्त करता है।

---

१. पुष्पदंत—महापुराण—भाग ३, पृ० २६९।
२. वही—भाग १, संधि १-६, १
वही—भाग १, भूमिका, पृ० १८।

महापुराण की उत्थानिका में हृदयहीन व्यक्तियों तथा राजाओं के प्रति ज्वालामय उद्‌गार भरे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी राजा ने दुष्टजनों के कहने पर उनकी अवहेलना तथा उपेक्षा को जिससे उनके हृदय को बड़ी ठेस लगी। अपने उग्र स्वभाव के कारण संसार से उन्हें पूर्णतः वितृष्णा हो गई। सारा संसार निष्फल, नीरस एवं शुष्क प्रतीत होने लगा। अतः वे घरबार छोड़कर वहाँ से चल दिए और लंबी यात्रा करने के उपरांत घूमते घूमते मेलपाटी (मान्यखेट) पहुँचे। वहाँ बाहर एक उद्यान में विश्राम कर रहे थे कि उसी समय 'अंभइ' और 'इंदु' नामक दो पुरुष इनसे कुछ प्रभावित हुए। संभवतः उन्हें इनकी प्रतिभा का कुछ परिचय प्राप्त हुआ। उन्होंने कहा 'भगवन्? आप निर्जन बन में क्यों पड़े हुए हैं, पास के नगर में क्यों नहीं चलते'। यह सुनते ही उनका हृदय समस्त अमर्ष से फूट पड़ा। अपने अनुभवजन्य विक्षोभ तथा राजाओं की विवेकहीनता पर वे उन दोनों पुरुषों के संमुख बरस पड़े—

'गिरिकंदराओं में घासपात खाकर रह जाना अच्छा, परंतु दुर्जनों की टेढी भौहें देखना अच्छा नही। माता के कोख से जन्मते ही मर जाना अच्छा परंतु किसी राजा के भ्रूकुंचित नेत्र देखना और उस राजा के कुवचन सुनना अच्छा नही; क्योंकि राज्यलक्ष्मी ढुरते हुए चँवरों की हवा से सारे गुणों को उड़ा देती है, अभिषेक के जल से सारी सुजनता धो डालती है, विवेकहीन कर देती है, दर्प से फूली रहती है, मोह से अंधी रहती है, मरणशीला होती है, सप्तांग राज्य के बोझ से लदी रहती है, पिता पुत्र दोनों में रमण करती है, विष की सहोदरा और जड़ अनुरक्ता है। लोग इस समय ऐसे नीरस हो गए हैं

और निर्विशेष हो गए हैं कि वृहस्पति के समान गुणियों से भी द्वेष करते हैं। अतः मैंने बन की शरण ली है और यहीं पर अभिमान के साथ मर जाना ठीक समझा है।[1]

जिस समय कविहृदय वितृष्णा की तीव्र ज्वाला से संतप्त था, सौभाग्य से उसे महामात्य भरत जैसा विशाल वारिद प्राप्त हो गया जिसके मधुर शब्दों से उनका हृदय शांत हुआ और उन्होने महापुराण की रचना की। महामात्य के सद्व्यवहार, विनयशीलता, समादर, गुणग्राहकता आदि गुणों से कवि अत्यंत प्रभावित हुआ। अत्यंत निर्लिप्त एवं अकिंचन रहते हुए भी उन्होने स्थान स्थान पर महामात्य तथा उसके पुत्र नन्न की प्रशंसा की है। कवि ने स्वयं कहा है कि मैं धन को तिनके के समान समझता हूँ। उसे मैं नही लेता। मैं तो केवल अकारण प्रेम का भूखा हूँ अतः तुम्हारे महल मे हूँ[2]।

उपर्युक्त वर्णन का अर्थ यह न समझना चाहिए कि कवि पूर्णतः शुष्कहृदय एवं अकृतज्ञ था। भावुक हुए बिना कविकर्म असंभव है। पुष्पदंत भी महान् भावुक थे। उनका समस्त महापुराण इसका साक्षी है। वे स्वाभिमान एवं विनयशीलता के विचित्र संमिश्रण थे। उनकी सत्यप्रियता एवं स्पष्टवादिता के कारण ही हम जानते हैं कि वे बिल्कुल कुरूप

---

१. तं सुणिवि भणइ अहिमाणमेरु वरि खज्जइ गिरिकंदरि कसेरु।
तहि अच्छइ लड काणणु जि सरणु अहिमाणें सहुँ वरि होउ मरणु।
—पुष्पदंत, महापुराण—१-३, १२-१५, १-४, १-१, पृ० ५-६।

२. पुष्पदंत—महापुराण, २८-५, ५ (घत्ता), पृ० ६। द्वितीय खंड।

थे[1] परंतु सदा हंसते रहते थे[2], उनका शरीर बहुत दुबला पतला और सांवला था। उनकी वाणी मधुर थी, जब वे बोलते थे तो उनकी सफेद दंतपंक्ति से दिशाएं धवल हो जाती थीं[3]।

उनके ग्रंथों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि वे महान् विद्वान् थे। उनका दर्शनशास्त्रो पर अधिकार था, जैन सिद्धांतों का ज्ञान भी असाधारण था। वे अपभ्रंश के ही ज्ञाता न थे अपितु उनके बीच बीच में आए संस्कृत पद्य उनकी संस्कृत की योग्यता की उद्घोषणा करते है। ऐसे महान् कलाकार एवं कुशल कवि का समय निर्धारित करते हुए प्रेमीजी का निष्कर्ष अत्यंत समीचीन जान पडता है—

'इन सब प्रमाणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि शक संवत् ८८१ मे पुष्पदंत मेलपाटी मे भरत महामात्य से मिले और उनके अतिथि हुए। इसी साल उन्होने महापुराण शुरू करके उसे शक संवत् ८८७ में समाप्त किया। इसके बाद उन्होंने णायकुमार चरिउ और जसहर चरिउ बनाए। जसहर चरिउ की समाप्ति उस समय हुई जब मान्यखेट लूटा जा रहा था। यह घटना शक सं० ८९४ मे लगभग की है। इस तरह वे ८८१ से लेकर कम से कम ८९४ तक तेरह वर्ष, मान्यखेट में महामात्य भरत और नन्न के संमानित अतिथि होकर रहे। यह निश्चित है। परंतु उसके बाद वे कबतक जीवित रहे, यह नही कहा जा सकता[4]।'

---

१. पुष्पदंत — महापुराण, भूमिका (हिंदी), पृ० ९।
२. वही, भूमिका (हिंदी), पृ० ९।
३. वही, भूमिका (हिंदी), पृ० ९।
४. नाथूराम प्रेमी — जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २२८।

डा० कोछड[1] का मत संभवतः डा० वैद्य[2] जी से मिलता है। वैद्यजी के मतानुसार पुराण ९५९ ई० में रचा गया।

पुष्पदंत के तीनों ग्रंथ प्रकाशित हैं—महापुराण, णायकुमार चरिउ (नागकुमार चरित) तथा जसहर चरिउ (यशोधर चरित)। अंतिम दोनों सुंदर खंड काव्य हैं।

१—महापुराण या तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकारु

महापुराण आदिपुराण और उत्तरपुराण नामक दो खंडो मे विभक्त है। उत्तारपुराण दो खंडो मे प्रकाशित हुआ है। उत्तरपुराण मे पद्म पुराण (रामायण) तथा हरिवश पुराण (महाभारत) दोनों संमिलित हैं। प्रकाशित महापुराण मे प्रथम खड में ३७, द्वितीय खंड में ३८ से ८० तथा तृतीय खंड में ८१ से १०२ कुल १०२ संधियाँ हैं। प्रथम खंड में अर्थात् आदिपुराण में कवि ने प्रथम तीर्थंकर तथा प्रथम चक्रवर्ती राजा भरत का वर्णन किया है। यह महापुराण महामात्य भरत की प्रेरणा और प्रार्थना से रचा गया है। अमात्य भरत राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय के महामात्य थे। कवि ने वड़े आत्मविश्वास के साथ इस महापुराण के विषय में महाभारतकार वेदव्यास के स्वर में स्वर मिलाते हुए कहा है—

> अत्र प्राकृतलक्षणानि सकला नीतिःस्थितिश्छंदसा-
> मर्थालंकृतयो रसाश्च विविधास्तत्वार्थनिर्णीतयः।

---

१. डा० कोछड—अपभ्रंश साहित्य, पृ० ७१।

२. पुष्पदंत—महापुराण, भाग १, भूमिका (अंग्रेजी), पृ० ३१।

किं चान्यद्यदिहास्ति जैनचरिते नान्यत्र तद्विद्यते
द्वावेतौ भरतेशपुष्पदशनौ सिद्धं ययोरीदृशम्[1] ॥

अर्थात् इसमें सब कुछ है और जो इसमें नहीं वह कहीं नहीं है। यह महापुराण जैन धर्म में उतना ही पवित्र माना जाता है जितना महाभारत हिंदू धर्म में।

महापुराण क्या है? दिगंबर जैन संप्रदाय के अनुसार श्री महावीर स्वामी की वाणी ११ अंगों और चौदह पर्वों में ग्रथित थी, वे सब नष्ट हो गए। अतः जो अब श्वेतांबर 'अंग' उपलब्ध है उसे वे लोग स्वीकार नहीं करते। वे अपने धार्मिक साहित्य को चार भागों में बाँटते हैं—(१) प्रथमानुयोग--तीर्थंकरों के जीवनचरित तथा अन्य महापुरुषों की जीवनी अथवा दूसरे शब्दों में समस्त कथा साहित्य, (२) करणानुयोग–विश्व का भूगोल, (३) चरणानुयोग–श्रावकाचार तथा (४) द्रव्यानुयोग—धर्म का दर्शन। इस वर्गीकरण के अनुसार महापुराण प्रथमानुयोग के अंतर्गत रखा जाता है।

'पुराण' शब्द जैन साहित्य का प्रिय शब्द है जो केवल प्राचीन कथा का सूचक है, और महापुराण का अर्थ प्राचीन महती कथा हैं। पुराण और महापुराण में केवल अंतर यही है कि 'पुराण' में एक ही धर्मात्मा का कथानक अथवा जीवनवृत्त होता है और 'महापुराण' में अनेक महापुरुषों का। महापुराण मे २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ वासुदेव, ९ प्रतिवासुदेव, और ९ बलदेव, इन ६३ महापुरुषों--शलाका पुरुषों–के चरितों का वर्णन होता है। पुष्पदंत ने महापुराण शब्द को 'तिसट्ठिमहापुरिस गुणालंकारु' के अर्थ मे ही प्रयुक्त

---

१. पुष्पदंत—महापुराण की भूमिका (अंग्रेजी), पृ० २५।

किया है। हिंदू साहित्य में पुराण की परिभाषा इस प्रकार है—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वतराणि च
वंशानुचरितं चैव पुराणं पंच लक्षणम् ॥

अर्थात् पुराण मे सृष्टि का वर्णन, सृष्टि का संहार, वंश, मन्वंतर तथा वंशानुचरित का वर्णन होता है। यह लक्षण 'महापुराण' पर पूर्णतः नही घटते। जैन शास्त्रों के अनुसार पुराण मे ६३ प्राचीन पुरुषों का वर्णन होता है। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वलदेव, अर्द्ध चक्रवर्ती (वासुदेव), तथा प्रतिवासुदेव। यह पुरातन पुरुषों का वर्णन करता है अतः पुराण है। यह महद् है कारण महान् पुरुषों का वर्णन करता है—आदि[1]।

पुराण में जिन ६३ महापुरुषों का वर्णन होता है उनकी नामावली इस प्रकार है—

(क) २४ तीर्थंकर—(१) वृषभ, अथवा ऋषभ, (२) अजित, (३) शंभव अथवा संभव, (४) अभिनंद, (५) सुमति, (६) पद्मप्रभ, (७) सुपार्श्व, (८) चंद्रप्रभ, (९) पुष्पदंत अथवा सुविधि, (१०) शीतल, (११) श्रेयांस, (१२) वासु पूज्य, (१३) विमल, (१४)

---

१. तीर्थेशामपि चक्रेशां हलिनामर्धचक्रिणाम् ।
त्रिषष्टिलक्षणं वक्ष्ये पुराणं तद्द्विषामपि ।
पुरातनं पुराणं स्यात्तन्महन्महदाश्रयात् ।
महद्भिरुपदिष्टत्वान्महाश्रेयोनुशासनात् ॥
कविं पुराणमाश्रित्य प्रसृतत्वात्पुराणता ।
महत्त्वं स्वमहिम्नैव तस्येत्यन्यैर्निरुच्यते ॥
महापुरुषसंबंधि महाभ्युदयशासनम् ।
महापुराणमाम्नातमत एतन्महर्षिभिः ॥
—जिनसेन—महापुराण १. २०-२३

अनंत, (१५) धर्म, (१६) शांति, (१७) कुंथ, (१८) अर, (१९) मल्लि, (२०) सुव्रत, (२१) नमि, (२२) नेमि, (२३) पार्श्वनाथ, (२४) महावीर।

(ख) १२ चक्रवर्ती – (१) भरत, (२) सगर, (३) मघवन, (४) सनत्कुमार, (५) शांति, (६) कुंथ, (७) अर, (८) सुभौम अथवा सुभूमि, (९) पद्म, (१०) हरिषेण, (११) जयसेन अथवा जय तथा (१२) ब्रह्मदत्त।

(ग) ९ वासुदेव—(१) त्रिपृष्ट, (२) द्विपृष्ट, (३) स्वयंभु, (४) पुरुषोत्तम, (५) पुरुष सिंह, (६) पुरुष पुंडरी, (७) दत्त, (८) नारायण तथा (९) कृष्ण।

(घ) ९ बलदेव—(१) विजय, (२) अचल, (३) भद्र, (४) सुप्रभ, (५) सुदर्शन, (६) आनंद, (७) नंदन, (८) पद्म तथा, (९) राम (बलराम)।

(ङ) ९ प्रतिवासुदेव—(१) अश्वग्रीव, (२) तारक, (३) मेरक, (४) मधु, (५) निशंभु, (६) बलि, (७) प्रहलाद, (८) रावण तथा (९) मगधेश्वर अथवा जरासंध[1]।

अतः पुष्पदंत का महापुराण भी उपर्युक्त ६३ महापुरुषों का जीवनवृत्तसंग्रह है, साथ ही साथ उसमें जैन शास्त्रानुकूल उपाख्यान तथा धार्मिक प्रवचन भी है। जैसा पहिले कहा जा चुका है कि जो कुछ है वह महापुराण मे है और जो

---

१. श्री डा० पी० एल० वैद्य ने महापुराण खंड दो के अंत में एक सूची दी है। उस सूची में तथा इस सूची के नामों में कुछ अंतर है। संभवतः वह सूची महापुराण के आधार पर है और उपर्युक्त सूची का आधार जिनसेन का महापुराण है। विशेष विवरण के लिये देखो महापुराण खंड २।

नही है वह कहीं नही है। स्पष्टतः इन पुराणकर्ताओं का ध्येय जैन धर्म की विशालता प्रतिपादन करना था तथा यह भी प्रदर्शित करना था कि वस्तुतः हिंदू धर्म अथवा ब्राह्मण धर्म अनादि काल से प्रचलित जैन धर्म का ही एक विकृत रूप था[1]।

पुष्पदंत का महापुराण—सर्वप्रथम कवि ऋषभनाथ की प्रार्थना करने के उपरांत महामात्य भरत के प्रोत्साहन पर परंपरानुसार खलनिंदा, पूर्वकवि प्रशंसा तथा अपनी अज्ञमता के वर्णन के साथ कथा प्रारंभ करता है। मूल कथा मगधराज श्रेणिक के अनुरोध पर श्री महावीर के शिष्य गौतम के मुख से वर्णित की गई है।

अयोध्या नगरी का वर्णन करने के उपरांत अयोध्या के राजा नाभि और मरुदेवी के गर्भ से प्रथम तीर्थंकर का जन्म होता है। जैन शास्त्रों में तीर्थंकर के जन्मवर्णन की एक परंपरा है। जब भी जिन का जन्म लेना निर्धारित हो जाता है और यह ज्ञात हो जाता है कि वह कहाँ जन्म लेंगे तब वह नगरी कुबेर द्वारा सुसज्जित की जाती है। इंद्र जिन माता के गर्भ को पवित्र करने के लिये सिरि, हरि, दिहि, कंति, कित्ती तथा लच्छी नाम की छह देवियाँ भेजता है। जिन माता स्वप्न में १६ वस्तु देखती है (श्वेतांवर केवल १४ वस्तु मानते हैं)। दूसरे दिन वह अपने पति को अपने स्वप्नदर्शन का वृत्त बताती है। पति उसको यह कहकर शांत करता है कि वह जिनमाता होगी। जिन किसी न किसी रूप में स्वर्ग से अवतरित होते हैं। प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ श्वेत वृषभ

---

१. विंटरनिट्ज—हिस्ट्री आव् इंडियन लिटरेचर, भाग २, पृ० ४९६।

(बैल) के रूप में अवतरित हुए थे। सब देवतागण सेवा में उपस्थित होते हैं। कुवेर रत्नवृष्टि करता है।

समय आने पर जिन जन्म लेते हैं। जन्म स्थान पर तुरंत इंद्र आते हैं और जिन को जन्म लेते हुए देखते हैं। तीन बार परिक्रमा देकर वे स्तुति करते हैं और माता को अपनी माया से एक शिशु अर्पित कर देते हैं। जिन भगवान् को इंद्र मेरु पर्वत पर ले जाते हैं, रत्नजटित सिंहासन पर स्थापित करते है, और वहाँ मेरु के जल से स्नान कराते हैं। सभी देवगण स्तुति करते हैं। स्तवन करने के उपरांत इंद्र जिन देव को माता पिता को लाकर दे देते हैं। यह घटना 'जिन जन्माभिषेक कल्याण' कहलाती है। पुष्पदंत ने यह घटना चौबीस बार वर्णित की है परंतु अपनी काव्यप्रतिभा के बल से प्रत्येक बार उसमें सजीवता उत्पन्न कर दी है।

जन्म के उपरांत ऋषभ क्रमशः युवावस्था को प्राप्त होते हैं। जसवइ और सुनंदा राजकुमारियों से उनका विवाह होता है। जसवई से भरह (भरत) आदि सौ पुत्र और बंभी नाम की कन्या तथा सुणंदा (सुनंदा) से बाहुबलि नामक पुत्र तथा सुंदरी कन्या उत्पन्न हुई। राजकुमार और राजकुमारियों को उनके योग्य शिक्षा दी जाती है[1]। ऋषभदेव अपने परिवार में विलास एवं वैभवपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे थे कि इंद्र ने उनको अपने कर्त्तव्य (जैनधर्म प्रतिपादन) का ध्यान दिलाने का प्रयत्न किया। इंद्र ने नीलांजसा नामक एक अप्सरा को ऋषभ के दरबार में नृत्य करने भेजा। नीलांजसा ने अनेक भाव भंगिमाओं के साथ सुंदर नृत्य किया और अंत

१. महापुराण ५-१८-६ (क) में कवि ने अन्य भाषाओं के साथ अपभ्रंश की शिक्षा का भी उल्लेख किया है।

मे वह सबको आनंद से आप्लावित कर वहीं गिर पड़ी और समाप्त हो गई। बस, ऋषभदेव को संसार की नश्वरता का ज्ञान हो गया और वह संसार त्यागकर तपस्या द्वारा कैवल्य ज्ञान प्राप्त करने में प्रयत्नशील हो जाते हैं।

ऋषभदेव के उपरांत भरत गद्दी पर बैठे। कवि ने उनकी दिग्विजय का वर्णन भी बड़ी सुंदरता से अपनी धार्मिक भावनानुकूल किया है। भरत प्रथम उपवास द्वारा शुद्धि प्राप्त करते हैं तब विजय के लिये प्रस्थान करते है। समस्त भारत को विजय कर वे पुनः अयोध्या आए परंतु उन्हें अभी चक्रवर्ती पद की प्राप्ति नही हुई। अतः उनका चक्र अयोध्या मे नही प्रविष्ट हुआ। कारण पूछने पर भरत को ज्ञात हुआ कि उनके छोटा भाई बाहुबलि ने अभी उनकी अधीनता को स्वीकार नहीं किया है।

महापुराण की १७वी संधि में बाहुबलि और भरत का युद्ध वर्णित है। भरत बाहुबलि को पराजित करने मे असमर्थ रहे, परंतु अंत मे बाहुबलि ने अपने बड़े भाई की अधीनता स्वीकार कर ली। भरत ऋषभनाथ का दर्शन करने जाते हैं। ऋषभदेव ने अपने साथियों और अपने पुत्रों के पूर्व जन्मों का, अनेक पौराणिक कथाओं एवं अलौकिक घटनाओं का जिनधर्मप्रवचन सहित सुंदर वर्णन किया है। इन कथाओं के बीच मे ही जय और सुलोचना उपाख्यान आ जाता है। सुलोचना स्वयंवर मे जय को वरती है। अर्ककीर्ति अप्रसन्न हो जाता है। सुलोचना के उपवास के फल से जय विजयी होता है और सुलोचना के साथ अपने नगर को लौट आता है। जय और सुलोचना की अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाओ का तथा जन्म जन्मांतर की कथाओं का क्रम चलता है। अंत मे ऋषभनाथ जिन धर्म का

प्रचार कर निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं। तदुपरांत अयोध्या में चिरकाल तक सुखपूर्वक राज्यकर भरत भी निर्वाण पद पाते हैं। इस कथा के साथ प्रथम खंड समाप्त हो जाता है।

उत्तर पुराण के प्रथमार्द्ध में ३८ से लेकर ८० तक संधियाँ हैं। इनमें २० तीर्थंकरों, ८ बलदेवों, ८ वासुदेवों और १० चक्रवर्तियों का वर्णन है। इसी खंड में ६९वीं संधि से वह कथा प्रारंभ होती है जो जैन रामायण अथवा पद्मपुराण के नाम से प्रसिद्ध है। कथा का आरंभ 'पउमचरिउ' से साम्य रखता है[1]। मगधाधिप श्रेणिक गौतम गणधर के सम्मुख अपनी शंका रखते हैं। ये शंकाएँ प्रचलित रामकथा के प्रति हैं जो वाल्मीकि तथा व्यास द्वारा पुराणों में वर्णित हैं। श्रेणिक की शंकाएँ इस प्रकार हैं[2]—(१) क्या रावण के दश मुख थे? (२) क्या उसका पुत्र इंद्रजीत अपने पिता से बड़ा था? (३) क्या रावण राक्षस था? (४) क्या उसके दश मुख, २० नेत्र तथा २० भुजाएँ थीं? (५) क्या राम के बाणों द्वारा रावण की मृत्यु हुई? (६) क्या राम लक्ष्मण की भुजाएँ सुदीर्घ और दृढ़ थीं? (७) क्या सुग्रीव आदि बंदर थे? (८) क्या विभीषण अब भी जीवित है? (९) क्या कुंभकरण ६ मास सोता था और अपनी क्षुधा निवारण के लिये १००० भैंसा चाहता था?

इस प्रकार अपनी शंका कहकर राजा श्रेणिक जैन धर्मानुकूल रामकथा को सुनने की अभिलाषा प्रकट करते हैं। श्री महावीर की आज्ञानुसार गौतम गणधर रामकथा का

---

१. स्वयंभु, पउमचरिउ—१-१०, १-१०।

२. पुष्पदंत—महापुराण ६९-३, २-११, पृ० ३६६ (भाग ?)।

प्रवचन करते हैं। यद्यपि राम कथा अत्यंत प्रसिद्ध है, बौद्ध, जैन तथा हिंदू धर्म तीनों का प्रिय विषय रही है, तब भी जैन धर्म के अनुकूल रामकथा को संक्षेप में यहां लिखा जाता है—

लक्ष्मण और राम अपने पूर्व जन्म में राजा प्रजापति तथा उसके अमात्य के पुत्र थे। उनका नाम चंद्रचूल तथा विजय था। युवावस्था में दोनों अभिन्न मित्र थे। एक दिन यौवनावेश में स्त्रीकटाक्ष से घायल होकर श्रीदत्त नामक व्यापारी की स्त्री अति सुंदरी कुबेरदत्ता का इन्होंने अपहरण किया। राजा ने क्रुद्ध होकर दोनों को मृत्यु दंड दिया। मंत्री चतुर था वह इनको जंगल में एक जैन मुनि महाबल के पास ले गया। जैन मुनि ने मंत्री से कहा कि ये दोनों कुमार अपने तीसरे जन्म में वलदेव तथा वासुदेव होंगे। मुनि के उपदेश से प्रभावित होकर दोनों मित्र मुनि हो गए। एक दिन चंद्रचूल ने सुप्रभ वलदेव तथा पुरुषोत्तम वासुदेव को देखा और मन में उनके वैभव की इच्छा उत्पन्न हो गई। दोनों मुनि देह छोड़कर पुनः स्वर्ण-चूल और मनिचूल के नाम से देवलोक मे उत्पन्न हुए। अगले जन्म में वाराणसी के राजा दशरथ के घर में उनकी रानी सुवला के गर्भ से राम (पूर्वजन्म में विजय और मणिचूल) तथा कैकयी के गर्भ से लक्ष्मण (चंद्रचूल तथा सुवर्णचूल देव) के रूप मे उत्पन्न हुए। राम का वर्ण श्वेत और लक्ष्मण का श्याम था।

सीता रावण नाम विद्याधर की पुत्री थी जो मंदोदरी के गर्भ से उत्पन्न हुई थी। जन्म के समय भविष्यवक्ताओं ने कन्या मे वह अनिष्टकारी लक्षण कहे थे। अत. उसे एक मंजूषा मे वदकर रावण ने खेत मे फिकवा दिया था। वह खेत जोतते समय एक कृषक को प्राप्त हुई जिसने राजा जनक को समर्पित कर दी। राजा जनक ने उसका लालन पालन

पुत्रीवत् किया। राजा जनक ने उस कन्या का विवाह राम से कर दिया।

नारद जी ने सीता जी के रूप एवं सौंदर्य की प्रशंसा रावण से की और उसके हृदय में सीता के प्रति प्रेम उत्पन्न कर दिया। रावण ने अपनी बहिन चंद्रमुखी को सीता के फुसलाने को भेजा परंतु वह असफल रही।

एक दिन जब राम और सीता बनविहार में मग्न थे रावण अपने पुष्पक विमान में वहाँ आया और मारीच की सहायता से सीता को चुरा ले गया।

सीता को न पाकर राम बड़े दुःखी हुए। उधर नगर में दशरथ जी ने भी स्वप्न द्वारा राम की इस विपत्ति का समाचार प्राप्त कर लिया। राम एवं लक्ष्मण सीता जी की खोज में चल दिए। उधर सीता लंका में लाई गई। रावण ने सीता के मन को विचलित करने का भरसक प्रयत्न किया परंतु वह सफल न हो सका। उसने मंदोदरी को भेजा परंतु मंदोदरी ने सीता के पदचिह्न देखकर पहिचान लिया और उसे सांत्वना दी।

राम और लक्ष्मण की मित्रता सुग्रीव और हनुमान से हो गई। लक्ष्मण ने बालि को मारकर सुग्रीव को पुनः अपने राज्य पर स्थापित किया और हनुमान जी ने सीता जी की खबर लंका से लाकर दी। राम तथा लक्ष्मण ने रावण के ऊपर आक्रमण करने से पूर्व मायायुक्त अस्त्र विद्या की प्राप्ति के हेतु उपवास किया। भयंकर युद्ध के उपरात राम विजयी हुए। लक्ष्मण द्वारा रावण का वध हुआ और लंका का राज्य विभीषण को प्राप्त हुआ। लक्ष्मण अर्धचक्रवर्ती बन गए। चिरकाल तक राज्यसुख भोगकर अंत में नरक के भागी हुए।

राम अपने प्रिय भाई लक्ष्मण की मृत्यु का समाचार सुन

कर साधु हो गए और तपपूर्ण जीवन बिताकर निर्वाण पद प्राप्त किया।

राम, लक्ष्मण और रावण जैन धर्मानुसार ८वें बलदेव, वासुदेव तथा प्रतिवासुदेव है। ८०वीं संधि में नमि की कथा है। ८१वी संधि से महापुराण का तृतीय खंड प्रारंभ होता है। ८१ से ६२वीं संधि तक मुख्य रूप से महाभारत की कथा है। महाभारत से संबंधित पात्रों की पूर्वजन्म की अनेक कथाओं का सुंदर वर्णन है। कथावर्णन में अनेक स्थलों पर कवि की सुंदर काव्यप्रतिभा के चमत्कारिक वर्णन उपलब्ध होते हैं। उदारण के लिये ८५वी संधि कही जा सकती है। इसमे कृष्णजन्म की कथा है, कथा प्रायः हिंदू धर्म के अनुसार ही है। तृतीय खंड के अंतिम भाग मे पार्श्वनाथ, महावीर, जंबू स्वामी तथा प्रीतंकर की कथाएं हैं। अंतिम संधि महावीर निर्वाण पर समाप्त होती है।

महापुराण का विषय एवं कथानक पर्याप्त रूप से विस्तृत है। इसमे ६३ महापुरुषों के अनेक जन्म जन्मांतरों का वर्णन है। कथानक इतना विशाल एवं विस्तृत हो गया है कि कथा का प्रवाह बना रहना असंभव हो गया है। हिंदू साहित्य में रामायण तथा महाभारत भी व्यापक एवं विशालकाय ग्रंथ हैं। इनके एक एक खंड को लेकर ही कवियों ने स्वतंत्र काव्य, महाकाव्य एवं नाटको की रचना की है। रामायण की कथा को स्वयंभु ने अपभ्रंश में पउमचरिउ के नाम से काव्यबद्ध किया है, जिसका वर्णन हम पहिले कर चुके हैं। यहांपर संक्षेप मे दोनों की तुलना करना अप्रासंगिक न होगा।

रामकथा के तीन रूप प्रस्तुत हैं। एक वाल्मीकि तथा व्यासवर्णित है, दूसरा स्वयंभुवर्णित और तीसरा पुष्पदंतकृत

रामचरित महापुराण में है। पुष्पदंत की कथा में निम्नलिखित भिन्नताएं उपलब्ध होती हैं—

(१) अन्य राजकुमारों की भांति राम और लक्ष्मण भी थे, यहांतक कि वे अपने पूर्वजन्मों में साधारणजन की तरह बुरा भला काम करनेवाले थे—यथा, पूर्व जन्म में लक्ष्मण ने एक वणिक की स्त्री कुबेरदत्ता का अपहरण किया था। दशरथ के यहाँ जन्म लेने से पूर्व उनके दो जन्म और हो चुके थे। दूसरे जन्म की तपस्या के फलस्वरूप ही उन्हें स्वर्ग प्राप्त हुआ और पुनः दशरथ के घर जन्म हुआ।

(२) राम की माता का नाम कौशल्या न होकर, सुबला था। लक्ष्मण ने कैकयी के गर्भ से जन्म लिया था। उनकी माता का नाम सुमित्रा नही था। इससे राम बन-गमन का प्रसंग ही परिवर्तित हो गया।

(३) राम लक्ष्मण का जन्म अयोध्या में नही, काशी में हुआ था। दशरथ पहिले काशी के ही राजा थे।

(४) राम लक्ष्मण विश्वामित्र के साथ जनक का यज्ञ देखने स्वयं न जाकर, जनक द्वारा बुलाए जाने पर गए थे।

(५) सीता के अतिरिक्त राम के सात पत्नियां और थीं अतः राम का एकपत्निव्रत भी जैन कथा में स्वीकृत नहीं है।

(६) सीता जनकतनया नहीं, अपितु मंदोदरी गर्भ-संभूता रावण की कन्या थी जो अनिष्टकारी जानकर मंजूषा में रखकर मिथिला में फिकवा दी गई थी। यह पुत्री प्रथम एक कृषक को प्राप्त हुई थी और उसने राजा जनक को समर्पित कर दी थी।

(७) सीता अपहरण नारद द्वारा उत्तेजित होने पर हुआ वर्णित है। पूर्व बैर का अथवा सूर्पणखा के अपमान का कोई प्रसंग नहीं है।

(८) सीताहरण पंचवटी में नहीं, वाराणसी के समीपवर्ती किसी वन में हुआ था जहाँ राम सीता सहित वन-विहार को गए हुए थे।

(९) वानर आदि वस्तुतः विद्याधर थे। राम की सहायता हेतु उन्होंने बंदर रूप को धारण नहीं किया था।

(१०) हनुमान रुद्र के नहीं, बल्कि कामदेव के अवतार थे। लंका में वे मशक रूप धारण करके नहीं गए थे, भ्रमर रूप धारण करके गए थे।

(११) बालि और रावण दोनों का वध राम द्वारा न होकर लक्ष्मण द्वारा हुआ है।

(१२) दशरथ की मृत्यु राम के लंका से प्रत्यावर्तन के उपरांत होती है।

(१३) लक्ष्मण की मृत्यु रोग के कारण होती है और उन्हें नरक की प्राप्ति होती है। राम लक्ष्मणपुत्र को राज देकर वैराग्य ग्रहण कर जैन मुनि हो जैन धर्मानुसार आचरण कर निर्वाण प्राप्त करते हैं।

(१४) भरत तथा शत्रुघ्न की कथा प्रायः उपेक्षित है।

(१५) राम श्यामवर्ण न होकर पद्मवर्ण (गौर वर्ण) हैं और श्यामवर्ण लक्ष्मण को बताया गया है। एक प्रकार से यह वर्णन हिंदू धर्म के पूर्णतः विपरीत है। राम कृष्ण (वासुदेव) में एकता और श्यामवर्णता मानी जाती है। बलदेव अथवा बलराम तथा लक्ष्मण शेषावतार एवं गौर वर्ण के माने जाते हैं।

स्वभंभु और पुष्पदंत द्वारा वर्णित समस्त रामकथा प्रसंगों का विश्लेषण करने से पता चलता है कि इन दोनों में भी कुछ अंतर है। पुष्पदंत में ब्राह्मणत्वविरोधी तत्व अधिक हैं। स्वयंभु से प्रथम रामकथा को काव्य का रूप देनेवाले दो जैन कवि और हो चुके थे। प्रथम का नाम विमलसूरि है जिन्होंने ई० की प्रथम शताब्दी के आसपास प्राकृत में 'पउमचरिउ' की रचना की थी। द्वितीय हैं रविषेण जिन्होंने ई० ७वीं शताब्दी में संस्कृत में 'पद्मचरित' लिखा। जैसा हम स्वयंभु कृत 'पउमचरिउ' के मूल स्रोतों के वर्णन में कह चुके हैं कि यद्यपि स्वयंभु ने अपनी कथा का आधार विमलसूरि और रविषेण की कथा को माना है परंतु उन्होंने कई स्थलों पर ब्राह्मणत्वविरोधी बातों को या तो पूर्णतः टाल दिया है या कहीं उसको अन्यमनस्क भाव से संकेत मात्र में दो चार पंक्ति देकर कथा को आगे बढ़ा दिया है। हरिषेण उपाख्यान का, जहाँ ब्रह्मरथ और जिनरथ संबंधी विवाद है और उसमें जैन धर्म को ब्राह्मण धर्म से श्रेष्ठ कहा गया है, स्वयंभु ने संकेत मात्र देकर उस प्रसंग को छोड़ दिया है और मरुद्द यज्ञविध्वंस प्रकरण का वर्णन बड़े ही अन्यमनस्क भाव से किया है[1]।

इसका मुख्य कारण भी यही प्रतीत होता है कि स्वयंभु में धार्मिक कट्टरता न थी। वे यापनीय संघ के थे जो अपनी धार्मिक धारणा में अधिक उदार एवं दूसरे धर्मों की श्रेष्ठता में भी विश्वास रखते थे। दूसरी बात यह प्राप्त होती है कि स्पष्टतः जैनसाहित्य में रामकथा के दो रूप प्राप्त होते हैं।

---

१. विस्तृत विवरण के लिये देखो ; पउमचरिउ, प्रथम भाग, भूमिका, पृष्ठ ४८।

एक रूप 'पउमचरिउ' का है दूसरा गुणभद्र रचित उत्तरपुराण का। कहीं कहीं इन कथाओं पर बुद्धजातक कथाओं का भी प्रभाव मिलता है। डा० विंटरनिट्ज के अनुसार यह हिंदू पुराणों की कथाओं को जैन साँचे में अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिये ढालने का प्रयत्न है[1], परंतु डा० नामवर सिंह अधिक उदार हैं, उन्होंने यह मान लिया है कि संभवतः इस प्रकार की कोई अन्य लोकपरंपरा रामकथा की रही होगी जिसको जैन पुराणों ने अपनाया है[2]।

महापुराण का महाकाव्यत्व—महाकाव्य की परिभाषा एवं स्वरूप में बड़ा मतभेद है। अनेक आदर्श पुरुषों की समस्त जीवनगाथा वर्णन करनेवाले भी महाकाव्य हो सकते हैं यदि उनमें उद्देश्य की महत्ता, शैली की उदात्तता, गरिमा और कथावस्तु का निर्वाह, भावसौंदर्य और वस्तुव्यापार वर्णन द्वारा रस उत्पन्न करने की क्षमता हो[3]। महाकाव्य की इस कसौटी पर कसने से निश्चय ही महापुराण एक सुंदर महाकाव्य है। उसका उद्देश्य भी महान् है। कवि ने अति ललित अलंकारयुक्त वाणी की सार्थकता सर्वभाव से जिन स्तुतियों में स्वीकार की है[4]। अतः उद्देश्य की महत्ता निर्विवाद है। स्वयं कवि ने प्रत्येक संधि के अंत में लिखा है 'इय महापुराणे तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकारे महाकइपुप्फयंतविरइए महाभव्व-

---

१. विंटरनिट्ज—हिस्ट्री आव् इंडियन लिटरेचर, भाग २, पृ० ४९९।

२. डा० नामवर सिंह—हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० २०७।

३. डा० शंभूनाथ सिंह—महाकाव्य का स्वरूप और विकास, पृ० १८३।

४. पुष्पदंत—महापुराण १–६, ६ (घत्ता), पृ० ८ (भाग १)

भरहाणुमण्णिए महाकव्वे...समत्तो। अर्थात् यह स्पष्ट है कि कवि का उद्देश्य महाकाव्य रचने का था, यद्यपि उद्देश्य की महत्ता बढ़ाने के लिये ही महापुराण जोड़ दिया गया है।

जहाँतक शैली की उदात्तता का प्रश्न है वह निर्विवाद है परंतु कथावस्तु की अन्विति कुछ विशृंखल हो गई है। इसमें रामायण तथा महाभारत की सी कथान्विति नहीं मिलती। वहाँ सभी घटनाएँ अथवा उपाख्यान एक ही महान् घटना अथवा उद्देश्य के लिये चलते हैं परंतु महापुराण में भावान्विति एक सी चलती है और इसी आधार पर हम इसे महाकाव्य कहते हैं। कवि ने भावसौंदर्य तथा वस्तुव्यापार वर्णन से बड़ी कुशलता से कार्य लिया है। अपने से पूर्ववर्ती कवियों का सादर स्मरण, विनम्रताप्रदर्शन, सज्जनप्रशंसा, दुर्जननिंदा, नगरवर्णन, जिनसमागम तथा उपदेश आदि अनेक रूढियों को भी स्थान दिया है।

कवि मानवहृदय का सच्चा पारखी है। वह वस्तुव्यापार वर्णन करते हुए भावोर्मियों को तरंगायित कर मनोनुकूल रसोत्पत्ति में अपूर्व क्षमता रखता है। महापुराण का क्षेत्र बहुत व्यापक है। अतः कवि को मानवहृदय की व्याकुलता, उग्रता, उत्सुकता तथा क्षुब्धता एवं निर्वेद का चित्रण करने के बड़े सुंदर अवसर प्राप्त हुए हैं। राजा श्रेणिक सपरिवार जिन के दर्शनार्थ प्रयाण करते हैं। नगर में आनंद भेरी बज जाती है। उसे सुनकर नगर वधुओं के हृदय में हलचल मच गई, वे व्यग्र हो उठी, समस्त कार्य व्यापार अस्तव्यस्त हो गए। कोई आनंद से मस्त होकर नाचने लगी और उसके पयोधर खुल गए। कितना सुंदर चित्र इस प्रसंग में दिया गया है[1]। इसी प्रकार सुलोचना[2] स्वयंवर मे

१. पुष्पदंत—महापुराण, २–१, २, भाग १, पृ० १८-१९।

२. वही, २८–११, २०, भाग १, पृ० ४४३-४४४।

राजाओं के हृदयगत भाव तथा उनकी चेष्टाओं का वर्णन, वाराणसी में लौटे हुए राम लक्ष्मण[1] के दर्शन की लालसा में समुत्सुक नर नारी तथा वसुदेव[2] के दर्शन से कामोत्सुका नारियों की विह्वलता आदि के प्रसंग द्रष्टव्य हैं।

रसपरिपाक—पौराणिक शैली पर लिखे हुए इन काव्यों मे अधिकतर शांत रस का प्राधान्य है। शांत के सहायक रूप मे ही शृंगार और वीररस का संमिश्रण एवं चित्रण हुआ है। कवियों ने इनका क्रम इतना स्वाभाविक रूप में रखा है कि रसोत्पत्ति मे व्याघात नही होता। प्रायः सभी तीर्थंकर अपने प्रारंभिक जीवन मे भोगी, विलासी तथा कामुक चित्रित किए गए है और सहसा आघात पहुँचने पर कैवल्य ज्ञानोन्मुख होकर निर्वाण प्राप्त करते हैं। विलासी तथा वीर चक्रवर्ती शांति प्राप्त करने का प्रयत्न करते है। महापुराण में ये प्रसंग कई बार आए हैं परंतु कवि की अलौकिक प्रतिभा ने उनमें नवीनता भर दी है। सर्वप्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की नीलांजसा की मृत्यु पर मनःस्थिति दर्शनीय है। वे सोचते हैं कि इस दारुण संसार में दो दिन रहकर कौन कौन से राजा यहाँ से न गए? इस संसार में धन क्षणार्ध मे इंद्रधनुष के समान नष्ट हो जाता है। हाथी, घोड़े, रथ, भद्र, धवल, छत्र, पुत्र, कलत्र कुछ भी स्थायी नही। पालकी, यान, ध्वजा, चमर सब सूर्योदय पर अंधकार के सदृश विलीन हो जाते हैं। विद्वानों का उपहास करनेवाली कमलालया लक्ष्मी जलधर के समान अस्थिर है। शरीरलावण्य और वर्ण सब क्षीण हो जाता है, कालरूपी भ्रमर द्वारा जीवन मधु पी लिया जाता है। करतल

---

१. पुष्पदंत—महापुराण, ७०-१६, १-१४, भाग २, पृ० ४०१
२. वही, ८३-२, भाग ३, पृ० ३०-३१।

स्थित जल के समान यौवन विगलित हो जाता है। मनुष्य पक्व फल के समान गिर पड़ता है। स्त्रियों द्वारा जिसपर नमक उतारा जाता है वही पुनः तृणशय्या पर रखा जाता है। जो राजा, राजाधिराज को नवा देता है वह मरने पर क्षण भर भी घर पर नहीं रखा जाता। जिसने कीर्तिलाभ किया, रिपुबल को नष्ट किया, पृथ्वीतल जिसके पीछे लगा रहा वह भी मरता है, इसे जानकर तत्काल ही मनुष्य निर्जन बन को चल देता है[1]। इस प्रकार विचारकर समस्त वैभव त्याग करके ऋषभदेव जी तपस्या करने निकल जाते हैं और अंत में जिन पदवी प्राप्त करते हैं। यह क्रम २४ बार लिखा गया है।

श्रृंगार रस की व्यंजना स्त्रियों के सौंदर्य और नखशिख वर्णन मे विशेष रूप से दिखाई देती है। युद्धोत्तर वर्णन में युद्ध के परिणामस्वरूप वीमत्स रस के और करुण रस के दृश्य भी सामने आ जाते हैं। करुण रस का एक चित्र मंदोदरो के विलाप में दिखाई देता है—

ता तहिं मंदोयरिदेवि किसोयरि थण अंसुयधारहिं धुवइ।
णिवडिय गुणजलसरि खगपरमेसरि हा हा पिय भणति रुयइ[2]॥

× × ×

पइं विणु जगि दसास जं जिज्जई तं परदवखसमूहु सहिज्जइ।
हा पिययम भणतु सोयाउरु कंदइ णिरवसेसु अंतेउरु[3]।

अर्थात् उस युद्धस्थल में किशोरी मंदोदरी अश्रुधारा से अपने स्तनों को धोती हुई 'हा प्रिय हा प्रिय' कहती हुई रोती है।

---

१. पुष्पदंत—महापुराण ७-१, १-१२, भाग १, पृ० ६६।

२. वही, ७८-२१, १५-१६, पृ० ४६८ भाग, २।

३. वही ७८-२१, १२-१३, पृ० ४६१, (भाग २)।

हे दशानन ! आप से रहित होने पर यदि जीवन रहा तो दुःखों का समूह सहना पड़ेगा। 'हा प्रियतम' कहने पर समस्त अंतःकरण काँप उठता है।

रावण को धराशायी देखकर विभीषण भी अपने को नही रोक सका। वह अपने शरीरज्ञान को भूलकर रोता है। उसके प्रत्येक शब्द से हृदयगत भाव स्पष्ट होते हैं। उस समय समस्त रणक्षेत्र का दृश्य अपूर्व करुणाजनक हो जाता है जब स्त्रियाँ अपने अपने पतियों को ढूंढती है, रोती हैं, कोई सीता को दोष देती है तो कोई अपने प्रेम की अनन्यता की दुहाई देती हुई अश्रुवर्षा करती है।[1]

शृंगार के संयोग और विप्रलंभ दोनों रूपों को कवि ने अंकित किया है। शृंगार वर्णन मे केवल परंपरा का पालन ही नही मिलता; जहाँ तहाँ रम्य उद्भावनाओं की सृष्टि भी कवि ने की है। अलका के राजा अतिबल की रानी मनोहरा के प्रसंग मे कवि कहता है—

णं पेम्मसलिलकल्लोलमाल णं मयणहु केरी परमलील।
णं चिंतामणि संदिण्णकाम णं तिजगरुतणिसोहग्गसीम।
णं रूवरयणसंघायखाणि णं हिययहारि लायण्णजोणि।
णं घरसरहंसिणि रइमुहेल्लि णं घरमहिरुह मंठणियवेल्लि।
णं घरवणदेवय दरियसत्ति णं घरहणससहरबिंवकंति।
णं घरगिरिवासिणि जक्खपत्ति णं लोयवसंकरि मंतसत्ति।
महएवि नामु घरकमललच्छि णामेण मणोहर पंकयच्छि।

---

1. पुष्पदन्त—महापुराण ७८–२६, ११–१५, पृ० ५०१, (भाग २)।
2. वही २०–३, १–५, पृ० ३२५, (भाग १)।

अर्थात् वह कमलनयनी मनोहरी क्या थी मानो प्रेम-सलिल की कल्लोल थी, कामदेव की परम पुतली थी, काम के लिये चिंतामणि सदृश थी, त्रिभुवन की नारियों की सीमा थी, रूप की खान थी, हृदय को हरनेवाली थी, हंसगामिनी थी, गृहरूपी वृक्ष की सुंदर लता थी, घररूपी पर्वत की यक्षों की पंक्ति थी और नेत्रों को आकर्षित करने के लिये मंत्रशक्ति सदृश थी।

स्पष्ट है कि परंपरागत सभी उपमानों का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार गुणमंजरी वेश्या के शारीरिक सौंदर्य के अतिरिक्त उसके आंतरिक सौंदर्य को भी प्रकट किया गया है—

मत्तकरिंदमंदलीलागइ णरमणणलिणगोमिणी ॥
किं वण्णमि णरिंद सा कामिणि कामिणियणसिरोमणी ॥
दिस बिवाहररंगें रावइ करुरुहपंति पईवहिं दीवइ।
कुंचियकेसहं कंतिइ कालइ माणिणि माणवमहुयरमालइ।
सुललियवाणि व सुकलहि केरी जहिं दीसइ तहिं सा भल्लारी[1]।

इसी प्रकार 'सुंदरी' की चढ़ती हुई युवावस्था का कितना सुंदर चित्र है—

णवजोव्वणि चडंति सा छज्जइ चंदु कलंके वयणहु लज्जइ।
रत्तप्पलु पयसोहइ जित्तउ तेण वि अप्पउ सलिलि णिहित्तउ।
भूवंकत्तणु थणथड्ढत्तणु अहरहु केरउ अइराइत्तणु।
पडिजायहं दंतहं धवलत्तणु जणमारण णयणहुं मि चलत्तणु।
तुच्छोयरवासिहि गंभीरिम णाहिहि अवरु णियंबहु वड्डिम।
कंचीदामएण दढबंधहु रहियंगहु परलोयविरुद्धहु।
सीसारूढकेसकुडिलत्तणु पुरिसोवरि माणसकढिणत्तणु।

---

१. पुष्पदंत—महापुराण ५४-२, २-५, पृ० १९० (भाग २)।

दिट्ठदोसु अवसें असमेहल मज्भु अमज्भत्थुव हुउ दुब्बलु।
तुंगपयोहरविलुलियथणघरा चलहारावलिमोत्तिय जलकरण।
सिंचिय तेहिं रणाइं मइ सीसइ रोमराइ रणववेल्लि व दीसइ।
इय रूवें जगरणारिहि सुंदरि जाणिवि ताएं कोक्किय सुंदरि[1]।

नखशिख के परंपरागत वर्णन में कवि ने अपनी अद्भुत कला से तथा अलंकारों के योग से अनुपम चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। सुलोचना का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि—

पायहुं काइं कमलु समु भरिणयउं
तं खरणभंगुरु कर्हाहि रण मुरिणयउं।
रिक्खइं वासरि कहि मि रण दिट्ठइं
कप्पारणहपहाहि रणं रणट्ठइं[2]।

अर्थात् उसके पैरों को कमल के समान कैसे कहूँ? वे क्षणभंगुर हैं। ऐसा कवियों ने नहीं सोचा कि दिन में नक्षत्र कहीं नहीं दिखाई देते मानो सुलोचना के नखों की प्रभा से वे नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र सीता के दाँतों की दीप्ति से मोती जीते गए और तिरस्कृत हो गए अन्यथा वे क्यों बींधे जाते? मुखचंदचंद्रिका से दिशाएँ धवलित हो गईं अन्यथा शशी क्यों क्षीण होता[3]?

वियोगवर्णन में मस्तिष्क को चमत्कृत करनेवाला हाहाकार नहीं, अपितु हृदय को स्पर्श करनेवाली करुण वेदना की पुकार है। ऐसे स्थलों में वियोगी का दुःख उसके हृदय तक ही सीमित नहीं, अपितु प्रकृति भी शोकावेग से

---

१. पुष्पदंत—महापुराण ५–१०, ५–१५, पृ० ८५–८६, भाग १
२. वही, २८–१२, ८–६ पृ० ४३६ (भाग १)।
३. वही, ७०–११, ६–७, पृ० १६६, (भाग २)।

व्याप्त वर्णित की गई है। वियोग मे मलयानिल प्रलय के समान, भूषण बंधन के समान प्रतीत होते हैं, शोक स्नान के समान अच्छा नही लगता। चंदन विरहाग्नि के लिये इंधन के समान होता है[1]।

महापुराण में वीर रस का परिपाक भी भली प्रकार हुआ है। वीर रस के कठोर और सयुक्ताक्षरों के प्रयोग की परंपरा सर्वत्र नहीं दिखलाई देती। कवि ने छंदयोजना, नादसौदर्य, और भावव्यंजना के द्वारा वीररस को उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है। यथा—

भड्ड को वि भणइ जइ जाइ जीउ तो जाउ थाउ छुडु पहुपयाउ।
भड्ड को वि भणइ रिउँ एंतु चंडु भईं अज्जु करेवउ खंड खड्डु।
भड्ड को वि भणइ पविलंबियंति मइं हिंदोलेवउं दतिदति[2]।

अर्थात् कोई भट कहता है कि प्राण जायँ तो भले ही जायँ किंतु स्वामी का प्रभाव स्थिर रहे। कोई कहता है कि प्रचंड शत्रु को आते देख मैं उसे आज खंड खंड कर दूँगा। अन्य भट कहता है कि यदि मेरा मस्तक कट गया तो भी धड़ शत्रु को मारने के लिये नाचता फिरेगा।

तवर्गाक्षरों के प्रयोग के साथ साथ भटों के हृदय में उत्साह की अपूर्व व्यंजना है। इसी प्रकार बढ़ती हुई सेनाओं का, शीघ्रता से बाण चलाते हुए वीरों का तथा बाणसंधान एवं प्रहार की शीघ्रता का कवि ने वर्णन किया है।

प्रकृति वर्णन—प्रकृति मानव की चिर सहचरी है। कविगण इसके प्रांगण में रहकर नवीन चेतनाएँ उपलब्ध

---

१. पुष्पदंत—महापुराण, २२–६, ५–१२ पृ० ३५१ (भाग १)।
२. वही ५२–१२, ३–५, पृ० १६६. (भाग २)।

करते रहे हैं। महापुराण मे पुष्पदंत ने काव्यगत सभी मान्यताओं को स्थान दिया है। उसमे नगरवर्णन (१–१२,), सूर्योदयवर्णन (४–१८, १–१४), (५–१६, १–१६), (१६–२६, १–१५), चंद्रोदयवर्णन (४–१६, १–१६), (१६–२४, १–१३). सूर्यास्त (४–१५ पूरा कडवक) (७३–२), नदी (१२–५, ५–८), ऋतु (२–१३, २८-१३ ७०–१४); सरोवर, (८३–१०) तथा गंगावतरण आदि आदि का वर्णन है।

प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन मे कवि ने सबसे बड़ी विशेषता यह की है कि उसने जो उपमान चुने हैं वे मानवजीवन से संबंधित है। कही उसने सूर्यास्त के साथ मानवजीवन की संबद्धता वर्णन की है तो कही प्रकृति मे मानवजीवन का बिंबप्रतिबिंब भाव खोज निकाला है। सायंकाल सूर्यास्त होने पर कवि कहता है—

जिह संझाराएं रंजियउ तिह वेसाराएं रंजियउ।
जिह भुवणल्लउ संतावियउ तिह चक्कउलु वि संतावियउ।
जिह दिसिदिसि तिमिरइं मिलियाइं तिह दिसिदिसि जारइं मिलियाइं।
जिह ग्यणिहि कमलइं मउलियइं तिह विरहिणिवयणइं मउलियइं।
जिह घरह कवाडइं दिण्णाइं तिह वल्लहखेवइं दिण्णाइं।
जिह चंदें णियकरपसरु किउ तिह पियकेसहि करपसरु किउ।
जिहकुवलयकुसुमइं वियसिमइं तिह कीलियमिहुणइं वियसियइं।[1]

अर्थात् जैसे इधर दीपकों का प्रकाश प्रस्फुटित हुआ उसी प्रकार उधर स्त्रियों के अलंकारो की कांति चमक उठी, इधर

१. पुष्पदंत—महापुराण, १३–८, २–७, पृ० २२८ (भाग १)।

संध्या रागरंजिता हुई उधर वेश्या अनुरंजित हो उठी; इधर अंधकार व्याप्त होने लगा, उधर जारमिलन; इधर कमल संकुचित होने लगे, उधर विरहिणियों के मुखकमल भी दुःख से व्याप्त हो गए, इधर घरों के किवाड़ लगे उधर वल्लभ द्वारा आलिंगन दिए जाने लगे।

कवि को कुछ दृश्य अत्यंत प्रिय हैं। बार बार उनका वर्णन है परंतु कुछ न कुछ नवीनता अवश्य है। बिंबप्रतिबिंब भाव का एक और सुंदर उदाहरण द्रष्टव्य है—

एत्तहि रणु कयसूरत्थवणउं एत्तहि जायउं सूरत्थवणउं।
एत्तहि वीरहँ वियलिउ लोहिउ एत्तहि जगु संझारुइसोहिउ।
एत्तहि कालउ गयमयविब्भमु एत्तहि पसरइ मंदु तमीतमु।
एत्ताहि करिमोत्तियइं विहत्तइं एत्तहि उग्गमियइं णक्खत्तइं।
एत्ताहि जयणरवइजसु धवलउ एत्तहि धावइ ससियरमेलउ।
एत्तहि जोहविमुक्कइं चक्कइं एत्तहि विरहें रडियइं चक्कइं[1]।

अर्थात् इधर रणभूमि में योद्धाओं का अस्त हुआ उधर सायंकाल में सूररूपी योद्धा का। इधर वीरों का रक्त विगलित हुआ, उधर संध्या लाल हो गई; इधर काले मेघ के समान गजघटा का विभ्रम फैला, उधर अंधकार अपना प्रभाव जमाने लगा; इधर हाथियो के गंडस्थल से मोती गिरने लगे, उधर नक्षत्रलोक आकाश पर मुक्ता सदृश चमकने लगे, इधर विजयी राजा का यश बढ़ा तो उधर शुभ्र चंद्र अपनी धवल ज्योत्सना को प्रसारित करने लगा तथा इधर योद्धाओ के चक्र और उधर चक्रवाक विरह मे शब्द करने लगे।

इस प्रकार प्रकृति के दृश्यो का बड़ा ही सुंदर रूप हमें महापुराण मे प्राप्त होता है। पर्वतों पर बहती हुई शुभ्रसलिला

---

१. पुष्पदंत—महापुराण, २८-३४, १-६, पृ० ५५३ (भाग १)।

गंगा को पर्वतरूपी पयोधरों पर पड़ी हुई वसुधारूपी रमणी के हार के रूप मे देखा गया है,[1] तो कही वह मत्स्यरूपी नेत्रवाली, आवर्तरूपी गंभीर नाभिवाली, स्नान करते हुए हाथियों के गंडस्थल के समान पीवरस्तनी, शैवालरूपी नील चंचल नेत्रवाली, तटस्थित वृक्षों से पतित मधुरूपी कुंकुम से पिंग वर्णवाली, चंचल जलतरंगरूपी त्रिवलीवाली, श्वेत झाग के समान शुभ्रवस्त्रावृता, पवनोद्धत शुभ्र तुषाररूपी हारवाली तथा विस्तीर्ण सुंदर पुलिनरूपी मंद एवं गजगति को प्रकाशित करती हुई रमणी के रूप में देखा गया है। सर्वत्र शब्दसाम्य एवं अलंकारों की छटा द्रष्टव्य है[2]।

इसी प्रकार यथास्थान ऋतुओं का भी वर्णन हुआ है। पावस ऋतु के नाद तथा अंधकार से कवि अधिक प्रभावित हुआ है। कृष्ण मेघ गजगंडस्थल से उड़ी हुई भ्रमरपंक्ति के समान चले आ रहे है। निरंतर वर्षाधारा से भूतल व्याप्त हो गया है। विद्युत् के गिरने से उत्पन्न भयंकर शब्द ने आकाश, पाताल तथा पृथ्वीलोक को व्याप्त कर दिया है। नाचते हुए मत्त मयूरों की केका से समस्त कानन गुंजरित है। गिरिनदी के गुहाप्रवेश से उत्पन्न सर सर नाद से भयभीत वानर चिल्ला रहे हैं। आकाश इंद्रधनुष से अलंकृत मेघरूपी हस्तियों से आवृत हो गया है। जलप्रवेश से सर्पगण क्रुद्ध होकर फुफकार रहे हैं। पपीहा की 'पी पी' याचना कितनी मधुर है। सरोवरों पर कलरव करती हुई हंसपंक्ति शोभित है। चंपक, चंदन,

---

१. पुष्पदंत—महापुराण, १२-६, ५, पृ० २११ (भाग १)।
णिज्भरपसिहरपीवरथणाहिं णं हारावलि वसुहंगणाहिं।
२. वही, १२-८, २-७, पृ० २१२ (भाग १)।

चिचरणी आदि वृक्षों में नव प्राण स्फुटित है जो नेत्रों को आनंद-दायक बन रहे हैं[1]।

इसी प्रकार वैताढ्य पर्वत का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि माणिक्य की प्रभा से आलोकित इस देश में रात्रि का सर्वत्र अभाव है, जिससे चक्रवाक पक्षियों को वियोग का अनुभव नहीं होता[2]। हिंदी के कवि 'विहारी' उस घर के चारों ओर नित्य प्रति पूर्णिमा ही बनाए रखते हैं, तब यदि मणिप्रभा से चक्रवाकों को वियोगजन्य दुःख न हो तो कोई आश्चर्य नहीं। यह प्रसंग कवि को बड़ा रुचिकर है। इससे आगे का वर्णन बड़ा ही यथार्थ एवं मनोहर है तथा कवि की पैनी दृष्टि का परिचायक है।

जहि दक्खामंडवयलि सुयंति पहि पंथिय दक्खारसु पियंति।
धवलूढजंत पीलिज्जमाणु पुंड्डुच्छुखंडरस पवहमाणु।
कइकव्वरसु व अणु पियइ ताम तित्ताइ होइ सिकंमु जान।
जहि पिक्ककलमकणिसइं घरंति सुय दूयत्तणु हलिणि हिकरंति।

सिरिसयणहि णं वहुवयणहि विललंती दिणि रायइ॥
जहि पोमिणि कलमहुयरभुणि णं भाणुहि गुण गायइ[3]॥

अर्थात्, जहाँ पथिक द्राक्षामंडप के नीचे सोते हैं और मार्ग में द्राक्षारस पीते है। जहाँ वृषभ संचालित कोल्हू से पेरे जाते हुए गन्नों के रस का लोग काव्यरस के समान तबतक आनंद लेते हैं जबतक कि तृप्ति से सिर भूम नही पड़ते। जहाँ पके धान

---

१. पुष्पदंत—महापुराण २-१३, १-१२, पृ० २६ (भाग १)।
२. विहारी—पत्रा ही तिथि पाइये वा घर के चहुँ पासु।
नित प्रति पूनो ही रहत आनन ओप उजासु॥
३ पुष्पदंत – महापुराण ८-१२, १२-१५, पृ० १३४ (भाग १)।

के कणों को खाते हुए शुक कृषक वालाओं के लिये दूतत्व का कार्य संपादन करते है। जहाँ कमलश्री अनेक पद्मरूपी मुखों से दिन मे शोभित होती है और मुखर मधुकर की ध्वनि के बहाने से सूर्य के गुण गाती है।

अस्तु संक्षेप में समस्त प्रकृति एवं ऋतुवर्णन अलंकार-योजना तथा कोमलकांत पदावली के उदाहरणों से युक्त है। कवि ने उपमा, रूपक यमक, अनन्वय, व्यतिरेक, विरोध, उत्प्रेक्षा तथा भ्रांतिमान् अलंकारो का अधिक प्रयोग किया है। अलंकारो के प्रयोग मे कवि ने विशेष प्रकार के अलंकरण से काम लिया है। इसमे दो वस्तुओं या दृश्यों का साम्य प्रदर्शित किया गया है। उपमा मे एक उपमेय के लिये भिन्न भिन्न प्रकार के उपमानो का प्रयोग होता ही रहा है। रूपक में उपमेय और उपमान के अत्यधिक साम्य के कारण एक का दूसरे पर आरोप कर दिया जाता है। सांग रूपक में यह आरोप अंगों सहित होता है। कवि ने एक उपमेय और एक उपमान को लेकर भिन्न भिन्न अंगो और उपमान के भिन्न भिन्न रूपों का साम्य प्रदर्शित करते हुए दो वस्तुओं का पृथक् पृथक् पूर्ण चित्र उपस्थित किया है। इस प्रकार का साम्य कभी श्लेष अलंकार द्वारा, कभी कभी उपमेय तथा उपमानगत साधारण धर्म द्वारा और कभी उपमेय और उपमानगत क्रियाओं द्वारा उपस्थित किया गया है। जैसे,—राजा को अपनी नारी सुलोचना गंगा सदृश प्रतीत हुई। यथा —

[illegible] दुगु विसगाइ पयागु पत्तउ सुरसरिजलमज्झठाणु।
सोहइ जहिं [illegible] उयलु जोयइ कंतहि वणकलजुयलु।
सोहइ जहिं [illegible] जोयइ कंतहि तिवलीतरंग।
सोहइ जहिं पावनकंतु जोयइ कंतहि वरणाहिरमगु।

जोयवि गंगहि पप्फुल्लकमलु जोयइ कंतहि पिउ वयणकमलु।
जोइवि गंगहि वियरंत मच्छ जोयइ कंतहि चलदीहरच्छ।
जोइवि गंगहि मोत्तियहु पंति जोयह कंतहि सियदसणपंति।
जोइवि गंगहि मत्तालिमाल जोयइ कंतहि धम्मेल्ल णाल।
णियगेहिणि वम्महवाहिणि देवि सुलोयण जेही ॥
मंदाइणि जणसुहदाइणि दीसइँ राएँ तेही ॥[1]

अंतिम पंक्ति में गृहिणी को कामनदी (वम्महवाहिणी) कहकर अत्यधिक प्रेमसुख की व्यंजना का चमत्कार प्रदर्शित किया है। महापुराण से एक नहीं कई उदाहरण दिए जा सकते हैं। नामनिर्देश के लिये नदी और सेना की तुलना (१५-१२, ५-१३), सूर्यास्तवर्णन (१३-८), पर्वत और ऋषभनाथ का साम्य (३७-१६) तथा वन और यौवन का वर्णन (७२-२) इत्यादि अनेक स्थलों पर प्राप्त सुंदर साम्य दर्शनीय है। वस्तुतः यह महाकाव्य कथावस्तु के संबंधनिर्वाह को छोड़कर अन्य सभी काव्योपम गुणों का अगाध सागर है। कवि को वस्तुव्यापार वर्णन तथा भावचित्रण द्वारा रसोत्पत्ति करने में अपूर्व सफलता मिली है। भाषा को सुंदर लोकोक्तियों द्वारा सजाकर अपूर्व बल दे दिया है। यथा—

'माण भंग वर मरण न जीवउ'। १६-२१, ८
(अपमानित होने पर मरना अच्छा है, जीना नहीं)।
'को तं पुंसइ णिडालइ लिहियउ'। २४-८,८
(विधिकर लिखा को मेटन हारा। तुलसी)।
'लूयां सुत्तें वज्झइ मंसउ ण हत्थि णिरुज्झई।' ३१-१०,६
मकड़ी के जाल से मच्छर तो बाँधा जा सकता है हाथी नहीं।

---

१. पुष्पदंत—महापुराण २१-७, २-१२, पृ० ४६२ (भाग १)।

'जोगोवालु गाइ णउ पालइ सो जीवंतु दुद्धु ण णिहालइ।
जोमालारु वेल्लि णउपोसइ सो सुफुल्लुफलु केंव लहेसइ।५१-२,१

(जो ग्वाला गौ नहीं पालेगा वह जीवन में दूध कहाँ से देखेगा? जो मालाकार लतादि का पोषण नहीं करेगा वह सुंदर फल फूल कैसे प्राप्त करेगा।)

अनुरणनात्मक तथा ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग अपभ्रंश कवियो की निजी विशेषता है। महापुराण इससे वंचित नही। इन सब बातों पर विचारकर डा० कोछड़ का मत विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। वे कहते हैं कि कवि ने जहाँ वर्णनों मे प्राचीन परंपरा का पालन किया है वहाँ उसकी शैली समस्त, अलंकृत और कुछ क्लिष्ट हो गई है। जहाँ पर परंपरा को छोडकर स्वतंत्र शैली का प्रयोग किया है वहाँ भाषा अधिक स्पष्ट, सरल और प्रवाहमयी दिखाई देती है। ऐसे स्थलो पर छोटे छोटे प्रभावोत्पादक वाक्यों द्वारा कवि की भाषा अधिक बलवती हो गई है। प्राचीन परंपरा पर आश्रित भाषा के उदाहरण ऊपर दिए हुए अनेक वर्णनों में देखे जा सकते है। प्राचीन परंपरा से उन्मुक्त स्वतन्त्र शैली का उदाहरण निम्नलिखित उद्धरण मे देखिए—

पत्थरेण कि मेरु दलिज्जइ कि खरेण मायंगु खलिज्जइ।
खज्जोएं रवि णित्तेइज्जइ कि छुट्टेण जलहि सोसिज्जइ।
गोप्पएण कि णहु माणिज्जइ अण्णाणें कि जिणु जाणिज्जइ।
वायसेण कि गरुडु णिरुज्झइ णवकमलेण कुलिसु कि विज्झइ।
हरिणा कि मयारि मारिज्जइ कि वसहेण वग्घु दारिज्जइ।'[1]

अर्थात् क्या पत्थर से मेरु दलित किया जा सकता है? क्या गधे से हाथी पीड़ित हो सकता है? क्या खद्योत से सूर्य

1. पुष्पदंत— महापुराण २८-२०, १-८, पृ० २७७ (भाग १)।

निस्तेज किया जा सकता है ? क्या घूंट घूंट से समुद्र सुखाया जा सकता है ? क्या गोपद आकाश की समता कर सकता है ? अज्ञान से क्या जिन भगवान का ज्ञान हो सकता है ? क्या कौआ गरुड़ को बाधा पहुँचा सकता है ? क्या नवकमल से कुलिश विद्ध किया जा सकता है ? हाथी से क्या सिंह मारा जा सकता है ? क्या वृषभ से व्याघ्र विदीर्ण किया जा सकता है ? इत्यादि ।

इस प्रकार की शैली में श्लिष्ट शब्दों के प्रयोग से भी भाषा की सरलता और गति नष्ट नही हुई है—

खग्गे मेहें कि णिज्जलेण, तरुणा सरेण कि णिप्फलेन ।
मेहे कामें कि णिद्दवेण, मणिणा कुलेण कि णित्तवेण ।
कव्वे णडेण कि णीरसेन, रज्जे भोज्जे किं परवसेण ॥

अर्थात् पानीरहित मेघ से तथा खड्ग से क्या लाभ ? फलरहित वृक्ष और बाण से क्या प्रयोजन ? द्रवित न होनेवाले मेघ और काम व्यर्थ हैं । तपरहित मुनि और कुल किस काम का ? नीरस काव्य और नट से क्या लाभ ? पराधीन भोजन और राज्य से क्या ?

छंदप्रयोग—कवि ने महाकाव्यानुकूल प्रत्येक संधि के अनुसार छंदों का परिवर्तन किया है । संधि के प्रत्येक कडवक में छंद के परिवर्तन का उपक्रम नही है परंतु आदि छंद प्रायः प्रत्येक कडवक से भिन्न है । ८वीं संधि के ७वें कडवक में कवि ने दुवइ युग्म का प्रयोग किया है जिसमें दामयमक श्रृंखला प्रयुक्त है । दुवइ युग्म जिस शब्द से समाप्त होता है, उसी शब्द से दूसरा दुवइ युग्म प्रारंभ होता है । यथा—

दुवइ—ता णिग्गमणमेव धरणेण कयं संभरियजिणवरं ।
फारफणाकडप्पफुक्कारुल्लालियसमहिमहिमरं ॥ १ ॥

महिहररुंदकंदरायंपरा रिणग्गयकूरहरिवरं।
हरिघोरालिरोलवित्तासिय रणासियमत्ताकुंजरं ॥ २ ॥
कुंजरचडुलचरणपडिपल्लरण पाडियपडभूरुहं।
भूरुहखघवुंधखररिणहसरण रुहमज्जलियहुयवहं ॥ ३ ॥
हुयवहविप्फुलिंगजालावलिजलियसमत्ताकाणणं।
काणणसंणिसरणमुणितावासंकियसयलसुरयणं ॥ ४ ॥

कवि ने मात्रिक छंदो का प्रयोग किया है। छंद चाहे मात्रिक हो चाहे वर्णिक सब अंत्यानुप्रास युक्त हैं। संधियों में न तो कडवकों की संख्या निश्चित है और न प्रत्येक कड़वकों मे चरणो की संख्या।

पुष्पदंत का पांडित्य एवं उसकी बहुज्ञता—पुष्पदंत दृढ़ श्रद्धालु जैन थे। उन्होने स्थान स्थान पर 'जिरणपयभत्ति धम्मासत्ति, वय संजुत्तिं वियलिय संकि', अर्थात् जिनपद भक्त धर्मासक्त, व्रतसंयुक्त, विगलितशंक आदि आदि विशेषणों का प्रयोग किया है। 'मग्गिय पंडित पंडित मरणें' अर्थात् 'पंडित-पंडितमरण' तथा 'वोधि समाधि' की आकांक्षा प्रकट की है। वे दिगंबर सम्प्रदाय के थे। उन्होंने प्रत्येक तीर्थंकर के जन्म से पहिले जिन माता को १६ वस्तुओं के दर्शन वर्णित किए हैं।

संधि १८ तथा ३७ मे स्पष्ट रूप से जैन सिद्धांतों का वर्णन है। कड़वक (संधि १८) १० मे जैन धर्म का विशद विवेचन है, उसमे जीव की एकता, रागद्वेष का परित्याग, मायाशल्य, निदानशल्य तथा मिथ्यादर्शन निवारण (शल्यत्रय निवारण) त्रिरत्नप्राप्ति सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन, तथा सम्यक्चरित्र), त्रिगौरवविवर्जन, (रिद्धिगौरव, रसगौरव

१. पुष्पदंत—महापुराण ८–१, ५–१२, पृ० १२८ (भाग १)।

तथा सायागौरव), निद्रा, आहार, भय, परिग्रह तथा मैथुन कार्यचतुष्टय का परित्याग जिनके कारण जीव संसार-चतुष्टय[1] में परिभ्रमण करता है, पंच महाव्रत (अहिंसा, अदत्ता दानवर्जन, असत्यवर्जन, परिग्रह त्याग तथा ब्रह्मचर्य), पंचासवदराई त्याग, (हिंसा, अदत्तादान, असत्परिग्रह तथा मैथुन), पंचेंद्रिय विषय निवारण (शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध से तटस्थता), पंचग्रंथविनाशन (ज्ञानावरणीय कर्म, आभिनिबोधिक ज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानवरणीय, मनः-पर्याय, ज्ञानवरणीय तथा केवलज्ञानवरणीय), षट् आवश्यकांगों का पालन (समाइय, चउवीस इत्थव, वंदण, पडिक्कम्मण, काउसग्ग तथा पच्चक्खाण), षट् दयाभाव-प्रकाश (पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु तथा वनस्पति), षट् लेश्यापरित्याग (कृष्ण, नील, कपोत, तेजस, पद्म तथा शुक्ल), षट्द्रव्य प्रत्यक्षीकरण (धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, जीव तथा काल), सप्त भयनाश (इहलोक भय, परलोक भय, आदान भय, अकस्माद् भय, आजीव भय, मरण भय तथा अश्लोक भय), सप्त सत्यज्ञान (जीव, अजीव, आस्रव, सवर, निर्जर, बंध तथा मोक्ष), अष्ट-पदनाश (जातिपद, कुलपद, बलपद, रूपपद, तपोपद, ऐश्वर्यपद, श्रुतपद तथा लाभपद), अष्ट सिद्धगुणग्रहण, नवधा ब्रह्मचर्य का परिपालन, नव वस्तुपरिज्ञान (जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध तथा मोक्ष), जिन के दस गुण, ग्यारह प्रतिमापरिज्ञान, द्वादश भिक्षु-प्रतिमा, त्रयोदश क्रियास्थान, त्रयोदश आचरणाचार (पंचास्र-संवर, पंचा समिति तथा गुप्तित्रय, चतुर्दश ग्रंथ, चौदह मला, चौदह भूयगाम भूत समूह, पंद्रह प्रमाद, पंद्रह पुण्य पाप

१. संसार चार है—देव, नारक, तिर्यक तथा मनुष्य ।

भूमि, षोडश कसाय, सत्रह असंयम, अट्ठारह संपारय तथा उन्नीस न्यायज्ञान) आदि सभी ऐसे विषय हैं जो जैन धर्मानुकूल हैं और इन समस्त शब्दों की दार्शनिक व्याख्या है। इनका सम्यक् प्रयोगमात्र ही प्रमाणित करता है कि पुष्प दंत को जैनधर्म का पूर्ण ज्ञान था।

धर्मशास्त्र के अतिरिक्त पुष्पदंत नाट्यशास्त्र तथा संगीत शास्त्र के भी परम ज्ञाता थे। नीलंजषा के नृत्य तथा प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के नृत्य समारोह में उन्होने जो सूक्ष्म विवेचन दिया है वह उनकी नाट्यशास्त्र संबंधी दक्षता का द्योतक है। काम शास्त्र, नीति शास्त्र, राजनीति तथा व्यावहारिक नीति का बड़ा सुंदर वर्णन मिलता है। समस्त पुराण को पढकर पुष्पदंत की उक्ति सर्वथा सत्य प्रतीत होती है जो कि उन्होने महापुराण के विषय मे कही थी।

भविसयत्तकहा—यह ग्रंथ धक्कड वैश्य वंशोत्पन्न कवि धनपाल द्वारा रचित है। लेखक के अनुसार उसके पिता का नाम माएसर (मायेश्वर) और माता का नाम धणसिरि (धनश्री) था। कवि को अपनी विद्वत्ता पर अभिमान था और वह अपने को सरस्वती का पुत्र तथा सरस्वती से प्राप्त-वर मानता था।

डा० याकोबी के अनुसार धनपाल १०वीं सदी से पूर्व नहीं माना जा सकता। श्री दलाल तथा गुणे ने अपनी भूमिका में यह सिद्ध किया है कि धनपाल की भाषा हेमचंद्र की अपभ्रंश से प्राचीन है। इसमे शब्दरूपों में विविधता है और

१. पुष्पदंत महापुराण की भूमिका : अंग्रेजी, पृ० २५, यही निबंध पृ० १०६।

२. धनपाल – भविसयत्त कहा. २२-६. पृ० १४८।

३. वही १-४, ', पृ० २।

व्याकरण की शिथिलता है जो हेमचंद्र की भाषा में नही है। भविसयत्त कहा और पउमचरिउ के शब्दों मे समानता दिखाते हुए प्रो० भायाणी ने निर्देश किया है कि भविसयत्त कहा के आदिम कडवकों के निर्माण के समय धनपाल के ध्यान में पउमचरिउ था। अतः धनपाल का समय स्वयंभु के बाद और हेमचंद्र के पूर्व ही किसी काल में अनुमानित किया जा सकता है[1]।

लेखक ने यद्यपि इसको 'कहा' (कथा) ही कहा है परंतु यह निश्चित रूप से महाकाव्य की कोटि के अंतर्गत रखा जा सकता है क्योंकि इसमें प्रायः सभी काव्योपम गुण मिलते है।[2] डा० विटरनिट्ज इसे रोमांच महाकाव्य मानते है।[3] इस महाकाव्य की कथा किसी लोककथा के आधार पर स्वतंत्र रूप से गढ़ी गई है। इस काव्य को लिखकर कवि ने परंपरागत ख्यातवृत नायक की पद्धति को तोडा है। ऐसा प्रतीत होता है कि अपभ्रंश मे इस प्रकार के अनेक काव्य रचे गए होंगे जिनका अभी तक पता नही चल सका है। इस ग्रंथ का दूसरा नाम 'सुय-पंचमी कहा' भी है क्योंकि इसमें 'सुयपंचमी' का माहात्म्य प्रतिपादित किया गया है। २२ संधियों में इस सुंदर प्रबंध काव्य में एक तरह से तीन प्रकार की कथाएं जुडी हुई हैं। कथा का पहला भाग शुद्ध घरेलू सामाजिक वातावरण की कहानी है जिसमें दो विवाहों के दुःखद पक्ष को स्पष्ट किया गया है। वणिक्पुत्र भविष्यदत्त के भाग्य की गाथा

१. डा० कोछड़—अपभ्रंश साहित्य, पृ० ६५।

२. डा० शंभुनाथसिंह—हिंदी महाकाव्य का स्वरूप तथा विकास, पृ० १८६

३. डा० विटरनिट्ज—हिस्ट्री आव इंडियन लिटरेचर, भाग ३, पृ० ५३३

है जो अपने सौतेले भाई बंधुदत्त के द्वारा कई बार छले जाने पर भी अंत में जिनमहिमा के कारण सुखी होता है। कथा के दूसरे भाग मे कुरुराज का युद्ध और तीसरे भाग में भविसयत्त के पूर्व जन्म की कथा है। पूरी कथा संक्षेप में इस प्रकार है

राजपुर नामक नगर में धनपति नामक एक सेठ रहता था। उसका विवाह एक अन्य वणिक् पुत्र हरबल की कन्या कमलश्री से हुआ था जिससे कुछ दिनों बाद भविष्यदत्त उत्पन्न हुआ। न जाने क्यों धनपति का प्रेम कमलश्री से हट गया और उसने स्वरूपा नामक एक कन्या से बंधुदत्त नामक एक पुत्र उत्पन्न किया। जब बंधुदत्त सयाना हुआ तब पिता ने उसे वाणिज्य के लिये देशातर जाने की आज्ञा दी। बधुदत्त पाँच सौ व्यापारियों के साथ कचन द्वीप के लिये चल पड़ा। भविष्यदत्त ने भी भाई को जाते हुए देखकर उसके साथ जाने के निमित्त अपनी माता से आज्ञा मांगी। माता के समझाने पर भी भविष्यदत्त ने बंधुदत्त पर विश्वास कर यात्रा प्रारंभ कर दी।

कुछ दूर जाने पर दुर्भाग्य से आँधी आ गई और नौका पथ-भ्रष्ट होकर मैनाक द्वीप पर जा लगी। बंधुदत्त धोखे से भविष्यदत्त को अकेला इस द्वीप पर छोड़कर अपने साथियों सहित दूसरी ओर चला गया। भविष्यदत्त उस द्वीप पर इधर उधर भटकते हुए एक ऐसी वैभवशाली नगरी मे पहुँचा जो जनशून्य थी। वहाँ उसे एक सुंदरी मिली और वही वह राक्षस भी आ गया जिसने उस नगर को नष्ट किया था। राक्षस ने प्रसन्न होकर दोनो का विवाह करा दिया। बारह वर्ष तक उस नगरी में सुख से जीवन बिताने के बाद भविष्यदत्त धन मे अपार धनराशि लेकर अपनी पत्नी के साथ घर लौटने

को प्रस्तुत हुआ। ज्यों ही वह किनारे पहुँचा उसका भाई बंधुदत्त भी आ पहुँचा और उसने अपने किए पर पश्चात्ताप प्रकट किया। दोनों भाई पुनः मिल गए परंतु चलने से पहिले भविष्यदत्त जिन मंदिर में प्रणाम करने गया। इसी बीच मे बंधुदत्त उसकी पत्नी और समस्त धनराशि को लेकर निकल गया। घर आकर बंधुदत्त ने भविष्यदत्त की पत्नी को अपनी पत्नी बतलाया और विवाह इत्यादि की तिथि भी निश्चित कर ली।

इधर भविष्यदत्त की माँ 'सूय पंचमी' व्रत रखती थी। भविष्यदत्त भी श्रद्धालु तथा जिन भक्त था। इन दोनों के फलस्वरूप एक देव उपस्थित हुआ और उसने अपार धनराशि के साथ भविष्यदत्त को ठीक समय पर घर पहुँचा दिया। भविष्यदत्त ने घर पहुँच कर सारा भेद खोल दिया और राजा के पास न्याय की याचना की। राजा ने बंधुदत्त को दंड देकर भविष्यदत्त को उसकी पत्नी वापस करा दी। यहाँ प्रथम खंड की कथा समाप्त होती है।

दूसरे खंड में क्रमशः दो प्रकार की कहानियाँ हैं। पहिली तो यह है कि कुरुराज और तक्षशिला नरेश मे लडाई हुई जिसमें भविष्यदत्त ने विशेष पराक्रम दिखाया और उसी के पराक्रम से कुरुराज विजयी हुए। पुरस्कारस्वरूप राजा ने आधा राज तथा अपनी लडकी भविष्यदत्त को प्रदान कर दी।

कथा के तृतीय खंड में भविष्यदत्त की प्रथम पत्नी के हृदय में अपनी जन्मभूमि मैनाक द्वीप को देखने की इच्छा उत्पन्न हुई। भविष्यदत्त उसके माता पिता और सुमित्रा, सब मैनाक द्वीप को गए। वहाँ उन्हें एक जैन भिक्षु मिला जिसने सदाचार के नियमों का उपदेश दिया। कालांतर में वे सब पुनः लौट आते हैं। घर जाने पर विमलबुद्धि नामक एक मुनि से

भविष्यदत्त का साक्षात्कार हुआ। मुनि ने भविष्यदत्त को अनेक उपदेश दिए और उसके पूर्व जन्म की कथा भी सुनाई। परिणामस्वरूप भविष्यदत्त अपने पुत्र को राजभार सौंपकर विरक्त हो गया। उसके साथ ही उसकी पत्नियाँ तथा माता भी तपस्या में लीन हो गई। भविष्यदत्त ने अनशन द्वारा प्राण त्यागकर देव जन्म धारण किया और अंत मे निर्वाण पद प्राप्त किया। सुतपंचमी के माहात्म्य के साथ पुस्तक समाप्त होती है।

इस ग्रंथ मे घटनाबाहुल्य के होते हुए भी घटना वैचित्र्य उच्चकोटि का नही है। इन घटनाओं से एक अच्छे उपन्यास कीरचना हो सकती थी। घटनाबाहुल्य होते हुए भी ग्रंथ में काव्यानुरूप अनेक सुंदर स्थल हैं।

इस काव्य मे कवि ने लौकिक आख्यान के द्वारा श्रुत पंचमी व्रत का माहात्म्य प्रदर्शित किया है। कथा में भविष्यदत्त को यक्ष की अलौकिक सहायताप्राप्ति का वर्णन है। धार्मिक विश्वास के साथ अलौकिक घटनाओं का संबंध भारतीय विचारधारा में पुरातन काल से ही चला आ रहा है। कथा में गृहस्थ जीवन का स्वाभाविक चित्र है। बहुविवाह से उत्पन्न अनिष्ट की ओर कवि ने सकेत किया है। भविष्यदत्त अपनी विमाता और भाई से सताया जाकर भी अपनी धर्मनिष्ठ भावना के कारण सुखी होता है। यह कथा आदर्श और यथार्थ का अपूर्व संमिश्रण है।

कथावस्तु मे कवि ने साधु और असाधु वृत्तिवाले दो वर्गों के व्यक्तियों का वर्णन किया है। भविष्यदत्त और बंधुदत्त, कमलश्री और सरूपा दो विरोधी प्रवृत्ति की पुरुष और स्त्री हैं। सरूपा मे सपत्नीसुलभ ईर्ष्या के साथ स्त्रीसुलभ दया का भी कवि ने चित्र अंकित किया है। पात्रो के स्वभावानुकूल

उनके जीवन का विकास अंकित करने का सफल प्रयत्न किया गया है।

काव्य में कई मार्मिक स्थल हैं जहाँ धनपाल की काव्य-प्रतिभा प्रस्फुटित हुई है। सबसे उत्तम प्रसंग वह है जब भविष्यदत्त तिलक द्वीप में अकेला रह गया था और वह व्याकुल होता हुआ इधर उधर भटकता हुआ दिखाया गया है। उसकी मनोदशा का कितना सुंदर चित्र है —

गयं णिप्फलं ताम सव्वं वाणिज्जं हुवं अम्ह गोत्तम्मि लज्जावणिज्जं।
ण जत्ता ण वित्तं ण मित्तं ण गेहं ण धम्मं ण कम्मं ण जीयं ण देहं।
ण पुत्तं कलत्तं ण इट्ठं पि दिट्ठं गय गउउरे दूरदेसे पइट्ठं।
खयं जाइ नूणं अहम्मेण धम्मं विणट्ठेण धम्मेण सव्वं अकम्म[1]।

अर्थात् सब निष्फल हो गया। वाणिज्य निष्फल हो गया। न यहाँ जाति है, न यहाँ धन है, न वित्त है, न मित्र है, सभी नष्ट हो गए। इस दूर देश मे पड़े पड़े मेरा क्या होगा।

'आशाहि किमिव न क्रियते' और ऐसे ही विषण्ण मन एवं निराश मनवाले व्यक्ति को घूमते घूमते एक उजाड़ नगर मिला। जिसमे सब कुछ था परन्तु कोई जीवित व्यक्ति नही था। नगरी की समस्त वस्तुएं गिनाई गई हैं। कवि कहता है कि वहाँ कूप हैं, बापी हैं, मठ, विहार, देवालय सभी सुरम्य हैं। देवमंदिर हैं किंतु कोई पूजन करनेवाला नहीं। सुंदर प्रसून सुरभिगंध परिमल से स्पर्श कर रहे है परतु उन्हें हाथ में लेकर सूंघनेवाला कोई नही। पके हुए धान प्रस्तुत हैं, उपभोक्ता कोई नही। सरोवर में गूँजते हुए भ्रमरों से घिरे हुए कमल पुष्पित है पर मंदिर मे ले जानेवाला कोइ नही।

---

१. धनपाल—भविष्यतकहा ३–२६, ४–७, पृ० २३

फलों के भार से वृक्ष झुक रहे हैं परंतु फल चखनेवाला कोई नहीं।

अभिशाप। भयानक अभिशाप। इस प्रकार के दृश्य को देखता हुआ भविष्यदत्त राजमंदिर के पास पहुँचता है। राजमंदिर को देखकर उसका हृदय भर आता है। वह राजमंदिर ऐसा प्रतीत होता है कि गवाक्षों को आधा खुला छोड़कर कोई चला गया है। वे गवाक्ष ऐसे लगते हैं जैसे किसी नववधू की आँखें हों। भरे पूरे समृद्ध भांड स्वयं अपना अंतर भाग दिखला रहे हैं जैसे नागिन के मुकुट के चिह्न हों। रंध्रों में एक धनाभिलाषी पुरुष की तरह दीपक जल रहे हों। योगियों की तरह अविचलित खंभे खड़े हैं जैसे सुरतारंभ के समय मिथुन निश्चल हो गए हों। गोपदों से परिवर्जित भागों वाले गोपुर दिखाई पड़ रहे हैं जो महत्तर भवन बहुत दिनों तक जनाकुल थे वह अब सुरतिसमाप्ति के मिथुनों की तरह मौन हो गए हैं। जो घाट पनिहारिनियों के निरंतर आने जाने से नूपुरों की झंकार से झंकृत होते रहते थे वे अब विधिवश निःशब्द हो गए है। यह सब देखते देखते भविष्यदत्त के अंग उन्मथित होने लगे और वह अपने शरीर के प्रतिबिंब को देखता हुआ भय खाता हुआ संचरण करने लगा[1]।

इस उजाड़ नगरी का वर्णन पढ़ते पढ़ते लोककथाओं की वह नगरी याद आ जाती है जहाँ विपत्ति पड़ने पर रातों रात कुछ में कुछ हो जाता है। क्षणमात्र में जनरव संकुलित नगर पाषाणों का आगार बन जाता है और समस्त नगरनिवासी किसी न किसी प्रकार नष्टभ्रष्ट हो जाते हैं।

प्रकृति वर्णन—काव्य में अनेक सुंदर प्रकृति वर्णन हैं। देश देशांतर में घूमने के कारण कवि को प्रकृति के साहचर्य की

१ [illegible] कहा—२-६ तथा ८. हष्ट २६-३७ ।

बड़ी आवश्यकता हुई है और उसने प्रकृति का वर्णन बड़े सुंदर ढंग से किया है। वन की गहनता का एक चित्र देखिए—

दिसामंडलं जत्थ णाउं अलक्खं
पहायं पि जाणिज्जए जम्भि दुक्खं[1]

अर्थात्, वन इतना गहन था कि जहाँ प्रभात का भी कठिनाई से पता चलता था। इसी प्रकार के अन्य वर्णन ३–२४–५, ४–३–१ में देखने योग्य है। संध्या और बसंत का वर्णन ४-४-३ तथा ८-९-१० में बड़ा सुंदर है।

अलंकार—उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग स्थान स्थान पर मिलता है। भाषा साहित्यिक अपभ्रंश है जिसमें 'य' श्रुति और 'व' श्रुति का प्रयोग प्रचुरता से है। जैसे, कलकल-कलयल, दूत-दूव। सबसे सुंदर बात इस ग्रंथ में यह है कि कवि ने भाषा को बल देने के लिये लोकोक्तियों और मुहावरों का तथा अनेक सूक्तियों और सुभाषितों का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिये कुछ सूक्तियाँ दी जाती हैं—

'कि घिउ होइ विरोलिए पाणिए' (२-७-८)।

क्या पानी मथने से घी हो सकता है ?

'जंतहो मूलु वि जाइ लाहु चित्तंतहो।' (३-११-५)

लाभ का विचार करते हुए प्राणी का मूल भी नष्ट हो जाता है।

'कलुणाइ सुभीस करयल मलंति विहुणंति सीस'। (३-२५-२)

करुणा से ओतप्रोत हो, हाथ मलते है और सिर धुनते हैं।

'अणइच्छियइं होंति जिम दुक्खइं
सहसा परिणवंति तिह सोक्खइं। (३-१७-८)

जैसे यदृच्छया दुःख आते है वैसे ही सहसा सुख भी आ जाते हैं।

---

१. धनपाल—भविष्यत्तकहा ४–३, २, पृ० २४

जोअणवियाररसवसपसरि सो सूरउ सो पंडियउ।
चलभम्मणवयणुल्लावएहि जो परतियहि ण खंडियउ ॥ (३-१८)

वही सूर है, वही पंडित है जो यौवन के विषयविकारों के बढ़ने पर परस्त्रियों के चंचल कामोद्दीपक वचनों से प्रभावित नही होता है ।

समस्त ग्रंथ मे कवि ने वर्णवृत्त और मात्रिक छंद दोनों का प्रयोग किया है परंतु अधिकता मात्रिक छंदो की है। वर्णवृत्तों में भुजंगप्रिया, लक्ष्मीधर, मदार तथा चामर आदि मुख्य है। मात्रिक छंदों मे पज्झटिका, अडिल्ल, दुवइ, काव्य, पिलेवंगम, कलहंस तथा गाथा मुख्य हैं[1] ।

समस्त ग्रंथ जैन संप्रदाय के अनुसार लिखा गया है। जन्म जन्मांतर और कर्म सिद्धांत पर कवि को पूरा विश्वास है। शकुनों में भी लोग विश्वास करते हैं। कथा मे बहुविवाह के प्रति अनास्था प्रकट की गई है। पोयणपुर के राजा का चरित्र तत्कालीन सामंतों की विचारधारा का प्रतीक है।

हरिवंश पुराण—प्रो० हीरालाल जैन ने इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज भाग १ सन् १६२५ में धवल कवि द्वारा ११२ संधियों एवं १८ हजार पद्यों में रचित हरिवंश पुराण का निर्देश किया था। यह पुस्तक श्री दिगंबर जैन मंदिर (बड़ा १३ पंथियों का), जयपुर मे वर्तमान है। इस महाकाव्य की हस्तलिखित प्रति का डा० कोछड़ ने अवलोकन किया है[2]। उनके मत से यह भी अपभ्रंश काव्यपरंपरा के अनुकूल १०वी अथवा ११वी शताब्दी का सुंदर ग्रथ है।

---

१. विशेष विवरण के लिये देखिए—भविष्यत्तकहा की भूमिका ।
२. डा० कोछड़—अपभ्रंश साहित्य, पृ० १०२–१०६ ।

इस ग्रंथ मे १२२ संधियाँ है। प्रत्येक संधियों में कड़वक की संख्या भिन्न भिन्न है। प्रति संधि के अंत में भाषावर्ण, पंचम वर्ण, मालवेसिका वर्ण, कोह वर्ण, इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया है। इस प्रकार के शब्दो में मंगुलपंचम, टकार पंचम, हिंदोलिका, वकार, कोलाह इत्यादि शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। संक्षेप में कथा का स्वरूप वही है जो स्वयंभु आदि प्राचीन कवियों में प्राप्त होता है। जिनस्तवन के उपरांत शरीर की क्षणभंगुरता का वर्णन करते हुए कवि ने अपनी रचना प्रारंभ की है।

अलंकार, रस एवं प्रकृतिवर्णन प्रायः पूर्व काव्यवत् ही हैं हाँ कहीं कही प्रकृतिवर्णन अच्छा है। अनुरणनात्मक शब्दों द्वारा चेष्टाओं को मूर्त रूप देने का प्रयत्न किया गया है—

रहवउ रहहु गयहुगउ घाविउ, धाणुक्कहु धाणुक्कु परायउ।
तुरउ तुरंग कुलग्ग विहत्थउ, असिवक्खरहु लग्गु भय जत्तउ।
वज्जहि गहिर सूर हय हिंसहि, गुलु गुलंत गयवर बहु दीसहि।

अर्थात् रथी रथ की ओर, गज गज की ओर दौड़ा, धानुष्क धानुष्क की ओर भागा, घोड़ा घोडे से, निःशस्त्र नि.शस्त्र से और खड्ग निर्भय हो कवच से जा भिड़ी। वाद्य गंभीर स्वर से बज रहे है, घोड़े हिनहिना रहे हैं, हाथी चिंघाड़ते दिखाई दे रहे हैं[1]।

पृथ्वीराज रासो—पृथ्वीराज रासो १२वी शताब्दी का प्रसिद्ध विशालकाय काव्य है। यह पृथ्वीराज के दरबारी कवि तथा अभिन्न मित्र चंदवरदायी कृत है। अन्य काव्यों की भाँति यह काव्य भी एक जटिल समस्या की तरह हिंदी जगत् के लिये हो गया है। भाषा की विविधता तथा कलेवर के आधिक्य

---

१. डा० कोछड़—अपभ्रंश साहित्य, पृ० १०२-१०६।

ने भिन्न भिन्न मतों को जन्म दिया है। इनका संक्षेप में यहाँ आभास दिया जाता है। पृथ्वीराज रासो के विषय मे सवसे पहली समस्या यह है कि क्या वह चंदवरदायी कृत है ? दूसरी है क्या चंदवरदायी पृथ्वीराज के दरवार में कोई कवि था ? इस प्रश्न पर दो मत अधिक प्रचलित हैं —

(१) विद्वानों का एक वर्ग चंदवरदायी को पृथ्वीराज का समकालीन तथा मूल पृथ्वीराज रासो का कर्ता मानते हैं। इनके मत का आधार प्रधानतः पृथ्वीराज रासो और चंद तथा पृथ्वीराज विषयक विभिन्न अनुश्रुतियाँ हैं। इस मत के समर्थक मुख्यतः आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी,[1] डा० नामवर सिंह,[2] कविवर मोहन सिंह,[3] डा० दशरथ शर्मा,[4] तथा स्व० डा० श्यामसुंदरदास[5] एवं पं० मथुराप्रसाद दीक्षित[6] हैं।

---

१. 'मैं उन विद्वानों के मत को ही अपना मत मानता हूँ जो स्वीकार करते हैं कि रासो में कुछ न कुछ चंद की प्रामाणिक रचनाएँ हैं।'—आचार्य हजारीप्रसादजी द्विवेदी, संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो की भूमिका, पृ० २।

२. 'इन सब बातों से यही निष्कर्ष निकलता है कि पृथ्वीराज के दरबारी कवि के रूप में चंद बलद्दिय का होना असंभव नहीं'। —डा० नामवरसिंह, संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो, पृ० १६२।

३. 'कवि चंद का पूरा नाम पृथ्वीचंद या पृथ्वी भट्ट था'।—कविवर मोहन सिंह, पृथ्वीराज रासो, संपादकीय, पृ० १४।

४. डा० दशरथ शर्मा—राजस्थान भारती, भाग १।

५. 'चंदवरदाई नाम के किसी कवि का पृथ्वीराज के दरबार में होना निश्चित है।—डा० श्यामसुदर दास, भाषा और साहित्य, पृ० २२-२३।

६. 'पृथ्वीराज का कवि चंद्र अभिन्न मित्र था'।—पं० मथुराप्रसाद दीक्षित-असली पृथ्वीराज रासो, प्राक्कथन।

(२) दूसरे प्रकार के वे विद्वान् हैं जो चंद को पृथ्वीराज का समकालीन नहीं मानते और पृथ्वीराज रासो की रचना पर भी अविश्वास प्रकट करते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी लिखते हैं—इस अवस्था में यही कहा जा सकता है कि 'चंदवरदाई' नाम का यदि कोई कवि था तो वह या तो पृथ्वीराज की सभा में न होगा या जयानक के काश्मीर लौट जाने पर आया हो—पीछे जो बहुत सा कल्पित 'भट्ट भणत' तैयार होता रहा उन सबको लेकर और चंद को पृथ्वीराज का समसामयिक मानकर उसी के नाम पर यह बड़ी इमारत खड़ी की गई हो।[1] संभवतः आचार्य जी भी डा० बूलर, मारिसन तथा गौरीशंकर हीराचंद ओझा आदि के मत से प्रभावित हैं।

परंतु वस्तुस्थिति यह है कि सभी विद्वान् यह स्वीकार करते हैं कि चंदवरदायी नाम का कवि अवश्य हुआ[2]। उसने पृथ्वीराज रासो की रचना की। यह रचना अपने विशुद्ध रूप में अपभ्रंश में थी। यद्यपि यह विचार मुनि जिनविजय जी के 'पुरातन प्रबध संग्रह' नामक ग्रंथ की भूमिका से आरंभ हुआ और अब पं० मथुराप्रसाद दीक्षित, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी,[3] डा० दशरथ शर्मा तथा[4] प्रो० मीनाराम रंगा, मुनि कातिसागर एवं डा० कोछड़ हैं[5] जो यही मत किसी न किसी

---

१. प० रामचंद्र शुक्ल—हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ३८।

२. डा० उदयनारायण तिवारी—वीरकाव्य संग्रह, पृ० १५३।

३. 'मैंने बहुत पहिले अनुमान किया था कि चंद हिंदी परंपरा के आदि कवि की अपेक्षा अपभ्रंश परपरा के अंतिम कवि हैं'। —डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य, पृ० ६७-६८।

४. डा० दशरथ शर्मा—राजस्थान भारती, भाग१. अंक १, १९४६ में असली पृथ्वीराज रासो तथा अपभ्रंश रचनाएं वाला लेख।

५. डा० कोछड़-अपभ्रंश साहित्य पृ० १११।

रूप मे स्वीकार करते हैं। अत. हम भी इन्ही के मत से सहमत होकर इस काव्य के ऊपर कुछ विचार प्रकट करते हैं।

रासो की मूल प्रति के लिये विद्वानों ने भरसक खोज की। फलस्वरूप रासो के निम्न चार रूप प्राप्त हुए हैं।

(१) सबसे बडा रूप नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित 'पृथ्वीराज रासो' है। इसमे ६९ समय हैं और लगभग एक लाख पद्य हैं।

(२) मध्यम रूप—यह लगभग १०,००० पद्यों का है। इसकी ११ प्रतियाँ उपलब्ध हैं जिनका लिपिकाल संवत् १७०० के पश्चात् का (१७२३ से १७९२ तक) है। इन प्रतियों में अध्यायो के नाम 'प्रस्ताव' मिलते हैं। दयानंद प्रेस लाहौर से पं० मथुराप्रसाद दीक्षित के सपादकत्व मे प्रकाशित 'असली पृथ्वीराज रासो' इसी रूप के अंतर्गत है।

(३) तीसरा लघुरूप बीकानेर संस्करण है। इसकी पाँच प्रतियाँ मिलती हैं। बीकानेर राज्य के 'अनूप संस्कृत पुस्तकालय' मे इसकी प्रति सुरक्षित बताई जाती है।

इन प्रतियों का लिपिकाल प्राय: १७वी शताब्दी बताया जाता है। इसमे १९ खंड प्राप्त होते हैं। इतिहास और भाषा-शास्त्रादि सबधिनी प्रस्तावनाओं सहित इसके संपादन का भार डा० दशरथ शर्मा और प्रो० मीनाराम रंगा ने स्वीकार किया है।[1]

(४) चौथा लघुतम रूपांतर है जो श्री अगरचंद जी नाहटा की कृपा से प्राप्त है। इस रूपांतर की प्रति जो प्राप्त हुई है वह संवत् १६६७ वि० में लिपिबद्ध हुई है। इसमें

---

१. विशेष परिचय के लिये देखिए 'राजस्थान भारती', भाग १, अंक १, १९४६ तथा भाग १, अंक २-३।

कथा अध्यायों में विभाजित नही है। सभवतः यही प्रति रासो की प्राप्त प्रतियों में सबसे अधिक प्राचीन है। हर्ष का विषय है कि इसके संपादन का भार प्रो० नरोत्तम स्वामी तथा श्री अगरचंद नाहटा ने स्वीकार कर लिया है।

आचार्य हजारीप्रसाद तथा डा० नामवर सिह कदाचित् इस अंतिम रूप को ही प्रामाणिक स्वीकार करते हैं। आपने संक्षिप्त 'पृथ्वीराज रासो' का संपादन सन् १९५२ में किया है। इसमें उन्होंने केवल (१) आदि पर्व, (२) इंछनि विवाह प्रसंग, (३) इंछनि व्याह कथा, (४) शशिव्रता विवाह प्रस्ताव, (५) कैमास करनाटी प्रसग, (६) कनवज्ज समय, (७) बड़ी लड़ाई समय तथा (८) बानवेध समय का ही संग्रह किया है। इधर डा० विपिनविहारी त्रिवेदी ने 'चंदबरदाई और उनका काव्य' नामक अपना शोध निबंध प्रकाशित कराया है। उनकी अन्य पुस्तक 'रेवातट समय' भी लखनऊ विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुई है।

डा० त्रिवेदी भी सहमत है कि वर्तमान रासो मे प्रक्षिप्त अंश अधिक है[1]। अस्तु, कम से कम यह बात तो निश्चित हुई कि 'रासो' अपने मूल रूप में चंदबरदायी की रचना है। अब प्रश्न होता है कि यह कब रचा गया ?

आश्चर्य है कि इस ग्रंथ के रचनाकाल के संबंध मे भी मुख्यतः दो मत हैं—कर्नल टाड, गर्सी द तासी, एफ एस ग्राउज, जान बीम्स, रुडोल्फ हार्नली, जार्ज ग्रिअर्सन, मोहनलाल विष्णु लाल पड्या, मिश्रबंधु गण, डा० श्यामसुंदर दास, मथुराप्रसाद दीक्षित तथा अगरचंद नाहटा आदि आदि पाश्चात्य तथा भारतीय मनीषी पृथ्वीराज रासो को प्राचीन

१. डा० त्रिवेदी—रेवातट समय, पृ० १९२।

रचना स्वीकार करते हैं। अधिकांश विद्वानों के अनुसार यह रचना १२वीं शताब्दी की है।[1] ये विद्वान् चंदवरदाई को पृथ्वीराज का समकालीन और चंदवरदाई ने यह काव्य पृथ्वीराज के समय में ही लिखा था, मानते है। कविराज श्यामलदास, डा० बूलर, जेम्स मारीसन, मुंशी देवीप्रसाद प्रीतम, डा० गौरीशंकर हीराचद ओझा, पं० मोतीलाल मेनारिया आदि विद्वान् पृथ्वीराज रासो को बहुत बाद की रचना मानते हैं। डा० गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने 'कोशोत्सव स्मारक संग्रह' नामक ग्रंथ में प्रकाशित 'पृथ्वीराज रासो का निर्माणकाल' शीर्षक अपने निबंध मे इस विषय पर बहुत विस्तार से विवेचन किया है और अन्य शिलालेख और ग्रंथों के आधार पर यह प्रतिपादित किया है कि पृथ्वीराज रासो की रचना वि० संवत् १६०० के आसपास हुई। इनके मत का आधार विशेषकर पृथ्वीराज रासो की एक प्रतिलिपि है जो संवत् १६४२ में लिखी गई थी। वस्तुतः इस प्रति की प्रामाणिकता के विषय में भी संदेह किया जाता है। कुछ विद्वान् तो इसके रचना काल को १८वी शताब्दी तक खीचने का प्रयत्न करते हैं।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी अपभ्रंश साहित्य के विद्वान्, गंभीर एवं निष्पक्ष विवेचक हैं। आपके मत से 'संदेस रासक' तथा 'पृथ्वीराज रासो' दोनो का आरंभ एक ही ढंग से हुआ है। आरंभ की आर्याएं तो बहुत ही अधिक साम्य रखती हैं। परंतु संदेश रासक मे युद्ध का प्रसंग न आने के कारण उद्धत प्रयोगों का अभाव है। संभवतः पृथ्वीराज रासो अपने मूल रूप में ऐसा कथाकाव्य रहा हो जो उद्धत प्रयोग

१. डा० त्रिवेदी—रेवातट समय, पृ० १८८।

२. डा० गौरीशंकर हीराचंद ओझा—कोशोत्सव स्मारक संग्रह, पृ० ६०-६२।

प्रधान मसृण प्रयोगयुक्त गेय रूपकों की कोटि में रखा जा सके ।[1]

संक्षेप में उपर्युक्त सब मतों के आधार पर हम इन निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—

(१) रासो अपने मूल रूप में अपभ्रंश का शृंगार वीर-रसयुक्त चरित काव्य था । ऐतिहासिक काव्य नही ।

(२) यह रचना अपभ्रंश युग के अंतिम काल (१२०० ई०) की है । आधुनिक आर्यभाषाएँ उस समय अंकुरित होने लगी थी । अतः यदि उसमें कुछ क्रियापद आधुनिक आर्यभाषाओं के प्राप्त होते हैं तो कोई आश्चर्य की बात नहीं । रासो की रचनाप्रणाली, शब्दयोजना (ध्वन्यात्मक तथा अनुरणनात्मक शब्दप्रयोग) तथा विषयविस्तार उसे निश्चित रूप से १२वीं शताब्दी का सिद्ध करते हैं[2] ।

(३) इसके प्रणेता निश्चित रूप से चंदवरदाई थे जो पृथ्वीराज के समकालीन, सखा तथा दरबारी थे[3] । रासो का अंतिम भाग उनके पुत्र जल्ह द्वारा जोड़ा गया था ।

(४) अपने सुदीर्घ काल में विकसनशील काव्य की भाँति रासो में प्रक्षिप्त अंश अत्यंत अधिक हैं । अन्य 'वीरकाव्य' की भाँति यह भी बहुत दिनों तक मौखिक रूप मे रहा प्रतीत होता है । जो रूप आज उपलब्ध है वह बहुत बाद का है । उसमें बनावटी हिस्सा इतना अधिक और विस्तृत है, उसमें

---

१. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिंदी साहित्य का आदि-काल, पृ० ६० ।

२. डा० कोछड़—अपभ्रंश साहित्य, पृ० ११६ ।

३. डा० शंभूनाथ सिंह—महाकाव्य का स्वरूप और विकास, पृ० २५० ।

मूल रचना का अंश भी इतना विकृत है, इतना अल्प है कि भ्रांति हो जाना स्वाभाविक है।[1]

(५) 'रासो' ने मध्ययुग में पृथ्वीराज की कीर्ति के साथ लोकप्रियता प्राप्त की जिसका परिणाम यह हुआ कि 'आल्हा' की भाँति वह भी राजस्थान मे गाया जाने लगा। इस रूप में चारण भाटों ने इसके रूप मे दो प्रकार के परिवर्तन कर दिए—

(क) गानेवाले कवियों ने आशुकवित्व प्रतिभा के बल पर मूल में भी परिवर्तन एवं परिवर्द्धन कर दिया।

(ख) राजाओं का संमान बढाने के लिये उनके वंश का भी नाम पृथ्वीराज रासो से संबंधित करना आवश्यक समझा गया। अतः कुछ प्रसंग पूर्णतः नवीन जोड़ दिए गए जो ऐतिहासिक कसौटी पर खरे नही उतर सकते[2]।

(६) अतः अब रासो के विषय में यह प्रसंग कि वह जाली है अथवा प्रामाणिक है, उठाना युक्तसंगत नही। यह एक सुंदर काव्यग्रंथ है अतः उसका वर्णन एवं अध्ययन काव्योपम गुणों की दृष्टि से होना चाहिए। 'रासो' मे सामंती वीरयुग के अनुरूप वीरता और विलासप्रियता दोनों ही प्रवृत्तियाँ प्रेरणा शक्ति के रूप में दिखाई पड़ती हैं। यह महाकाव्य अपने युगजीवन का पूरा चित्रण देता है और गुरुत्व एवं गाम्भीर्य से युक्त है। अनेक आघात प्रतिघातों को सहते हुए भी अपना जीवन बनाए रख सका है यह उसकी महती काव्य

---

१. मुनि जिनविजय जी—पुरातन प्रबध संग्रह की प्रस्तावना, पृ० ६-१०।

२. डा० शंभूनाथ सिंह—महाकाव्य का स्वरूप और विकास, पृ० २६७।

प्रतिभा एवं महदुद्देश्य का फल है। डा० तिवारी के अनुसार अनैतिहासिक कूड़े करकट के ढेर से आवृत पृथ्वीराज रासो साहित्य मनीषियों को उसी प्रकार आकृष्ट करता रहा है जिस प्रकार सिर पर जर्जरित लोमपुटी डाले, गले में बीस मनकों की माला से भी रहित मुग्धा (के सौंदर्य) ने गोष्ठस्थितों (रसिकों में) उठाबैठी करा दी[1] और जिस प्रकार नववधू के दर्शन की लालसा में पतिहृदय में अनेक मनोरथ हुआ करते हैं[2] उसी प्रकार साहित्यकार भी रासो के रहस्य के प्रति उत्सुक एवं जिज्ञासु रहते है।[3]

- रासो का प्रतिपाद्य विषय पृथ्वीराज का शौर्य, पराक्रम, साहस तथा असीम उत्साह है। साथ ही साथ उसकी विलासिता, कामुकता एवं स्त्रैणता है। कवि की रुचि रूपसौंदर्य वर्णन में अधिक लगी है, उसने चित्रलेखा, पृथा कुमारी, इच्छनी, शशिवृता, पद्मावती तथा संयोगिता का रूप वर्णन बड़ी तन्मयता से किया है। इनके नखशिख, हाव-भाव-कटाक्ष, वस्त्राभूषण, पूर्वानुराग में हृदय की दशा आदि का बड़ा सुंदर वर्णन किया है।

महाकाव्यों का लक्ष्य कोई महद् घटना होती है। समस्त घटनाएँ उसी लक्ष्य की ओर बढती हुई तथा चरित्रों को विकसित करती हुई चलती हैं। पृथ्वीराज रासो की भी मुख्य घटना मोहम्मद गोरी से पृथ्वीराज का अंतिम युद्ध है। भार-

---

१. सिर जरखडी लोयडी, गलि मणियडा न वीस।
तोवि गोठ्ठडा कराविया मुद्धए उट्ठ बइस।।
—हेमचद—शब्दानुशासन, ४२३-४

२. केवे समप्पउ वुट्ठ दिगु किध रअणी छुडु होइ।
णाध बहु दसण लालसऊ बहइ मणोहए सोइ॥
—हेमचद—शब्दानुशासम, ४०१-१।

३. डा० विपिनविहारी त्रिवेदी— रेवातट समय, पृ० २२३-२२४।

तीय इतिहास की यह अत्यंत महत्वपूर्ण घटना है। इस महत्वपूर्ण घटना को चरमबिंदु बनाकर पृथ्वीराज रासो का ढाँचा खड़ा किया गया है, अतः उसका कार्यक्षेत्र बड़ा विस्तृत हो गया है और विषय तथा वस्तुवर्णन का क्षेत्र भी बड़ा विस्तीर्ण हो गया है। इसलिये उसमे अनेक पात्र और घटनाओं का समावेश है। कथाप्रसंग को बढ़ाने के लिये लौकिक तथा अलौकिक सभी प्रकार के पात्र कल्पित हुए हैं। उसमे जीवन के विभिन्न रूपो का समावेश हुआ है। अतः रासो मे युद्ध, विवाह, यज्ञ, धर्म, जन्म मरण, मृगया, व्रत, त्योहार, तीर्थयात्रा, आमोद-प्रमोद, मंत्रतंत्र की क्रियाएँ, भोगविलास, गुप्त सुरत वर्णन, विरह मिलन, खेल तमाशा, नाट्य, संगीत तथा दौत्य कर्म, आदि अनेक वस्तु व्यापारो का उल्लेख हुआ है। अतः इन वस्तु व्यापारों से संबंध रखनेवाले राजा, पुरोहित, मंत्री, राजकुमारी, दासी, भाट, कवि, सैनिक, वेश्या, नट, नटी तथा ब्राह्मण एवं ब्राह्मणी आदि अनेक पात्रों का भी वर्णन आ गया है। इन समस्त घटनाओं, वस्तु व्यापारों एवं पात्रों का वर्णन तत्कालीन समाज के अनुरूप है। अतः यह विशाल काव्य महाभारत की नाईं अध्यात्म, राजनीति, धर्मशास्त्र, मंत्रतंत्र, मानवीय सौंदर्य, भोगविलास आदि विषयो का कोश बन गया है। स्वयं रासोकार का दावा है कि—

उक्ति धर्म विशालस्य, राजनीति नवं रसं
षट्भाषा पुराणं च कुरानं कथितं मया।

(समय १ छंद ८३)

वस्तुतः इस विशालकाय ग्रंथ को देखकर कवि की उक्ति गर्वोक्ति नही स्वभावोक्ति है। षट्भाषा का अभिप्राय मिश्रित भाषा से है। जिसमे संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और लोक-भाषाओं तथा विदेशी (कुरान-अरबी फारसी) भाषाओं का संमिलन है। महाकाव्य संबंधी अनेक रूढ़ियों का समावेश

किया गया है। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि पृथ्वीराज रासो अपने युग का सुंदर प्रतिनिधि महाकाव्य है।

यहाँ नारी के रूपचित्रण के दो उदाहरण उपस्थित करते हैं, जिनसे रासो की भाषा तथा वर्णनप्रणाली का समुचित परिचय मिलेगा। प्रथम उदाहरण में कवि ने चित्ररेखा का रूपवर्णन किया है। दूसरे में रूपकातिशयोक्ति द्वारा संयोगिता का रूप चमत्कारिक ढंग से दिया गया है —

(१) चित्ररेखा का रूप —

वेस्या वांछित रूप मनसः श्रृंगार हारावली।
सोयं सूरतलच्छि अच्छि गुन, वेली सुकुसुमावली ॥
का वनैं कवि उक्ति, जुक्ति मनयं त्रैलोक्यय साधनं।
सोयं बाल निरत्त उप्त विद्रमं कामोद जोगेसरं ॥
रूपं नहि कटाच्छ कूल तटयौ भायं तरंगं बरं।
हावं भावं ति मीन ग्रासितं गुनं, सिद्धं मनं भंजनी ॥
सोयं जोग तरंग रूवति बरं, त्रैलोक्य नात्ता समं।
सोयं साह सहावदीन ग्रहिमं अनंग क्रीड़ा रसं ॥

(२) संयोगिता रूपवर्णन : रूपकातिशयोक्ति अलंकार —

कुंजर उप्पर सिंह, सिंह उप्पर दो पव्वय।
पव्वय उप्पर भृंग, भृंग उप्पर ससि सुम्भय।
ससि उप्पर एक कीर, कीर उप्पर मृग दिट्ठौ।
मृग उप्पर कोवंड, संध कंद्रप्प वयट्ठौ।
अहि मयूर महि उप्परह, हीर सरस हेमन जड़्यो।
सुर भुवन छंडि कवि 'चंद' कहि, तिहि धोखे राजन पड़्यो ॥

अर्थात् संयोगिता क्या है मानो हाथी के समान सुंदर जंघाओं के ऊपर सिंह के सदृश कटि है, जिसके ऊपर स्तन रूपी दो पर्वत हैं, स्तनों के ऊपर अग्र भाग पर जो कालिमा है वह सुंदर भ्रमर सदृश है। स्तनों के ऊपर चंद्रमा

के समान सुंदर मुख है जिसमे कीर सदृश नासिका, मृग के समान दो नेत्र और नेत्रों के ऊपर काम धनुष के सदृश भृकुटियाँ है, भृकुटियों के ऊपर हीरा और स्वर्ण से जटित आभूषण केशों मे शोभायमान हो रहा है वह ऐसा प्रतीत होता है कि मानो चन्द्रमा के ऊपर सर्प छा रहे हो। इस प्रकार अलौकिक सौंदर्य को देखकर पृथ्वीराज उसके धोखे में पड़ गया। इसी प्रकार पृथ्वीराज और संयोगिता की रति क्रीड़ा तथा रणक्षेत्र की क्रीड़ा से समानता स्थापित करता हुआ कवि रति (प्रेम), उत्साह, क्रोध आदि मिश्रित भावो की व्यंजना एक ही स्थल पर करता है—

लाज गड्ढ लोपंत, वहिय रद सन ढक रज्जं।
अधर मधुर दंपतिय, लूटि अव ईव परज्जं।
अरस प्ररस भर अंक, खेत परजंक पटक्किय।
भूषन टूटि कवच्च, रहै अध वीच लटक्किय।
नीसान थान नूपुर बजिय, हाक हास करषत चिहुर।
रति वाह समर सुनि इंछिनिय, कीर कहत वत्तिय गहर॥

(पद्य संख्या १६७६)

अर्थात्, लज्जा का लोप हो गया है, एक ओर अधर रस की लूट मच रही है तो दूसरी ओर शत्रु द्रव्य की, एक ओर नाना प्रकार से स्पर्श कर तथा अंक में भर पर्यंक पर पटका जाता है तो दूसरी रणक्षेत्र मे, एक ओर भूषण टूट रहे हैं दूसरी ओर कवच टूट टूटकर आधे शरीर मे लटक रहे हैं, रति में मधुर नूपुरों का कलरव है तो रणवाद्य उधर मुखर हो रहे हैं। शुक कहता है कि हे इच्छनी सुनो इस प्रकार गुप्त रतिरूपी संग्राम चल रहा है।

इस प्रकार रासो में अनेक शृंगारिक चित्र उपलब्ध होते हैं। वहाँ अवसर भी अनेक हैं। पृथ्वीराज के १४ विवाह

वर्णन है। प्रत्येक नायिका का उत्कर्ष. रूपसौदर्य एवं विलास का वर्णन है परंतु प्रसंगों की समानता होने पर भी कवि ने अपनी अनूठी कारयित्री प्रतिभा के बल पर नवीन चमत्कार उत्पन्न करने की सफल चेष्टा की है। अतः रासो मे कवि के शब्दों के अनुसार नव रस, राजनीति, धर्म की विशाल उक्तियाँ तथा षट्भाषा आदि की प्राप्ति होती है। उसमे वस्तुवर्णन, भावव्यंजना, अलंकार तथा छंदयोजना रूपचित्रण,. तत्कालीन सामाजिक विलासिता, राजपूती मान्यता, उत्साह तथा युद्ध के बड़े सुंदर चित्र मिलते हैं। 'रासो' जैसे महाकाय काव्य के समस्त काव्योपम गुणों पर प्रकाश डालना यहाँ संभव नही अतः हम 'रासो' के आधार पर पृथ्वीराज की कथा को अत्यंत संक्षेप मे देकर इस प्रसंग को समाप्त करेंगे।

पृथ्वीराज शाकंभरी प्रदेश के चौहान राजा अर्णोराज के पुत्र सोमेश्वर के पुत्र थे। महाराज सोमेश्वर की राजधानी अजमेर थी। उसी समय दिल्ली में तोमर राजा अनंगपाल तथा कन्नौज में राठौर राजा विजयपाल राज्य करते थे। सोमेश्वर का विवाह अनंगपाल की छोटी कन्या कमलादेवी से हुआ था। पृथ्वीराज का जन्म कमलादेवी के गर्भ से था।

जयचंद का जन्म अनंगपाल की दूसरी बड़ी पुत्री सुंदरी के गर्भ से था जो कन्नौज के नरेश विजयपाल सिंह को ब्याही थी। अपनी वृद्धावस्था मे राजा अनंगपाल अपना राज्य पृथ्वीराज को देकर स्वयं तीर्थ यात्रा पर चले गए। अतः पृथ्वीराज दिल्ली तथा अजमेर दोनों के स्वामी हो गए। साथ

ही साथ उनका यश, शौर्य एवं समृद्धि भी उनके व्यक्तिगत गुणों के कारण बढी। पृथ्वीराज ने अनेक विवाह किए।

जयचंद पृथ्वीराज से अपने नाना के व्यवहार के कारण असंतुष्ट था। संभवतः वह अपने को दिल्ली का उत्तराधिकारी समझता था। पृथ्वीराज के कीर्तिविस्तार से वह और भी कुढ़ गया। उसने अपना महत्व प्रकट करने के लिये एक राजसूय यज्ञ किया और उसी के साथ अपनी पुत्री अनिंद्य सुंदरी संयोगिता का स्वयंवर भी आयोजित किया। देश देशांतर के राजा आमंत्रित किए गए। पृथ्वीराज को भी निमंत्रण दिया परंतु उसको उसकी मर्यादा के विपरीत कार्य सौंपा गया। अतः पृथ्वीराज इस स्वयंवर मे नही आया। जयचंद ने क्रुद्ध होकर उसकी स्वर्ण विनिर्मित प्रतिमा द्वारपाल के स्थान पर खड़ी करा दी।

राजसूय यज्ञ की समाप्ति से प्रथम स्वयंवर का आयोजन था। संयोगिता ने पृथ्वीराज की प्रतिमा के गले में जयमाला डाल दी। इससे जयचंद को बड़ा क्षोभ हुआ और उसने संयोगिता को गंगा के किनारे एक सुरक्षित भवन में बंदी बना दिया।

पृथ्वीराज को जब यह समाचार मिला तो वह चंद बरदाई के साथ ससैन्य कन्नौज पहुँचा। संयोगिता को प्राप्तकर उससे गंधर्व विवाह किया और उसकी सूचना चंद बरदाई द्वारा जयचंद को भिजवा दी। फिर क्या था। भयानक युद्ध हुआ। पृथ्वीराज की ओर के अनेक असाधारण योद्धा खेत रहे, परंतु पृथ्वीराज संयोगिता सहित सकुशल दिल्ली पहुँच गया।

दिल्ली पहुँचकर पृथ्वीराज संयोगिता के प्रेम में ऐसे लवलीन हुए कि राज्यकार्य से तटस्थता एवं उदासीनता अपना

ली। दरबारियों को उनके दर्शन भी दुर्लभ हो गए। गजनी का सुल्तान यह शुभ अवसर जानकर भारत पर दलबादल सहित चढ़ आया। वह इससे पहिले ११ बार आक्रमण कर चुका था परंतु असफल रहा। अबकी बार मैदान में उसकी ही सफलता रही।

रासो में पृथ्वराज और गज़नी के सुल्तान शहाबुद्दीन (मुहम्मद गोरी) की शत्रुता का कारण भी एक प्रेमाख्यान है। सुलतान किसी पठान स्त्री चित्ररेखा पर आसक्त थे। पठान तथा चित्ररेखा ने भाग कर पृथ्वीराज की शरण ली। पठान को आश्रय देने के कारण पृथ्वीराज को सुल्तान से लोहा लेना पड़ा। अंतिम बार वे युद्ध में हार गए तथा बंदी बना कर गजनी ले जाए गए जहाँ उनको नेत्रविहीन कर दिया गया था।

चंद ने 'रासो' को अपने पुत्र जल्ह के सुपुर्द किया और आप गजनी पहुँचा। वहाँ बड़ी कुशलता से पृथ्वीराज की शब्द भेदी वाण मारने की प्रक्रिया के प्रदर्शन का आयोजन कराया और इस भाँति सुल्तान का पृथ्वीराज के बाण से अंत कराकर दोनों ने अपनी जीवन लीला भी वहीं समाप्त कर दी।

पृथ्वीराज रासो के विषय में डा० शंभूनाथ सिंह का कथन ध्यान रखने योग्य है। वे कहते हैं कि रासो मे सामंती व्यक्तिवाद तो है, किंतु सामंती वीर युग का सामाजिक संगठन भी उसमे अपनी पूर्ण शक्ति के साथ चित्रित हुआ है। यह सामाजिक शक्ति और वीरता की अदम्य भावना ही रासो की प्राणवत्ता है जो परवर्ती युगों को भी शक्ति और प्रेरणा देती रही है। परवर्ती युगों के लिये रासों में चित्रित पृथ्वीराज का चरित्र आदर्श वीर का चरित्र रहा और समाज उससे प्रभाव और शक्ति ग्रहण करता रहा है। अंग्रेजों के आने के बाद परिस्थितियाँ बहुत कुछ वदल गईं।

किंतु फिर भी जबतक मानव में स्वाभिमान, देशप्रेम, मानमर्यादा और धर्म, शृंगार की भावनाएँ रहेंगी तबतक पृथ्वीराज का चरित्र उसे उत्साह और प्रेरणा प्रदान करता रहेगा और वह पृथ्वीराज रासो को पढ़कर आनंद प्राप्त करता रहेगा। रासो भारतीय राष्ट्र के स्वतंत्रता के संघर्ष के प्रारंभिक स्वरूप का काव्यात्मक इतिहास है, अतः राष्ट्रीय चेतना के उत्तरोत्तर विकास और वृद्धि के साथ रासो का महत्व और संमान भी बढ़ता ही जायगा। तिथियों, शिलालेखो और पुरानी पोथियों मे लिखी बातों को इतिहास माननेवाले विद्वान् भले ही उसे अनैतिहासिक और जाली कहते रहे, किंतु भावात्मक सत्य में विश्वास करनेवाली सामान्य जनता का हृदय रासो में सदा से रसमग्न होता रहा है और आगे भी होता रहेगा। युग युग की उसी असंख्य जनता के हृदय की भावुकता और विश्वासों की अक्षय शक्ति ही रासो की जीवनी शक्ति है। उसमे जबतक वह जीवनी शक्ति बनी रहेगी, यह महाकाव्य अमर रहेगा[1]।

इन महाकाव्यों के अतिरिक्त तीन अन्य ग्रंथरत्नों का भी वर्णन प्राप्त होता है। ये सभी अभी अप्रकाशित हैं। इनकी हस्तलिखित प्रतियाँ भंडारों में हैं। इन पुस्तकों का वर्णन डा० कोछड़ ने अपनी पुस्तक 'अपभ्रंश साहित्य' मे दिया है। हम उन्ही के आधार पर अपने प्रसंग को पूरा करने के हेतु संक्षिप्त परिचय मात्र दे रहे हैं।

(१) **पद्मपुराण**—सबसे पहिला ग्रंथ रइधू कवि रचित पद्मपुराण, बलभद्रपुराण है। इसमे ११ संधि तथा २६५ कड़वक हैं।

---

१. डा० शंभूनाथ सिंह—हिंदी महाकाव्य का स्वरुप और विकास, पृ०३२७

संधियों में कडवकों की संख्या निश्चित नही है। ग्रंथ के आरंभ में संस्कृत के पद्य हैं जिनमें हीरासिंह की प्रशंसा और उनकी मंगल कामना की गई है।

संभवतः इस ग्रंथ की रचना वि० सं० १४९६ में हुई होगी[1]। ग्रंथ में राम रावण युद्ध का वर्णन साधारण कोटि का है और कथा का प्रारंभ भी परंपरानुसार गौतम और श्रेणिक की वार्ता से प्रारंभ हुआ है। कथा भी पुरानी परंपरा के अनुसार ही है।

(२) **पांडवपुराण**–इसकी एक प्रति देहली के पचायती जैन मंदिर में भी बताई जाती है। इसके रचयिता यशःकीर्ति हैं जिन्होंने नवगाव नयर (नगर) के अग्रवाल कुलोत्पन्न बील्हा साहु के पुत्र हेमराज के अनुरोध पर इसका प्रणयन किया था। यशःकीर्ति गुणकीर्ति के शिष्य थे। कवि ने कार्तिक शुक्ला अष्टमी बुधवार वि० सं० १४९७ को यह कृति समाप्त की थी[2]।

ग्रंथ में पांडवों की कथा है। ३४ संधि हैं। कवि ने परपरानुसार स्तवन तथा वंदना के उपरांत कथा प्रारंभ की है। वर्णन प्रायः सामान्य कोटि के हैं। छंदों की विविधता है।

(३) **हरिवंश पुराण**—तीसरा ग्रंथ हरिवंश पुराण है। यह कथानक जैन लोगों को बहुत प्रिय है। इसके कई लेखक हैं। संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश तीनों भाषाओं मे हरिवंश पुराण प्राप्त होते हैं। यश.कीर्ति रचित प्रस्तुत ग्रंथ अभी अप्रकाशित है। इसकी वि० संवत् १६४४ की एक प्रति देहली के पंचायती मंदिर मे विद्यमान है।

---

१. डा० कोछड़—अपभ्रंश साहित्य, पृ० ११७।
२. वही, ,, पृ० १२०।

इस ग्रंथ की रचना कवि ने जोगनीपुर मे अयरवाल (अग्रवाल) वंश में प्रमुख गग्ग (गर्ग) गोत्रोत्पन्न दिउढा साहु की प्रेरणा से की थी। संधियों की पुष्पिकाओं में भी दिउढा का नाम मिलता है। प्रत्येक संधि के आरंभ मे कवि ने दिउढा के लिये संस्कृत भाषा मे आशीर्वादपरक छंद लिखे हैं। दिउढा के लिये कही कही एकार्ध (ड्यौढ़ा) शब्द का प्रयोग किया गया है। ग्रंथ की समाप्ति पर भी कवि ने दिउढा साहू के वंश का परिचय देते हुए उसकी चिरमंगल की कामना की है। संधि के लिये अधिकतर सग्ग (सर्ग) शब्द का प्रयोग किया है। एक दो संधियों मे 'संधी, परिछेउ' या 'सग्गो परिछेऊ' का भी प्रयोग मिलता है।

कवि ने यह रचना भाद्रपद शुक्ल पक्ष एकादशी गुरुवार वि० सवत् १५०० मे की थी। कृति इंद्रपुर मे जलाल खान के राज्य मे समाप्त हुई थी। ग्रंथ मे तेरह सधियाँ हैं जिनके २६७ कड़वको मे यश कीर्ति ने महाभारत की जैन धर्मानुकूल कथा का वर्णन किया है[1]।

हरिवंश पुराण की एक अन्य प्रति आमेर शास्त्र भंडार में विद्यमान है। यह रचना श्रुतिकीर्ति की है। इसमें भी प्राचीन कथा का ही वर्णन है। कवि की दूसरी कृति 'परमेष्ठिप्रकाश सार' भी हस्तलिखित रूप मे उपलब्ध है। इसका समय वि० संवत् १५५३ दिया है। अतः यह कवि भी १६वीं शताब्दी के मध्य भाग का ही माना जा सकता है[2]।

कवि ने ४४ संधियो मे कथा (महाभारत) का वर्णन किया है। संधि की पुष्पिकाओ में कवि ने इस ग्रंथ को

---

१. डा० कोछड़—अपभ्रंश साहित्य, पृ० १९२।
२. वही, ,, पृ० १२७।

महाकाव्य कहा है—'इय हरिवंश पुराणे मणहरसराय पुरिस गुणालंकार कल्लाणे तिहुवण कित्तिसिस्स अप्प सुद सुदकित्ति महाकव्वु विरयंतो णाम पढमो सद्धी परिच्छेउ सम्मातो।'

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि जैन विद्वानों ने अपभ्रंश साहित्य की पर्याप्त रूप में श्रीवद्धि की है। बहुत से ग्रंथरत्न जैन भंडारों-में पड़े हैं। अभी तक उन्हें प्रकाशित होने का अवसर नहीं प्राप्त हुआ है। कुछ कवियों ने अपने ग्रंथों को महाकाव्य कहा है। केवल कवि कथन के आधार पर हम उन्हें महाकाव्य के अंतर्गत नही ले सके। क्योंकि उन ग्रंथों में केवल धार्मिक तत्व का निरूपण है। काव्यत्व के गुणों का प्रायः अभाव है। श्रुतिकीर्ति ने अपने 'परमेष्ठिप्रकाश सार' को महाकाव्य घोषित किया है तथा अमरकीर्ति ने अपने 'छक्क-मोवएस (षटकर्मोपदेश) को महाकाव्य माना है। सभवतः महाकाव्य शब्द इन ग्रंथों के लिये केवल विशेष गरिमा का द्योतक विशेषण मात्र है। इन ग्रंथों मे न कथानक है न कवित्व शक्ति का प्रदर्शन। केवल जैन धर्मानुकूल विशालकाय पद्यबद्ध रचना मात्र है।

———

अध्याय ४

अपभ्रंश साहित्य : खंडकाव्य और मुक्तक

पृथ्वीराज रासो को छोड़कर अभी तक जिन महाकाव्यों का वर्णन किया गया है, उससे स्पष्ट है कि अपभ्रंश में पौराणिक काव्य शैली के महाकाव्यों का प्रणयन अधिकतर रहा है। अनेक धार्मिक पुरुषों का एक साथ जीवनचरित वर्णन करनेवाले काव्यों के अतिरिक्त अनेक ऐसे काव्य भी लिखे गए जिनमें किसी एक ही धार्मिक व्यक्ति का चरित-वर्णन है। चरित की महत्ता किसी न किसी धार्मिक कृत्य या माहात्म्य का वर्णन करने के फलस्वरूप दिखाई गई है। काव्य का मुख्य उद्देश्य उपदेशात्मक तथा बोधप्रधान ही रहता है। कवि अपनी कल्पना द्वारा इन चरितों को सर्व-साधारण के लिये हृदयग्राही बना देता है। यद्यपि वह कथानक के रूप में अधिक परिवर्तन उपस्थित नहीं कर सकता। महाकाव्य भी धर्मग्रंथों के सदृश ही संमान प्राप्त कर लेते हैं।

अपभ्रंश मे इस प्रकार के चरितकाव्यो की रचना हुई हैं। कथा नायक कोई न कोई धार्मिक या पौराणिक व्यक्ति रहता है। प्रबंधयोजना तथा कथा वस्तुवर्णन की दृष्टि से कुछ ग्रंथों को शुद्ध खंडकाव्य कहना कदाचित् उपयुक्त न हो परंतु अधिकतर काव्य पौराणिक शैली मे लिखे गए खंडकाव्य ही हैं, क्योंकि काव्यकार ने महापुरुष का चरित्रांकन केवल एक ही दृष्टि से किया है। वे कवि की धार्मिक भावना

के पूरक रूप में ही प्रस्तुत किए गए हैं।[1] केवल कुछ कवियों के ही शुद्ध लौकिक तथा प्रशस्तिमूलक ग्रंथ उपलब्ध होते हैं। संभवतः अनेक काव्यों का प्रणयन हुआ होगा परंतु अभी तक सभी प्रकाश में नही आ सके हैं। जो प्रकाशित हो चुके हैं उनमें प्रमुख प्रमुख तथा विशेष उल्लेखनीय ये हैं —

(१) णायकुमार चरिउ, (२) जसहर चरिउ, (३) जंबूसामि चरिउ (वीर कवि), (४) सुदंसण चरिउ, (५) सकल विधिनिधांन काव्य, (६) करकंड चरिउ, (७) पउमसिरी चरिउ (८) पास चरिउ (पार्श्व पुराण), (९) पासणाह चरिउ (पार्श्वनाथ चरित) (१०) सुकुमाल चरिउ, (११) भविसयत्त चरिउ, (१२) पज्जवणु चरिउ, (१३) सुलोचना चरिउ, (१४) सनत्कुमार चरिउ (नेमिनाथ चरित), (१५) जिणदत्त चरित, (१६) णेमिणाह चरिउ, (१७) वाहुबलि चरित, (१८) चंदप्पह चरित, (१९) सुकोशल चरित, (२०) समतिनाथ चरित, (२१) मृगांकलेखा चरित।

शुद्ध लौकिक खंडकाव्य के अंतर्गत संदेश रासक तथा प्रशस्तिमूलक ऐतिहासिक काव्य के अतर्गत कीर्तिलता और कीर्तिपताका है। उपलब्ध सामग्री के आधार पर इनका संक्षिप्त परिचयात्मक वर्णन प्रस्तुत करना अनुचित न होगा।

महाकवि पुष्पदंत तथा उनके महापुराण का वर्णन हम गत अध्याय में कर चुके हैं। महापुराण के अतिरिक्त उनके

---

१. डा० कोछड़--अपभ्रंश साहित्य, पृ० १२८।

दो चरित काव्य उपलब्ध हैं एक का नाम णायकुमार चरिउ[1] तथा दूसरे का नाम जसहर चरिउ[2] है।

णायकुमार चरिउ—इस काव्य में ९ संधियाँ तथा १४९ कड़वक हैं। अंतिम कडवक मे कवि ने अपना तथा अपने आश्रयदाता का वर्णन किया है। यह ग्रंथ मान्यखेट के राजा के मंत्री भरत के पुत्र नन्ह की प्रेरणा से लिखा गया है। शैली वही पौराणिक है। सरस्वती वंदना के उपरांत कवि ने मगध देश, राजगृह और वहाँ के राजा श्रेणिक का सुदर वर्णन किया है। एक समय महावीर स्वामी के आने पर राजा ने उनसे श्रीपंचमी व्रत के संवंध मे प्रश्न किया। महावीर जी के उपदेशानुसार गौतम ने श्रीपंचमी व्रत के माहात्म्य स्वरूप नागकुमार चरित की कथा प्रारंभ की।

कथानक—प्राचीन काल मे मगध देश मे कनकपुर नाम का एक नगर था। वहाँ जयंधर नाम का राजा अपनी सहधर्मिणी विशालनेत्रा के साथ सुखपूर्वक राज्य करता था। राजा के श्रीधर नामक एक पुत्र भी था। एक दिन राजा ने वासव नाम के व्यापारी के पास गिरिनगर (सौराष्ट्र) के राजा की सुकन्या पृथ्वीदेवी का चित्र देखा। राजा चित्र देखते ही उसपर मोहित हो गया और अपने मंत्री को भेजकर कन्या की याचना की। कन्या कनकपुर लाई गई और वड़ी धूमधाम से विवाह संपन्न हुआ।

एक दिन राजा अपनी रानियों के साथ क्रीडोद्यान को गए। दोनों रानियाँ सजधज के साथ चली। पृथ्वीदेवी विशालनेत्रा के ऐश्वर्य को देखकर चकित हो गई और उसका हृदय

---

१. डा० हीरालाल जैन—णायकुमार चरिउ।
२. डा० पी० एल० वैद्य—जसहर चरिउ।

सापत्न्य ईर्ष्या से भर गया। वह उद्यान न जा सकी। शांति प्राप्ति के लिये सीधी जिन मंदिर चली गई। वहाँ मुनि पिहिताश्रव ने धर्मोपदेश किया तथा कहा कि वह शीघ्र ही एक पुत्ररत्न को जन्म देगी। वह प्रसन्नवदन राजभवन को लौट आई। उधर जलक्रीड़ा के समय राजा को पृथ्वीदेवी की अनुपस्थिति का ज्ञान हुआ। समाचार प्राप्त होनेपर राजा पहिले मंदिर गया तथा पुनः रानी के पास प्रासाद में। प्रसन्न-वदना रानी को लेकर राजा पुनः जिन मंदिर पहुँचे और मुनिवर के वचनों से आश्वासित होकर पुनः अपने भवन को वापस आ गए।

यथासमय रानी ने पुत्र प्रसव किया। जन्मोत्सव तथा आनंद की बधाइयाँ मनाई गईं। राजा रानी पुत्र को लेकर जिन मंदिर पहुँचे। जिन मंदिर बंद था। कुमार के चरण-स्पर्श से मंदिर खुल गया। राजदंपति भक्ति भाव से पूजा में संलग्न हो गए। दास दासियाँ क्रीड़ोद्यान मे क्रीड़ारत। बालक खेलते खेलते एक कुँए मे जा पड़ा। पृथ्वीदेवी भी झट कुँए में कूद पडी। परंतु एक नाग ने दोनों की रक्षा की। राजा ने पुत्र का नाम प्रजाबंधु रखा था परंतु नाग ने उसकी रक्षा की थी तथा उसे अपना दत्तक पुत्र स्वीकार कर लिया था अतः उसका नाम नागकुमार प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार मुनि की भविष्यवाणी सत्य हुई और कुमार का लालनपालन नाग द्वारा हुआ।

नाग द्वारा कुमार की शिक्षा हुई। कुमार को विभिन्न कलाओं, विज्ञानों तथा राजनीति शास्त्र की शिक्षा दी गई। शिक्षा समाप्त होने पर वह अपने पिता के पास कनकपुर आ गया। कुमार यौवनावस्था को प्राप्त होकर बडा सुंदर लगने लगा। वह अब प्रत्यक्ष कामदेव का अवतार प्रतीत होता था।

उसने पंचसुगधिनी की किन्नरी और मनोहरी नाम की दो कन्याओं से विवाह कर लिया ।

एक दिन जलक्रीडा के लिये गए हुए पुत्र के लिये उसकी माता कपडा देने गई । सपत्नी विशालनेत्रा ने राजा के मन को पृथ्वीदेवी के चरित्र पर लांछन लगाकर विपरीत करने का प्रयत्न किया । परंतु राजा ने स्वय परीक्षा की और विशालनेत्रा को डाँटा । राजा ने पृथ्वीदेवी को आदेश दिया कि वह अपने पुत्र को अधिक बाहर न घूमने दे । परंतु रानी ने इस बात को अपमान समझा । उसने अपने पुत्र को हाथी पर चढाकर नगर की परिक्रमा कराई । राजा को जब यह मालूम हुआ तो उसने रानी के सब आभूषण तथा रत्नों को छीन उसे दंडित किया । नागकुमार ने जब अपनी माता को भूषणरहित देखा तो बड़ा दुख हुआ । वह द्यूत गृह गया और वहाँ से अनेक आभूषणों को जीतकर अपनी माता को समर्पित किया । द्यूत मे राजा भी कुमार से सब धन हार गया परंतु वह सब धन कुमार ने राजा को ही लौटा दिया ।

नागकुमार के बढते हुए पराक्रम एव यश से श्रीधर का वैमनस्य हो गया । वह उसकी हत्या का प्रयत्न करने लगा परंतु असफल रहा । नागकुमार ने एक भयानक एवं मस्त हाथी को अपने वश मे कर अपना आतंक सबपर जमा लिया ।

चौथी सधि से लेकर आठवी तक नागकुमार के अनेक चमत्कारपूर्ण वीरोचित कार्यों का वर्णन है । उसने मथुरा, पाटलीपुत्र, गजपुर तथा मदुरा आदि की यात्रा की । अनेक सुदरियों को बंधन से मुक्त किया तथा अनेकों से विवाह किया । पवनवेग नामक विद्याधर को मारकर उसने राजा श्रीरथ की ५०० कुमारियों से विवाह किया ।

अंत मे नवमी संधि मे नागकुमार के दो और विवाह वर्णित है। प्रथम अंध्रदेश के दंतीपुर के राजा चंद्रगुप्त की कन्या मदनमजूषा के साथ तथा दूसरा त्रिभुवनतिलक के राजा विजयधर की सुकुमारी लक्ष्मीदेवी के साथ। लक्ष्मीदेवी से नागकुमार का अनन्य प्रेम था। इसी बीच मे मुनि पिहिताश्रव वहाँ पधारे। नागकुमार ने धर्मोपदेश सुनने के उपरांत मुनि जी से प्रश्न किया—

'लच्छी मइपए हउँ पेम्मंधउ मुणि भणु मह सिणेहसंबंधउ'[1]।

अर्थात् 'हे मुनिवर लक्ष्मीदेवी के प्रति मेरे प्रगाढ़ स्नेह बंधन के कारण को कहने की कृपा करें।'

मुनिवर ने इस प्रसंग में नागकुमार तथा लक्ष्मीदेवी के पूर्व जन्म की कथा का वर्णन कर उनको यह बताया कि वर्तमान भव का प्रेम, सुखसंपत्ति आदि पूर्व जन्मकृत श्रुत पंचमी व्रत का प्रसाद है। इस प्रकार मुनिवचन सुनकर कुमार घर लौटा। अपने पिता के उपरांत बहुत दिनों राज कर अंत मे जैन धर्म की दीक्षा ले उसने मुक्तिलाभ किया।

कवि की भावव्यंजना एवं कवित्व शक्ति तथा जैन धर्म-बहुज्ञता एवं पांडित्य के विषय में हम महापुराण के वर्णन में कह चुके हैं, परंतु इस काव्य में कवि ने ९वी संधि में मुनि पिहिताश्रव द्वारा जो धार्मिक व्याख्या कराई है उसमें बौद्धों के क्षणिकवाद, ब्राह्मण धर्म, वेदों के महत्व, प्राचीन रूढ़िवाद, मीमांसा तथा सांख्य शास्त्र पर भी अपना मत प्रकट कर जैन धर्म की श्रेष्ठता को प्रतिपादित किया है[2]।

---

१. पुष्पदंत— णायकुमार चरिउ ९—१५, ३, पृ० १०१।

२. वही, ९-५ से, कडवक १४, पृ० ९५—१०१।

अपने प्रसंग को काव्योपयोगी बनाने के लिये अनेक हिंदू पौराणिक प्रसंगों का सहारा लिया है। राजनीति के वर्णन में कवि ने कामदकीय नीतिसार तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अध्ययन की भी योग्यता प्रदर्शित की है। नागकुमार की शिक्षा[1] से यह प्रकट होता है कि उस समय राजकुमारों के लिये क्या क्या आवश्यक माना जाता था।

इस काव्य के अध्ययन से दूसरी प्रमुख बात यह स्पष्ट होती है कि कवि ने इसमें तत्कालीन समाज का चित्र भली प्रकार दिया है। स्पष्ट है कि वहु विवाह की प्रथा भयंकर रूप से प्रचलित थी। यद्यपि यह भी निर्विवाद है कि इसमें अधिकतर सामंत वर्ग का ही जीवन चित्रित किया गया है। राजाओं का ऐश्वर्य, उनकी क्रीड़ा, सपत्नी डाह, तज्जन्य कलह, षड्यंत्र आदि आदि का वर्णन है। राजा लोग वेश्या भी रखते थे। सुंदरी होने पर गणिकापुत्री से विवाह करना अनुचित नहीं माना जाता था। स्वयं नागकुमार के पिता ने नागकुमार को किन्नरी तथा मनोहरी से विवाह की अनुमति प्रदान की है[2]।

विवाह प्रथा के संबंध मे दो बातें विशेष द्रष्टव्य है— प्रथम ऐसा प्रतीत होता है कि मामा की पुत्री से विवाह होना प्रचलित था। नागकुमार के मामा ने अपनी पुत्री को विशेष रूप से नागकुमार के लिये निश्चित कर रखा था। ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रथा दक्षिण मे स्वीकृत थी परंतु उत्तर

---

१. पुष्पदंत--णायकुमार चरिउ ३-१, १-३, पृ० २४।

२. भणइ पुत्तु कि कुलु जोइज्जइ अकुलीणु वि धीरयणु लइज्जइ। (अकुलीन स्त्री को भी लेना चाहिए) वही, ३-७, ८, पृ० २६।

में इसे भला नही माना जाता था[1]। दूसरी बात यह ध्यान देने योग्य है कि कन्या को वर के गृह अथवा नगर में लाया जाता था। पृथ्वीदेवी गिरिनगर से कनकपुर विवाह के लिये लाई गई थी। इसी प्रकार कान्यकुब्ज कुमारी भी विवाह के हेतु ले जाई जा रही थी। विवाह कृत्य में चित्रों का प्रधान भाग है। चित्रदर्शन द्वारा पूर्वानुराग का बढ़ना तथा फलस्वरूप विवाह का संपन्न होना दिखलाया गया है।

ललित कलाओं की समुन्नति पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। चित्र, नृत्य तथा संगीत में दक्षता प्राप्त करना राजकुमार तथा राजकुमारियों के लिये परम आवश्यक था। संगीत के वाद्ययंत्रों के नाम भी प्राप्त होते हैं। मनोविनोद में में जलक्रीड़ा प्रमुख रूप से वर्णित है। द्यूतक्रीड़ा के विषय में तो नागकुमार के चरित से प्रतीत होता है कि राज्य में विशेष द्यूतगृह थे जिनमें भाग लेने राजा तक जाया करते थे। नागकुमार ऐसे ही द्यूतगृह से ही रत्न आभूषण जीतकर अपनी माता को अर्पित करने के लिये लाए थे[2]।

जनता का तंत्रमंत्र तथा भविष्यवाणियों में अनन्य विश्वास था। भारत कई भागों मे बँटा था। प्रमुख प्रमुख भागों के राजा, राजधानी तथा उनके पारस्परिक संबंध का वर्णन भी तत्कालीन दशा को समझने में अत्यंत सहायक है। धार्मिक स्थिति का ज्ञान मुनिवर पिहिताश्रव के उपाख्यान से होता है।

---

१. (क) भागवत में भी प्रद्युम्न का विवाह उनकी मामा की लड़की से वर्णित है और वहाँ भी दक्षिण की प्रथा कहकर समाधान किया गया है।

(ख) पुष्पदंत—णायकुमार चरिउ की भूमिका, पृ० २७।

२. पुष्पदंत—णायकुमारचरिउ, ३-१२, पृ० ३२।

सौराष्ट्र मे जैन मत का प्राधान्य था। बलिदानों के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न होती जा रही थी। यह बात पुष्पदंत के दूसरे काव्य 'जसहर चरिउ' से अत्यंत स्पष्ट होती है।

पुष्पदंत का दूसरा काव्य 'जसहर चरिउ' है। इस काव्य का नायक जसहर (यशोधर) है। डा० पी० एल० वैद्य जी का कथन है कि यह कथानक दोनों संप्रदायों (श्वेतांबर तथा दिगंबर) को बहुत प्रिय है। संस्कृत, अपभ्रंश तथा प्राकृत, गुजराती, हिंदी, तमिल तथा कन्नड सभी भाषाओं मे जैन लेखको द्वारा यह चरित लिखा गया है। डा० साहब को लगभग २५ चरित्र उपलब्ध हो सके हैं परंतु उनका विश्वास है कि उनकी सूची अभी पूरी नहीं हुई[1]।

कवि पुष्पदंत रचित जसहर चरिउ मे चार संधि तथा १३८ कड़वक हैं। कथा का प्रारंभ वही पौराणिक शैली पर किया गया है। जिन स्तुति के उपरांत जैन धर्म का वर्णन है। पुनः यौधेय देश का वर्णन तथा उसकी राजधानी राजपुर के वर्णन के उपरांत कथा प्रारंभ होती है। संक्षेप में कथा इस प्रकार है —

'यौधेय देश के नगर राजपुर में मारिदत्त नाम का राजा राज करता था। राज्य समृद्ध एवं शक्तिसंपन्न था। राजा का जीवन विलास एवं आनंदयुक्त था। एक दिन भैरवानंद नामक कार्पटिकाचार्य राजधानी मे पधारे। राजा ने उनसे आकाशगामी होने की दिव्य शक्ति की याचना की। भैरवानंद ने राजा को चंद्रमारी देवी की उपासना का आदेश दिया और पूजन सब प्रकार के जीवित मिथुन की बलि देकर पूर्ण करने

---

१. पुष्पदंत—जसहर चरिउ की भूमिका, अंग्रेजी, पृ० २४।

का आदेश दिया। राजा ने तुरंत बधिकों को आज्ञा दी। प्रायः सभी प्रकार के जीवित जोड़े उपलब्ध हो गए। परंतु नरमिथुन उपलब्ध न हो सका।

जिस समय राजा के कर्मचारी वर्ग नरमिथुन की खोज में थे जैन मुनि सुदत्त वहाँ पधारे। उनके साथ अभयरुचि तथा अभयमति नामक दो शिष्य तथा शिष्या क्षुल्लक अवस्था मे थे। कर्मचारी इन दोनों को बलि के हेतु पकड़ कर ले गए। यह नरमिथुन इतना सुदर तथा सतेज था कि राजा उनसे प्रभावित हुआ और उनसे इतनी अल्पावस्था में छुल्लक होने का कारण पूछा। छुल्लक ने अपनी कथा प्रारंभ की।

'इसी भारत देश में अवंति नाम का देश है जिसकी राजधानी उज्जैन है। उसका राजा यशोबंधुर था। उसके उपरांत उसका पुत्र यशोवई गद्दी पर बैठा। उसने अजितांग नृप की कन्या चद्रमती से विवाह किया। जन्मातर मे मै इन्ही दपति का पुत्र था। मेरा नाम यशोधर था। मुझे सभी ललित कलाओं की तथा राजनीति की शिक्षा दी गई। यौवन प्राप्त होने पर मेरा विवाह कृथकैशिका तथा अन्य कई राजकुमारियो के साथ हुआ। यथासमय मेरे पिता जी ने वैराग्य धारण किया और उनके उपरांत राज्य का भार मेरे ऊपर आया।

मैं अपने इस जन्मांतर मे बड़ा विलासी तथा भोगी था। एक दिन में अपनी प्रियतमा अमृतमति के कपटाचरण तथा व्यभिचार से दुखी होकर विरक्त होना चाहता था। अपनी माता चंद्रमती से आज्ञा प्राप्त करने के लिये मैने एक दु.स्वप्न की वार्ता कही। मैंने माता से अपनी पत्नी का कपटाचरण तथा व्यभिचार की बातें लज्जावश नही कही। माता ने दुःस्वप्न के

भयानक फल की शांति के लिये कुलदेवी को पशुबलि देकर प्रसन्न करने का प्रस्ताव किया। मेरे घोर विरोध करने पर आटे का मुर्गा बनाया गया और उसकी बलि देवी को समर्पित की गई। मेरे मन में शाति न हुई। इधर रानी अमृतमति पर रहस्य खुल गया। उसने अपने प्रेमजाल में फँसाकर मुझे तथा मेरी माता को विप दे दिया। मेरे पुत्र ने यथानियम सभी मृतक संस्कार किए जिससे मेरी तथा मेरी माता की आत्मा को शाति उपलब्ध हो। परंतु उस आटे के मुर्गे के बलि के फलस्वरूप मै और मेरी माता जंगल में एक मोर और कुत्ते की योनि मे उत्पन्न हुए। भाग्यवश हम पुनः राजदरबार मे आ गए। मोर की योनि में मैंने अपनी पत्नी अमृतमति के पापाचरण को देखा। क्रोध के वशीभूत हो मैं उसके व्यभिचार को सहन न कर सका। मैंने उसके प्रियतम कुबड़े पर आक्रमण कर दिया। रानी ने मेरी टाँग तोड़ दी तथा उसकी दासियों ने मेरा पीछा किया। दासियों के भागने के कारण कुत्ते ने (जो पूर्व जन्म मे मेरी माता चंद्रमती थी) मेरे मयूर जीवन का अंत कर दिया। राजा जसवई ने जब यह सुना कि उसका सुंदर मयूर कुत्ते द्वारा मारा गया तो उसने क्रोध के आवेग मे कुत्ते के जीवन को भी समाप्त करा दिया। तदुपरात हम क्रमशः नकुल तथा सर्प, (मत्स्य तथा मगर, वकरा तथा वकरी, भैसा तथा भैस, मुर्गा तथा मुर्गी की योनियों मे परिभ्रमण कर अनेक कष्टो को पाते रहे और अपने ही इष्ट-मित्रों द्वारा मारे गए। अंत मे पुनः अपने ही पुत्र के यहाँ मैंने तथा मेरी माता ने अपने पुत्र तथा प्रपौत्र वधू के गर्भ से जुड़वाँ पुत्र तथा पुत्री के रूप मे जन्म लिया। यह हमारा वर्तमान जन्म है जिसमें मेरा नाम अभयरुचि है और माता का नाम अभयमति है जो इस समय मेरी वहिन है।

कालांतर में राजा जसवई जंगल में आखेट को गए। वहां जैन मुनि सुदत्त के दर्शन हुए। उन्होंने प्रथम उनके दर्शनों को अनिष्टकारी समझ उन्हें नष्ट करने के हेतु बलप्रयोग किया परंतु एक वणिक के उपदेश से मुनिवर सुदत्त के महत्व को मेरे पिता जी ने स्वीकार किया और उनसे क्षमायाचना की। आत्मग्लानि से युक्त होकर पिता जी आत्महत्या करना चाहते थे कि मुनिवर ने उन्हें आत्महत्या के पाप से सावधान किया। राजा को मुनि के इस दिव्य ज्ञान पर बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने अपने पिता और मातामही की उत्पत्ति के विषय में प्रश्न किया। मुनिवर सुदत्त ने हमारे सब जन्मांतरों का वर्णन कर कहा कि वे अब तुम्हारे जुड़वाँ पुत्र और पुत्री हैं परंतु तुम्हारी माता पाँचवें नरक में निवास कर रही है।

इस कथा को सुनकर राजा जसवई ने संन्यास धारण कर लिया और जैन भिक्षु हो गए। हम भी भिक्षु होना चाहते थे परंतु युवक होने के कारण क्षुल्लक धर्म को स्वीकार कर मुनिवर सुदत्त जी के साथ अपना समय बिता रहे हैं। जिस समय हम भ्रमण कर रहे थे आपके कर्मचारी हमें यहां पकड़कर ले आए। यही हमारी कथा है।'

इस कथा को सुनकर राजा मारिदत्त तथा देवी चंदमारी सभी प्रभावित हुए। उन्होंने क्षुल्लक मिथुन से जैन धर्म में दीक्षित करने की प्रार्थना की। परंतु उन्होंने यही कहा कि दीक्षा का कार्य केवल उनके गुरु सुदत्त कर सकते है। हमें यह अधिकार नही। भाग्यवश उसी समय मुनि सुदत्त भी वहाँ उपस्थित हो गए। उन्होंने राजा मारिदत्त तथा भैरवानंद के पूर्व जन्मों की कथा कहकर उन्हें जैन धर्म मे दीक्षित कर

लिया और छुल्लक मिथुन कालांतर मे भिक्षु पद प्राप्त कर निर्वाण के भागी हुए।

इस ग्रंथ में न तो काव्यत्व की प्रचुरता है और न घटना की विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है। कवि ने जसहर और उसकी माता चंद्रमती के अनेक जन्म की कथाओं के वर्णन द्वारा जैन धर्म के महत्व का प्रतिपादन किया है। कवि ने अपनी धार्मिक भावना को काव्यत्व से मढ़कर जनता के सामने रखने का प्रयत्न किया है। धार्मिक भावना के आवेश में कवि ने कही कही अलौकिक तत्वों का समावेश भी कर दिया है[1]।

यह सब होते हुए भी दोनों ग्रंथों में कुछ स्थल वड़े रमणीक एवं मनोहर हैं। कवि को जलक्रीड़ा वर्णन वड़ा प्रिय है। अतः जलक्रीड़ा वर्णन के शब्दों मे चित्रोत्पादन की अपूर्व शक्ति है। 'णायकुमार चरिउ' मे णायकुमार की जलक्रीड़ा देखिए—

गयणिवसण तणु जले लिहक्कावइ
अद्घुम्मिल्लु का वि थणु दावइ।
पउमिणिदलजलविंदु वि जोयइ
का वि तहिँ जि हारावलि ढोयइ।
का वि तरंगहिँ तिवलिउ लक्खइ
सारिच्छउ तहो सुहयहो अक्खइ।
काहे वि महुयरु परिमलवहलहो
कमलु मुएवि जाइ मुहकमलहो।
सुहुमु जलोल्लु दिट्ठणह भग्गउ
काहे वि अंवरु अंगि विलग्गउ।

१. डा० कोछड़—अपभ्रंश साहित्य, पृ० १३१।

णाणा माणिणीहिं ढुक्कंतिहिं
जलजंताइं करेहिं धरंतिहिं ।[१]

अर्थात् कोई स्त्री लज्जा के कारण अपने वस्त्ररहित शरीर को जल में ढक रही है, कोई अर्द्ध निमीलित स्तनों का प्रदर्शन कर रही है, कोई हारावली को धारण करती हुई जल विंदु युक्त कमलपत्र के समान प्रतीत होती है, कोई तरंगों में त्रिवली को दिखा रही है, भ्रमर कमल को छोड़कर सुगंधयुक्त किसी के मुख पर बैठने का प्रयत्न कर रहा है, किसी का शरीरलग्न जलार्द्र वस्त्र आकाश के मेघ के समान प्रतीत हो रहा है, जल पर तैरते हुए किसी के उत्तरीय को संसार नीहार के समान देखता है, नाना प्रकार की कामिनियाँ आपस में धक्कम धक्का करती हुई जलयंत्र को हाथों में धारण कर रही हैं।

इसी प्रकार का वर्णन जसहर चरिउ में है। राजा जसवई की दासियाँ शिप्रा नदी में क्रीड़ा कर रही हैं—

ता णईसमागयाइँ सोमउंजुअंगयाइं
घग्घरावलीरवाइं णीरकीलणुच्छवाइँ।
चारुचीरसोहियाइं संययाविलोहियाइं
दिव्वगंधवासियाइं हारदोर भूसियाइं।
साविणोयभूसियाइं खुज्जयाइं वावणाइं
तोयमज्झए तरंति णिब्बुडेवि उच्छलंति।
जा रमंति एहंति धंति एंति जंति संभवंति
एक्कमेक्क सिचयंति पंजतीहि कं धिवंति।
घत्ता—ता तेत्थु तरंतु तरंतु जले एक्कें एक्कु णिसुंभियउ ॥
खुज्जलिलय अम्ह उवरि पडिय दिट्ठउ दइयवियंभियउ[२] ॥

---

१. णायकुमार चरिउ—३-८, ५-११, पृ० २६।
२. जसहर चरिउ—३-२, ९-२, पृ० ४८।

अर्थात्, उसी समय उस नदी में, चंद्रमा के समान सुंदर अंगवाली, क्षुद्र घंटिकाओं की पंक्ति के शब्द को करनेवाली, जलक्रीड़ा की इच्छा करनेवाली, सुंदर वस्त्रों से सुशोभित, दिव्य गंधों से सुवासित, हारों से विभूषित, विनोद करती हुई अनेक दासियाँ जल में तैरने लगीं, कभी डूबने लगी और कभी उछलने लगी, वे जहाँ रमते रमते खड़ी होती हैं तो एक दूसरे पर अपनी अंजलियो से जल के छींटे देती हैं ।

वे वहाँ तैरते तैरते एक दूसरे को ढकेलते हुए क्रीड़ा कर रही थी, सहसा एक दासी हमारे ऊपर आ पड़ी ।[1]

शिप्रा नदी का वर्णन भी द्रष्टव्य है--

दुवई- तडतरुपडियकुसुमपुंजुज्जल पवणवसा चलंतिया ।
दीसइ पंचवण्ण णं साडी महिमहिलहि घुलंतिया ।।
जलकीलंततरुणिघणथणजुय वियलियघुसिणपिंजरा ।
वायाहयविसालकल्लोल गलच्छिय मत्ताकुंजरा ।।
कच्छवमच्छपुच्छ संघट्ट विहाट्टिय सिप्पिसंपुडा ।
कूलपडंतधवलमुत्ताहल जललवन्ति इफणिफडा ।।
एहंत णरिंदणारि तणुभूसण किरणारुणियपाणिया ।
सारसचासभासकारंडवि हंडिर हंस माणिया ।।
परिघोलिरतरंगरंगंतर मंततरं तणरवरा ।
पविमलकमलपरिमलालायए रुंजियभमिरमहुयरा ।।[2]

अर्थात्, किनारे के वृक्षों के गिरे हुए पुष्पों के कारण शिप्रा नदी इस प्रकार दीखती है मानो पृथ्वी रूपी महिला पंचरंगी

---

१. इस समय जसहर (यशोधर) मछली बना हुआ था और उसकी माता चंद्रमती मगरमच्छ मछली को खाने जा रहा था कि भाग्य से राजा की एक दासी उसके मुँह में जा पड़ी ।
२ पुष्पदत—जसहरचरिउ ३-१, ३-१२, पृ० ४७ ।

साड़ी पहिने हुए सुशोभित हो, जलक्रीड़ा करते हुए मस्त हाथियों के मस्तक वायुप्रेरित तरंगों में छिपे हुए उठे हुए स्तनों सदृश प्रतीत होते हैं। किनारे पर उछलते हुए जल-विंदु समूह स्वेत सर्पों सदृश प्रतीत होते हैं। नाना प्रकार के पत्ती कलरव कर रहे हैं। सुंदर तरंगें उठ रहीं हैं, भ्रमर गुंजार रहे हैं। तटों पर तपस्वी शोभित हो रहे है।

संक्षेप में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि कवि ने वस्तु-वर्णन, प्रकृतिवर्णन में संध्यावर्णन, राजा के क्रीड़ोद्यान का वर्णन, नदीवर्णन आदि आदि स्थलो में अपनी काव्यप्रतिभा का पूरा परिचय दिया है। भाषा सर्वत्र वेगवती है, उपयुक्त शब्दयोजना द्वारा, ध्वन्यात्मक शब्दों के प्रयोग से तथा मुहावरों के यथोचित प्रयोग से भाषा को अपूर्व बलशाली बनाया गया है।

जंबुसामि चरिउ— यह कथानक भी जैन साहित्य में प्रिय है। जंबुस्वामि चरिउ प्राकृत और अपभ्रंश दोनों मे प्राप्त है। अपभ्रंश ग्रंथ के रचयिता वीर कवि माने जाते हैं जिन्होने जंबू स्वामी का ११ संधियों में वर्णन किया है। कवि ने अंतिम प्रशस्ति में अपने जीवन संबंध में प्रकाश डाला है। कवि के पिता का नाम देवदत्त था तथा माता का नाम संतुआ था। कवि ने अपने से पूर्व के कवियों का नामोल्लेख किया है[1]। कवि ने इस ग्रंथ का रचनाकाल विं० सं० १०७६ दिया है। परंतु खेद है कि अभी तक यह ग्रंथ प्रकाशित नही हुआ है। संभव है कि शीघ्र ही विद्या भवन, बंबई से प्रकाशित हो जाय।

---

१. पं० परमानद जैन—प्रेमी अभिनदन ग्रंथ, पृ० ४३६।

कथानक पौराणिक शैली पर प्रारंभ होता है। मंगलाचरण, दुर्जन निंदा, अपनी अक्षमता, मगध वर्णन, राजा श्रेणिक तथा रानियों के वर्णन आदि के उपरांत जिनराज के 'समवसरण' पर स्तुति करने पर राजा को विद्युन्माली नाम के विद्याधर के दर्शन होते हैं और राजा के प्रश्न करने पर विद्युन्माली के पूर्व जन्म की कथा प्रारंभ होती है।

मगध देश मे वर्द्धमान नगर मे एक ब्राह्मण दंपति के भवदत्त तथा भवदेव नामक दो पुत्र थे। दैवयोग से ये दोनों पुत्र जब क्रमशः १८ तथा १२ वर्ष के हुए तो पिता का स्वर्गवास हो गया और माता सती हो गई। भवदत्त दिगंबर जैन साधु हो गया। वहुत दिनो के वाद जव वह लौटा तो उसने उपदेश देकर छोटे भाई को भी संघ मे संमिलित कर लिया। दोनों भाइयो ने तपनिरत हो शरीर त्यागकर स्वर्ग मे स्थान प्राप्त किया।

स्वर्गच्युत होने पर पुनः भवदत्त ने पुंडरीकिनी नगरी के राजा वज्रदंत की गृहिणी यशोधरा के गर्भ से जन्म लिया और उसका नाम सागरचंद पड़ा। छोटे भाई भवदेव ने वीतशोका नगरी के राजा महापद्म की रानी वनमाला के गर्भ से जन्म लेकर शिवकुमार नाम को पाया। सागरचंद पूर्वजन्म के संस्कार से विरक्त हो तपस्साधना मे लीन हो गया। शिवकुमार ने १०५ कन्याओं से विवाह किया। वह परम विलासी एवं ऐश्वर्ययुक्त जीवन व्यतीत कर रहा था कि एक दिन सागरचंद को मुनिवेश में उसने देखा। देखते ही पूर्वजन्म की स्मृति उसे हो आई। वह माता पिता के अनुरोध पर गृह छोड़कर वन तो न जा सका परंतु घर मे रहकर ही उसने ब्रह्मचर्य व्रत साधा। नाना प्रकार की

विलासवतियों के साथ में रहते हुए भी निर्लिप्त तथा काम वासनाओं से दूर रहा। अतः मर कर दूसरे जन्म में वह विद्युन्माली देव हुआ।

वर्द्धमान जिन ने राजा श्रेणिक को यह भी बताया कि अब यही विद्युन्माली पुनः जन्म लेकर केवली होगा। पुनः श्रेणिक के प्रश्न करने पर वर्द्धमान जिन ने विद्या बल से चोरी की वार्ता राजा को सुनाई।

चौथी संधि में वस्तुतः जंबू स्वामी की कथा प्रारंभ होती है। एक दिन सइत्तउ नगरी में वणिक् पुत्र अरहदास की स्त्री ने स्वप्न में जंबू फल आदि वस्तुओं को देखा। यथासमय जब उसने पुत्ररत्न को जन्म दिया तो उस पुत्र का नाम भी जंबू स्वामी रखा गया। यह युवावस्था को प्राप्त होने पर अत्यंत सुंदर युवक बना। उसके रूप मात्र से स्त्रियाँ आसक्त हो जाती थी। जंबू स्वामी ने अनेक वीरोचित एवं अलौकिक कार्य किए। अनेक रमणियों के साथ जलक्रीड़ा, वसंतोत्सव आदि संपन्न किए।

महर्षि सुधर्मा तथा उनके शिष्यों के दर्शन से जंबू स्वामी में पूर्वसंस्कार जागृत हो गए। वह घर छोड़ना ही चाहते थे कि माता के उपदेश से रह गए और कमलश्री, कनकश्री, विनयश्री तथा रूपश्री नामक चार रमणियों के साथ विवाह कर भोग विलास मे लीन हो गए। जंबू स्वामी के हृदय मे पुनः वैराग्य ने जोर पकड़ा और उन्होंने पत्नियों के विरोध तथा अनुनय विनय करने पर भी वैराग्य ले लिया। विमुच्चर तथा जंबू स्वामी का विवाद भी होता है पर अंत में जंबू स्वामी की विजय होती है और वे सुधर्मा स्वामी से दीक्षा लेकर कैवल्य ज्ञान प्राप्ति के अनंतर निर्वाण पद प्राप्त करते हैं।

कवि ने केवल जंबू स्वामी के चरित्र पर ही ध्यान दिया है और उन्हीं के तीन भवों का वर्णन किया है। वर्ण्यविषय अन्य अपभ्रंश काव्यों के समान ही है। वही ग्राम नगर वर्णन, वही अरण्य, सूर्योदय, जलक्रीड़ा आदि हैं। विंध्याटवी का वर्णन बाण कवि के ढंग पर किया गया है। ग्रंथ की समाप्ति पर कवि ने लिखा है—'इय जंबू सामि चरिए सिंगार वीरे महाकाव्वे महाकइ देवयत्त-सुय वीर विरइय बारह अणुपेहाउ भावणाए विज्जुच्चरस्स सव्वह सिद्धि गमणं नाम एयारमो संधि परिछेउ सम्मतो।'

अर्थात् 'यह जंबू स्वामी चरित शृंगार, वीर रस का महाकाव्य महाकवि देवदत्त के सुपुत्र वीरकवि विरचित बारह अणुप्रेक्षा नाम विद्युच्चर का सर्वसिद्धि गमन नामक ग्यारहवी संधि समाप्त।'

कवि अपने काव्य को महाकाव्य मानता है जिसमें शृंगार तथा वीर रस की प्रधानता है। कवि ने प्रसंगवश नाना प्रदेश की नारियों के स्वभाव एवं रूप की प्रशंसा की है। कवि का यह वर्णन देवकृत नायिका वर्णन से साम्य रखता है। परंतु इन अपभ्रंश काव्यों का पर्यवसान शांत रस मे होता है। शृंगारिक भावनाओं को दबाकर उनपर विजय पाना ही वीरत्व का चिह्न है। यही कारण है कि डा० रामसिंह तोमर इन कृतियों को शृंगार वैराग्यमय कहना उपयुक्त मानते हैं।[1]

शृंगार की पृष्ठभूमि में कवि को प्रकृतिवर्णन के अवसर भी प्राप्त हुए हैं। अतः उद्दीपन के रूप मे वसंत एवं उद्यान आदि का वर्णन सरस तथा मधुर बन पड़ा है; यथा—

---

[1]. डा० रामसिंह तोमर—अपभ्रंश का एक शृंगारवीर काव्य, अनेकांत, वर्ष ६, किरण १०।

दिणि दिणि रयणीमान जहं खिज्जइ,
दूर पियाण णीद्द तिह खिज्जइ।
दिवि दिवि पहरु जिहि वड्ढइ,
कामायणु तिहि रइ रसु बड्ढइ।
दिवि जिहि चूयउ भउ रज्जइ,
माणिणि माणही तिह मउ खिज्जइ।

× × ×

अर्थात् दिन प्रतिदिन जैसे जैसे रात्रि का परिमाण घटता जाता है वैसे वैसे ही प्रोषितपतिका की नीद भी क्षीण होती जाती है, जैसे जैसे दिन का परिमाण अभिवृद्धि पाता है कामी जनों का रतिरंग बढता जाता है। प्रतिदिन जिस प्रकार आम्रमंजरियाँ मधु से रंजित होती हैं उसी प्रकार मानिनी का मान मद भी क्षीण होता जाता है।

महाकवि नयनंदी कृत दो काव्य उपलब्ध होते हैं। प्रथम 'सुदंसण चरिउ' जो बारह संधियों का सुंदर काव्य है, द्वितीय 'सकल विधिनिधान काव्य' जो ५८ संधियों में पूरा हुआ है। संधियों में कड़वकों की संख्या अनिश्चित क्रम से चलती है। प्रथम ग्रंथ का रचनाकाल वि० सं० ११०० है। दूसरे का रचनाकाल भी अनुमानतः यही होगा। कवि ने अपने गुरु का नाम माणिक्य नंदी लिखा है।

सुदंसण चरिउ का वर्णन अर्हत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं के नमस्कार—पंच नमस्कार के फल को प्रकाशित करने के लिये लिखा गया है। इसमे स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार एक गोप सुदर्शन ने जन्म लेकर पंच नमस्कार के फल से मोक्ष प्राप्त किया।

कथा इस प्रकार है कि भारत देश में ही चंपापुरी में धाडीवाहन नामक राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम अभया था। वहीं पर एक सेठ ऋषभदास रहता था जिसकी पत्नी का नाम अरुह दासी था। सेठ जी के परम मित्र गोपाल ने पंच नमस्कार करते हुए गंगा में डूबकर मृत्यु पाई। पंच नमस्कार के फलस्वरूप वह नगर के परम सेठ जी के यहाँ पुत्र के रूप मे उत्पन्न हुआ और उसका नाम सुदर्शन पड़ा। शनैः शनैः सुदर्शन युवा हुआ। वह अत्यंत रूपवान् तथा आर्कषक युवक था उसको देखते ही स्त्रियाँ अपना धैर्य खो वैठती थी।[1] युवा होने पर सुदर्शन का विवाह एक अन्य श्रेष्ठी की पुत्री मनोरमा से हो गया।

सुदर्शन के रूप से आकृष्ट होकर धाड़ीवाहन की रानी अभया तथा कपिला नाम की अन्य स्त्री उसपर आसक्त हो गई। अभया ने अपनी दासी द्वारा सुदर्शन को महल में बुलाया और अपने प्रेम में फाँसने का प्रयत्न किया परंतु असफल रही। निराश होकर रानी ने अपने नखों से अपने को क्षत विक्षत कर चिल्लाना प्रारंभ किया। फलतः राज कर्मचारियों द्वारा सुदर्शन पकडा गया परंतु एक अतिमानव ने सुदर्शन की रक्षा की। रानी अभया तथा परिचारिका ने आत्महत्या कर ली। अतिमानव के संमुख राजा धाडीवाहन को भी परास्त होना पड़ा। अंत में अनेक जन्मांतर कथाओं का समावेश केवल पंच नमस्कार का फल वर्णन करने के हेतु किया गया है।

नयनदी अपभ्रंश के प्रकाड पंडित थे। इनके प्रकांड पांडित्य का पता इनके प्रत्येक पद से चलता है। आप भी

१. आश्चर्य है कि प्रायः सभी काव्यों मे नायकों की सुंदरता को इसी प्रकार वर्णित किया गया है।

हिंदी के कवि केशवदास की भाँति सालंकार काव्य में ही अपूर्व रस की स्थिति स्वीकार करते है यथा --

णो सजादं तरुणि अहरे विद्दुमारत्त सोहे।
णो साहारे भमिय भमरे णेव पुंडुच्छु दंडे।
णो पीऊसे हले सहिण तं चंदणे णेव चंदे।
सालंकारे सुकइ भणिदे ज रस होदि कव्वे ॥[1]

अर्थात् जो आनंद (रस) सुकवि की सालंकार कविता मे आता है वह न कामिनियों के आरक्त अधर मे प्राप्त होता है, न भ्रमरकूजित आम्र मंजरियों मे, न पीन ईख दंड में, न पीयूष में, न चंदन तथा न चंद्रमा मे प्राप्त होता है।

कवि का वर्ण्यविषय तथा शैली वही परंपरा युक्त है, नारीसौंदर्य, भौगोलिक प्रदेश वर्णन, प्राकृतिक दृश्य, विरह वर्णन, स्त्रियों के गुण, रूप तथा स्वभाव के वर्णन के साथ वैराग्यजनक उपदेशों की भरमार है। समस्त काव्य में अलंकृत पदावली द्रष्टव्य है। उदाहरण के लिये एक ही अवतरण प्रर्याप्त होगा। सागराभिमुखी गंगा का वर्णन सुंदर कामिनी की भाँति कुशलता से किया गया है—

सुंदर पय लक्खण संगय, विमल पसण्ण सुकहइहे सुहावह।
णावइ तिय सहइ सइंतिय, णइ अहवा सुकहे कहा ॥

पप्फुल्ल कमलवत्तें हसंति, अलि वलय धुलिय अलयइं सहंति।
दीहर झसणयणहि मणुहरंति, सिप्पिउ डुट्ठ वडहिं दिहि जणंति।
मोत्तिय दंतावलि दरिसयंति, पडिबिंबिउ ससि दप्पणु णियंति।
तड विडविसाह वाहहिं णडंति, पक्खवलण तिमंगिउ पायडंति।
वर चक्कवाम थणहर णवति, गंभीरणीर भम णाहि वंति।
फेणोह तार हारुव्वहंति, उम्मि विसेस तिवलिउ सुहंति।

1. डा० कोछड़—अपभ्रंश साहित्य, पादटिप्पणी, पृ० १६१।

सय दल णीलंचल सोह दिति, जल खलह रसणा दामुलिति ।
मंथर गइ लीलए संचरति, वेसाइ व सायरु अणुसरंति ।

अर्थात् विकसित कमल सुंदर मुखवत् है, भ्रमरसमूह अलकावलि हैं, मत्स्य दीर्घ नेत्र है, मोती दंतावलि के समान हैं और प्रतिबिंबित शशी दर्पण के समान है। कूल वृक्ष की शाखारूपी भुजाओ से नाचती हुई, इतस्ततः प्रचलन से त्रिभंगियों को प्रगट करती हुई, सुंदर चक्रवाकरूपी स्तनों को प्रकट करती हुई, आवर्त्तरूपी नाभिवाली, फेन समूहरूपी हारवाली, तरंगरूपी त्रिवलीवाली, नील कमलरूपी नील वस्त्रावृता, जलविक्षोभ रूपी रशना (मेखला) युक्त गंगा नदी वेश्या के समान लीला से तथा मंथर गति से सागर की ओर जा रही है[1]।

नयनंदी के इस काव्य को पढ़कर बड़ा आश्चर्य होता है कि रीतिकाल के चिह्न बीजरूप में सर्वप्रथम यहाँ प्राप्त होते हैं। कवि ने पूर्व राग में जो विरह वर्णन किया है उसका अवसान विवाह मे करा दिया है। मनोरमा के सौंदर्यवर्णन में नखशिख परंपरा अपनाई है। स्त्रियों के भेद इंगितों के आधार पर चार बताए गए हैं—भद्रा, मंदा, लय और हंसी। वर्गों के आधार पर वे ऋषि स्त्री, विद्याधरी, यक्षिणी, सारसी तथा मृगी आदि कल्पित की गई हैं। तदनंतर देशभेद से उनका विभाग किया है—मालवनी, सैंधवी, कोशली, सिंहली, गौड़ी, लाटी तथा सौराष्ट्री आदि। पुनः वात, पित्त तथा कफ के आधार पर उनके मंदा, तीक्ष्णा तथा तीक्ष्णतरा और शुद्ध अशुद्ध तथा मिश्र आदि भेदो की ओर निर्देश कर कवि ने अपने व्यापक ज्ञान का परिचय दिया है।[2]

---

१. डा० कोछड़—अपभ्रंश साहित्य, पृ० १६४।
२. डा० कोछड़—अपभ्रंश साहित्य, पृ० १६६।

कविवर नयनंदी की भाषा तथा वर्णनशैली बड़ी सुंदर है। निस्सदेह सुदंसण चरिउ एक उत्कृष्ट काव्य सिद्ध होता है। कवि ने बाह्य प्रकृति के निरीक्षण का परिचय वसंतोत्सव, उपवन विहार, सूर्यास्तादि के वर्णनों में दिया है। शृंगार के संयोग एवं वियोग दोनों का सुंदर चित्र उपलब्ध होता है। अंतः प्रकृति का निरीक्षण स्त्रीप्रकृति के अंकन में द्रष्टव्य है। कवि की दृष्टि में स्त्रीचरित समझना संभव नही। अनेक तर्क समझे जा सकते हैं, अलंकारों की गणना हो सकती है, सिद्धांत शास्त्र आदि ग्रंथों का रहस्य प्राप्त किया जा सकता है, कहाँतक कहें, जीवनमरण, शुभाशुभ कर्म, मंत्र, तंत्र, शकुन आदि सभी का निर्भ्रांत ज्ञानार्जन संभव है परंतु इस वसुधा पर स्त्री के चित्त की थाह पाना सर्वथा दुस्साध्य है। 'दैवो न जानाति कुतो मनुष्यः'। यथा—

वस्तु छंद—

सव्व लक्खण तक्क सुणिघंट, स छंदालंकार वरचरण
करण सिद्धांत मेयइं, जीवण मरण सुहासुहइं कम्म
पयडि बंधइं अणेयइं।
मंतइं तंतइं सउणाइं, एत्थु ण कीरइ भंति।
एक्कु मुएविणु तिय चरिउ, सब्बइं जाणिज्जंति॥
अइ सरोसहं सीह वग्घाहं, आसी विसहरहं, कहव चित्त
घिप्पइ अलीढइं, अणुमेतु वि त्तियहे पुण को समत्थु इह
वसुह वीढए।
गह चक्कु वि अंबुहि सलिलु, वालुय णियरु वि चित्त।
कह व पवाएँ जाणियइ, णउ पुणु तियहे चरित्तु॥[1]

---

१. डा० कोछड़—अपभ्रंश साहित्य, पृ० १७१।

कविवर नयनंदी मे वीररस का परिपाक भी सुंदर है। कवि के छंदों के प्रयोग को देखकर हिंदी के कवि केशवदास की स्मृति हो आती है। भाषा की दृष्टि से कवि की भाषा शुद्ध साहित्यिक अपभ्रंश है जिसमें अपने काल की सभी विशेषताएँ उपलब्ध हैं। सुभाषित तथा मुहावरों के प्रयोग ने भाषा को बलशाली बना दिया है। कुछ सुभाषित उदाहरण के लिये दिए जाते हैं—

'कर कंकणु कि आरि से दीसइ।
(हाथ कंगन को आरसी क्या)
अह ण कवणु रोहें संताविउ।
(प्रेम ने किसको संतापित नही किया)

एक्के हत्थें ताल कि वज्जइ, कि मरेवि पंचमु गाइज्जइ।
(क्या एक हाथ से ताली बजती है, क्या मरण पर पंचम राग गाया जाता है ?)

'पर उवएसु वितु वहु जाणउ'।
'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' (तुलसी)

जोव्वण पुणु गिरिणइ वेय तुल्ल, विद्धते होइ स्ववंग ढिल्लु।

(यौवन पहाड़ी नदी के तुल्य होता है। वृद्धत्व से तब अंग शिथिल हो जाते हैं।)

सकल विधिनिधान—नयनंदी का दूसरा ग्रंथ भी अप्रकाशित है। आमेर शास्त्रभंडार मे इसकी प्रति उपलब्ध है। ग्रंथ के नाम से स्पष्ट है कि कवि ने अनेक विधिविधानों का ५८ संधियों मे काव्यमय वर्णन किया है। इस ग्रंथ का रचनाकाल वि० सं० ११०० है। कवि ने अपनी रचना में स्थान स्थान पर संस्कृत पदावली का भी प्रयोग किया है।

ग्रंथ में आख्यान तथा कथाओं का प्रयोग केवल धार्मिक भावनाओं को अभिव्यक्त करने के लिये हुआ है। इन कथाओं में जहाँ भी वर्णन आ गए हैं वही लेखक का कविरूप मुखर हो उठा है। सुदंसण चरिउ की भाँति छंदों की बहुलता, अलंकारों का सुष्ठु प्रयोग, सुभाषित और सूक्तियों के प्रचुर प्रयोग ने सकल विधिनिधान को भी काव्य की श्रेणी मे रख दिया है।

करकंड चरिउ—यह सुंदर काव्य मुनि कनकामर द्वारा १० संधि तथा २०१ कड़वकों में राजा करकंडु का यशवर्णन करने के लिये लिखा गया है। कवि ने आरंभ में अपने गुरु का तथा प्रत्येक संधि के अंत में अपना नाम दिया है।

मुनि कनकामर ब्राह्मण वंश के चंड ऋषि गोत्र में उत्पन्न हुए थे और वैराग्य लेकर वे दिगंबर मुनि हो गए। तबसे उनका नाम कनकामर मुनि हुआ। वे भ्रमण करते 'असाइय' नगरी पहुँचे और वही रहकर उन्होंने प्रस्तुत ग्रंथ की रचना की[1]। पुस्तक समाप्ति पर आपने अपने आश्रयदाया का भी कुछ परिचय दिया है। आपने लिखा है कि 'ये सज्जन बड़े योग्य एवं व्यवहारकुशल थे। वे विजयपाल नरेश के भी स्नेहभाजन थे तथा उसके मुख के दर्पणवत् थे, उन्होने राजा भुवपाल के मन को मोह लिया था तथा वे कर्ण नरेंद्र के चित्त को भी आनंदित किया करते थे। उनके तीन पुत्र थे, आहुल, रल्हो तथा राहुल। तीनो पुत्र कनकामर जी के चरणो में अनुरक्त थे।[2]

कवि ने ग्रंथ का रचनाकाल नही दिया है। डा० हीरालाल

१. मुनि कनकामर—करकंड चरिउ, १०-२८, १-४, पृ० १०६।

२. मुनि कनकामर—करकंड चरिउ १०-२६, २-१३ पृ० १०७।

जैन के अनुसार यह ग्रंथरत्न १०६५ ई० के लगभग बना होगा। यह ग्रंथ प्रकाशित है तथा डा० हीरालाल जैन द्वारा ही सुसंपादित होकर कारंजा (बरार) से प्रकाशित हुआ है। संक्षेप मे कथा इस प्रकार है—

अंग देश मे चंपापुरी मे धाडीवाहन नामक राजा राज्य करता था। एक समय वह कुसुमपुर गया और वहाँ पद्मावती नाम की स्त्री पर मुग्ध हो गया। युवती का संरक्षक एक माली था। राजा ने उससे बातचीत कर पद्मावती से विवाह कर लिया। वस्तुतः पद्मावती कौशांबी के राजा वसुपाल की कन्या थी जो अनिष्टकारी होने के कारण यमुना मे प्रवाहित कर दी गई थी। चंपापुरी आने पर यथासमय पद्मावती गर्भवती हुई और उसे यह दोहद उत्पन्न हुआ कि वह नररूप में अपने पति के साथ मंद मंद वर्षा के समय हाथी पर चढ़कर नगर का परिभ्रमण करे। राजा ने ऐसा ही प्रबंध किया। परंतु हाथी बड़ा दुष्ट था। वह दंपति को लेकर बन को भागा। इससे प्राणों का संकट उपस्थित हो गया। रानी की प्रार्थना पर राजा ने एक वृक्ष की डाली पकड़ कर अपने प्राणों की रक्षा की और रानी को लेकर हाथी एक सरोवर मे घुस गया। रानी भी कूद पड़ी और उसने एक बन में शरण लिया। रानी के प्रवेश से सूखा बन हराभरा हो गया। यह समाचार पाकर बनमाली वहाँ आया और रानी को अपनी बहिन बनाकर घर ले गया। परंतु कुछ समय उपरात मालिन को पद्मावती के रूप से ईर्षा हो गई। मालिन ने रानी को घर से निकाल दिया।

रानी दंतिपुर के स्मशान पहुँची और वहाँ एक पुत्र को जन्म दिया। उसी समय एक मातंग (चांडाल) वहाँ आया और रानी के विरोध करने पर भी वह उस पुत्र को उठा ले

गया। वास्तव में यह चांडाल एक शापभ्रष्ट विद्याधर था। उसने अपने शापनिवृत्ति हेतु इस बालक की शिक्षा, दीक्षा तथा लालनपालन का प्रबंध किया। इस बालक के हाथों में जन्म से खुजली थी अतः इसका नाम करकंडु पड़ गया।

शनैः शनैः बालक युवावस्था को प्राप्त हुआ। उसी समय दंतीपुर का राजा निस्संतान मर गया। मंत्रियों द्वारा एक हाथी अभिषेक घट लेकर घुमाया गया। हाथी ने जाकर करकंडु का अभिषेक किया। मंत्रिगण बड़े आचर्श्य में पड़े क्योंकि करकंडु मातंग का पुत्र प्रसिद्ध था परंतु विद्याधर ने अब शाप से निवृत्ति पा ली थी। वह स्वयं आया और उसने सबकी शंका का समाधान किया। करकंड को राज्याभिषेक हुआ। कुछ काल उपरांत करकंडु का विवाह गिरिनगर की राजकुमारी मदनावली से हो गया।

एक समय करकंडु के पास चंपानगरी के राजा का दूत उनसे चंपानरेश का आधिपत्य स्वीकार करने की प्रेरणा देने आया। करकंडु बहुत अप्रसन्न हुआ। दूत के जाते ही करकंडु ने चंपानगरी पर चढ़ाई कर दी। दोनों राजाओं में युद्ध छिड़ गया परंतु पद्मावती ने आकर पिता-पुत्र में संमेलन करा दिया और पुत्र को राज्य दे वैराग्य धारण कर पिता वन को चला गया।

करकडु ने अपने राज्य का खूब विस्तार किया। उसनें अपने मंत्री से एक बार पूछा, हे मंत्री क्या कोई ऐसा राजा है जो अभी भी मुझे मस्तक न नमाता हो ? मंत्री ने उत्तर दिया, महाराज ! और तो सब राजे आपकी अधीनता स्वीकार करते है परंतु द्रविड देश के चोल, चेर और पांड्य नरेश आपको नही मानते। राजा ने उनके

पास दूत भेजा जिसको उन्होंने यह कहकर विमुख कर दिया कि हम जिन भगवान् को छोड़ और किसी को भी सिर नही झुका सकते। यह उत्तर पाकर करकंडु ने यह प्रण किया कि यदि मैं इन राजाओं के मस्तक पर अपना पैर न रखूँ तो सब राजपाट का त्याग कर दूँ। उन्होंने तुरंत ही उनपर चढ़ाई कर दी। मार्ग मे वे तेरापुर नगर में पहुँचे। वहाँ के राजा 'शिव' ने आकर उनसे भेंट की और बताया कि वहाँ से पास ही एक पहाड़ी के चढाव पर एक गुफा है, तथा उसी पहाड़ी के ऊपर एक बड़ी भारी बामी है जिसकी पूजा प्रतिदिन एक हाथी किया करता है। यह सुनकर करकंडु शिवराजा के साथ उस पहाड़ी पर गए। उन्होने गुफा मे श्री पार्श्वनाथ भगवान् का दर्शन किया और ऊपर चढकर उस बामी को भी देखा। उनके समक्ष ही हाथी ने आकर और पास ही के एक तालाब से कमल तोड़कर उस बामी की पूजा की। करकंडु ने यह जानकर कि अवश्य वहाँ कोई देवमूर्ति होगी, उस बामी को खुदवाया। उनका अनुमान यथार्थ निकला। वहाँ पार्श्वनाथ भगवान् की मूर्ति निकली जिसे वे बडी भक्ति से उसी गुफा मे ले आए। करकंडु ने पुरानी प्रतिमा का भली प्रकार अवलोकन किया। जिन बिम्ब में एक गाँठ थी उसको तोड़ने पर एक जलवाहिनी निकल पड़ी। एक विद्याधर की सहायता से उस गुफा का जल रोका गया। विद्याधर ने गुफा बनाने का इतिहास भी राजा को बतलाया। इतिहास सुनकर करकंडु ने अन्य और दो गुफाओ का निर्माण कराया।

तत्पश्चात् एक विषादपूर्ण घटना हुई। एक विद्याधर हाथी का रूप धारण कर मदनावली को हर ले गया। राजा शोक मे बहुत दु:खी हुए, परंतु एक विद्याधर के आश्वासन

पर वे पुनः आगे बढ़े और सिंहलद्वीप पहुँचे। वहाँ रतिवेगा का पाणिग्रहण किया। रतिवेगा सहित जब वे जलमार्ग से लौट रहे थे तब एक भीमकाय मत्स्य ने उनकी नौका पर आक्रमण किया। उसे मारने को राजा तलवार हाथ में ले कूद पड़े पर मत्स्य को मारकर वे नाव पर न आ सके। उन्हें बीच से ही एक विद्याधर की पुत्री हर ले गई। पति को खोकर रतिवेगा शोकसागर में डूब गई। मंत्री ने झटपट बेड़े को किनारे लगाया। रतिवेगा ने पाठ पूजा प्रारंभ कर दी। उसकी सेवा से प्रसन्न हो पद्मावती देवी ने प्रकट हो उसे आश्वासन दिया कि वह पुनः अपने पति को प्राप्त करेगी।

विद्याधर पुत्री ने पिता की अनुमति से करकंडु को अपना पति बना लिया। वहाँ की ऋद्धि का उपभोग कर नवल वधू के साथ करकंडु रतिवेगा के पास आ गए। जब उन्होंने चोल, चेर तथा पाड्य देशों की संमिलित वाहनी को परास्त कर अपना प्रण पालन किया। परंतु जब राजा लोगों के मुकुटो पर करकडु ने पैर रखने का प्रयत्न किया तो उन्हें जिन प्रतिमा दिखलाई दी। उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने राजा लोगो को राज्य वापिस देना चाहा। परंतु वे राजा लोग बड़े स्वाभिमानी थे। तपस्या को चले गए और कह गए कि अब हमारे पुत्र पौत्रादि ही आपकी सेवा करेंगे। इस प्रकार राजाओं को विजय करके करकंडु लौट कर पुनः तेरापुर आए। वहाँ विद्याधर ने पश्चात्ताप प्रकट करते हुए राजा को मदनावली समर्पित की। इस प्रकार विजययात्रा समाप्त कर राजा चंपा नगरी मे आकर सुखपूर्वक राज्य करने लगे।

एक दिन वनमाली द्वारा राजा को शीलगुप्त नामक

मुनिराज के पधारने की सूचना प्राप्त हुई। राजा पुरजन तथा परिजन सहित मुनि के चरणों में भक्तिभाव से युक्त हो उपस्थित हुआ। राजा के प्रश्न करने पर मुनिराज ने उनके पूर्व जन्म की कथा वतलाकर उनकी सव शंकाओं का समाधान किया। राजा को कथा सुनकर वैराग्य हो गया। वह अपने पुत्र वसुपाल को राज्य देकर मुनि हो गए। उनकी माता पद्मावती अर्जिका हो गई। और रानियों ने भी उन्हीं का अनुसरण किया। कालांतर मे करकंडु ने घोर तपस्याकर ज्ञान और मोक्ष प्राप्त किया।

चरितनायक की कथा के साथ साथ इसमे नौ (६) अवांतर कथाएँ भी हैं। प्रथम चार द्वितीय संधि में, क्रमशः मंत्र शक्ति का प्रभाव (२. १०. १२), अज्ञान से आपत्ति (२. १३), नीच संगति का दुष्परिणाम (२. १४. १५), तथा उच्चसगति का सुफल (२. १५. १८) वताने के लिये कही गई हैं। पाँचवी कथा कुछ वडी है। इस कथा को तेरापुर में एक विद्याधर ने मदनावली के हरण से विह्वल करकंडु को यह समझाने के लिये सुनाया था कि पति पत्नी के निराशा-जनक वियोग के पश्चात् भी पुन. सयोग हो जाता है। यह-कथा पूरी छठी संधि में समाप्त हुई है। छठी कथा पाँचवीं कथा के अंतर्गत है जिसका उद्देश्य केवल पिता पुत्रादि संवधियो के विषय में शोक करना अनुचित है। सातवीं अवांतर कथा शुभ शुकुन का फल वताने के लिये विद्याधर द्वारा (७. १-४) वर्णित है। आठवी कथा द्वारा देवी पद्मावती ने शोकविह्वला रतिवेगा को धैर्य प्रदान किया है तथा अंतिम कथा मुनिराज ने माता पद्मावती को यह वताने के लिये सुनाई है कि भवातर मे स्त्रीलिंग का परिवर्तन भी हो सकता है।

इनमें से कुछ कथाएँ तत्कालीन समाज में प्रचलित होंगी या कवि की कल्पना। परंतु अनेक कथाओं का आभास अन्य संस्कृत ग्रंथों में उपलब्ध होता है। आठवीं कथा को पढ़कर तो बाणकृत 'कादंबरी' के शुक का ध्यान हो आता है। ये कथाएँ मूल कथा के विकास में अधिक सहायक नहीं होतीं। किसी भी घटना को स्पष्ट करने के लिये एक स्वतंत्र कथा का वर्णन पंचतंत्र का ढंग है जो इस ग्रंथ में प्राप्त होता है। यद्यपि कवि ने भरसक कथा को रोचक बनाने का प्रयत्न किया है।

करकंडु चरिउ एक धार्मिक काव्य है। अन्य धार्मिक काव्यों की भाँति इसमें भी अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाओं का समावेश है। इस ग्रंथ में बतलाया गया है कि पंच-कल्याण-विधान के प्रभाव से किस प्रकार एक ग्वाला अगले भव में राज्यसुख पाकर मोक्षगामी हुआ। इस ग्रंथ के कथानायक का स्थान बड़ा अद्वितीय है। वे दिगंबर संप्रदाय में ही नहीं, श्वेतांबर संप्रदाय में भी माने जाते हैं। यही नहीं, किंतु बौद्धों ने भी उनको अपना एक महात्मा माना है। बौद्धों के जातक साहित्य में वे करंडू या करकंडू नाम से प्रसिद्ध हैं। बौद्ध उन्हें प्रत्येक बुद्ध मानते हैं। प्रत्येक बुद्ध उन्हें कहते हैं जो स्वयं केवल ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, किंतु बिना धर्मोपदेश किए ही शरीरांत कर, मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। अतः स्पष्ट है कि कथा का चरितनायक पौराणिक पात्र है। पौराणिक, काल्पनिक तथा अलौकिक घटनाओं के कारण कथानक में काव्योपम संबंध का निर्वाह भी भलीभाँति नही हो पाया है। कवि का उद्देश्य आदर्श को स्थापना की ओर विशेष रहा है।

वर्ण्यविषय—काव्य में मानव जगत् और प्राकृतिक जगत्

दोनों का वर्णन है। अन्य अपभ्रंश काव्यों की भाँति यह काव्य भी वीर श्रृंगार रस युक्त है जिसका पर्यवसान शांतरस मे होता है। कथानक से स्पष्ट है कि कवि को संयोग और वियोग दोनों प्रकार के अनेक अवसर प्राप्त हुए हैं। कवि ने नारीरूप वर्णन मे परंपरा का ही आश्रय लिया है। प्रेम का रूप कवि ने सम रखा है। वियोग में नायक और नायिका दोनों दुःखी एव अश्रु बहाते चित्रित किए हैं परतु नायिका के वियोगवर्णन मे जो तीव्रता है, वह नायक वियोग में नही।

उदाहरण के लिये रतिवेगा करकंडु के सहसा विलुप्त हो जाने पर विलाप करने लगी। उसके विलाप से समुद्र का जल विक्षुब्ध हो उठा, नौकाएँ परस्पर टकराने लगी। हा हा करण शब्द सर्वत्र व्याप्त हो गया, चराचर उससे दु:खी हो गए। यथा—

हल्लोहलि हूयउ सयलु जलु अपरंपरि जाणइं संचलहिं।
हा हा रस उट्ठिउ करुणसरु तहो सौएं णरवर सलवलहिं ॥[1]

जा णरपचाणणु वियसिआणणु जलि पडिउ।
ता सयलहि लोयहि पसरियसोयहि अइडरिउ ॥
रइवेय सुभामिणि णं फणिकामिणि विमणभया।
सव्वंगे कंपिय चित्ति चमक्किय मुच्छगया ॥
कियचमरसुवाएं सलिलसहाएं गुणभरिया ॥
उट्ठाविय रमणिहि मुणिमणदमणिहि मणहरिया ॥

अर्थात् रतिवेगा कहती है कि जिस समय वह प्रफुल्लित कमल के सदृश मुखवाला नरसिंह करकंडु जल मे कूदा समस्त जनो मे शोक प्रसरित हो गया। सुभामिनी रतिवेगा

---

१. मुनि कनकामर—करकंडु चरिउ, ७-१०, १३-१४, पृ० ६७।

सर्पिणी की भाँति खिन्नमना होकर, सर्वांग में कांप उठी तथा मूर्छित हो गई। मुनियों के मन को हरण करनेवाली परिचारिकाओं द्वारा वह सुंदरी वहाँ से उठाई गई, सुंदर पंखाओं की वायु द्वारा तथा शीतल जल की सहायता से उसे चैतन्यलाभ कराया गया। चैतन्य प्राप्त करते ही वह अपने वक्षस्थल को अपने करकमलों से पीटने लगी। चिंतित नेत्रों के साथ गदगद् वाणी से यह विलाप करने लगी—

हा ! पाप एवं कुटिल बैरी विधाता (यम) ! तैंने यह क्या किया ? मेरी आशाओं पर पानी फेर कर मेरे पति को क्यों हर लिया ? हा पराङ्मुख दैव तुम बड़े अन्यायी हो ! बड़े दुर्मुख हो ! हा ! शुभ लक्षण-युक्त स्वामिन् ! हा सज्जन !! हा ! विचक्षण !!! आप कहाँ गए ! हे नरश्रेष्ठ ! हे भट्टाकर मेरे ऊपर करुणा करो। दुख-जल में डूबी हुई, प्रलय को प्राप्त होती हुई मुझको हे नाथ धारण करो[1]।

विरहवर्णन में ऊहात्मक उक्तियों का अभाव है। आलंकारिक पदावली भी प्रायः अप्राप्य है। कवि नारी के विलाप की ध्वनि को ही कर्णगोचर कराने के प्रयत्न में रहा है। परंतु हृदयगत भावो का इस विलाप मे वह सुंदर चित्र नही मिलता जो कवि ने नारियो की व्यग्रता के वर्णन में दो स्थानों पर दिया है। करकंडू के दंतिपुर मे प्रवेश करने पर नारियों के हृदय की व्यग्रता का सुंदर चित्र देखिए। दंतिपुर में प्रवेश करते ही ध्यानावस्थित मुनियो के मन को लुभाने-वाली नगर की सुंदरियाँ राजदर्शन के लिये व्यग्र हो उठी। अपनी व्यग्रता मे वे नाना प्रकार की चेष्टाएँ करने लगी।

१. मुनि कनकामर—करकंडु चरिउ ७-११, १-१०, पृ० ६७।

कोई जल्दी जल्दी चलने लगी, कोई आश्चर्य से चकित हो स्तंभित हो, खड़ी की खड़ी रह गई, किसी मुग्धा को नवीन राजा के प्रेम में उसका वस्त्र खिसकता हुआ नही प्रतीत हुआ, कोई शीघ्रता में आँखों का काजल अधरों में ही लगाने लगी, किसी ने लाक्षारस को अधरों के स्थान पर आँखों में लगा लिया, कोई वस्त्रविहीन (नग्न) ही उठ आई, किसी ने बालक को उलटा लटका लिया, किसी ने नूपर को हाथों में (कंकण के स्थान पर) पहिन लिया, किसी ने माला को ग्रीवा में न धारण कर कटि तट पर मेखला के स्थान पर बांध लिया, किसी ने बिल्ली के बच्चे को अपना बालक समझ अनुरागपूर्वक चिपटा लिया, कोई राजा में मन को लगाकर विह्वल होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी। अन्य कोई कामोन्मता, उत्तप्त कांचन वर्ण-सन्निभा, उज्ज्वल छवि वाला, मृगशावक नयनों वाली, स्थिर उन्नत उरुओं को स्पष्ट करती हुई दृढ़तापूर्वक करकंडू से के संमुख को चल दी[1]।

शीलभद्र मुनि के आने पर भी पुर के नर नारियों के हृदय का उत्साह तथा दर्शन की उत्सुकता का चित्र भी कवि ने बड़े सुंदर शब्दों में किया है[2]।

शृंगार के अतिरिक्त वीररस का भी वर्णन कवि ने किया है। सैनिकों, घोडों, हाथियो तथा रथों की गति के अनुकूल छंद योजना कर प्रशंसनीय कार्य किया है।

करकंडु चरिउ मे तत्कालीन सामाजिक दशा पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। बहुपत्नी प्रथा राजकुलों में स्वीकृत

---

१. मुनि कनकामर—वही ३-२, १-१०, पृ० २३-२४।
२. वही—वही ६-२, ३-७, पृ० ८१।

थी। ऐश्वर्याभिभूत राजागण प्रायः विलासी जीवन ही व्यतीत करते थे। एक विशेष बात जो इस काव्य से स्पष्ट रूप से प्राप्त होती है वह यह है कि स्त्रियों के प्रति समाज की धारणा अच्छी न थी। स्त्री केवल पुरुष की कामुक प्रवृत्तियों को शांत करने की साधन मात्र रह गई थी। मदनावली के वियोग में करकंडु से विद्याधर कहता है—

किं महिलहे कारणे खवहि देहु जणे महिल होइ दुहणिवहगेहु।
जा कीरइ णारी णरयवासु कह किज्जइ णारीसहुं णिवासु।
षरिफुरिए चित्ते जा जरु करेइ दुहकारणु सा को अणसरेइ।
भववल्ली वड्ढइ जाहे संगि रामा लायइ दुह मणुयअंगि।

अर्थात्, विद्याधर ने कहा—हे राजन ! आप एक महिला के हेतु अपनी काया को क्षीण कर रहे हैं ? महिला मनुष्यों के लिये दुःखों का घर है। नारी नरकवास का कारण होती है, नारी पुरुष चित्त में ज्वर उत्पन्न करती है और दुःख का कारण होती है। उसके संसर्ग से संसार रूप लता बढती है। रामा मनुष्यों के अंगों में दुःख लाती है, बलवानों को बलरहित करती है। जो ऐसी रामा का सेवन करते हैं वे अवश्य ही हीन एवं अधम है[1]।

यह उद्गार स्पष्ट शब्दों में नारी की अधोगति के परिचायक हैं। सदाचार की दृष्टि से भी जो समाज का चित्र है वह उन्नत नहीं कहा जा सकता। करकंडु के पूर्व जन्म की माता का चरित्र अच्छा न था। मंत्री तथा वेश्या की कथा (२.१७.२) इसी ओर सकेत करती है। संभवतः इस प्रकार के चरित्र कवि ने जान बूझकर रखे हैं। वह पतित एवं नीच व्यक्ति

---

१. मुनि कनकामर— करकंडु चरिउ ५-१६, २-६, पृ० ५१।

के हृदय मे भी उद्धार की भावना का संचार करना चाहता है। जनता में मंत्र तंत्र, शाप तथा शकुन विचार मे आस्था थी।

यह ग्रंथ जैन धर्म की महत्ता के लिये लिखा गया है परंतु अन्य धर्मों के तत्वों का खंडन अथवा उनके प्रति अश्रद्धा-सूचक शव्द काव्य मे नही मिलते। यह कवि की धार्मिक उदारता की विशेषता है। नवी संधि के छठे कड़वक से अंत तक जैनधर्म की मुख्य मुख्य वातों का संक्षेप में सुंदर वर्णन है। मुनि शील गुप्त के दर्शनार्थ जाते हुए मार्ग में पुत्र-शोकविह्वला नारी को देखकर राजा के हृदय मे वैराग्य होता है। संसार के वैभव की असारता आँखो के सामने नाच उठती है। वह इस अशोभनीय मृत्युलोक को धिक्कार उठता है, वह कहता है—समस्त दुःखो के कारण अंगभोग हैं। संसार मे दुख महासमुद्र के समान हैं, सुख केवल मधुविंदु सदृश है[1]। संसार के समस्त भोगो की असारता व्यक्त हो जाती है। यौवनागम में अथवा संसार प्रवृत्ति के समय जो स्त्री वडी मनोहर लगती है वही अव मनुष्य को नरक की ओर ले जानेवाली है। कवि ने यहाँ नारी निंदा निर्वेद भाव से प्रेरित होकर की है[2]। इसी

---

१. धी धी असुहावउ मच्चलोउ दुहकारणु मणुवह अंगभोउ।
रयणायरतुल्लउ जेत्थु दुक्खु महुविंदुसमाणउ भोयसुक्खु।
—मुनि कनकामर, करकंड चरिउ ६-३, ७-८, पृ० ८२।

२. जह सूयउ करयलि थिउ गलेइ तह णारि विरत्ती खणि चलेइ।
भूणयणवयणगइ कुडिल जाहं को सरल करेवइ सक्कु ताह।
जैसे पारद करतलगत होने पर शीघ्र गिर जाता है उसी प्रकार स्त्री विरक्त होकर चल देती है। जिसके भौं, नेत्र, वाणी तथा गति कुटिल है उसे कौन सरल कर सकता है।
—मुनि कनकामर, करकंड चरिउ ६-१, ५-७, पृ० ८३।

प्रसंग को लेकर कवि ने जैन धर्मानुसार १४ भवन, धर्म के दस लक्षण, गुणस्थान, धर्म के दो विभाग, चार प्रकार के दान, जीवन के षट् कर्म तथा पंच महाव्रत आदि का सुंदर वर्णन किया है। समस्त सधि मे पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग है जो अजैन साधारण जन के लिये अर्थ समझने में व्याघात उत्पन्न करता है। समस्त ग्रंथ में धर्मोपाख्यान की प्रवृत्ति अधिक है काव्यत्व कम।

पउमसिरी चरिउ (**पद्मश्री चरित**)—दिव्यदृष्टि धाहिल कवि विरचित 'पउमसिरी चरिउ' चार संधियों का बड़ा सुंदर लघु खंड काव्य है। इसकी प्रथम संधि में १८, दूसरी में २२ तथा तीसरी में १० एवं चतुर्थ में १६ कड़वक हैं।

कवि के जन्म तथा समय के विषय में अधिक कुछ नहीं प्राप्त होता। केवल पउमसिरी चरिउ मे कवि ने कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार दी हैं—

ससिपाल कव्व कइ आसि माहु
जसु विमल कित्ति जगु भमइ साहु।
तसु निम्मलि वंसि समुब्भवेण
पउमसिरि चरिउ किउ धाहिलेण॥

कवि पासहं नंदणु दोसविभद्दणु सूराइहि महासइहि।
जिणचलणह भत्तउ तायइ पोत्तउ दिव्वदिट्ठि निम्मल मईहि॥[1]

इस अंतस्साक्ष्य के आधार पर इतना पता चलता है कि कवि ने 'शिशुपाल वध' के रचयिता प्रसिद्ध कवि 'माघ' के वंश मे जन्म ग्रहण किया था। कवि का नाम घायल तथा

---

१. धाहिल—पउमसिरि चरिउ ४-१६, ६६-६८, पृ० ४०।

पिता का नाम पार्श्वनंद (अथवा पार्श्व के पुत्र) और माता का नाम महासती सुराति था। कवि जिन चरणानुरक्त परम भक्त था। अनुमानतः इसका समय आठवी शताब्दी से १२वीं शताब्दी तक माना जाता है।

कवि ने सर्वप्रथम इस आख्यानक को बहुगण युक्त कर्ण-रसायन धर्मकहा (कथा) कहा है। वस्तुतः यह काव्य धार्मिक आवरण मे एक शुद्ध प्रेमगाथा है। लौकिक पात्रो द्वारा उनकी जीवन घटनाओं का चित्रण किया गया है। अत्यंत निर्मल चरित्र होते हुए भी कभी कभी थोड़ी सी दुर्बुद्धि अथवा वासना के कारण जन्मातंर मे कष्ट भोगना पड़ता है। इसी उद्देश्य के हेतु यह चरिउ रचा गया है।

संक्षेप मे इसकी कथा इस प्रकार है—

भरत क्षेत्र के मध्यदेश में वसंतपुर नामक नगर था। जहाँ जितशत्रु नामक राजा अपनी भार्या लीलावती सहित राज करता था। उसके धनदत्त नामक दो पुत्र थे और धन-श्री नाम की अपूर्व सौंदर्ययुक्त कन्या थी। धनश्री दुर्भाग्य से यौवनावस्था में ही विधवा हो गई। वह भाइयों के अनुरोध से उन्हीं के घर रहकर दान, पूजादि कर अपना जीवन सच्चरित्रतापूर्वक बिताने लगी।

धनश्री ने धर्मघोष नामक जैन साधु से उपदेश ग्रहण किया और सतत दान पूजा तथा पुण्य कर्म मे व्यस्त रहने लगी। कालातर में धनश्री की दानशीलता से उसकी भाभियाँ ईर्ष्या करने लगीं। वे कहने लगी कि यह धर्मशीला हमारी ननद हमारे घर को लुटाती रहती है[1]। जब धनश्री को यह पता चला तो उसने बड़े भाई तथा उसकी पत्नी यशोमती में

---

१. धाय्ल—पउमसिरी चरिउ १–१०, ३, पृ० ७

अइ धम्मसील निच्छिन्न नेह धरु लूडइ अम्ह नणंद एह ॥

भेदभाव उत्पन्न करा दिया। यशोमति अत्यंत व्याकुल हुई परंतु धनश्री ने बीच में पड़कर पति पत्नी के मनोमालिन्य को दूर करा दिया। इसी प्रकार छोटे भाई तथा उसकी स्त्री यशोदा में भेदभाव उत्पन्न कराकर पुनः मेल करा दिया। तदुपरांत अपने भाइयों के साथ उसी प्रकार नाना प्रकार के दान, तप तथा पूजा करती हुई धनश्री मृत्यु को प्राप्त हुई।

जन्मातर मे धनदत्त और धनवाह अयोध्या के राजा अशोकदत्त और उसकी रानी चंद्रलेखा के यहाँ क्रमशः समुद्रदत्त तथा वृषभदत्त नाम से उत्पन्न हुए। धनश्री ने हस्तिनापुर के राजा इम्भपति की पीनस्तनी, विशालनितंबा, कमलायताक्षी, चंद्रमुखी तथा प्रियभाषिणी रानी शीलवती के गर्भ से जन्म लिया। उसका नाम पद्मश्री रखा गया। शनैः शनैः उस सुंदरी ने युवा अवस्था को प्राप्त किया।

एक दिन वसंत ऋतु में पद्मश्री अपूर्वश्री नामक उद्यान में भ्रमणार्थ गई। वह वहाँ वसंतश्री वर्णन करते करते एक माधवी मंडप में बैठ गई। दैवयोग से समुद्रदत्त युवक भी वहाँ पहुँच गया। दोनों एक दूसरे के दर्शन कर परस्पर अनुरक्त हो गए। कालातंर में दोनों का विवाह हो गया और आनंद पूर्वक जीवन व्यतीत करने लगे।

आठ वर्ष व्यतीत हो गए। तब एक वराह नामक लेखवाहक अयोध्या से हस्तिनापुर आया और समुद्रदत्त से उसकी माता की दयनीय दशा का वर्णन किया। समुद्रदत्त तुरंत घर लौट पड़ा और पद्मश्री को पिता के घर ही हस्तिनापुर मे छोड़ दिया। थोड़े दिन उपरांत पुनः समुद्रदत्त अपनी स्त्री को लेने हस्तिनापुर आया। पद्मश्री ने अपने पति का स्वागत किया। रात्रि को जब वह शृंगार कर पति के पास जा रही थी तो उसी समय

केलिप्रिय पिशाच ने आकर उसके पति के मन मे शंका उत्पन्न कर दी। समुद्रदत्त का मन पद्मश्री की ओर से हट गया और उसने उसको वही छोड अपने घर की यात्रा की। पति के इस दुर्व्यवहार पर पद्मश्री को वडा आश्चर्य हुआ। उसने वहुत अनुनय विनय किया परंतु सव व्यर्थ हुआ।

कौशलपुरी मे नंद नामक वणिक था। उसकी दो कन्या कांतिमती और कीर्तिमती थी। ये दोनो अपने पूर्वजन्म की यशोमति और यशोदा थी। लौटकर समुद्रदत्त ने कांतिमती से और कीर्तिमती से उसके भाई ने विवाह कर लिया और आनंदपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगे।

पद्मश्री के पिता ने जव यह सुना तो उसे अपनी कन्या के आचरण के प्रति वडा दुःख हुआ। परंतु विमलशीला के आश्वासन, उद्वोधन तथा धर्मोपदेश से पद्मश्री व्रत, स्वाध्याय और तपश्चर्या में रत हो गई। वह विमलशीला के साथ भ्रमण करती करती साकेत नगरी पहुँची। वहाँ कीर्तिमती तथा कांतिमती की प्रार्थना पर वह उनके भवन में भिक्षार्थ पहुँची। वहाँ पुनः उसके कर्मविपाक के कारण हार की चोरी लगी। परंतु किसी प्रकार वह उस कलंक से विमुक्त हो गई। अंत मे पद्मश्री ने व्रत तपश्चर्या कर ज्ञानाग्नि से अपने कर्मविपाकों को समाप्त कर मोक्ष प्राप्त किया।

पद्मश्री का यह कथानक कवि कल्पित होते हुए भी वड़ा सुंदर, सरल तथा प्रवाहयुक्त है। उसमें पारिवारिक जीवन के सुंदर, सरल, स्वाभाविक तथा हृदय को स्पर्श करनेवाले चित्रों का अपूर्व समावेश है। काव्य मे शृंगार रस का प्राधान्य है परंतु पर्यवसान शात रस मे ही हुआ है।

शृंगार रस के दोनो पक्षों का इसमे वर्णन है। काव्य शास्त्र मे वियोग तीन प्रकार का माना जाता है। कोई कोई विद्वान्

करुण नामक चौथा विरह भी मानते हैं। प्रथम प्रकार का विरह पूर्वराग में माना जाता है, जबकि नायक अथवा नायिका प्रत्यक्ष मिलनसुख अनुभव करने से प्रथम ही एक दूसरे के लिये दु:खी होते हैं। दूसरा मानजन्य होता है और तीसरा प्रवासजन्य। कवि ने तीनों प्रकार के विरह का वर्णन किया है। पद्मश्री उद्यान मे समुद्रदत्त को देखकर उसपर मोहित हो जाती है। दोनों का साक्षात् उद्यान मे होता है परंतु माता का समाचार सुनकर तुरंत पद्मश्री भवन को चली जाती है। घर में उसकी अवस्था बड़ी शोचनीय हो जाती है। अब उसका चित्त कुछ अन्य ही प्रकार का हो गया, वह कहीं नही लगता, न बीणा का मधुर राग प्रिय है और न सुगंधित द्रव्य, उसने समस्त सुखभोग सामग्री का परित्याग कर दिया। सब सुख उसके लिये विपरीत हो गए। शीतोपचार अब उसके लिये दाहक है। वह मूर्छित होती है, खीजती है, मन्मथ-शर प्रताड़िता पद्मश्री अत्यंत ताप से संतापित हो गई[1]।

समुद्रदत्त के अपने देश को लौटने पर प्रवासजन्य वियोग के वर्णन का अवसर कवि को प्राप्त हुआ है। भारतीय ललना

---

१. सुच्छिज्जइ खिज्जइ रोयइ अम्मह सर सलिलय मणहि।
संताउ वियंभइ वालहि अंगि असहणु को वि तहि॥
अभिरमइ न आसणि सयणि भवणि उज्जाणि न तरुयरि रुदतत्रणि।
नवि मंडवि न वि जंपाणि जाणि न सरोवरि देउलि न य निवाणि॥
न वि इच्छइ ससिहर किरण संगु सिसिरोवयारु (पुणु) डहइ अगु॥
—धाहिल, पउमसिरी चरिउ १–११, १३४ तथा कड़वक १२ संधि २, पंक्ति ११५–१२७, पृ० १८–१६

की भाँति पद्मश्री पतिवियोग मे सूखने लगी, कवि ने उसकी चेष्टाओं का एवं क्रियाओं का वर्णन किया है, कभी वह ज्योतिपियों से प्रिय आगम की तिथि पूछती है तो कभी काग से प्रार्थना करती है, तो कभी उसे दूध भात देने का वचन देती है। यथा —

पउमसिरि विरह सिहि मोसियंगि
निरुइ झूरइ रयणिहि जिह रहंगि।
नैमित्तिय पुच्छइ भणइ साहु
'कइयहुं आवेसइ मज्झु नाहु' ॥
वलि महु भक्खण महुर वाय लहु
(......) उरिउरेहि (?) काय ॥
आवेइ कंतु जइ मज्झु अज्जु
दहि सालि भत्तु तो देमि तुज्झु[1]।

उपर्युक्त पंक्तियों में भारतीय पारिवारिक जीवन का यथार्थ चित्र है। करुण वियोग में हम उस दशा को रख सकते हैं जब समुद्रदत्त सती पद्मश्री को असती समझ सदैव के लिये परित्याग कर देता है। पद्मश्री का विलाप भी बड़ा ही करुणाजनक है। इस प्रसंग का अधिक विस्तार संभव नही हुआ क्योंकि शीघ्र ही पद्मश्री यौवन को निष्फल समझ तथा समस्त शोकों का परित्याग कर जिन ध्यान में लग जाती है।[2] भग्नमनोरथा पार्वती[3] की भाँति वह भी तपस्या-

---

१. धाहिल—पउमसिरि चरिउ ३–४, ५०–५३, पृ० २७।
२. वही ३–१०, १२६, पृ० ३१
३. तथा समक्षं दहता मनोभवं, पिनाकिना भग्नमनोरथा सती।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती, प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता।
—कुमार संभव, पंचम सर्ग १–२।

रत हो जाती है। वर्णन में केवल संताप की मात्रा का ही नहीं अपितु उस संताप के प्रभाव की भी व्यंजना कवि ने की है।

संयोग के समय के प्रकृतिवर्णन बड़े साभिप्राय हैं। नव-दंपती के प्रथम मिलन की पृष्ठभूमि में जो प्रकृति का सुंदर चित्र कवि ने दिया है, वह द्रष्टव्य है—

उज्जोइउ भुयणु असेसु इ गरुय राय रंजिय हियउ।
अत्थवण सिहरि रवि सठियउ संझा वहु उक्कंठियउ॥

अत्थमिउ दिवायरु संझ जाय
थिय कणय घडिय नं भुयण भाय।
कमलिणि कमलुन्निय (?) महुयरेहि
अंसुएहि रुएइ सकज्जलेहिं॥

(३२वी) सोआउरु मणि चक्काउ होइ
कउ मित्त विओउ न दुक्खु देइ।
अंधारिय सयल वि दिसि विहाइ
किलिकिलिय-भूय-रक्खल पिसाय।
तमु पसरिउ किंपि न जणु विहाइ
जगु गब्भ वासि निक्खितु नाइ।
वोहंत कुमुय वणु उइउ चंदु
कंदप्प पहोसहि रुद कंदु।
वणि जेम मइंदहु हत्थि जूहु
नासेइ मियंकह तिम्ब तमोहु।
हरिणंक किरण विप्फुरिउ भाइ
गयणंगणु धवलिउ नं छुहाइ।
निसि पढम पहरि उद्दाम कामि
वासहरि कुमारु मणाभिरामि।

महमहिय वहल वर धूय गंधि
पंचन कुसुममाला सुगंधि ।
रुणुरुणिय महुर रवि भमर लीवि
पज्जालिय मणि (३३ ए) गल पईवि ॥
पउमसिरि सहिउ पल्लं (कि) ठाइ
सहियणु आणंदिउ घरहु जाइ ॥
नाणाविह करण विसेसेहि सुर सोक्खइं भाणेउं कुमरु ।
आलिंगिउ कंत पसुत्तउ नाइ स विग्गहु पंचसरु ॥

अर्थात् समस्त भुवन भास्कर सूर्य रागरंजित हृदय-वाले होकर संध्यावधू से मिलने के लिये अस्ताचल पर पहुँचे । सूर्यास्त हुआ, संध्या आई, समस्त दिशाओं में सुवर्ण घड़ी प्रकाशित हुई, कमलो से मधुकर निकल निकल कर ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानों कमलो के काले आँसू गिर रहे हों, चक्रवाकों का शोकातुर होने का समय प्राप्त हुआ । मित्र (सूर्य) का वियोग किसको दु:ख नही देता । अंधकार दिशाओ मे व्याप्त हो गया, भूत, पिशाच तथा राक्षसगण किलकिला उठे, अंधकार प्रसरित हुआ, कुछ नही जाना जाता, कुमुदवन विकसित हुआ, कंदर्परूपी महोपधियों का कंदरूपी चंद्रमा उदित हुआ, वन में मृगेंद्र की भाँति चंद्र अंधकार रूपी हस्तिसमूह को विनष्ट करने लगा, चंद्र किरण युक्त गगन सफेद कलई से पुता हुआ जैसा प्रतिभासित होने लगा, निशा के सुंदर प्रथम प्रहर में जिसमे काम उत्कट रूप धारण करता है, जिस समय उत्ताम धूप से महल सुवासित होते हैं, पंचरंगी कुसुमों की मालाओं की सुगंध बिखर रही होती है, जिस समय भ्रमर सदृश वालाएँ मधुर रव कर रही होती हैं, मणिमय दीप प्रकाश दे रहे होते हैं, ऐसे सुदर, सुवासित समय मे तथा सुंदर वास गृह मे ले जाकर सखियो ने पद्मश्री

को पर्यंक पर कुमार के साथ बैठा दिया। आनंदित होती हुई सखियाँ अपने घर को चली गईं।

शरीरधारी कामदेव के समान कुमार ने देवताओं के समान सुख को मानकर नाना प्रकार के विधिविधान पूर्वक बाला का आलिगन किया और सुखपूर्वक शयन किया[1]।

इस वर्णन मे प्रकृति में बिब प्रतिबिब भाव का साम्य प्रशंसनीय है। इधर पद्मश्री का हृदय अनुरागपूर्ण 'हो पति मिलनोत्सुक है तो उधर नाना राग रंजिता संध्या वधू, संध्या समय कमल बंद होने को हैं, उनमें से भौरे निकल निकलकर उड़ रहे हैं, मानो कमलिनी काजलपूर्ण अश्रुओं से रो रही है। इसके उपरांत का दृश्य भी बड़ा सुंदर है। प्रथम सहवास की रात्रि समाप्त हुई। प्रभात हुआ उसके वर्णन में कवि ने 'सकलंकह कि थिरु उदउ होउ' कितनी साभिप्राय सुंदर उक्ति कही है जो आगे चलकर यथार्थ सिद्ध हुई है। कलंकित का उदय क्या स्थिर रह सकता है[2]? कुमुद मुकुलित हो रहे हैं मधुकर उन्हें छोड़कर जा रहे हैं—क्या मलिन काले कहीं स्थिर प्रेमी होते हैं[3]।

भारतीय परिवार मे ननद भावजों का कलह प्रसिद्ध है। धनश्री दानशीला है। निर्भयतापूर्वक दान करते देख यशोमती तथा यशोदा के हृदय मे डाह होना कितना स्वाभाविक है। धनश्री का दोनों दंपतियों मे भेदभाव उत्पन्न कराना तथा उसका शमन कराना भी 'स्त्रियों के अशिक्षित पटुत्व'[4] का

---

१. धाहिल—पउमसिरि चरिउ ३–१, ४–१७, पृ० २५।

२. वही—३–२, पृ० २६।

३. कारे काके मीत भए—(सूरदास)।

४. (क) स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीणाम्,
संदृश्यते किमुत याः परिबोधवत्यः।

परिचायक है। दूसरी बात यह भी स्पष्ट है कि पुरुष का हृदय कितना सशंक होता है[1]। तुरंत ही वह रमणी को असती समझ कुलकलंकिनी, दोनों कुल की घातक मान लेता है और बिना विचार किए कठोर शब्द कह बैठता है। उसे तनिक भी चिंता नही रहती कि दूसरे के हृदय पर क्या बीतेगी ? वह तुरंत अपनी धारणा को पूरा करने के लिये कितने ही कुसुम सदृश हृदयों को कुचल डालता है। कवि ने इस प्रसंग को बड़ी विदग्धता से चित्रित किया है। प्रणयवंचिता नारी के हृदयस्थल को स्पर्श करने की कवि में क्षमता है। पद्मश्री शुद्ध प्रेमिका की भाँति प्रियतम से कुछ नही कहती केवल अपने ही हृदय, सौंदर्य, विधि, कर्मविपाक आदि को दोष देती है। प्रेम की यही उदात्त भावना भारतीय साहित्य का प्राण रही है।

प्रेमाख्यानों में स्थूल स्त्रीसौंदर्य वर्णन भी प्रधान रूप से रहता है। कवि धाहिल ने घनश्री तथा पद्मश्री के सौंदर्य का वर्णन किया है और प्रायः परंपरागत उपमानों द्वारा ही वर्णन किया है। कही कही पर सौंदर्य के प्रभाव का भी संकेत प्राप्त होता है।[2]

प्रागंतरिक्ष गमनात् स्वमपत्यजात—
मन्यद्विजैः परभृता किल पोषयन्ति।
—कालिदास—अभि० शाकु० पंचम अंक, पृ० १८३।

(ख) पढिडण य सत्थाइं पुरिसा णाडण तेसि मत्थाइं।
ण समत्था पडिवयणे उप्पयणे भइ जला महिला॥
—हरिभद्र सूरि, धूर्त्ताख्यान-१०१, पृ० ४८।

१. उदयन—ठहरो मागंधी ! पुरुष का हृदय बड़ा सशंक होता है, क्या तुम इसे नहीं जानती ? प्रसाद—अजातशत्रु, पृ० ४६।

२. धाहिल—पउमसिरि चरिउ १-४, ५७, पृ० ३।

धनश्री भवांतर में पद्मश्री हुई। कुछ समय उपरांत वह नवयौवन को प्राप्त हुई। भ्रमर और अंजन समान काले, मसृण केश, पंचमी के चंद्रमा सदृश सुंदर भाल,नील कमल सदृश लोचन, लक्ष्मी के लीला कमल का उपहास करता हुआ चंद्रमा सदृश मुख, लावण्यकांति युक्त उज्ज्वल कपोल, दिशाओं को धवलित करनेवाली श्वेत दंतपंक्ति, अत्यंत सुंदर बिंबाधर, शंख के समान ग्रीवा, वीणा के तुंबे सदृश स्तन, कल्पलता सदृश सुंदर भुजा, अत्यंत सुंदर उन्नत वक्षस्थल, त्रिवली तरंगयुक्त गंभीर नाभि, सुंदर रोमावली, रुचिर वरांग, विशाल शोभनीय नितंब, पीन जंघा, रक्त कमलदल सदृश चरण, चंद्रकिरण सदृश नख, मथर गति, सकल कला ज्ञानविद्, पिकवयनी, केतकी कपूर सदृश गंध देने-वाली, नाना प्रकार की सुरवधुओ के समान गुणवाली वह पद्मश्री, उत्तम वंश समुद्भवा, ऐसी शोभित होती थी कि मानो त्रिभुवन को विजय करने की आशावाले कामदेव की चापयष्टि हो[1]।

कवि ने पहले भी धनश्री का वर्णन किया है। प्रथम बार कामिनी को काम का भाला कहा तो अबकी बार वह उनकी चापयष्टि बन गई। बात वही है। दूसरे घत्ता में श्लिष्ट शब्द 'गुण' का प्रयोग चमत्कारपूर्ण है।

कवि ने काव्य को कलात्मक रूप दिया है। अलंकारों का प्रयोग अलंकारों का प्रयोग के लिये नही, अपितु अर्थसौंदर्य एवं भावसौंदर्य की अभिवृद्धि के हेतु हुआ है। शब्दालंकारों में अनुप्रास एवं श्लेष और अर्थालंकारों में सादृश्यमूलक अलकारों की प्रचुरता है। यह वर्णन कभी कभी समस्त भाव का चित्र

---

१. धाहिल—पउमसिरी चरिउ २–३, २६–३६, पृ० १३–१४।

उपस्थित कर देते हैं। प्रियतम द्वारा भर्त्सना करने पर जसवती 'भयवुन्न हरिणि जिह दिट्ठ सीह'[1] उस हरिणी सदृश थी जिसके दृष्टिपथ में सिंह आ गया हो। आभूषण-रहित होने पर वह 'उच्चिणिय कुसुम नं कुंद साह'[2] अर्थात् पुष्परहित कुंद शाखा सदृश थी। इस प्रकार के सुभाषितों का प्रयोग कर कवि ने भाषा को वलवती तथा मनोहर वना दिया है।

काव्य मे एक और सुंदर स्थल प्रविष्ट किया गया है परंतु कवि ने उसका विस्तार नही किया। संभवतः यह जैन धर्म की भावना है जिससे प्रेरित होकर कवि ने उस सरस स्थल को धार्मिक आवरण दे दिया है। पद्मश्री को जव समुद्रदत्त छोड़कर चला गया तो वह अगाध शोकसागर मे डूब जाती है। कवि यदि चाहता तो इस प्रसंग को लेकर नाना प्रकार को मर्मस्पर्शी अभिव्यंजना कर सकता था, परंतु उसकी पद्मश्री तप-निरत हो जैन धर्म मे दीक्षित हो जाती है और वह विमलश्री के साथ घूमती घूमती जव साकेत पहुँचती है और कातिमती और कीर्तिमती के निमंत्रण पर समुद्रदत्त के महल मे पहुँचती है तो वहाँ पर भी उसके पूर्व प्रेम के प्रसंग का कोई वर्णन नही किया गया है। यहाँ वह असाधारण स्त्री प्रदर्शित की गई है जिसपर पति के परित्यागन का कोई प्रभाव नही है। यह तपनिरत होकर अंत मे मोक्ष प्राप्त करती है। यहाँ मानवीय भावों को भुलाना कुछ खटकता है, परंतु उद्देश्य की उच्चता तथा वर्णन शैली की महत्ता पाठक के हृदय को उस ओर नही जाने देती। संक्षेप में यह अपने ढंग का सुंदर खंड काव्य है।

---

१. धाहिल—वही १–१३, ७१, पृ० ६।

२. वही—१–१४, ७६, पृ० ६।

इन काव्यों के अतिरिक्त अनेक कृतियाँ अभी अप्रकाशित हैं जो यत्र तत्र जैन भंडारों में पड़ी हैं। अनेक कृतियों का उल्लेख मात्र पाटण भंडार की सूची में उपलब्ध होता है अथवा अनेकांत, जैन सिद्धांत, भाष्कर, राजस्थान भारती, हिंदी अनुशीलन आदि आदि समाचार पत्रों में श्री परमानंद जैन, श्री अगरचंद नाहटा तथा डा० हीरालाल जैन आदि की कृपा से कुछ ग्रंथों के ऊपर प्रकाश पड़ जाता है। इस प्रकार जो कुछ थोड़ा बहुत परिचय जिन ग्रंथों के विषय में उपलब्ध हो सका है उनका अधिक वर्णन न कर केवल परिचय मात्र ही दिया जाता है।

पास चरिउ (पार्श्वपुराण)—इसमें २३वें तीर्थंकर का चरित १८ संधियों में वर्णन किया गया है। ग्रंथ अप्रकाशित है। वर्णन क्रम वही परंपरागत है। परंतु विशेष बात यह है कि कवि ने स्वस्ति में 'श्री गणेशाय नमः श्री पार्श्वनाथाय नमः' शब्दों से काव्यारंभ किया है ऐसा बताया जाता है। संभवतः अब स्मार्त वैष्णवों के प्रभाव से श्री गणेशाय नमः जैन मत में भी स्वीकृत हो गया हो।

पासणाह चरिउ (पार्श्वनाथ चरित), **सुकुमाल चरिउ** तथा **भविसयत्त चरिउ**—ये तीनों ग्रंथ श्रीधर कवि के लिखे हुए बताए जाते है। तीनों अप्रकाशित हैं। डा० कोछड़ लिखते हैं कि इनकी हस्तलिखित प्रतियाँ आमेर भंडार में विद्यमान हैं। परंतु खेद है कि अभी तक अन्य कोइ प्रकाशित वर्णन उपलब्ध नही हो सका है।[1]

कवि श्रीधर अग्रवाल कुल में उत्पन्न हुआ था। इनकी माता का नाम वील्हा और पिता का नाम गेल्ह था। इन्होंने

---

१. डा० कोछड़—अपभ्रंश साहित्य, पृ० २१०।

संभवतः 'चंदप्पह चरिउ' भी रचा था। कवि दिल्ली के पास हरियाना प्रांत का रहनेवाला था। इनकी कृतियो के आधार पर इनका रचना काल वि० संवत् ११८९ से १२३० वि० के बीच का माना जाता है। इन काव्यों के प्रकाशित होने पर संभवतः तत्कालीन ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक अध्ययन संभव हो सकता है। परंतु अभी तो यही कहा जा सकता है कि वर्णन वही परंपरानुसार है, वही नारी सौंदर्य, अंगवर्णन, नगरों का अलंकृत वर्णन, कही कही भावानुकूल शब्दयोजना के साथ नदियों का वर्णन जो अभिसारिका अथवा वार विलासिनी के रूप में किया गया है।

पासणाह चरिउ (पार्श्वनाथचरित) की रचना दिल्ली में आग्राहायण मास के कृष्ण पक्ष की अष्टमी रविवार को वि० सं० ११८९ में हुई। इस ग्रंथ में बारह संधियों में पार्श्वनाथ चरित्र का वर्णन है।[1]

सुकुमाल चरिउ अहमदाबाद में सं० १२०८ वि० रचा गया है। इस ग्रंथ मे छह सधियाँ तथा २२४ कड़वक हैं और सुकुमाल स्वामी के पूर्व जन्म का वर्णन है। पूर्व जन्म में वह कौशांबी के राजमंत्री के पुत्र थे। जिन धर्म में अनुरक्ति होने के कारण उन्होने जिन धर्म मे दीक्षा ले ली। फलतः तपस्या कर अगले जन्म में उज्जैन नगरी में सुकुमाल के रूप में उन्होने जन्म लिया।

भविसत्त चरिउ (भविष्यदत्त चरित्र)—यह कथानक भी जैन संप्रदाय में अधिक प्रिय है। 'भविसयत्त कहा' नामक ग्रंथ का परिचय पहले लिखा जा चुका है उसकी रचना भी श्रुत पंचमी व्रत माहात्म्य प्रदर्शन के लिये की गई थी। इस कृति

---

1. डा० कछोड़—अपभ्रंश साहित्य, पृ० २२१।

का प्रणयन कदाचित् माथुरवंशी नारायण साहु की पत्नी रूपिणी को श्रुत पंचमी के व्रत का माहात्म्य सुनाने के लिये ही हुई है। कवि ने ६ संधि और १४३ कड़वक लिखे हैं।

सुलोचना चरिउ (सुलोचना चरित)—के रचयिता देवसेन गणि हैं। इसकी हस्तलिखित प्रति आमेर भंडार में है। यह कथानक भी जैन कवियों का प्रिय विषय रहा है। आचार्य जिन सेन ने अपने हरिवंश पुराण की उत्थानिका में लिखा है[1]।

महासेनस्य मधुरा शीलालंकार धारिणी।
कथा न वर्णिता केन वनितेव सुलोचना॥

अर्थात् शील रूपी अलंकारों को धारण करनेवाली, सुनेत्रा और मधुरा वनिता के समान महासेन की सुलोचना कथा की प्रशंसा किसने नही की ?

कुवलयमाला के कर्त्ता उद्योतन सूरि ने भी शायद इसी सुलोचना कथा के विषय में लिखा है—

सण्णिहिय जिणवरिंदा धम्मकहावंधदिक्खियणरिंदा।
कहिया जेण सुकहिया सुलोयणा समवसरणं व[2]॥

अर्थात् जिसने समवसरण जैसी सुकथिता सुलोचना कही। जिस तरह समवसरण में जिनेंद्र स्थित रहते है और धर्म कथा सुनकर राजा लोग दीक्षित होते हैं, उसी तरह सुलोचना कथा मे भी जिनेद्र संनिहित हैं और उसमे राजा ने दीक्षा ले ली है।

धवल महाकवि ने भी अपने अपभ्रंश हरिवंश पुराण में रविषेण के पद्मचरित के साथ महासेन की सुलोचना की कथा का उल्लेख किया है—

---

१. श्री नाथूराम प्रेमी—जैन साहित्य और इतिहास पृ० ५३८-३६
२. नाथूराम प्रेमी—जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ५३६।

मुणि महसेगु सुलोयणु जेण, पउपचरिउ मुणि रविसेणेण ।

कवि ने कुंदकुंद कृत सुलोचना की ओर उल्लेख किया है, परंतु खेद है कि अबतक न महासेन की कथा उपलब्ध है और न कुंदकुंद का गाथाबद्ध सुलोचना चरित्र[1] ।

काव्य में वही परंपरा है, मगध एवं राजगृह का वर्णन, शृंगार और वीररस का शात रस मे पर्यवसान, नारी सौंदर्य, नखशिख वर्णन इत्यादि परंपराभुक्त वर्णन मिलते हैं । कवि ने अपने ग्रंथ को महाकाव्य कहा है जिसकी संक्षेप में कथा इस प्रकार है—

चक्रवर्ती भरत के प्रधान सेनापति जयकुमार की धर्मपत्नी का नाम सुलोचना था । वह राजा अकंपन और सुप्रभा की पुत्री थी । सुलोचना अनुपम सुंदरी थी । इसके स्वयंवर में अनेक राजाओं ने भाग लिया । सुलोचना को देखकर वे मुग्ध हो गए । स्वयंवर में सुलोचना ने जय को चुना । परिणाम यह हुआ कि स्वयं चक्रवर्ती राजा का पुत्र अर्ककीर्ति क्रुद्ध हो उठा, उसने इसे अपना अपमान समझा । अर्ककीर्ति और जय में युद्ध ठन गया । अंत मे जय की विजय हुई ।

पज्जणु चरिउ (प्रद्युम्न चरित)—यह काव्य कविसिंह द्वारा १५ संधियों मे समाप्त किया गया है । कवि ने अपने को चार भाषाओं मे निपुण कहा है । ये चार भाषा संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और देशी ही हो सकती हैं[2] । कवि गुर्जर वंश मे उत्पन्न हुआ था और उस वंश में सूर्य समान था ।

काव्य की संधियों की पुष्पिकाओं में 'सिद्ध' और सिंह

---

१. डा० कोछड़—अपभ्रंश साहित्य, पृ० २१७ ।

२. डा० कोछड़—अपभ्रंश साहित्य, पृ० २२१ ।

नाम के दोनों शब्द मिलते हैं। पं० परमानंद जैन का अनुमान है कि सिद्ध कवि ने प्रद्युम्न चरित्र का निर्माण किया था। कालवश यह ग्रंथ नष्ट हो गया और सिंह ने खंडित रूप से प्राप्त इस ग्रंथ का पुनः उद्धार किया[१]। प्रो० हीरालाल जी भी इससे सहमत हैं[२]।

रचनाकाल के विषय में दोनो विद्वानों में मतभेद है। परंतु यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि यह रचना १२वी तथा १३वी शताब्दी की है।

प्रद्युम्न जैन सप्रदाय के अनुसार २१वें कामदेव है। कृष्ण की रानी रुक्मिणी के गर्भ से उत्पन्न होकर उन्होने नेमिनाथ प्रभु से दीक्षा लेकर १२ अंगों का अभ्यास किया और सोलह वर्ष की प्रव्रज्या का पालन कर, शत्रुंजय पर एक मास का संथारा करके परम पद प्राप्त किया[३]। प्रारभिक कथा हिंदू पुराणों के अनुसार ही है।

सनत्कुमार चरित (नेमिनाथ चरित)—यह ग्रंथ हरिभद्र सूरि ने ११५९ ई० मे अपभ्रंश मे लिखा था। यह ग्रंथ कवि ने चालुक्यवंशीय राजा सिद्धराज और कुमारपाल के मंत्री पृथ्वीपाल के आश्रय मे रहकर लिखा था। कवि ने मल्लिनाथ चरित नामक ग्रंथ प्राकृत मे लिखा था। इसके अतिरिक्त कवि की चंद्रप्रभ चरित नामक रचना का भी उल्लेख मिलता है[४]।

इस ग्रंथ मे कवि ने २२वें तीर्थंकर नेमि तथा राजमती के पूर्वभवों का वर्णन किया है। आलंकारिक भाषा मे शृंगार

---

१. अनेकांत—महाकवि सिंह और प्रद्युम्न चरित, वर्ष ८, किरण १०-११, पृ० ३९१।

२. नागपुर यूनीवर्सिटी जर्नल—सन् १९४२, पृ० ८२-८३।

३. अर्द्धमागधी कोश—भाग ३, पृ० ४०५।

४. जिन रत्न कोश, पृ० ११९।

एवं प्रेम के चित्रों को देने का कवि ने सफल प्रयास किया है। कवि शृंगार एवं प्रेम वर्णन के प्रवाह में इतना तन्मय हो गया है कि मुख्य कथा के लिये वहुत कम ध्यान दे सका है। इसी कथा के वीच मे दूसरे भव के वर्णन में सनत्कुमार चरिउ की कथा गूँथ दी गई है। सनत्कुमार जैन मतानुसार चौथे चक्रवर्ती हैं जो पंद्रहवें तीर्थंकर के समकालीन थे। यह कथानक भी वीर और शृंगार के चित्रों से युक्त है जो कुछ पृथ्वीलोक के और कुछ विद्याधर एव देव जगत् के हैं। सनत्कुमार अपने सौंदर्य के लिये प्रसिद्ध थे। वह अनेक वासनायुक्त साहसी कार्यों का संपादन कर ३,००,००० वर्ष तक जीवित रहे। वृद्धावस्था के आने पर संसार छोड़ जैनधर्म के अनुसार तपस्या करते हुए देहत्याग कर सनत्कुमार नामक स्वर्ग को प्राप्त हुए।

सनत्कुमार गजपुर के राजा अश्वसेन और उनकी रानी सहदेवी के पुत्र थे। अनेक शिक्षाएँ प्राप्त कर युवराज ने युवावस्था मे पदार्पण किया। एक दिन मदनोत्सव मे एक स्त्री को देखकर वे मुग्ध हो गए, युवती भी उनकी ओर आकर्षित हो गई। दोनों मदनायतन मे मिले और अपनी अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त किया। इसी वीच मे सनत्कुमार को कल्लोल नामक अपूर्व वायुगामी अश्व की प्राप्ति हुई। वह पवन एवं मन से भी शीघ्रगामी अश्व कुमार को लेकर दूर देश को उड़ गया। राजधानी मे हाहाकार मच गया। कवि ने इस अवसर पर वड़ा ही सुंदर विरह वर्णन किया है।

राजकुमार का मित्र अश्वसेन उसकी खोज में निकल पड़ा। मार्ग मे अनेक सुंदर वन, पर्वत, अनेक ऋतुओं के मनोरम

---

१. विटरनिट्स—हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर–भाग २, पृ० ४११।

दृश्यों को देखता हुआ अश्वसेन मानसरोवर पहुँचा। वहाँ एक किन्नरी द्वारा उसको सनत्कुमार का परिचय प्राप्त हुआ।

इधर इतने समय में कुमार ने अनेक विवाह किए। यौवन के प्रथम अवसर पर जिस रमणी को देखकर कुमार मोहित हुए थे वह भी एक यक्ष द्वारा हरी जाकर अंत मे कुमार को प्राप्त हो गई। कुमार ने अत्यंत विलासितापूर्ण नाना भोगों को भोगते हुए अपने जीवन को व्यतीत किया, बीच बीच में वीरोचित दर्प एवं उत्साह भी प्रदर्शित करते रहे। अपने बाल्यसखा महेंद्र से मातापिता की दुर्दशा सुनकर कुमार गजपुर लौट आए। पिता के विरक्त हो जाने पर राजकुमार ने राज्य सँभाला और चक्रवर्ती पद को प्राप्त किया। इंद्रादि देवताओं ने उनका अभिषेक किया, उनके सौंदर्य का गुणगान किया। अंत में रूप, यौवन तथा तेज को अस्थायी जान कुमार विरक्त हो घोर तपस्या में लीन हो गए तथा लाखों वर्ष तपस्या कर स्वर्ग प्राप्त किया।

जिणदत्त चारिउ—यह भी एक अप्रकाशित सुंदर काव्य है। इसके रचयिता लाखू या लक्खण कवि हैं। कवि के पिता का नाम राहुल और माता का नाम जयता था। कवि ने विल्लरामिपुर में इसकी रचना की और कवि पहले त्रिभुवनगिरि मे रहता था। वहाँ मुसलमानों का अधिकार हो जाने से विल्लरामिपुर में रहने लगा। पं० परमानद के विचार से यह नगर वर्तमान एटा प्रांत के अंतर्गत है[1]। ग्रंथ रचना का समय संवत् १२७५ वि० है।

धर्म के आवरण में भी यह एक सुंदर प्रेमाख्यानक है।

---

१. पं० परमानंद जैन—कविवर लक्ष्मण और जिनदत्त चरित, अनेकांत, वर्ष ८, किरण १०-११, पृ० ४०१।

जैन काव्यों में प्रायः चौथे प्रकार का प्रेमवर्णन है जो गुण-श्रवण, चित्रदर्शन, स्वप्नदर्शन आदि से बैठे बिठाए उत्पन्न होता है[1]। चित्र मे विमलवती के सुंदर रूप को देखकर ही जिनदत्त और विमलवती के विवाह का उपक्रम रचा गया है। कथानक अनेक अलौकिक कथाओं का संमिश्रण है। उदाहरणार्थ सिंहल द्वीप की राजकुमारी श्रीमती के पेट में एक विषधर सर्प था, जो उसके सो जाने पर उसके अनेक प्रेमियों की लीला समाप्त कर देता था। जिनदत्त ने उस सर्प को मारकर श्रीमती का वरण किया। पुनः सिंहल द्वीप जाकर एक अन्य राजकुमारी से विवाह कर अतुल धन संपत्ति प्राप्त कर लौटा। उत्तर काल में यह कथा जायसी की पद्मावत से मिलती है। संभवतः यह कथा चिरकाल से चली आ रही थी।

कथा के मध्य मे 'भविसयत्त कहा' का सा साम्य उपलब्ध होता है। नायक जिनदत्त जब लौट रहा था तब रास्ते में उसके किसी संबंधी ने उसे धोखे से समुद्र मे फेंक दिया और श्रीमती से प्रेम प्रस्ताव रखा। परंतु वह अपने पातिव्रत पर दृढ़ रही और अंत मे पतिपत्नी का मिलन हो गया।

संक्षेप मे यही कहना उपयुक्त है कवि का वर्णन परंपरा-युक्त होने पर सरस, मधुर तथा हृदयस्पर्शी है। व्यंजना भावानुकूल है। कवि ने वर्ण वृत तथा मात्रिक छंदो का प्रयोग किया है।

जैन कवियों ने अपभ्रंश में रचना १६वीं शताब्दी तक की है। प्रमाणस्वरूप तीन काव्यों का नाम दिया जा सकता है। ये काव्य अभी अप्रकाशित है परंतु सबकी हस्तलिखित प्रतियाँ भंडारो मे सुरक्षित हैं। इस प्रकार के काव्यो का नाम णेमि-

---

१. आचार्य शुक्ल—जायसी ग्रंथावली, पृ० ३७।

णाह चरिउ, बाहुबलि चरिउ, चंदप्पह चरिउ, सुकोशल चरिउ, सन्मति चरिउ तथा मृगांकलेखा चरित्र है। इन ग्रंथों का विशेष वर्णन अनेकात, वर्ष ६, किरण १०-११, तथा वर्ष ५, किरण १२ में और डा० कोछड के अपभ्रंश साहित्य में दिया है। ये सभी चरित्र कथानायकों की वीर एवं शृंगारिक चेष्टाओं को शांतरस मे पर्यवसित करने के लिये लिखे गए हैं। इनके रचयिता लाखन अथवा लक्ष्मण देव, धनपाल, यशःकीर्ति रयधू तथा भगवतीदास हैं। अंतिम कवि भगवतीदास की रचना के कुछ अवतरण अवश्य द्रष्टव्य है।

कवि भगवतीदास का समय वि० सं० १७०० है। आप अपभ्रंश के ज्ञात कवियों मे सबसे अतिम कवि है[1]। भगवती दास अग्रवाल जैन थे। हिंदी मे लिखी हुई इनकी अनेक रचनाओं के नाम मिलते है, परंतु प्रस्तुत ग्रंथ मे चार संधियाँ हैं।

भगवतीदास की रचना का महत्व भाषा की दृष्टि से अधिक है। भाषा खिचड़ी है। पद्धरीबध में अपभ्रंश, दोहा, सोरठा आदि में हिंदी और गाथाओ में प्राकृत दृष्टिगोचर होती है। कुछ दोहे यहाँ उद्धृत किए जाते हैं। अपभ्रंश अब हिंदी के कितनी संनिकट हो गई थी, स्पष्टतः परिलक्षित होता है। यथा —

दोहा - एक अंग को नेहड़ा, भूलि करइ मत कोई।
जलु मुरिषु मांनइ नही, मीन मरइ तन खोइ।
सोरठा-संपति विपति वियोग, रोगु भोगु भावी उदइ।
हरिषु विषाद स सोगु समाँ न चलई तिहुँ तणइ॥

१. डा० कोछड़—अपभ्रंश साहित्य, पृ० २४४।

इन पुस्तकों के अतिरिक्त ए डिस्क्रिप्टिव केटलाग आफ मेनुस्क्रिप्ट इन दी जैन भंडार एट पत्तन; गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज, संख्या ७६; ओरियंटल इन्स्टीट्यूट वड़ौदा, १६३७ मे सुलसा चरिउ (पृ० १८२), भव्य चरिउ (पृ० २६५), मल्लिनाथ चरिउ (पृ० २७०), सुभद्रा चरिउ (पृ० १२८) तथा वयसाहि चरिउ (पृ० १६०) आदि का नाम प्राप्त होता होता है, परंतु अभी हमें केवल नाम लिखकर ही संतोष करना पड़ता है। इनका अधिक परिचय अभी उपलब्ध नही है।

दिगंवर व्रतकथा वाङ्मय वहुत विशाल है। संस्कृत एवं हिंदी भाषा मे सैकड़ों ग्रंथ इसके संबंध मे उपलब्ध हैं। इन कथाओ का प्रारंभ अपभ्रंश से होता है और पचास के लगभग व्रत कथाएँ भी प्राप्त होती हैं[1]। इस प्रकार जैन धर्म से हमें अपभ्रंश की विपुल सामग्री प्राप्त होती है। प्रायः अभी तक वह धार्मिक छाप के कारण धार्मिक विद्वानों की ही कंठहार वनी रही। अतः उसपर काव्य का दृष्टि से पूरा प्रकाश नहीं पड़ पाया। धार्मिक साहित्य होने मात्र से ही कोई रचना साहित्य कोटि से पृथक् नही हो सकती। यदि ऐसी धारणा वन गई तो हिंदी साहित्य को अपने लोकप्रिय ग्रंथ रामायण से भी हाथ धोना पड़ेगा। अपभ्रंश भाषा को वौद्धों, जैनों, ब्राह्मणों के अनेक आचार्यों ने नैतिक और धार्मिक उपदेश देने के लिये अपनाया था। मध्ययुग के साहित्य की मुख्य प्रेरणा धर्म-साधना रही है। उसका परिणाम यह भी हुआ कि उस युग का वही साहित्य सुरक्षित रहा जिसमे किसी न किसी धर्मभाव का संस्पर्श रहा। धार्मिक अनुयायियों के अभाव मे अनेक वौद्ध आचार्यों की रचना भारत से विलुप्त हो गई। सिद्धों की

१. श्री अगरचंद्र नाहटा—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५२ सं० २००४, पृ० १०८।

रचनाएँ तथा अश्वघोष के नाटक आज तिब्बत, भोट तथा मंगोलिया की मरुभूमि की कृपा से प्राप्त हैं। ब्राह्मणों की संस्कृतप्रियता ने उन्हें अन्य भाषा के प्रति उदासीन रखा। वे जनभाषा को सदैव 'भाखा' कहकर निरादृत करते रहे। यहाँतक कि हम हिंदी के आचार्य केशवदास में भी हिंदी रचना करने के प्रति कुछ संकोच अनुभव करते हैं। अतः वह रचना मध्यदेश में न रह सकी जो यहाँ के धर्म के विपरीत थी। कुछ रचनाएँ ग्रंथसंग्रहकर्ताओं के उत्साह से जीवित रह सकीं, परंतु उनकी संख्या अत्यंत अल्प है। 'संदेश रासक' तथा 'कीर्तिलता' इसी श्रेणी के अंतर्गत हैं। दोनों पुस्तकें भारत के दो छोर की हैं। दोनों के लेखकों ने जनभाषा में काव्य रचने का प्रयत्न किया है। अतः थोड़ा सा वर्णन उनके काव्यात्मक रूप का भी हम यहाँ प्रस्तुत करेंगे।

धर्मनिरपेक्ष साहित्य

संदेश रासक—अपभ्रंश साहित्य की यह कृति बड़ी महत्वपूर्ण है। यद्यपि यह एक छोटा सा काव्य है जिसमे तीन प्रक्रम तथा २२३ पद हैं। इस काव्य का लेखक अद्दहमाण (अब्दुल रहमान) है। यदि कवि ने स्वयं अपना परिचय न दिया होता तो आज के विषाक्त वातावरण में यह रचना कभी भी एक मुसलमान की स्वीकृत न की जाती। अब्दुल रहमान सर्वप्रथम मुसलमान कवि हैं जिन्होंने भारत को अपना देश माना। भारत की संस्कृति को अभिव्यक्ति देने के लिये भारतीयजन भाषा को अपनाया। समस्त काव्य से कवि का भारतीय भाषा, भाव, संस्कृति एवं भाषाभिव्यक्ति प्रणाली पर प्रगाढ़ अधिकार दृष्टिगोचर होता है। दूसरी बात यह स्पष्ट होती है कि अपभ्रंश भाषा इस समय तक सर्वप्रिय साहित्यिक भाषा बन गई थी।

अंत:साक्ष्य के आधार पर कवि का जीवनवृत्त इस प्रकार है —

पच्चाएसि पहूओ पुव्वपसिद्धो य मिच्छदेसो त्थि ।
तह विसए संभूओ आरद्दो मीरसेणस्स ।।
तह तणओ कुलकमलो पाइयकव्वेसु गीयविसयेसु ।
अद्दहमाण पसिद्धो सनेहयरासय रइय[1] ।।

पश्चिम दिशा मे जो म्लेच्छ देश प्रसिद्ध है वहाँ मीरसेन नाम का व्यक्ति रहता है। उसके प्राकृत गीतकाव्य विशेषज्ञ पुत्र ने संदेश रासक की रचना की।

कवि ने आगे चलकर पद्यसंख्या ४३ मे प्राकृत काव्यों और वेदों का उल्लेख किया है तथा ४४ मे नलचरित्र, भारत, रामायण आदि का भी नाम लिया है। कथा का पथिक सामोरु नगर का वासी था[2]। टीकाकार ने 'सामोरु' की टीका मे 'मूलस्थानं नाम नगरं वर्तते' लिखा है। अर्थात् कवि मुल्तान का वासी था जिसने गुजरात तक परिभ्रमण किया था।

कवि के रचनाकाल के विषय मे मतभेद है। डा० कात्रे ने कवि का समय ११वी और १४वी शताब्दी के बीच माना है। ग्रंथ की एक हस्तलिखित प्रति की टीका वि० संवत् १४६५ की उपलब्ध हुई है। अत: कवि का इससे पूर्व होना निर्विवाद है। श्री जिनविजय मुनि का विचार है कि संदेश रासक का कवि शहाबुद्दीन गोरी के उदय से पहिले हुआ था। इसके अनुसार वह १२वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध अथवा १३वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे होना निश्चित होता है[3]।

१. अब्दुल रहमान—संदेश रासक, १, ३, ४, पृ० २-३।
२. णयरणामु सामोरु सरोरुहदलनयणि,
णयरजणसंपुन्नु हरित ससिहरवयणि।—संदेश रासक, पृ० १८।
३. जिन विजय मुनि—संदेश रासक की भूमिका (अंग्रेजी); पृ० १२।

श्री अगरचंद नाहटा इसे १४०० वि० संवत् के आसपास की रचना मानते हैं[1] और डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी को यह काव्य ११वी शताब्दी का प्रतीत होता है[2]।

हमारी समझ से आचार्य जिनविजय जी का अनुमान ठीक है। सदेश रासक में कवि ने मूलस्थान (मुल्तान) का जो वर्णन दिया है उससे प्रतीत होता है कि उस समय मुल्तान पंजाब में भारतीय संस्कृति का प्रसिद्ध नगर था। वहाँ के सूर्य मंदिर तथा सूर्य कुंड भारत भर में प्रसिद्ध थे[3]। वह भारतीय सस्कृति का एक समृद्ध और वैभवपूर्ण नगर था। कवि कहता है कि उस नगर मे कहीं विद्वान् वेदों का पाठ करते हैं, कही रासकों का अभिनय होता है, कही नल कथा होती है, तो कही सुदयवच्छ कथा। अन्यत्र नाना प्रकार से महाभारत का पाठ होता है। कही वीतराग ब्राह्मण राम कथा का उपदेश देते है। कही वीणावादन है तो कही वंशी, ढोल, मृदंग आदि का वादन हो रहा है और कहीं भावभंगिमा युक्त नर्तकियाँ नृत्य कर रही हैं। नाना प्रकार के नाट्यों का अभिनय हो रहा है। जो वहाँ जाता है आश्चर्य से जड़वत् हो जाता है। कारण गजगामिनी युवती नाना प्रकार के आभूषणों से सुसज्जित हो, आसवपान के कारण मदमस्त हो इस प्रकार के विभ्रम विलास प्रकट करती है जिसे देख दर्शक को आश्चर्य होता है कि उनकी कमर उनके उन्मत्त उरोजों के भार को किस

---

१. श्री अगरचंद नाहटा —राजस्थान भारती, भाग ३, अंक १, पृ० ५२।

२. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ७१।

३. अब्दुल रहमान—संदेश रासक, छंद ६५, पृ० २६।

प्रकार संभालती है। इस प्रकार वहाँ सर्वत्र सौंदर्य और विलास का साम्राज्य है।[1]

कवि के इस वर्णन से स्पष्ट है कि मुल्तान उस समय अपने पूर्ण वैभव पर था। अभी उसपर मुसलमानों की क्रूर दृष्टि नही पड़ी थी। इतिहास साक्षी है कि मुहम्मद गोरी के आक्रमण के वाद मुल्तान की यह श्रीवृद्धि नही रही। इसी प्रकार अन्य भी दो नगरों का वर्णन है। एक नगर विक्रमपुर मरुस्थल देश मे है जहाँ वह वियोगिनी नायिका से पथिक का साक्षात् कराता है। पथिक भी खंभात नगर को जो उस समय व्यापार का केंद्र वना हुआ था जा रहा था। नायिका का पति भी वही था। अतः वह अधिक उत्सुक हो गई। इतिहास से विदित है खंभात की श्रीवृद्धि चालुक्यवंशीय राजा सिद्धराज और कुमारपाल के समय में हुई है। अतः इन वर्णनों के आधार पर यही उपयुक्त जँचता है कि संदेश रासक की रचना १२वी शताव्दी के उत्तरार्ध और १३वी शताव्दी के पूर्वार्द्ध मे हुई।

भाषा विज्ञान की दृष्टि से अथवा भाषा के तुलनात्मक अध्ययन को ऐतिहासिक दृष्टि से देखने से भी यही अनुमान ठीक जँचता है[2]।

अव प्रश्न होता है कि संदेश रासक किस प्रकार का काव्य है। रासक की कथावस्तु का जहाँतक प्रश्न है वह अत्यंत संक्षिप्त है। कवि ने काव्य को तीन प्रक्रम में समाप्त कर दिया है। प्रथम प्रक्रम मे कवि मंगलाचरण, आत्मपरिचय

---

१. अब्दुल रहमान—सदेश रासक, ४२-५४, पृ० १८-२२।
२. सदेश रासक की भूमिका, पृ० १२।

तथा अपने से पूर्ववर्ती कवियों का वर्णन किया है। तदुपरांत विनम्रतापूर्वक काव्य रचने का उद्देश्य बतलाया है। वह स्पष्ट रूप से अपने काव्य को साधारण जन के लिये लिखा जाना स्वीकार करता है। वह कहता है कि यदि कहा जाय जब संसार में अच्छे से अच्छे काव्य हैं तो उसने क्यों प्रयास किया? इसका जो उत्तर कवि ने कुछ विस्तार से दिया है वह अवश्य ध्यान देने योग्य है। वह कहता है कि जब गंगा जी पृथ्वी पर प्रवाहित होती है तो क्या अन्य नदियाँ अपना प्रवाह स्थगित कर देती हैं[1]? क्या चंद्रोदय के समय नक्षत्रगण अपना प्रकाश बंद कर देते हैं? यदि अनेक भावभंगियों से युक्त नवरागरंजिता सुशिक्षिता नागरिक युवती नृत्य करती है तो क्या एक ग्रामीणा अपनी ताली के आश्रय पर नाच छोड़ दे? नहीं, कदापि नहीं, तब जिसमें काव्यशक्ति है वह अवश्य उसका प्रकाशन करे। अतएव वह सर्वसाधारण के लिये अपना काव्य रच रहा है क्योंकि उसे विश्वास है—

णहु रहइ बुहा कुकवित्तरेसि,
अबुहत्तणि अबुहइ णहु पवेसि।
जिण मुक्ख ण पंडिय मज्झयार,
तिह पुरउ पढिव्वउ सव्व वार[2] ॥

अर्थात्, बुद्धिमान् तो इस काव्य मे मन नही लगाएँगे, और अबुध (मूर्ख) है उनका काव्य में प्रवेश कैसा। अर्थात् वह उसमें आनंद ही क्यों लेगे? हाँ, वस्तुतः मेरा काव्य उन साधारण जनों के लिये है जो न मूर्ख है और न पंडित।

---

१. अब्दुल रहमान—संदेश रासक १–८, १७, पृ० ४-६।
२. वही—१–२१, पृ० ६।

ठीक है परंतु इस काव्य में है क्या जो साधारण जन इसे अपनाएं ? कवि ने स्वयं मध्य स्तर की जनता से प्रार्थना की है और अपने काव्य का विषय इस प्रकार कहा है-- यह काव्य सर्वशास्त्र विशारदों का विरामस्थल है, कामुकों के लिये मनोहर है, मदनमनस्को के पथ का दीपक है तथा विरहीजनों के लिये मकरध्वज है एवं रसिकजनों के लिये रस संजीवनी है। वड़े स्नेह से रतिमतिवासित कर्ण-कुहरों को अमृत के समान रस देनेवाला, विलक्षण अर्थ-वाला यह काव्य वडी विलक्षणता से लिखा गया है। जो रसिक है, विदग्ध हैं वही इसके रस को जान सकते है[1]। अस्तु, प्रथम प्रक्रम केवल भूमिका मात्र है। जिसमे कवि ने आत्मपरिचय तथा काव्यविपय वर्णन करने का प्रयत्न किया है। काव्यविषय के सबध मे यही कहा जा सकता है कि यह शृंगार का एक सुंदर खंड काव्य है।

द्वितीय प्रक्रम में कथा प्रारंभ होती है। विजयनगर की एक सुंदरी पतिप्रवास से अत्यत दु:खिता है। वह एक दिन एक पथिक को जाते हुए देखती है, उत्सुकतावश उसके पास जाती है। दोनों का परिचय हो जाता है। सुंदरी यह जानकर कि पथिक खंभात जा रहा है जहाँ उसका निर्दयी पति है, पथिक से संदेशा भिजवाती है। संदेश वर्णन मे ही समस्त ऋतुवर्णन, समस्त विरह की तड़पन, कष्ट, मानसिक दशाओं का चित्रोपम वर्णन कर तीसरा प्रक्रम भी समाप्त हो जाता है।

अंत मे जब पथिक चलने को उद्यत हो जाता है तो वह नायिका अपना संदेश इन शब्दों में समाप्त करती है—

---

१. संदेश रासक—०-२२, २३, पृ० ९-१०।

जइ अणक्खरु कहिउ भइ पहिय ।
घणदुक्खाउन्नियह मयणअग्गि विरहिणि पलित्तिहि,
तं फरसउ मिल्हि तुहु विणयमग्गि पमणिज्ज झत्तिहि ।
तिम जंपिय जिम कुवइ णहु तं पमणिय जं जुत्तु,
आसीसिवि वरकामिणिहि वट्टाऊ पडिउत्तु[1] ।।

अर्थात् हे पथिक ! अत्यत दुःख से विकल होकर, कामाग्नि से पीड़ित होकर तथा विरह से घवड़ाकर यदि कोई अकथनीय (अणक्खरु) बात कही हो, तो उस कठोरता को त्यागकर नम्र एव मधुर शब्दों मे प्रिय से कहना । ऐसी कोई बात न कहना जिससे मेरा पति कुपित हो जाय । जो उचित हो वही कहना । यह कहकर वह कामिनी पथिक को आशीर्वाद देकर विदा करती है ।

कथावस्तु समाप्त होती है । पथिक अपना मार्ग पकड़ता है । सुदरी घर की ओर मुड़ती है कि दक्षिण दिशा की ओर उसकी दृष्टि जाती है । सहसा उसका पति आता हुआ दृष्टिगोचर होता है । उसका हृदय आनंदविभोर हो उठता है । कवि ने यही आशीर्वाद के शब्दों में काव्य को समाप्त कर दिया है ।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि यह काव्य वर्णनात्मक है । इसमें एक सदेश है । अतः यह सदेश काव्य है । इसमे घटनाओं का अभाव है, केवल वर्णन ही वर्णन है । नगर का वर्णन हम पहिले दे चुके हैं । उद्यानवर्णन में कवि ने वृक्षों और वनस्पतियों की सूची उपस्थित कर दी है । समस्त काव्य में प्रवासजनित वियोग का प्राधान्य है । कवि ने वियोगिनी के वियोगपूर्ण हृदय का भावमय चित्र उपस्थित किया है ।

---

१. अब्दुल रहमान—सदेश रासक ३-२२२, पृ० ८६ ।

वर्णन की कवि मे अपूर्व क्षमता है। विरहिणी का सुंदर शब्द चित्र देखिए—

> विजयनयरहु कावि वररमणि,
> उत्तंगथिरथोरथणि, विरुडलक्क धयरट्ठपउहर।
> दीणाणण पहु णिहइ, जलपवाह पवहंति दीहर।
> विरहग्गिहि कणयंगितणु तह सामलिमपवन्नु।
> णज्जइ राहि विडंबिअउ ताराहिवइ सउन्नु[1]॥
> फुसइ लोयण रवइ दुक्खत्त,
> धम्मिल्लउ मुक्कमुह, विज्जंभइ अरु अंगु मोडई।
> विरहानलि संतविअ, ससइ दीह करसाह तोडइ।
> इम मुद्धह विलवतियह महि चलणेहि छिहंतु।
> अद्धुड्डीणउ तिणि पहिउ पहि जोयउ पवहंतु॥

अर्थात् विक्रमपुर की कोई सुंदरी, दृढ़ और स्थूल कुचवाली, बरें के समान कृश कटिवाली, धार्तराष्ट्र (राजहंस) के समान गतिवाली, दीनानना, परदेश मे गए हुए अपने पति की बाट देख रही थी। उसकी आँखों से दीर्घ जलप्रवाह चल रहा था। कनकांगी का समस्त शरीर विरहानल (के धूम्र से) से श्यामवर्ण हो गया था, ऐसा प्रतीत होता था कि मानो संपूर्ण चंद्रमा को राहु ने ग्रस लिया हो। वह आँखे पोंछ रही थी, दु:खार्त हो रही थी, केश उसके मुख पर बिखर रहे थे, जभाई ले रही थी। कभी शरीर मोड़ती थी। विरहाग्नि में संतप्त लंवी लंवी आहे भर रही थी। कभी कभी अँगुलियाँ चटका रही थी। इस प्रकार रोती हुई तथा चलते मे पृथ्वी को स्पर्श करती हुई (अर्थात् गिरती, पड़ती) अर्द्ध उद्विग्नमना उस मुग्धा ने मार्ग मे जाते हुए एक पथिक को देखा।

---

१. अब्दुल रहमान—संदेश रासक, १-२४-२५, पृ० ११-१२।

पथिक को देखकर उतावली नायिका का वर्णन कितना सुंदर है —

तं जि पहिय पिक्खेविणु पिअउक्कंखिरिय,
मंथरगय सरलाइवि उत्तावलि चलिय।
तह मणहर चल्लंतिय चंचलरमणभरि,
छुडवि खिसिय रसणावलि किंकिणिरवपसरि[1]
तं जं मेहल ठवइ गंठि णिट्ठुर सुहय,
तुडिय ताव थूलावलि णवसरहारलय।
सा तिवि किवि संवरिवि चइवि किवि संचरिय,
णेवर चरण विलग्गिवि तह पहि पंखुडिय॥
पडि उट्ठिय सविलक्ख सलज्जिर संभसिय,
तउ सिय सच्छ णियंसण मुद्धह विवलसिय।
तं संवरि अणुसरिय पहियपावयणमण,
फुडवि णित्त कुप्पास विलग्गियदर सिहण॥

अर्थात् पथिक को देखकर वह विरहिणी जब अपनी मंथर गति को छोड़कर पत्युत्सुका होकर उतावली से चली तो चंचलता के कारण उसकी मेखला खिसक कर छूट गई और समस्त क्षुद्र घंटिकाएँ फैल गईं। वह सुभगा जबतक मेखला को किसी न किसी भाँति समेटकर गाँठ बाँधती है कि उसकी स्थूल मौक्तिको की हारावली टूट जाती है। उनको संभाल कर येन केन प्रकारेण चलने को प्रस्तुत होती है तो पैरों के नूपुर उलझ जाते हैं और वह गिर पड़ती है। तदुपरांत ससंभ्रम लज्जित होती हुई झटपट उठी तो उसका श्वेत शिरोवस्त्र खिसक गया। उसको सँभाला तो देखा स्तनो के ऊपर की

---

१. अब्दुल रहमान—संदेश रासक१-१६-२८, पृ० १२-१३।

कंचुकी फट गई। क्या करे ! सभी प्रकार से दुःखित होकर वह—

> छायंती कह कह व सलज्जिर णियकरहि,
> कणयकलस झंपंती णं इंदीवरहि।
> तो आसन्न पहुत्त सगग्गिरगिर वयणि,
> कियउ सद्दु सविलासु करुण दीहरनयणि

तुरंत अपने कमल के समान हाथों से अपने स्तनों को ढकती हुई मानो कनक कलशों को सुंदर कमलों से आच्छादित कर रही है, गद्गद् गिरा युक्त वह दीर्घ नेत्रा किसी न किसी प्रकार उस पथिक के सन्निकट उपस्थित हुई।

कितना स्वाभाविक चित्र है। नारी की विवशता, उसकी दयनीय दशा, विह्वलता तथा उत्सुकता सभी नेत्रों के संमुख चित्रवत् उपस्थित हो जाती है। प्रत्येक शब्द चलचित्र की नाईं चित्र उपस्थित करता है।

उसकी इस करुण दशा से पथिक भी विचलित हो जाता है। अपनी यात्रा स्थगित कर उसकी विरहव्यथा को दत्त-चित्त हो सुनता है, उसके अविरत करुणाश्रु देखकर पथिक भी चकित हो जाता है। किस प्रकार उसे शांति दे। पथिक नहीं जान पाता वह केवल यही कहता है 'शुभे, तुम अपने आँसुओं को रोको, जाते हुए पथिक का अमंगल न करो', तुरंत विरहकातरा उत्तर देती है, 'हे पथिक आपका इष्ट सिद्ध हो, मै रोती नही हूँ केवल विरहानल का धूम्र आँखो को सजल कर रहा है।'[1]

पथिक अपने कार्य की आवश्यकता बतलाकर शीघ्र जाने को

---

१. अब्दुल रहमान—संदेश रासक २-१०६, पृ० ५४।

उत्सुक है परंतु वह विरहव्याप्त बाला इतनी दु.खी है कि बड़ी चतुरता से अपने हृदय की परिवेदना का निवेदन करती है। उस निवेदन मे इतनी कातरता है कि पथिक न जा सकता है और न उसे छोड़ सकता है। समस्त द्वितीय प्रक्रम इसी उत्तर प्रत्युत्तर मे समाप्त हो जाता है और तीसरे मे षड्ऋतु वर्णन का अवसर प्राप्त हो जाता है।

काव्य का मुख्य विषय विप्रलंभ शृंगार है। अतः ऋतु-वर्णन में विरहातप का आधिक्य है। नायिका को सभी वस्तुएँ दु.खदायिनी हैं, अरुचिकर है। आनंदकर वस्तुएँ उसके ताप को बढाने मे सहायक हो गई है। उदाहरण के लिये शरद् वर्णन ही पर्याप्त होगा।

शरद् ऋतु आई, दिवाली का त्योहार आ गया। घर घर उत्सव है परंतु नायिका का भवन सूना है। उसे निराशा है, ईर्ष्या है, असूया है, घृणा है। शरद् का संपूर्ण सौंदर्य, त्यौहार का सारा उत्साह उसके प्रियतम को घर लाने मे असमर्थ रहा। अतः वह दुःखी है और आश्चर्य से सोचती है कि क्या उस देश में शुभ्र ज्योत्स्ना के साथ चंद्रमा नही प्रकट होता? क्या वहाँ कमलसेवी हंस कलरव नही करते? क्या वहाँ सुललित, सुमनोहर प्राकृत काव्य नही पढ़ा जाता? अथवा क्या वहाँ कोकिला अपने पंचम स्वर से नही कूकती? क्या वहाँ प्रत्यूप वेला में रवि किरणों से प्रफुल्लित कुसुम गंध नही छोडते? अच्छा, हे पथिक! मैंने जान लिया कि यदि शरद् समय मे भी पति गृह का स्मरण नही करते तो वे रसज्ञ नही हैं[1]।

उपर्युक्त पद मे हमे सूरदास की गोपियो का 'किधौ घन

---

१. अब्दुल रहमान—संदेश रासक, ३ १८३, पृ० ७४।

गर्जत नहिं उन देसन'[1] गाती हुई गोपियों का ध्यान हो आता है। इसी प्रकार नागमती कहती है—

कातिक सरद चंद उजियारी, जग शीतल हौ विरहे जारी।
चौदह करा चाँद परगासा, जनहुँ जरे सब धरति अकासा।
तन मन सेज करे अगिदाहू, सब कह चंद,भएउ मोहि राहू।
चहूँ खंड लागे अँधियारा, जो घर नाही कंत पिआरा।
अबहूँ, निठुर! आउ एहिबारा, परब देवारी होइ संसारा।
सखि झूमक गावैं अंग मोरी, हौ झुराव, बिछुरी मोरि जोरी।

शरद् के व्यतीत होते ही हेमंत आ जाती है। क्रमानुसार सभी ऋतुओं का वर्णन प्राप्त हो जाता है। सदेश रासक के ऋतुवर्णन में विरह दशा की अनुभूतियों के वर्णन का प्रयास अधिक है। 'जायसी की भाँति अद्दहमाण ने सादृश्यमूलक अलंकार और बाह्यवस्तु निरूपक वर्णन की ओर पाठक का ध्यान न ले जाकर विरहकातर मनुष्य के (चाहे वह स्त्री हो या पुरुष) मर्मस्थल की पीड़ा को अधिक व्यक्त किया है। संदेश रासक का पद्य बाह्य वस्तुओं की संपूर्ण चित्रयोजना इस कौशल से करता है कि उससे विरहिणी के व्यथाकातर कोमल हृदय की मर्म वेदना ही मुखर हो उठती है। वर्णन चाहे जिस दृश्य का हो, व्यंजना हृदय की कोमलता और मर्म-वेदना की ही होती हैं।[3] समस्त संदेश रासक में बाह्य प्रकृति का वर्णन केवल सहानुभूतिमय प्रेमपरायण हृदय को दिखा देने के साधन के रूप में ही लिया गया है। जायसी के बारहमासा में भी सर्वत्र यही बात उपलब्ध होती है।

---

१. सूरसागर—नागरीप्रचारिणी सभा, पदसंख्या ३६२८।
२. जायसी ग्रंथावली, पृ० १७५।
३. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य का आदिकाल, पृ० ८४।

संदेश रासक छोटा सा केवल २२३ पद्यों का काव्य है परंतु उसमें कवित्व की छटा दर्शनीय है। उसके भावपक्ष का कुछ वर्णन हम ऊपर दे चुके हैं, अब थोड़ा कलापक्ष पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक हैं।

आचार्य हजारीप्रसाद जी का कथन पूर्णतया सत्य है कि रासक मे सादृश्यमूलक अलंकारों का ही अधिक प्रयोग है। अलंकारों का बाहुल्य नही। उनका प्रयोग कवित्वसौंदर्य प्रबर्द्धन हेतु हुआ है, अलंकारप्रयोग प्रदर्शन की क्षमता-प्रदर्शन हेतु नही। सादृश्यमूलक अलकारों में सादृश्य योजना दो वस्तुओं के स्वरूपबोध सादृश्य के साथ साथ भावव्यंजना एवं भावतीव्रता भी प्राप्त होती है। यथा—

विरहग्गिहि कणयंगि तणु तह सामलिम पवन्नु।
णज्जइ राहि विडंबिअउ ताराहिव सउन्नु[1]॥

अर्थात् उस कनकांगिनी का शरीर विरहाग्नि से ऐसा काला हो गया मानो पूर्ण चंद्रमा को राहु ने ग्रस लिया हो। यहाँ शरीर की क्षीणता एवं श्यामता दोनों अभि-व्यंजित की गई हैं। कही कही श्लेष और यमक के भी उदाहरण उपलब्ध होते हैं। यथा—

तुय समरंत समाहि मोहु विसमट्ठियउ,
तह खणि खुवइ कवालु न वामकरट्ठियउ।
सिज्जासणउ न मिल्हउ खण खटंग लय,
कावालिय कावालिणि तुय विरहेण किय[2]॥

अर्थात्, हे कापालिक! आपके वियोग में कापालिनी

---

१. अब्दुल रहमान—संदेश रासक २-२४, पृ० ११।
२ अब्दुल रहमान—सदेश रासक २-८६, पृ० ३३-३४।

(योगिनी) हो गई हूँ, आपका स्मरण ही मोह (मूर्छा तथा स्नेह) समुत्थित समाधि है। मेरा वाम कर क्षणमात्र भी कपाल (भिक्षापात्र तथा मस्तक) से दूर नही होता, खट्वा-गलय (खाट मे पड़कर अथवा योगियो का एक प्रकार का उपकरण) हो शैयारूपी सिहासन को पलभर नही छोड़ सकती।

इसी प्रकार पद्यसंख्या १०४ और १८३ मे सुंदर यमक के दर्शन होते है। भाषा मे भावानुकूल शव्दयोजना है, लोकोक्ति और मुहावरों का समुचित प्रयोग है। जहांतक भाषा के स्वरूप का प्रश्न है डा० नामवर सिह का मत इस प्रकार है—

'इन सबसे यही प्रमाणित होता है कि अव्दुल रहमान को संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य की परंपरा का वहुत अच्छा ज्ञान था और उन्होने इस काव्य मे अपने अध्ययन और अनुभव का सारा निचोड़ रख देने की चेष्टा की। यह समझना भ्राति है कि यह ग्राम्य अपभ्रंश मे लिखा हुआ काव्य है। वस्तुतः इसके भाव और भाषा दोनों पर नागरिकता की छाप है। छंद विविधता और अलंकार सज्जा दोनों ही दृष्टियों से 'संदेश रासक' 'अत्यंत परिमार्जित रचना है।[1]'

जहाँतक अनुभव एवं अध्ययन का प्रश्न है डा० नामवर सिह के मत से मतवैभिन्य होने की कोई संभावना नही, परंतु उनके कथन के भ्रांतिवाले अंश से हम सहमत नही। 'संदेश रासक' की रचना सर्वसाधारण के लिये है अतः वह परिमार्जित साहित्यिक भाषा है, यह वात कदापि

---

१ डा० नामवर सिंह—हिंदी साहित्य में अपभ्रंश का योग, पृ० २५६।

नही हो सकती। वर्तमान युग में भी बहुत सी रचना जन-साधारण के लिये लिखी जा रही है जिनमे स्वांग, लावनी, जिकड़ी के भजन, तथा भोग आदि हैं। यदि उनको विवेकपूर्ण दृष्टि से पढ़ा जाय तो उनमें भी अलंकारों, मुहावरों, प्रतीकों, पौराणिक उपाख्यानों एवं दार्शनिक व्याख्याओं का स्वाभाविक वर्णन होता है। इन वर्णनों के आधार पर उन ग्रंथों को हम परिमार्जित नही मान सकते। अब्दुल रहमान ने जो बीच बीच मे गाथा दे दी हैं वे उनकी प्राकृतपटुता की सूचक मात्र हैं—वे केवल ज्ञान प्रदर्शनमात्र हैं। उनका उद्देश्य सर्वसाधारण में अपनी धाक बिठाना भी हो सकता है। परंतु उन्होंने अपनी रचना को बोलचाल की भाषा के अधिक समीप रखा है[1]। अतः यही कारण है कि हमें इस ग्रंथ से तत्कालीन भाषा की प्रवृत्ति अधिक उपलब्ध होती हैं। हमें डा० कोछड़ का मत अधिक युक्तियुक्त एवं समीचीन लगता है। वे लिखते हैं—

'इस काव्य में प्रयुक्त भाषा का रूप अधिकतर बोलचाल में प्रयुक्त होनेवाली अपभ्रंश का रूप है। यह भाषा का रूप साहित्यिक अपभ्रंश से भिन्न है। अपभ्रंश का उत्तरकालीन रूप, जिस पर प्रांतीय भाषाओं का प्रभाव भी सन्निहित है, इस काव्य में देखा जा सकता है[2]।'

कीर्तिलता—सर्वप्रथम ग्रिअर्सन ने विद्यापति की कीर्तिलता और कीर्तिपताका को अपभ्रंश की रचना स्वीकार किया था। कीर्तिलता का देवनागरी अक्षरों में सर्वप्रथम संस्करण डा० बाबूराम जी सक्सेना के संपादकत्व में नागरी-

---

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिंदी साहित्य का आदिकाल, पृ० ४२।

२. डा० कोछड—अपभ्रंश साहित्य, पृ० २५६।

प्रचारिणी सभा द्वारा १९२९ में तथा दूसरा संस्करण कीर्ति-लता और अवहट्ट भाषा के नाम से डा० शिवप्रसाद सिंह द्वारा १९५५ मे साहित्य भवन, प्रयाग से प्रकाशित हुआ है। परंतु खेद है कि 'कीर्तिपताका' का उद्धार नेपाल दरबार से अभीतक न हो सका।

कीर्तिलता एक ऐतिहासिक काव्य है। परवर्ती संस्कृत काल मे ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम काव्य लिखने की प्रथा खूब चली। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का अनुमान है कि यह प्रथा संभवतः भारत मे आनेवाली अनेक जातियों के संसर्ग का फल है[1]। परंतु यह निश्चित है कि भारतीयो ने उनसे नाममात्र ग्रहण किया। 'शैली उनकी वही प्राचीन रही, जिसमे काव्य-निर्माण की ओर अधिक ध्यान था, विवरण संग्रह की ओर कम; कल्पना विलास का अधिक मान था, तथ्य निरूपण का कम; संभावनाओ की ओर अधिक रुचि थी, घटनाओं की ओर कम, उल्लसित आनंद की ओर अधिक झुकाव था, विलसित तथ्यावली की ओर कम। इस प्रकार इतिहास को कल्पना के हाथ परास्त होना पड़ा। ऐतिहासिक तथ्य इन काव्यो मे कल्पना को उकसा देनेवाले साधन मान लिए गए। राजा का विवाह, शत्रुविजय, जलक्रीडा, शैल वन विहार, दोला-विलास, नृत्यगान प्रीति—ये सब बातें ही प्रमुख हो उठी हैं।'[2] कविवर्णन संभावनाओं के आधार पर अधिक चला है यही कारण है कि ऐतिहासिक काव्यों की इतिहास से संगति बिठानी कठिन हो जाती है।

---

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिंदी साहित्य का आदिकाल, पृ० ७०।

२. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—वही, पृ० ७०।

सच बात यह है कि भारतीयों का ध्यान कभी इतिहास के उस रूप एवं अर्थ पर नही गया जिस स्वरूप एवं अर्थ में वह आज स्वीकृत है। यहाँ बराबर प्रवृत्ति यह रही है कि व्यक्ति में कुछ अपूर्व, अलौकिक दिव्यगुण एवं शक्ति का आरोप हो जाय। अपनी धार्मिक पृष्ठभूमि एवं दार्शनिक विचारधारा के कारण तथा उसी के अनुसार चरित्रों को गतिविधि देने के लिये तथ्य और कल्पना का अद्भुत सामंजस्य स्थापित किया गया है।

इस ऐतिहासिक काव्यपरंपरा का जन्म संस्कृत के उत्तरकाल में हो चुका था। कुछ विद्वान् उसे सामंत युग की देन कहते हैं और ईसा की दूसरी शताब्दी से इनका आरंभ मानते हैं। परंतु शिलालेखों और ताम्रपट्टों की प्रशस्तियों को छोड़कर पुस्तकाकार मे इतना प्राचीन काव्य कोई उपलब्ध नही[१]। सातवी शताब्दी मे समसामयिक राजाओ के नाम का हर्पचरित है। बाद की शताब्दियों मे यह बात बहुत लोकप्रिय हो गई और ९वी १०वी शताब्दी में संस्कृत प्राकृत मे ऐसी रचाओं ने लोकप्रियता प्राप्त की। हर्प-चरित काव्य प्रथम है तदुपरांत चरित। यद्यपि शास्त्रीय शब्दावली मे वह आख्यायिका है। संस्कृत का सबसे पहिला काव्य पद्मगुप्त परिमल का लिखा नवसाहसांक चरित (१००५ ई०) है। इसमे सिंधुराज और शशिप्रभा नामक राजकुमारी के विवाह का वर्णन है। दूसरा, कवि विल्हण कृत विक्रमाक देव चरित है जिसमे कवि ने अपने आश्रयदाता चालुक्य वंशी नरेंद्र विक्रमादित्य पष्ठ (१०७६-११२७) का यश तथा वंश वर्णन किया है। तदुपरात उल्लेखनीय ग्रंथ कल्हण की राजतरंगिणी है। तरंगिणी इतिहास का एक प्रसिद्ध ग्रंथ

---

१. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—वही, पृ० ६८।

२. कीथ—हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० १६१।

माना जाता है। जहाँतक संभव हो सका है कल्हण ने ऐतिहासिक तथ्यों का वर्णन किया है परंतु वह भी परंपरागत प्रभाव को दूर नहीं कर सका। इसके उपरांत तो एक परंपरा ही चल पड़ी। अब ऐतिहासिक काव्य, चरित, विजय, विलास के नाम से लिखे जाने लगे। कुछ उल्लेखनीय काव्य कवि हेमचंद्र कृत कुमारपाल चरित्र (१०८४-११७२),[१] सोमेश्वर की कीर्ति कौमुदी, वालचंद्र सूरि का वसंत विलास, जयचंद्र सूरि का हम्मीर काव्य तथा जयानक कवि रचित पृथ्वीराज विजय है। पृथ्वीराज विजय की अपूर्ण प्रति प्राप्त है।

संस्कृत की यह परंपरा प्राकृत एवं अपभ्रंश में भी अपनाई गई परंतु रूप कुछ वदल गया। यशोवर्मा के सभा पंडित वाक्पतिराज का गउडवहो अपनी शैली के लिये प्रसिद्ध है। अपभ्रंश अथवा पुरानी हिंदी में पृथ्वीराज रासो, खुमान रासो, वीसलदेव रासो आदि आदि इसी कोटि के काव्य है।

इन ऐतिहासिक काव्यों मे 'कीर्तिलता' का स्थान कुछ विशिष्ट है। यद्यपि यह पुस्तक भी अपने आश्रयदाता तथा समसामयिक राजा की कीर्ति गाने के उद्देश्य से लिखी गई है और कविजनोचित अलंकृत भाषा मे रची गई है, तथापि इसमे ऐतिहासिक तथ्य को कल्पित घटनाओं अथवा संभावनाओ के आधार पर धूमिल नहीं किया गया है। यह एक चरित काव्य भी है। चरित काव्यो की भाँति इसमे आरंभ में कुछ पंक्तियाँ सज्जन प्रशंसा और दुर्जन निंदा के स्वरूप मे हैं। यथा—

> सुअण पसंसइ कव्व मझु, दुज्जन वोलइ मंद।
> अवसओ विसहर विस वमइ, अमि विमुक्कई चंद[२]॥

---

१. कीथ—हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० १७२।

२. विद्यापति—कीर्तिलता, पृ० ४।

अर्थात् सज्जन मेरे काव्य की प्रशंसा करेंगे और दुर्जन बुरा कहेंगे। कारण सज्जन चंद्रमा के समान हैं जो अमृत का वर्षण करते हैं और दुर्जन विषधर हैं जो सदैव विषवमन करते हैं।

कीर्तिलता को लेखक ने स्वयं एक 'सुपुरिस कहानी' कहा है[1]। और कहानी को भी धार्मिक रूप देने का प्रयत्न किया है क्योंकि दोहे की अंतिम पंक्ति में उसका माहात्म्य भी वर्णन कर दिया है। डा० हजारीप्रसाद का अनुमान है कि कवि ने जो उसे 'कहाणी' अथवा 'कथानिका' कहा है वह संभवतः उसके आकार की छोटाई के कारण है वरना उसमे उस समय के देशभाषा साहित्य के गुणानुवाद प्रधान चरित काव्यों के अनेक लक्षण प्राप्त होते हैं।[2] मध्यकालीन काव्यों में नगर वर्णन, युद्ध वर्णन, षड्ऋतु वर्णन तथा सज्जन प्रशंसा एवं दुर्जन निंदा आदि मुख्यतः प्राप्त होते हैं। चरित्र उद्घाटन के लिये कोई न कोई पारस्परिक संवाद का आयोजन किया जाता है। कहीं पति पत्नी तो कही शुक या श्रोता और वक्ता का आयोजन पौराणिक शैली से ज्यों का त्यों इन कथाओं में अपना लिया गया है। अपभ्रंश में जैन पुराणों का प्रवचन राजा श्रेणिक के प्रश्नों के उत्तर स्वरूप गौतम गणधर द्वारा हुआ है। कीर्तिलता की कहानी भी भृंगी और भृंग के बातचीत के रूप में है। कहानी चार पल्लवों में विभक्त है जो इस प्रकार है—

कथानक—'कीर्तिलता' जैसा नाम से प्रकट है, राजा कीर्तिसिंह की जीवनकीर्ति को वर्णन करने के लिये लिखी गई है।

---

१. पुरिस काहानी हओ (कहओ) जसु पत्थावे पुण्णु।
सुक्ख सुभोअन सुभवअण देवहा जाह सपुन्न॥
—विद्यापति-कीर्तिलता, पृ० ८।

२. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ५९।

इसमे उनके युद्ध और राज्यलाभ का वर्णन है। कवि ने ग्रंथ का आरंभ संस्कृत मे पार्वती और शिव के मंगलाचरण से किया है। सरस्वती वंदना कर कवि कीर्तिसिंह की उदारता एवं दानशीलता की प्रशंसा करता है। आत्मविनय, आत्मप्रशंसा, खलनिंदा, तथा सज्जन प्रशंसा एवं भाषा प्रयोग[1] विषय पर प्रकाश डालकर भृंग और भृंगी के संवाद के रूप में कहानी चलती है।

भृंगी प्रश्न करती है —'संसार में सार क्या है?' भृंग उत्तर देता है मानपूर्वक वीर पुरुष का जीवन। भृंगी पूछती है वीर पुरुष कौन है? भृंग वीर पुरुष के लक्षण देकर दो चार नाम गिनाकर राजा कीर्तिसिंह का नाम लेता है। भृंगी को इनका चरित्र सुनने की इच्छा होती है। भृंग उसकी उत्सुकता की तृप्ति हेतु कहानी कहता है।

'जगत्प्रसिद्ध ओइनी वंश का वृत्तांत किस प्रकार कहूँ, जिसमें कामेश्वर, योगीश्वर और गणेश्वर राजा हुए। गणेश्वर के पुत्र श्रीमद् वीरसिंह देव के छोटे भाई कीर्तिसिंह जी हैं। उन्होंने शत्रुओं का नाश कर डूबते हुए राज्य का उद्धार किया और रूठी हुई राज्यलक्ष्मी को पुनः मना कर घर लाए। (यहाँ पर प्रथम पल्लव समाप्त हो जाता है)

भृंगी के पुनः प्रश्न करने पर भृग उत्तर देता है। लक्ष्मण सेन नरेश का जब संवत् २५२ था, राजा गणेश्वर ने असलान

---

१. सक्कअ वाणी बुहअन भावइ,
पाउअ रस का मम्म न पावइ।
देसिल वअना सब जन मिट्ठा,
तं तैसन जम्पओ अवहट्ठा।
—विद्यापति—कीर्तिलता, पृ० ६।

नामक मुसलमान नवाब को परास्त किया, परंतु असलान ने कपटाचरण से राजा का बध करा दिया। चारो ओर अराजकता फैल गई। अंत में असलान को पश्चात्ताप हुआ। उसने राजा के दोनों पुत्रों को राज्य वापिस देना चाहा परंतु दोनों पुत्र वीरसिंह तथा कीर्तिसिंह ने प्रतिहिंसा की इच्छा से शत्रु समर्पित राज्य को स्वीकार नही किया। वह पैदल ही जौनपुर के राजा के पास सहायता माँगने तथा शिकायत करने चल दिए। मार्ग में नाना प्रकार के कष्ट झेलकर वे जौनपुर में इब्राहीम शाह की राजधानी मे पहुँचे। वहाँ बाजार हाट की सैर कर एक ब्राह्मण के घर निवास किया।

दूसरे दिन प्रात.काल राजा के वजीर के दर्शन किए। उसने बादशाह से भेंट करने का परामर्श दिया। शुभ अवसर पर भेंट कर, कुशल वार्ता पूछी जाने पर उन्होने असलान की धृष्टता तथा अपने पिता के बध का समाचार इब्राहीम शाह से कहा। बादशाह असलान पर अत्यंत अप्रसन्न हुआ। तुरंत उसके विरुद्ध एक विशाल वाहिनी को प्रयाण करने का आदेश हुआ। परंतु सेना जब संनद्ध होकर चली तो वह पूर्वाभिमुख न होकर पश्चिम को चल दी। कुमारों की आशा टूट गई। उपाय भी क्या था ? निदान सेना के साथ हो लिए। चारों ओर दिग्विजय करती हुई वाहिनी आगे बढी। इस बीच में समय बहुत हो गया। कीर्तिसिंह के साथियों ने निराश होकर साथ छोड़ दिया। केवल केशव कायस्थ और सोमेश्वर ने अंत तक साथ दिया। कुमारों ने पुन. सुल्तान से भेंट की। तुरत पूर्व को प्रयाण करने की आज्ञा हुई।

अगणित योद्धागणों की उस अपूर्व वाहिनी ने विपक्षियों के मद दर्प को चूर्ण करते हुए तिरहुत मे प्रवेश किया। सुल्तान ने असलान की वीरता सुनी और कहा कि उस बलशाली को

क्योंकर पकड़ा जाय। कीर्तिसिंह आगे बढ़े और असलान को परास्त करने की प्रतिज्ञा की। सुल्तान की आज्ञा से पूरी सेना को लेकर कीर्तिसिंह ने असलान पर आक्रमण किया। भयंकर संग्राम हुआ, रक्त की नदी बह चली। वीरसिंह और कीर्तिसिंह के पराक्रम से असलान की सेना के पैर उखड़ गए। सेना को हताश होते देख असलान तलवार हाथ मे ले कीर्तिसिंह पर टूट पड़ा। कर्णार्जुन की भाँति घोर संग्राम ठना। अंत मे असलान ने मैदान छोड़ दिया। पीठ दिखा दी। कीर्तिसिंह ने घोषणा कर दी कि वे पलायित शत्रु पर शस्त्र प्रहार नही करेंगे। राजा को विजयलक्ष्मी प्राप्त हुई। सुल्तान ने स्वयं अपने हाथ से कीर्तिसिंह का अभिषेक किया।

सक्षेप मे समस्त कीर्तिलता का यही विषय है। कथानक छोटा है परंतु वर्णनात्मक चित्रों से भरपूर है। राजा गणेश्वर की मृत्यु के उपरांत जो देश मे अराजकता फैली उसका कवि वर्णन करता है —

ठाकुर ठक भए गेल चोरे चप्परि घर लिज्जिअ।
दास गोसाइनि गहिअ धम्म गए धंध निमज्जिअ॥
खले सज्जन परिभविअ कोइ नहि होइ विचारक।
जाति अजाति विवाह अधम उत्तम का पारक॥
अक्खर रस बुज्झनिहार नहि, कइकुल भमि भिक्खारि भउं।
तिरहुत्ति तिरोहित सब्ब गुणे रा गणेस जबे सग्ग गउं॥[१]

अर्थात् जब गणेश्वरराय स्वर्ग धाम सिधार गए तब ठाकुर ठग हो गए, चोरों ने बलपूर्वक घर छीन लिए, नौकरों ने स्वामियो को पकड़ रखा, धर्म गया, धंधे विनष्ट हो गए, दुष्टों द्वारा सज्जनों का परिभव होने लगा, कोई विचारक

१. विद्यापति—कीर्तिलता, पृ० १६-१७।

(न्यायकर्त्ता) शेष न रहा, जाति कुजाति के विवाह होने लगे, अधम, उत्तम का भेद जाननेवाला कोई न रह गया। अक्षररस को जाननेवाला कोई न बचा, कवि लोग घूम घूम-कर भिखारी हो गए। तिरहुत के सभी गुण मानों राजा गणेशराय के साथ तिरोहित हो गए।

वर्णन छोटा है परंतु भावपूर्ण है। दोनों राजकुमारों की पैदल यात्रा का वर्णन भी बड़ा करुणोत्पादक है। जौनपुर की समृद्धि का भव्य वर्णन है। जौनपुर क्या था लक्ष्मी निवास था। बाग बगीचे, मकान, रास्ते, हाट बाट, पुष्करिणी, संक्रमसोपान तथा सैकड़ों श्वेत दरवाजों से मंडित, सुवर्ण कलशों से सुशोभित हजारों शिवालय दिखाई देते थे। स्थल कमलिनी की भांति बड़ी आँखोवाली कामिनियाँ, मतवाले हाथी के समान गतिवाली चौराहों पर फिर फिर कर जाते हुए मनुष्यों के झुंड को देखती थी[1]। नगर देखने में सुंदर था। नीरप्रक्षालित सुंदर मेखला से विभूषित था। यही नही कवि ने नगर की छोटी छोटी बातों का भी ब्योरेवार वर्णन उपस्थित किया है। गलियों में कर्पूर, कुंकुम, सौगंधिक, चामर, कज्जल बेचने वालो के साथ ही साथ काँसे के बर्तन बनानेवालों की गली थी। जहाँ ठन ठन की ध्वनि से कान गुंग हो जाते थे।

नगर के वर्णन के उपरात विद्यापति ने मुसलमानों के रहन सहन का वर्णन किया है। मुसलमानो के अत्याचार का भी कवि ने संकेत किया है। मुसलमान क्या करते है—

घरि आनए बाँभन बटुआ, मथाँ चडावए गाइक चुडुआ।
फोट चाट जनउ तोड, उपर चढावए चाह घोर॥

---

१. विद्यापति — वही, पृ० २६-४५।

घोआउरि धाने मदिरा साँध, देउर भाँगि मसीद बाँध।
गोरि गोमठ पुरिल मही, पएरहु देना एक ठाम नही ॥
हिंदु बोलि दुरहि निकार, छोटेओ तुरुका भभकी मार ॥
हिंदूहि गोट्टओ गिलिए हल, तुरुक देखि होअ भान।[1]

अर्थात् तुरुक ब्राह्मण वटुक को पकड़ लेता है और उसके मस्तक पर गाय का शोरवा रख देता है, चंदन का तिलक चाट जाता है, यज्ञोपवीत तोड़ डालता है, उसके मस्तक पर घोडा चढ़ा देना चाहता है (अर्थात् उसे अपने घोड़े से कुचल डालना चाहता है), धोए हुए धान से मदिरा तैयार करता है, मंदिर तोड़कर मस्जिद बनाता है। कब्रों और कसाइयो से पृथ्वी व्याप्त हो गई है, पैर रखने का भी स्थान नही है। (मुसलमान) हिंदू को बुलाकर दुत्कार कर निकाल देता है। छोटा मुसलमान भी भभक पड़ता है। तुरुकों को देखकर यही जान पड़ता है कि वह हिंदुओं के समूह को निगल जायंगे[2]। इसी प्रकार कवि ने सेनाप्रयाण तथा युद्ध के वर्णन भी बड़ी सुंदरता से किए हैं। जौनपुर के वर्णन में कवि ने वेश्याओं का वर्णन भी किया है। उनके वर्णन से तत्कालीन वेशभूषा एवं प्रसाधन के साधनों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। कवि ने ऐतिहासिक तथ्यों को कल्पनात्मक रूप देने का प्रयत्न नही किया, और न कीतिलता के चित्रों मे प्रौढ़ कवित्व का प्रदर्शन प्राप्त होता है। यह कवि की सर्वप्रथम रचना है। कीतिलता का महत्व

---

१. विद्यापति– कीर्तिलता, पृ० ४४।

२. उपर्युक्त वर्णन में कवि ने ब्राह्मण बालक का वर्णन साभिप्राय किया है। ब्राह्मण पूज्य होने के कारण मुसलमानो के आक्रोश के प्रधान पात्र रहे। प्राय· ब्राह्मणों की दुर्दशा कर वे हिंदू जनता के विक्षुब्ध एवं निराश हृदय को लज्जित करने का प्रयास करते थे।

ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक है। आचार्य हजारीप्रसाद ने इस सुंदर काव्य का जो वर्णन किया है वह इतना सुंदर है कि हम यहाँ उसे अविकल रूप में दे रहे है—

'इन ऐतिहासिक काव्यों में 'कीर्तिलता' का स्थान कुछ विशिष्ट है। यद्यपि यह पुस्तक भी आश्रयदाता समसामयिक राजा की कीर्ति गाने के उद्देश्य से रची गई है और कवि-जनोचित अलंकृत भाषा मे रची गई है तथापि इसमें ऐति-हासिक तथ्य कल्पित घटनाओं या संभावनाओं के द्वारा धूमिल नही हो गया है। कीर्तिसिंह का चरित्र बहुत ही स्पष्ट और उज्वल रूप मे चित्रित हुआ है। कवि की लेखनी चित्रकार की उस तूलिका के समान नही है जो छाया और आलोक के सामजस्य से चित्रों को ग्राह्य बनाता है, बल्कि उस शिल्पी की टाँकी के समान है जो मूर्तियों को भित्तिमात्र मे उभार देता है। उस काल के मुसलमानो का, हिंदुओं का, सामंतो का, शहरों का, लड़ाइयों का, सेना के सिपाहियों का इतना जीवंत और यथार्थ वर्णन अन्यत्र मिलना कठिन है। कवि ने जो भी सामने आ गया उसका ब्यौरेवार वर्णन करके चित्र को यथार्थ बनाने का प्रयत्न नही किया है, बल्कि आवश्यकतानुसार निर्वाचन, चयन और सामंजस्य योजना द्वारा चित्र को पूर्ण और सजीव बनाने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार यह काव्य इतिहास की सामग्री से निर्मित होकर भी केवल तथ्यनिरूपक पुस्तक नही बना है, सचमुच का काव्य बना है। बहुत कम स्थलो पर कवि ने केवल संभावनाओ को वृहदाकार बनाया है। कीर्तिसिंह का वीररूप भी स्पष्ट हो जाता है और जौनपुर के सुल्तान फीरोजशाह के सामने उनका अतिनम्र तथा भक्ति-मान् रूप भी प्रकट हुआ है। इन सब चित्रणो मे कवि ने कीर्तिसिंह के द्वितीय रूप को दबाने का या उज्वलतर रूप में

चित्रित करने का प्रयास नही किया, वल्कि ऐतिहासिक तथ्य को इस भाँति रखने का प्रयत्न किया है कि जिस स्थान पर कथानायक झुकता है, वहाँपर पाठक की सहानुभूति और प्रशंसा का पात्र वना रहता है। छंदों के चुनाव मे भी कवि ने कुशलता का परिचय दिया है। लयात्मक विवरण को मोड़ने के साथ ही साथ छंदों को वदल देता है, और पाठक के चित्त में उत्पन्न हो सकनेवाली एक धृष्टता (मोनाटनी) को कम कर देता है। सब मिलाकर कीर्तिलता अपने समय का वहुत ही सुंदर चित्र उपस्थित करती है। वह इतिहास का कविदृष्ट जीवंत रूप है। उसमें न तो काव्य के प्रति पक्षपात है, न इतिहास की उपेक्षा, उसमे यथास्थान पाठक के चित्त में करुणा, सहानुभूति, हास्य, औत्सुक्य और उत्कंठा जागृत करने के विचित्र गुण हैं। इस पुस्तक में उन कथानक रूढ़ियों का प्रयोग वहुत कम किया गया है जो संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की रचनाओं में एक ही प्रकार के अभिप्राय ला देती हैं और तथ्यात्मक जगत् से कम संवंध रखकर कल्पना विलास की ओर पाठक का मन मोड़ दिया करती हैं[१]।'

आचार्य जी का 'कीर्तिलता' का वर्णन वड़ा सुंदर तथा संगठित भाषा में है, परंतु हमारी धारणा से आचार्य जी कवि के 'इतिहास के कविदृष्ट जीवंत रूप से' अधिक प्रभावित हुए हैं और उसी के प्रवाह में कीर्तिलता का मूल्यांकन किया है। वस्तुत: कीर्तिलता में कवि विद्यापति की काव्योपयोगी वह प्रौढ़ प्रतिभा नही मिलती जो उनकी पदावली मे है। कारण भी

---

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिंदी साहित्य का आदिकाल, पृ० ७३।

स्पष्ट है, जैसा पहले कह चुके हैं कि यह कवि की सर्वप्रथम रचना है। अतः इसमें अधिक आशा करना उचित नहीं।

कीर्तिलता के लेखक महाकवि विद्यापति के विषय मे हम इस निबंध के दूसरे भाग में अपने विचार प्रस्तुत करेंगे अतः यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि कवि विद्यापति संवत् १४-६० मे तिरहुत के राजा शिवसिंह के यहाँ वर्तमान थे[1]। इस काव्य की भाषा उत्तरकालीन साहित्यिक अपभ्रंश है जिसमें प्रांतीय प्रभाव स्पष्ट है।

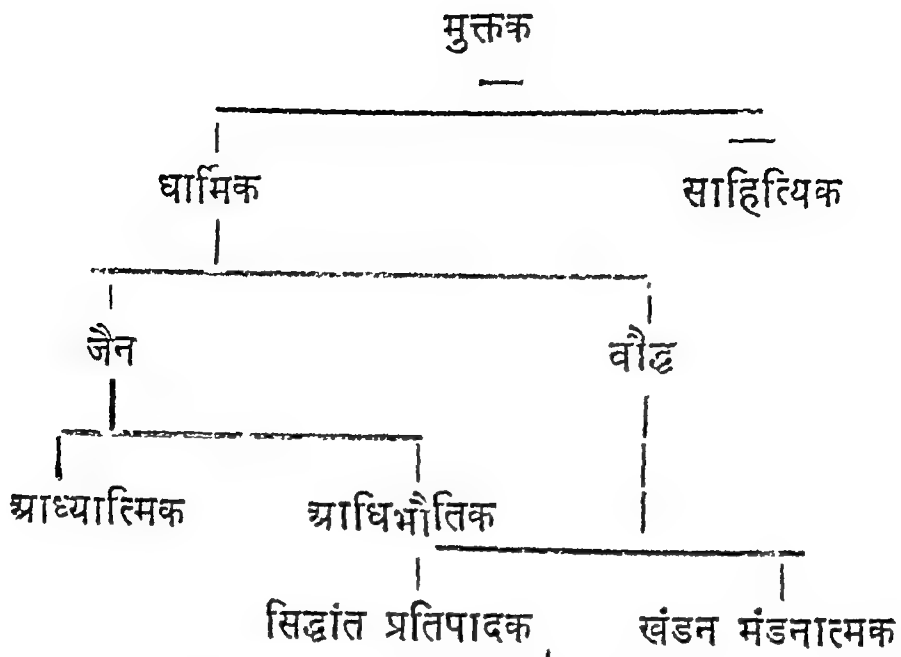
अपभ्रंश में महाकाव्य तथा खंड काव्यों के साथ मुक्तक रचनाओं का भी बाहुल्य रहा है। मुक्तक उस चमत्कारपूर्ण रचना को कहा जाता है जो अपना अर्थ व्यक्त करने में स्वतः समर्थ हो[2]। जिस छंद का लगाव किसी दूसरे छंद से नही होता वह अनुबंधहीन स्वच्छंद पर स्वतः अर्थद्योतन मे समर्थ रचना मुक्तक कहलाती है। रसज्ञ एवं विदग्ध जनों को वही मुक्तक रचना प्रिय होती है जो उनके मनोनुकूल रसोद्रेक मे सहायता प्रदान करे अथवा चमत्कारपूर्ण हो। कुछ इस प्रकार की मुक्तक रचनाएँ भी होती है जो अनुभवजन्य अथवा किसी सत्य को चमत्कारपूर्ण रीति से अभिव्यक्त करने के कारण हृदय पर सीधा प्रभाव डालती हैं परतु उनमे रसोद्रेक की शक्ति नही होती। ऐसी रचनाओं को सूक्तियाँ माना गया है। अपभ्रंश मे जो मुक्तक रचना हुई है उसका डा० कोछड़ ने इस प्रकार वर्गीकरण किया है—

---

१. आचार्य रामचंद्र शुक्ल—हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ७१।

२. मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम्।

—अग्निपुराण।



जैनवृंद का अपभ्रंश के प्रति बड़ा प्रेम रहा है। सबसे अधिक उपलब्ध अपभ्रंश साहित्य जैन लेखको का है। संभवतः इसका कारण जैसा हम पहले लिख चुके है, धार्मिक स्थायित्व है। संभव है, बौद्ध सिद्धों, प्रचारको ने भी इतनी रचना की हो, परतु वह धर्मानुयायियो के अभाव मे नष्ट भ्रष्ट हो गई हो। कारण जो भी हो वस्तुतः यह निस्संकोच स्वीकार किया जा सकता है कि अपभ्रंश साहित्य की सुरक्षा मे जैन मुनियों की विशेष कृपा रही है। प्रारभ से ही उन्होंने अर्द्धमागधी की आर्य भाषा स्वीकार किया और उसी मे भगवान् महावीर की वाणी को लिपिवद्ध किया गया।

जैन आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक मुक्तक काव्यो के कई रूप उपलब्ध होते है। आध्यात्मिक ग्रंथों मे प्राय. जैन धर्मानुकूल आत्मा का स्वरूप, बाह्याडंबरो का त्याग तथा आचरण शुद्धि पर विशेष ध्यान है। आधिभौतिक ग्रंथो मे नीति, सदाचार, गृहस्थ जीवन के कर्म तथा श्रावको के धर्म, व्रत आचार तथा उपवासों का वर्णन है। इन ग्रथों में तत्वचितन तथा आचार वर्णन मुख्य है, काव्यत्व नगण्य। सभी लेखक

उपदेशक, चिंतक आराधक एवं ज्ञानप्राप्त साधु है। कविता केवल इसलिये है कि वह पद्यबद्ध है। कहीं कही प्रसंगवश कुछ कविता के कलापक्ष (अर्थात् अलंकार आदि) का दर्शन हो जाता है। इन विचारकों की वाणी में सत्यता, आडंबरहीनता तथा अनुभवजन्य प्रज्ञा के दर्शन होते हैं। प्रतिपाद्य विषय को सुबोध, सरल तथा लोकप्रचलित भाषा मे सुंदरता के साथ स्पष्ट किया है। विषय को स्पष्ट करने के लिये जो भी उदाहरण दिए हैं वे जनता के जीवन से घनिष्ट संबध रखनेवाले है। इन साधुओं का हृदय उदार तथा सहिष्णुता से परिपूर्ण है। खंडन मंडन की तीखी और कटु शैली का व्यवहार सर्वथा त्याज्य रहा है। यत्र तत्र मीठी चुटकियाँ केवल अन्य साधकों के प्रति उनकी सारहीनता तथा उनके दर्शन की अनुपयुक्तता प्रदर्शन के लिये ली गई हैं।

आध्यात्मिक विवेचकों मे कुछ ग्रंथ उपदेश प्रधान हैं कुछ साधना प्रधान हैं। जो साधना प्रधान हैं उनमे प्रायः गुरु की महत्ता, बाह्याडंबर, कर्मकांड, तंत्र मंत्र तथा पूजा आदि को व्यर्थ बताकर आंतरिक शुद्धि पर वल दिया है। विषय परित्याग, इंद्रिय निग्रह, स्त्री निंदा, संसार की अनित्यता आदि के दृश्य संमुख रख केवल शुद्ध ज्ञान का उपदेश, आत्मानुभूति एवं आत्मस्वरूप का प्रतिपादन प्राप्त होता है।

दूसरे वर्ग के विचारकों (अर्थात् आधिमौलिक लेखको) का उद्देश्य केवल समाज के आचरण को उच्च स्तर पर पहुँचाना था। एतदर्थ, धर्म, नीति, उपदेश, स्तुति, स्तवन आदि ही उनकी रचना के प्रतिपाद्य विपय है। स्मृति तथा स्तवन पद्यसंख्या के आधार पर, अष्टक, शतक, चौवीसी, बत्तीसी आदि नामों से प्रसिद्ध हैं। इन आचार्यों ने गृहस्थ तथा श्रावकों के लिये आचारों की व्यवस्था की है। मूल रूप

से प्रवृत्ति मार्ग में रहते हुए भी अलिप्त भावना से दानादि कर्मों को करते हुए त्यागमय जीवन का उपदेश प्राप्त होता है। इनके पद, दोहों से परवर्ती काल के हिंदी कवि अधिक प्रभावित हुए हैं। ये सभी सुधारक, प्रचारक एव उपदेशक हैं जिन्हें न भापा सौंदर्य की चिता है न भावना एवं कल्पना के उल्लास की। कही कही इनकी उक्तियाँ इस प्रकार की मिल जाती हैं जिनमें रहस्यवाद का संकेत मिल जाता है।

अस्तु इस प्रकार के प्रमुख लेखकों तथा ग्रंथों के नाम इस प्रकार है—

(१) योगीद्र कृत परमात्म प्रकाश और योगसार—यह पुस्तक डा० उपाध्ये द्वारा सुसंपादित होकर सेठ मनिलाल रेवाशंकर झावेरी, परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई से (१९३७) में प्रकाशित हुई है। डा० उपाध्ये की विवेकपूर्ण भूमिका विशेप द्रष्टव्य है।

(२) पाहुड दोहा—लेखक के विपय मे मतभेद है। डा० उपाध्ये इसे योगीद्र कृत मानते है। तथा 'रामसिंह' नाम केवल एक परंपरागत नाम है[१]। कुछ विद्वान् इसे मुनि रामसिंह की कृति मानते हैं।

(३) वैराग्य सार—छोटा सा ग्रंथ है जो प्रो० वेलणकर द्वारा भंडारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट के मुखपत्र जिल्द ९ (पृष्ठ २७२-२८०) तक संपादित किया गया है। इसमें कुल ७७ पद्य हैं जिसमें वैराग्य भाव का आदेश है। इसके लेखक सुप्रभ दिगंबर जैन थे। काल भी इनका ११वीं १३वी शताब्दी के बीच का है।

---

१. डा० उपाध्ये—परमात्म प्रकाश और योगसार की भूमिका पृ० ६७।

(४) आनंदा—आनंद स्तोत्र की सूचना डा० रामसिंह तोमर से प्राप्त होती है। यह केवल ४३ पद्यों की बाह्य कर्मकांड-निषेध, गुरु की महत्ता, आत्मा की देहस्थिति बतानेवाली रचना है।

(५) दोहा पाहुड—यह पाहुड दोहा से भिन्न रचना है। यह केवल संग्रह ग्रंथ प्रतीत होता है। इसकी अधिक सूचना उपलब्ध नही[1]।

(६) सावयधम्म दोहा—यह देवसेन की रचना है। डा० हीरालाल जी ने दिगंबर जैन ग्रंथमाला (२), कारंजा, बरार से प्रकाशित (सन् १९२२) किया है। इसमें २२४ दोहे हैं। ग्रंथ में गृहस्थों को दान की महत्ता, धर्मपालन, इंद्रियनिग्रह, व्रतादि, अहिंसा का माहात्म्य तथा व्यसननिंदा के विषय में बड़ी सुंदर सूक्तियाँ दी गई हैं।

(७) उपदेश रसायन रास—यह जिनदत्त सूरि की रचना है और अपभ्रंश काव्यत्रयी[2] मे संगृहीत है। यह छोटी सी रचना ८० पद्यों की है। जिसमे सुंदर उपदेश हैं।

(८) काल स्वरूप कुलक — यह भी श्री जिनदत्त सूरि की रचना है और अपभ्रंश काव्यत्रयी का अंश है।

(९) भावना संधि प्रकरण—इसमें १० पद्य हैं जो भंडारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना के मुखपत्र भाग ११, सन् १९३०, पृ० १-३१ पर प्रो० मोदी द्वारा प्रकाशित हुआ है।

(१०) संयम मंजरी— यह भी इसी प्रकार की एक छोटी सी रचना है जिसकी सूचना केवल भंडारकर के मुखपत्र मे उपलब्ध है।

---

१. डा० कोछड—अपभ्रंश साहित्य, २८३।

२. एल० एम० गांधी—अपभ्रंश काव्यत्रयी, पृ० २६-६६।

ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह मे संपादक द्वय ने अनेक स्तोत्र, रास एवं गीतों का संग्रह किया है। विस्तार के भय से केवल पुस्तक नाम लिखकर ही हम अपने कथा सूत्र को आगे वढाते है। कारण यह भी है कि इन संग्रहों का विपय हमारे आलोच्य विपय से वाहर है। प्रसंगवश हमने यहाँ इतना वर्णन करना आवश्यक समझा है।

वौद्ध धर्म संवंधी रचनाएं वे हैं जो सिद्धों द्वारा लिखी गई है। ये दोहे और गीत रूपों मे प्राप्त होती हैं। यह दोहे और गीत अनेक विद्वानों द्वारा संगृहीत होकर उनके अध्ययन के विषय वने हैं। सर्वप्रथम महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने 'हाजार वछरेर पुराण वाँगला भापाय वौद्ध गान ओ दोहा' नामक रचनाओं का संग्रह वंगीयसाहित्य परिषद् कलकत्ता से सन् १९१६ मे प्रकाशित कराया। इसी के साथ सरह और कन्ह के दोहा कोश भी प्रकाशित हुए थे। डा० शहीदुल्ला ने फ्रेंच भापा में इनकी रचनाओं का अध्ययन प्रस्तुत किया। डा० वागची ने इस क्रम को पुन उठाया और इनका तिव्वती अनुवाद के आधार पर संशोधित रूप प्रकाशित किया। श्री राहुल जी ने 'हिंदी के प्राचीनतम कवि और उनकी कविता[1]' नामक निवंध मे इन सिद्धों की कविता को प्रकाशित कराया।

सिद्धो के अनेक गीतो और दोहो का संग्रह श्री राहुल जी ने हिंदी काव्य धारा' मे किया है। उनका अभिनवतम प्रयत्न 'सिद्ध सरहपाद' कृत दोहा कोश का सपादन है जो विहार राष्ट्रभापा परिपद् से (१९५७) में प्रकाशित हुआ है। आपने डा० वागची द्वारा संपादित दोहा कोश को अपने पाठ के सहित दे दिया है। डा० वागची द्वारा सपादित दोहा

---

१. राहुल जी—पुरातत्व निवंधावली, पृ० १६०-२०४।
२. राहुल जी— काव्यधारा, पृ० २-२१।

कोश में १३४ दोहे हैं जिनकी संख्या राहुल जी ने १५६ कर दी है, परंतु अंतिम दोहा अपूर्ण है। आपने इस ग्रंथ में सिद्ध सरहपाद की कविता भोट भाषा में नागरी अक्षरों में दी है। मूल और छाया के साथ कही कही पादटिप्पणियाँ भी हैं। ग्रंथ के अंत में जो परिशिष्ट है उससे ग्रंथ की उपयोगिता और भी बढ़ गई है। इस पुस्तक के उपलब्ध होने से सरहपाद की रचनाओं के विषय में अध्ययन करने में बड़ी सहायता प्राप्त हुई है।

बौद्धगान और दोहा तथा चर्यापदों की भाषा के संबंध में डा० सुनीति कुमार चटर्जी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'आरिजिन ऐंड डेवलपमेंट आफ बंगाली लेंग्वेज' में विशेष रूप से प्रकाश डाला है। डा० उदयनारायण तिवारी के मतानुसार चर्या गीतों की भाषा संक्रांतिकालीन भाषा है।[1] महापंडित राहुल जी ने इनकी भाषा को तत्कालीन अपभ्रंश ही माना है[2] जिसमें स्थानीय प्रभाव है। यही मत ठीक है। यह सब होते हुए भी इन महानुभावों की रचनाओं का कोई भी निश्चित रूप पृथक् पृथक् ग्रंथों के रूप मे उपलब्ध नही होता, अतः उनका सांगोपांग वर्णन करना कठिन ही नही असंभव हो जाता है।

सिद्धों के चर्यागीतों तथा दोहों का अध्ययन करने से दो बातें स्पष्ट प्रतीत होती हैं। प्रथम कि वे जनता पर प्रभाव डालने के लिये अपने वचन, प्रतीकात्मक भाषा मे प्रकट करते थे जिनमे कभी कभी उल्टी बाते होती थी जिनका भोगपरक अर्थ लगाया जा सकता था। वे अपने सिद्धांतों को सर्वश्रेष्ठ, सुगम तथा महासुख प्राप्त करानेवाले मानते थे। दूसरी बात यह है

---

१. डा० उदयनारायण तिवारी—हिंदी भाषा का उद्गम और विकास, पृ० १४१-१४६।

२. श्री राहुल जी—दोहा कोश की भूमिका, पृ० २६।

कि वे अन्य धार्मिक मान्यताओं तथा वाह्याचारों का बड़े तीव्र स्वर से खंडन करते थे। उनकी वाणियों का अर्थ समझने के लिए वज्रयान, महायान तथा योग शास्त्र मे प्रयुक्त शब्दों के अर्थ तथा उनकी व्याख्या समझनी आवश्यक हो जाती है। वाम मार्ग एवं कौलाचार का साधारण ज्ञान भी आवश्यक हो जाता है। इन संप्रदायों द्वारा गुह्य साधना एवं तंत्र मंत्रों का प्रभाव बढा। इन धर्मों की साधना मे स्त्री का साहचर्य भी आवश्यक था। अतः कामपभोग भी सिद्धि का अंग ठहराया गया। इन सबका व्यापक परिणाम समाज के लिये आगे चलकर कल्याणकर न हुआ।[1] संक्षेप मे यह कह सकते है कि इन संप्रदायों ने कामोपभोग की प्रवृत्ति को ही उकसाया और मद्य, मांस, मदिरा, स्त्री तथा मैथुन का खुलेआम प्रचार किया। यद्यपि यह भी सत्य है कि ये शब्द अपने दार्शनिक तथ्य में साधनाओं के प्रतीक थे। मद्य मन का प्रतीक था, मांस इंद्रिय-निग्रह, मदिरा प्रेम, स्त्री समाधि या मुक्ति तथा मैथुन उस क्रिया का प्रतीक था जिससे परमानंद की दशा प्राप्त की जा सकती थी। परंतु उत्तर काल में साधारण जनता ने इन सब शब्दों को अभिधेयार्थ मे ही ग्रहण किया जो महान् अनर्थकारी सिद्ध हुआ।

सिद्धों की सख्या ८४ मानी जाती है। आचार्य शुक्ल जी ने इनकी नामावली इस प्रकार दी है—

१. (क) परशुराम चतुर्वेदी— उत्तरी भारत की सत परंपरा, पृ० ३२ तथा ४५।

(ख) डा० धर्मवीर भारती—सिद्ध साहित्य, पृ० ११३।

(ग) श्री राहुल जी—पुरातत्व निबधावली, पृ० १७१।

(घ) दुष्करैर्नियमैस्तीव्रैः सेव्यमानो न सिध्यति।
सर्वं कामोपभोगांस्तु सेवयश्वाशु सिध्यति॥

—गुह्य समाज तंत्र, पृ० २७।

लूहीपा, लीलापा, विरुपा, डोंभिपा, शवरीपा, सरहपा, कंकालीपा, मीनापा, गोरक्षपा, चौरंगीपा, वीणापा, शांतिपा, तंतिपा, चमरिपा, खड्गपा, नागार्जुन, कण्हपा, कर्णरिपा, थगनपा, नारोपा, शीलपा, तिलोपा, भद्रपा, दोखंधिपा, अजोगिपा, कालपा, धोमीपा, कंकणपा, कमरिपा, डेंगिपा, भदेपा, तंधेपा, कुक्कुरिपा, कुचिपा, धर्मपा, महीपा, अचिंतिपा, भल्लहपा, नलिनपा, भूसुकुपा, इंद्रभूति; मेकोपा, कुठालिपा, जालंधरपा, राहुलपा, धर्वरिपा, धोकरिपा, मेदनीपा, पंकजपा, घंटापा, जोगीपा, चेलुकपा, गुंडरिपा लुचिकपा, निर्गुणपा, जयानंत, चर्पटीपा, चंपकपा, भिखनपा, भलिपा, कुमरिपा, चँवरिपा, मणिभद्रा (योगिनी), कनखलपा (योगिनी), कलकलपा, कंतालीपा, धहुरिपा, कपालपा, किलपा, सागरपा, सर्वभक्षपा, नागबोधिपा, दारिकपा, पुतलिपा,पनहपा, कोकालिपा, अनंगपा लक्ष्मीकरा (योगिनी), ससुदपा, भलिपा ।

'पा' आदरार्थक 'पाद' का अपभ्रंश रूप है। इस सूची में पूर्वापर कालानुक्रम से नही है। इनमे से कई एक सम-सामयिक भी थे।

इन सिद्धों में केवल १० प्रमुख हैं और अधिक प्रभावशाली माने गए है।—(१) सरहपा, (२) शवरपा, (३) लुईपा, (४) विरुपा, (५) दारिकपा, (६) घटापा, (७) जलंधरपा, (८) डोंविपा, (९) कण्हपा और (१०) तिलोपा। पर इनमे कण्हपा सबसे अधिक प्रतापी थे। आज भी नेपाल मे बज्रयानी बौद्ध अपनी रहस्य पूजा के समय जो गीत गाते हैं उनमे चौरासी सिद्धों में सबसे अधिक कण्हपा (कण्पा) के ही गीत मिलते हैं।[1] राहुल जी ने अभी सरहपा का दोहा

१. श्री राहुल जी - दोहाकोश की भूमिका, पृ० ७७।

कोश प्रकाशित किया है उसी के आधार पर हम उनकी रचना पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

सरहपा—इनका नाम सरोजवज्र भी प्राप्त होता है। सिद्धों में सबसे पुराने यही सिद्ध हैं। इनका समय विनयतोष भट्टाचार्य ने वि० संवत् ६९० निश्चित किया है।[1]

राहुल जी ने भोट से लाई हुई सामग्री के आधार पर प्राप्त दोहाकोश का संपादन किया है और डा० बागची एवं महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद जी द्वारा संपादित पाठभेद को भी दे दिया है तथा भोट में प्राप्त रूप को नागरी अक्षरों में दे दिया है। उनका यह प्रयत्न बड़ा ही स्तुत्य है। सरहपा की रचना में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ उपलब्ध होती हैं। (१) दूसरे धर्मों का खंडन तथा (२) स्व सिद्धांत प्रतिपादन। खंडनात्मक उक्तियों में ब्राह्मण, बौद्ध, जैन तथा पाशुपत सभी को फटकार है। यथा—

ब्राह्मण—

(ब्रह्मणेंहि म जानंतहि भेउ। एवइ पढिअउ ए च्चउवेउ ॥
मट्टि) पाणि कुस लई पढंत। घरहि वइसी अग्गि हुणंत ॥
कज्जे विरहिअ हुअवह होमें। अक्खि डहाविअ कडुअे धूमें ॥
एकदंडि त्रिदण्डी भअवं(1) वेसें। विणुआ होइअइ हंस उएसे ॥
मिच्छेंहि जग वाहिअ भुल्लें। धम्माधम्म ण जाणिअ तुल्ले ॥[2]

अर्थात् ब्राह्मण वास्तविक भेद को नही जानते, व्यर्थ ही चारों वेदों को पढ़ते है, मट्टी, कुशा, पानी लेकर घर में बैठे

---

१. आचार्य रामचंद्र शुक्ल—हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ८, पाद टिप्पणी

२. श्री राहुल जी—दोहा कोश (मूल), पृ० २।

हवन करते रहते हैं, व्यर्थ ही हवनकर आँखों को धूम से पीड़ित करते रहते हैं। एकदंडी, त्रिदंडी, भगवा भेष को धारण करके आत्मा का उपदेश करते है। धर्म, अधर्म नहीं जानते व्यर्थ ही जग को भ्रम में वहाते हैं।

जैन—

दीह णक्ख जइ मलिणें बेसें। णग्गल होइ उपाडिअ केसें ॥
खबणेंहि जाण विडंबिअ बेसैं। अप्पण बाहिअ मोक्ख उवेसें ॥
जइ णग्गाविअ होइ मुत्ति, ता सुणह सिआलह ॥
लोमुपाडणें अत्थि सिद्धि, तो जुबइ णिअम्बह।
पिच्छीगहणे दिट्ठ मोक्ख (ता मोरह चमरह) ॥[1]

अर्थात् जैनी साधु दीर्घनखी होकर, नग्न रहकर केशों को उखाड़ते है। क्षपणक ज्ञानविडंवित वेश को धारण करते हैं, आत्मा से बाहर मोक्ष का उपदेश देते है। (उनसे पूछा जाय) यदि नग्न होकर मोक्ष मिलता है तो कुत्ता तथा गीदड़ों को भी मिलना चाहिए (जो सदैव नग्न रहते हैं), और यदि बाल उखाड़ने से सिद्धि प्राप्त होती है तो युवतिनितंबो को सिद्धि स्वतः प्राप्त होनी चाहिए (कारण वहाँ बाल नही होते), यदि मोर पक्ष (अथवा चमर) धारण करने से मोक्ष दिखलाई पड़ता है तो चमर गाय तथा मयूर को भी मोक्ष प्राप्त होना चाहिए।

सरह ने मंत्र तंत्रों का खंडन किया। उन्होंने शास्त्रों को मरुस्थल कहा है जिनकी भूलभुलैया में पड़कर मनुष्य निकल नही सकता—

---

१. श्री राहुल जी—दोहा कोश (मूल), पृ० २।

गुरुवग्रण ग्रमिग्र रस, धवडि ण पिविग्रउ जेहिं।
वहुसात्तात्थ मरूत्थलेहिं, तिसिग्र मरिव्वो तेहिं[1] ॥

ग्रर्थात् जो गुरू की वाणी के ग्रमृत रस को नहीं पीता है वह शास्त्ररूपी मरुस्थल की भूमि मे तृषातुर होकर मरता है। सरह ने सहज नैसर्गिक जीवन पर जोर दिया है। ग्रतः सहजवाद के वे प्रथम ग्राचार्य हैं। उन्होंने सहज सुख तथा सहज मार्ग का वर्णन किया है—

सहज, महासुख—

जइपुणु ग्रहणिसि सहज पइट्ठइ। ग्रमणागमण जेंतहि णेवाट्टइ॥
भावाभावें वेरिण न काज्ज। ग्रन्तराल ट्ठिग्र पाडहु वाज्ज॥

× × ×

खाग्रंतं-पीवंतें सुख रमन्ते। ग्रालिउल वहलहो चक्क फरंते॥
एवहि सिद्धि जाइ परलोग्रह। माथे पाग्र देइ भुग्रलोग्रह॥[2]

उपर्युक्त ग्रवतरण से स्पष्ट है कि सरह भोगों की नहीं उनकी ग्रासक्ति को केवल त्याज्य मानते हैं। सरह ने काया को ही तीर्थ माना है और चित्त की शुद्धि पर वहुत ध्यान दिया है। चित्त, मन, विज्ञान वौद्ध परिभाषा मे एक ही वस्तु के नाम है। चित्त की ग्रपार शक्ति को सरह खूब मानते थे चित्त के विपय मे उन्होंने कहा है—

चित्त—

चित्तेकचित्त सग्रल वीग्र भव णिव्वाणा जम्म विफुरंति।
तं चिन्तामणिरूग्रं पणमह इच्छाफलंदेइ॥[3]

---

१. श्री राहुल जी, दोहा कोश, पृ० १२।
२. वही पृ० १०-१२।
३. वही पृ० ६।

अर्थात् यह चित्त ही सब कुछ है। इस सर्वरूप चित्त को खसम (ख=आकाश, सम=समान) के समान शून्य तथा निर्लेप बना देना चाहिए। मन को भी शून्य स्वभाव का बना देना चाहिए। इस प्रकार जब मन अमन हो जाय अर्थात् चंचल स्वभाव को छोड़कर निश्चल हो जाय तभी सहज स्वभाव की प्राप्ति होती है। अतः सरह ने अपने विचारों को अधिक से अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

उनके चर्या पद भी मिलते हैं। राहुल जी ने केवल चार ही चर्या पद दिए हैं। चर्या का अर्थ आचरण अथवा अभ्यास या अनुष्ठान है। नैपाल में बौद्ध अपनी गुप्त पूजा को चर्या या चर्चा कहते हैं जिनमें यह पद गाए जाते है। सरह का एक पद है—

काउ णावडि खांटि मण केडुआल।
सद्गुरु वअणे धर पतवाल॥
चीअ थिर करि धरहु रे नाइ।
आन उपाये पार न जाइ॥
नौवाही नौका टानअ गुणे।
मेलि मेल सहजे जाउ ण आणें॥
बाटत भअ खांट वि बलआ।
भव उलोलें सब वि बोलिआ॥
कूल लइ खर सोंते उजाअ।
सरह भनै गअणे समाअ॥[1]

अर्थात्—कायारूपी सुंदर नौका में मनरूपी नौकादंड लगाकर, सद्गुरुवचनरूपी पतवार को धारण कर स्थिर चित्त होकर नौका को धारण करो (अर्थात् चलाओ), पार जाने का

---

१. श्री राहुल जी, दोहाकोश पृ० २६०।

अन्य उपाय नही। नाविक नौका को रस्सी (गुन) से खींचता है। मानव सहज मार्ग से ही पार जा सकता है, अन्य उपाय नही। मार्ग में अत्यधिक भय है। प्रचंड लहरों से सब नदी विक्षुब्ध है। कूल पर प्रचंड लहर में भलीभाँति नौका चलाने से ही सरह कहते हैं गगन समाधि प्राप्त होती है।

कण्हपा (कृष्णपाद)–कर्णाटक देश मे ब्राह्मण कुल में इनका जन्म हुआ था। इनका रंग अत्यंत काला था। अतः इनको कृष्णपा अथवा कण्हपा कहते थे। राहुल जी इन्हें ब्राह्मण कुलोद्भव मानते हैं[1]। परंतु श्रीविनयतोष भट्टाचार्य जी इन्हें जुलाहा जाति में उत्पन्न उड़िया भाषाभाषी मानते हैं[2]। यह महाराज देवपाल (८०९–८४९) के समय एक पंडित भिक्षु थे और कितने ही दिनों तक सोमपुरी विहार (पहाड़पुर, जिला राजशाही) में रहते थे। पीछे यह जालंधरपा के शिष्य हो गए। चौरासी सिद्धों में कवित्व और विद्या दोनो ही दृष्टि से यह सबसे बड़े सिद्धों में से हैं[3]। चौरासी सिद्धों मे सात से अधिक इनके शिष्य थे जिनमें कनखला और मेखला दो योगिनियाँ भी थी। विहार इनका गढ़ था। इन्होंने अपनी भाषा कविताएँ तत्कालीन मगही में की हैं। इनके दर्शन पर लिखे छह और तंत्र पर लिखे ७४ ग्रंथ के तन्जूर मे मिलते हैं[4]। इनके निम्नलिखित कविता ग्रंथ मगही में थे, जिनके भोटिया अनुवाद तन्जूर में मिलते हैं —

(१) कान्हपाद गीतिका (त० ४८। १७)।

---

१. श्री राहुल जी — पुरातननिबंधावली, पृ० १८७।

२. वही, पादटिप्पणी, पृ० १८६।

३. वही, पुरातन निबंधावली, पृ० २८८।

४. वही, वही, पृ० वही।

(२) महाढुढन–मूल (त० ८५ । ३०) ।
(३) वसन्ततिलक (त० १२ । ३०) ।
(४) असंबंध दृष्टि (त० ४८ । ४७ ।
(५) वज्रगीति (त० ४७ । ३३) ।
(६) दोहाकोष (ता० ४७ । ४४) ।

'बौद्ध गान ओ दोहा' में इनका दोहाकोष संस्कृत छाया के साथ छपा है जिसमें ३२ दोहे हैं । अपभ्रंश पाठावली में १९ दोहे उद्धृत किए गए हैं । इनकी कविता का उदाहरण देखिए—

ये वेद, आगम, पुराण और पंडितों की निंदा करते हुए कहते हैं —

लोअह गव्व समुव्वहइ 'हउ परमत्थे पवीण' ।
कोडिह मज्झे एक्कु जइ होइ निरंजन लीण ।।१।।
आगम वेअ पुराणें पंडिता माण वहंति ।
पक्क सिरिफले अलिअ जिम वाहेरिअ भुमयन्ति[1] ।।२।।

अर्थात्—व्यर्थ ही मनुष्य गर्व में डूबा रहता है कि मैं परमार्थ में प्रवीण हू । करोड़ों में कोई एक निरंजन में लीन होता है । आगम, वेद तथा पुराणों से पंडित अभिमानी बनते हैं, किंतु वे पक्के श्रीफल के बाहर ही बाहर चक्कर काटते हुए भौंरों के समान व्यर्थ ही भ्रमण करते रहते हैं ।

कण्हपा मेरु गिरि शिखर पर ही महासुख का आवास बताते हैं । वहाँ पहुँचना बड़ा कठिन है । यहीं सहज सुख की भावना देखी जाती है । यथा —

वर गिरि सिहर उत्तुंग थलि शबरे जहिं किअ वास ।
णउ लंघिअ पंचाननेहिं करिवर दूरिअ आस[2] ।।१४।।

---

१. प्रो० मोदी–अपभ्रंश पाठावली, पृ० १४८ ।
२. वही, वही, पृ० १५७ ।

अर्थात्--महासुखरूपी शवर ने मेरुगिरि पर वास कर लिया है, वहाँ न सिंह जा सकता है और न हाथी का कोई वस चलता है। तब साधारण जन की क्या गति हो सकती है।

इनका एक प्रसिद्ध पद मिलता है जिसकी भावना देखने योग्य है —

नगर वाहिरे डोंबि तोहोरि कुडिआ।
छोइ छोई जाइसो वाहण नालिआ।
आलो डोंबित तोए सम करिब म सांग।
निघिण काहून कापालि जोइ लाग।
एक सो पदुमा चौषठी पाखुड़ी।
तह चढि नाचअ डोंवी वापुड़ी[1]।

इस पद के अर्थ को समझने के लिये शरीरविज्ञान को समझना होता है। जो इस प्रकार है—

मानवशरीर का प्रधान आधार उसकी रीढ़ की हड्डी या मेरुदंड है। सो इस मेरुदंड के भीतर तीन नाड़ियों से प्राणवायु संचरित होता है। बाईं नासिका से ललना और दाहिनी से रसना नाम के प्राणवायु को वहन करनेवाली नाड़ियाँ चलती हैं (नाथपंथियों की इड़ा पिंगला से तुलनीय)। जिनमे पहिली प्रज्ञाचंद्र है दूसरी उपायसूर्य है। प्रज्ञा और उपाय नाथपंथियो की इच्छा और क्रिया शक्तिकी समशील हैं। मध्यवर्ती नाड़ी अवधूती है जो नाथपंथियों की सुषुम्ना की समशीला है। इस नाड़ी से जब प्राणवायु

१. यह पद राहुल जी ने कुछ परिवर्तन के साथ डोंविपा के नाम से दिया है। देखो, श्री राहुल जी—पुरातत्व, निबंधावली, पृ० १८१।

उर्ध्वगति को प्राप्त होता है तो ग्राह्य और ग्राहक का ज्ञान नहीं रहता इसलिये अवधूती नाड़ी को ग्राह्यग्राहकवर्जिता कहा जाता है। मेरुशिखर पर महासुख का आवास है जहाँ एक चौसठ दलों का कमल है। यह कमल चार मृणालों पर स्थित है, प्रत्येक मृणाल के चार क्रम हैं और प्रत्येक क्रम के चार चार दल है—इस प्रकार यह (४४४) ६४ दलों का कमल (पद्म) है जहाँ वज्रधर (योगी) इस पद्म का आनंद उसी प्रकार लेता है जिस प्रकार भ्रमर प्रफुल्ल कुसुम का। इन चार मृणालों के दलों को शून्य, अतिशून्य, महाशून्य और सर्वशून्य नाम दिया गया है। जो सर्वशून्य का आवास है उसी का नाम उष्णीश कमल है। यही डाकिनी जालात्मक जालंधर गिरि नामक महामेरु गिरि का शिखर है। इसी शिखर पर पहुँचने पर योगी स्वयं वज्रधर कहा जाता है, यही यह सहजानंद रूप महासुख को अनुभव करता है[1]।

ऊपर के पद में अवधूती नाड़ी ही डोंबिनी या डोमिनी हैं और चंचल चित्त ही ब्राह्मण है। डोमिनी से छू जाने के भय से वह अभागा ब्राह्मण भागा भागा फिरता है। विषयों का जंजाल एक नगर के रूप में है और अवधूती रूपी डोमिनी इस नगर से बाहर रहती है। कण्हपा कहते है कि हे डोमिनी तुम चाहे नगर के बाहर कहीं रहो यह निर्घृण और नग्न (लांग) कापालिक कण्हपा तुम्हारा ही संग करेगा। उसी उपरिनिर्दिष्ट चौसठ पखुड़ियों के दल पर डोमिनी नाच रही है। अर्थात् उनका मतलब उसी महा मेरुगिरि के जालधर नामक

---

१. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—नाथ संप्रदाय, पृ० ९२।

शिखर पर स्थित उष्णीश कमल से है, जहाँ महासुख का आवास है। इसी प्रकार दोहाकोष में भी उन्होंने कहा है—

एक्कु ण किज्जइ मंत ण तंत णिअ घरिणि लइ केलि करंत।
णिअ घरे घरिणि जाव ण मज्जइ ताव कि पंचवण्ण विहरिज्जइ[1]॥

अर्थात् मंत्र तंत्र व्यर्थ हैं, केवल अपनी घरनी (अवधूती नाड़ी) को लेकर विहार करो। जबतक यह गृहिणी अपने घर में निमज्जित नही होती पंचेंद्रियाँ अपने वश में नही होती।

यहाँ इन पदों का आध्यात्मिक अर्थ ही लिया गया है। यह अर्थ सिद्धों मे गृहीत पदावली एवं दर्शन पर अवलंवित है। यदि इतनी गंभीरतापूर्वक न विचारा जाय तो इनका अर्थ भोगपरक होता है जैसा कि परवर्ती विद्वानों ने किया और इन सिद्धों की वाणियों से नाना प्रकार के भ्रष्टाचार और व्यभिचारों का समर्थन किया जाने लगा।

अस्तु, प्रायः सिद्धों की रचना मे इसी प्रकार की भावना एवं रूपको का प्रयोग मिलता है। उन्होंने उपमानों के नए प्रयोग किए है; यथा—तरुवर—काया, चित्त तथा सृष्टि विस्तार के लिये; करम — मन के लिये; मूषक—मन, वाण, शर-गुरु वचन आदि आदि के लिये प्रयुक्त हुए हैं[2]। इसी प्रकार कुछ प्रसिद्ध रूपकों की भी सृष्टि की है। सिद्धों की यह परंपरा नाथों तथा हमारे परवर्ती संत संप्रदाय मे प्रचुर मात्रा में विकसित हुई है। कवीर ने तो प्रायः अपनी सारग्राही प्रवृत्ति का भरपूर परिचय दिया है। कही कही तो उनकी भाषा तक में उकारवहुला अपभ्रंश के दर्शन प्राप्त हो जाते हैं।

---

१. प्रो० मोदी—अपभ्रंश पाठावली, पृ० १५०।
२. डा० धर्मवीर भारती—सिद्ध साहित्य, पृ० ४५६-४५७।

संक्षेप में हम यही कह सकते हैं कि इन बौद्ध सिद्धों की रचनाओं में तांत्रिकविधान, योगसाधना, आत्मनिग्रह; श्वास-निरोध, भीतरी चक्रों और नाड़ियों का वर्णन, अंतर्मुख साधना के महत्व इत्यादि इत्यादि के सांप्रदायिक शिक्षा का बाहुल्य है। जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों और दशाओं से उनका रागात्मक संबंध नही। अतः वे शुद्ध साहित्य एवं काव्यपरंपरा में नही रक्खी जा सकतीं[1]। उनका वर्णन केवल हमने यहाँ दो बातों के विचार से किया है --

(१) पहिली बात भाषा है। सिद्धों की उद्धृत रचनाओं की भाषा देशभाषामिश्रित अपभ्रंश अर्थात् पुरानी हिंदी की काव्यभाषा है। उसमें हमें वह रूप प्राप्त होता है जो प्रायः उस समय समस्त उत्तरी भारत में गुजरात से बिहार, बंगाल तथा पंजाब से मान्यखेट तक बोलचाल में स्वीकार किया जा रहा था। जिसको प्रचारक लोग अपना माध्यम मानकर जनता के हृदय को स्पर्श किया करते थे। मगध में रहने के कारण सिद्धों की भाषा में पूर्वीपन अधिक है।

(२) दूसरी बात है सिद्ध साहित्य की सांप्रदायिक प्रवृत्ति और संस्कारयुक्त साधना है। उन्होंने अपनी अटपटी वाणी द्वारा, नए नए उपमान तथा रूपकों द्वारा, प्राचीन शास्त्रों का अनादरकर बुद्धिवाद को जन्म दिया है। अनेक नवीन शब्दों की उद्धरणी की जिनका प्रभाव हिंदी साहित्य पर पड़ा। समस्त रीतिकाल की रचना का बीजरूप इन सिद्धो तथा अपभ्रंश काल के कवियों में प्राप्त होता है। हिंदी साहित्य की परवर्ती प्रवृत्तियों तथा परंपराओं की गुत्थियों को सुलझाने मे यह साहित्य परमावश्यक है। सिद्धों की कविता ने केवल स्वच्छ

---

१. आचार्य शुक्ल—हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० २४।

साधनाजन्य हृदयानूभूति को प्रकाशित किया है, जिनमें सैकड़ों मनुष्य आनंद प्राप्त करते हैं, उसमे अपना निजी सौंदर्य है तथा अद्भुत प्रभावोत्पादकता है। पाठक इन कविताओं को पढकर आत्मतृप्ति का अनुभव करने लगता है। अतः उनकी कविता को कविता मानना ही पड़ता है[1]।

जैन सुधारकों की भाँति बौद्ध सिद्धों मे भी दोहा का प्रचार अधिक है। गेय पदो मे रागो के नाम के साथ साथ चौपाई, पज्झटिका तथा रोला आदि छंदो के दर्शन प्राप्त होते हैं। वस्तुतः दोहा चौपाई की परंपरा को जन्म देनेवाली यही अपभ्रंश है जो आगे चलकर जायसी तथा तुलसी द्वारा अपनाई गई।

धार्मिक प्रवृत्तियों तथा तत्संबंधी मुक्तक काव्य पर एक विहंगम दृष्टि डालकर अब हम उन शुद्ध मुक्तकों पर दृष्टिपात करने का प्रयास करेंगे जो हमारे (अर्थात् शुद्ध काव्यपरंपरा) विषय से संबंध रखते है। ये वे मुक्तक पद्य हैं जिनमें प्रेम, शृंगार, वीरभावादि का उल्लेख है। प्राकृत मे हमे इस प्रकार के दो संग्रह उपलब्ध होते हैं। हाल की सप्तशती प्रसिद्ध ही है, उसी प्रकार का दूसरा ग्रंथ वज्जालग्गम है। यह ग्रंथ जयवल्लभ के नाम से प्रसिद्ध है और संस्कृत छाया के साथ जूलियस लेबर द्वारा बिबलिका इंडिया सीरीज मे सन् १९४४ में प्रकाशित हुआ था। परंतु खेद है कि अपभ्रंश का अभी तक इस प्रकार का कोई प्राचीन संग्रह उपलब्ध नही। अपभ्रंश के जीवन तथा जीवन की अनुभूतियो से संबंध रखनेवाले मुक्तक पद, अलंकार, व्याकरण, कोश तथा छंदों के ग्रंथों मे उदाहरण के रूप मे दिए हुए हैं। कुछ पद्यो में लेखकों के नाम दिए हुए है और कुछ नाम अज्ञात हैं। अतः ऐसी दशा में लेखकों का परिचय देना प्राय. असंभव ही है। यहाँ केवल

१. श्री राहुल जी—काव्यधारा, पृ० ४७।

ग्र थों का नामोल्लेख मात्र किया जायगा, जहाँपर यह प्राप्त होते हैं।

रसिक एवं विदग्धहृदयों को चमत्कृत करनेवाले ये पद्य निम्नलिखित ग्रंथों में उपलब्ध होते हैं।

१—कालिदास कृत विक्रमोर्वशीय नाटक का चतुर्थ अंक (राजा के प्रलाप के कुछ पद्य)।

२—हेमचंद्र कृत प्राकृत व्याकरण के ८वें अध्याय का चतुर्थ पाद, छंदोनुशासन, प्राकृत द्वयाश्रय काव्य के अष्टम सर्ग के छंद १४–२३ तक।

हेमचंद्र के प्राकृत व्याकरण के अंतिम अध्याय में अपभ्रंश का व्याकरण है। उसी के नियमों का स्पष्टीकरण करने के लिये अपभ्रंश के पद्य दिए गए हैं। उन्ही का संकलन पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी जी ने अपनी 'पुरानी हिंदी' में किया है।

३—सोमप्रभाचार्य कृत कुमारपाल प्रतिबोध।

४—मेरुतुंगाचार्य कृत प्रबंध चिंतामणि (कुछ पद्य)।

५—राजशेखर सूरि कृत प्रबंध कोश (कुछ पद्य)।

६—पुरातन प्रबंध संग्रह (कुछ पद्य)।

७—प्राकृत पैंगलम् (कुछ पद्य)।

८—भोज कृत सरस्वती कंठाभरण (कुछ पद्य)।

९—हेमचंद्र कृत देशी नाममाला मे आई हुई गाथाएँ।

इन ग्रंथों के अतिरिक्त ध्वन्यालोक, रुद्रट के काव्यालंकार, धनंजय के दशरूपक आदि में भी कतिपय अपभ्रंश पद्य मिलते हैं।

इन पद्यों के विषय में ध्यान रखने योग्य बात यह है कि

इनके काल और लेखकों का परिचय देना पूर्णतः असंभव है। कुछ रचनाएँ तो प्रायः उसी लेखक की हो सकती हैं जिसने उन्हें उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किया है। यदि औरों के विषय में नहीं तो कम से कम आचार्य हेमचंद्र के विषय में तो यह बात निस्संदेह लागू हो सकती है। उन्होंने अपने नियमों का प्रतिपादन करने के लिये कुछ उदाहरण अवश्य स्वरचित दिए होंगे और कुछ प्रचलित काव्यों अथवा सुभाषित सग्रह में से। ये सुभाषित संग्रह भी अब अप्राप्य हैं। कुछ दोहे कुछ ही अंतर से दो पुस्तकों में उपलब्ध होते हैं। यथा--

रावणु जायउ जहि दियहि वहु मुह एक्कु सरीर।
चिताविय तइयिह जणणि कवणु पियावहुँ खीर॥

यह दोहा कुमारपाल प्रतिवोध मे मिलता है जिसकी पृष्ठसंख्या ३९० है। यही दोहा प्रवंधचितामणि मे पृष्ठ २८ पर इस प्रकार दिया है —

जई यह रावणु जाईयउ दह मुह इक्कु सरीरु।
जणणी वियंभी चितवह कव्णु पियावउ खीरु॥

अव यह निश्चय करना कि उपर्युक्त दोहा किस कवि का है केवल समय नष्ट करना है।

अपभ्रंश दोहों का संग्रह सवसे अधिक आचार्य हेमचंद्र द्वारा ही हुआ है। आप श्वेतांवर जैन थे। इनका संवंध गुजरात के राजा जयसिंह सिद्धराज तथा कुमारपाल नामक दो वड़े राजाओं से था। इनका जन्म वि० सं० ११४५ कातिकी पूर्णिमा[1] के दिन एक वैश्य परिवार मे हुआ था और ८४ वर्ष के उपरांत वि० सं० १२२९ मे अपनी लौकिक लीला समाप्त

१. प्रो० जी० व्यूलर—लाइफ आफ हेमचंद्र. अनुवादित डा० मणिलाल पटेल, पृ० ६।

की। इनके पिता का नाम चाचिग और माता का नाम पाहिणि था। इनका बाल्यकाल का नाम चंगदेव था। इनके गुरु देवचंद्र थे जो इनको देखकर प्रभावित हुए और इनको इनके माता पिता से जैन संघ के लिये माँग लिया।

हेमचंद्र बाल्यकाल से ही अप्रतिम प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। कहा जाता है कि इन्होंने लगभग साढे तीन करोड़ पद्यों की रचना की थी तथा अनेक ग्रंथ बनाए जिनमें से बहुत से संदिग्ध हैं। परंतु जो भी ग्रंथ आपके उपलब्ध हैं वे इतने विशाल हैं तथा उनका क्षेत्र इतना विभिन्न एवं व्यापक है कि उनको 'कलिकाल सर्वज्ञ' का पद सर्वथा उपयुक्त जँचता है। वस्तुतः हेमचंद्र अपने युग के प्रधान पुरुष थे जिनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा ने अपभ्रंश साहित्य को स्थायित्व प्रदान किया। उसकी रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं[1]—

१- शब्दानुशासन—सूत्र तथा व्याख्या
२—योगशास्त्र
३—द्वयाश्रय काव्य (संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश)
४ छंदोनुशासन
५—काव्यानुशासन (अलंकार चूड़ामणि तथा विवेक सहित)
६—अभिधान चिंतामणि (नाम संग्रह)
७—देशी नाममाला तथा अन्य कोश
८—त्रिषष्ठि शलाका चरित्र

कुछ विद्वान् वीतराग स्तुति, द्वात्रिंशिका तथा प्रमाण-मीमांसा नामक तीन और रचना मानते हैं। कोई अभिधान-चिंतामणि की टीका को इनकी अंतिम रचना मानते है तो कोई त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित्र को[2]।

---

१. रसिकलाल पारीख—काव्यानुशासन की भूमिका, पृ० २६१।
२. रसिकलाल पारीख—वही, पृ० २६१।

हेमचंद्र का शब्दानुशासन बड़ा प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसके प्रथम सात अध्यायों में संस्कृत, आठवे अध्याय के तीन पादों में प्राकृत और चतुर्थ पाद मे अपभ्रंश का व्याकरण है। व्याकरण के नियमों की व्याख्या तथा उदाहरण के हेतु ही उन्होंने अपभ्रंश पद्यों को उद्धृत किया है। संभवतः जो पद्य उनको अपने प्रसंगानुकूल नही मिले उन्होने उसकी रचना स्वयं की हो। यही बात छंदोनुशासन के विषय मे भी लागू हो सकती है। उद्धृत अपभ्रंश पद्यों मे संयोग, वियोग, वीर, उत्साह, हास्य, अन्योक्ति, नीति और प्राचीन कथासंबंधी पद्य संगृहीत हैं। इन पद्यों में साहित्यिक सौंदर्य के साथ साथ तत्कालीन ग्रामीण जीवन पर भी कही कही अच्छा प्रकाश पड़ता है।

देशी नाममाला मे उन्होंने देशी शब्दों का संग्रह किया है। देशी शब्द का लक्षण करते हुए आप कहते हैं—

जे लक्खणे ण सिद्धा ण पसिद्धा सक्कयाहिहाणेसु।
ण य गउ लक्खणा सत्ति संभवा, ते इह णिबद्धा॥

अर्थात् जो शब्द संस्कृत, प्राकृत व्याकरण आदि के नियम से सिद्ध नही होते और जो संस्कृत आदि के कोश में संगृहीत नही है वे यहाँ संग्रह किए गए हैं। इस प्रकार लगभग ३९७८ शब्दों का देशी नाममाला में संग्रह प्राप्त होता है। इस कोष मे भी ५३४ पद्य प्राप्त होते हैं जिनमें से ३१० पद्य शृंगारात्मक हैं और ११९ सुभाषित (नीति, शास्त्रीय उपदेश) तथा १०५ कुमारपाल की प्रशंसा में दिए गए हैं। अपभ्रंश व्याकरण मे भी लगभग १५९ पद्य प्राप्त होते हैं और कुछ छंदोनुशासन मे भी। यदि सभी पद्यों का संग्रह कर प्रकाशित किया जाय तो अपभ्रंश साहित्य का बड़ा सुंदर संग्रह बन सकता है।

हेमचंद्र ने कुमारपाल चरित नामक द्वयाश्रय काव्य २८ सर्गों में लिखा है। इस चरित के अंतिम सर्ग में पद्यसंख्या १४ से ८२ तक अपभ्रंश पद्य मिलते हैं। इन पद्यों में धर्मोपदेश की भावना प्रधान है।

हेमचंद्र कृत प्राकृत व्याकरण में जो पद्य उद्धृत किए गए हैं वे ही पद्य उसी रूप में त्रिविक्रम कृत प्राकृत व्याकरण में भी उपलब्ध होते हैं। त्रिविक्रिम का समय डा० उपाध्ये १२३६ ई० के लगभग मानते हैं[1]। हेमचंद्र की भाँति त्रिविक्रम ने भी तृतीय अध्याय के चतुर्थ पाद के ७२वें सूत्र 'झाङगास्तु देश्याः सिद्धा' कहकर ८४६ शब्दों की सूची दी है। अन्य १६ शब्दों को तत्समतद्भवात्मना प्रयोगपदवी को प्राप्त कहा है[2]। इन देशी शब्द के प्रयोगों को प्रदर्शित करने के लिये जो गाथाएँ अथवा पद्य दिए गए हैं वे किस कवि के हैं इसका कोई उल्लेख नही मिलता। न पुस्तकों का ही नाम मिलता है। अतः यह निष्कर्ष निकाल लेना कि हेमचंद्र ने इन पद्यों को रचा था अधिक अनुचित न होगा।

हेमचंद्र द्वारा प्रयुक्त दोहों के उदाहरण इस प्रकार हैं—

सुभाषित (उपदेश रूप में कुछ पंक्तियाँ)—

सायर उप्परि तणु धरइ तलि घल्लइ रयणाइँ।
सामि सुभिच्चु विपरिहरइ, सम्माणेह खलाइँ॥
(८.४-३३४)

सद्भृत्य की अवहेलना करनेवाले तथा दुष्ट चाटुकारों का आदर करनेवाले स्वामी पर अन्योक्ति है। कवि कहता है

1. त्रिविक्रम—प्राकृत व्याकरण, भूमिका, पृ० ३२।
2. वही, पृ० ३३२।

कि सागर तिनके को ऊपर धारण करता है और रत्नों को तल में डाल देता है। (यह इसी प्रकार है जिस प्रकार) स्वामी सच्चे हितैषी भृत्य का अनादरकर मूर्खों को आदर देता है।

कृपण की दशा का वर्णन देखिए—

किर खाइ ण पिअइ ण विद्दवइ धम्मि ण वेच्चइ रूअडउ।
इह किवणु ण जाणइ जह जमहो खणेण पहुच्चइ ऊअडउ॥
(८-४-४१९)

अर्थात् यह कृपण न खाता है, न पीता है, न दान देता है, न धर्मार्थ रुपए को व्यय करता है। यह यह नही जानता कि यमदूत क्षण भर में इसे प्राप्त कर लेंगे (पकड़ लेंगे)।

हेमचंद्र का युग राजपूत शौर्य का युग था। उस युग की क्षत्राणियों की भावना, उनका पतिप्रेम, त्याग तथा शौर्य भारतीय इतिहास की अनुपम निधि है। किसी क्षत्रिय बाला की कामना का चित्र देखिए—

आअहि जमि महु अण्णहि वि गौरि सु देज्जहि कंतु।
गअ मत्तह चत्तांकुसहं जो अब्भिडइ हसंतु॥
(८-४-३८३)

अर्थात् हे भवानी ! (गौरी) मुझे इस जन्म में तथा अन्य जन्म में ऐसा वर दो जो हंसता हँसता मस्त हाथियों के मस्तकों से भिड़ जानेवाला हो।

रसिकमंडली के संमुख कोई ग्रामीण मुग्धा चली गई। उनकी चेष्टाओं का कवि ने संकेत किया है—

सिरि जरखंडी लोअडी गलि मणिअडा ण वीस।
तो वि गोट्ठडा कराविआ मुद्धए उट्ठवईस॥
(८-४-४२३-४)

अर्थात् उस ग्रामीण मुग्धा के सिर पर केवल केशसमूह था और गले में २० मणियों के दाने भी न थे तो भी गोष्ठी के नवयुवकों में उसने उठक बैठक करा दी[1]।

प्रिय के आने पर उसके सर्वांग मे समा जाने की कल्पना कितनी सुंदर है –

जइ केवइ पावीसु पिउ अकिया कुड्डु करीसु।
पाणिउ णवइ सरावि जिवं सव्वंगे पइसीसु॥
(८-४-३९६-४)

अर्थात् यदि किसी विधि आज प्रियतम मिल जाँय तो मैं अकृतपूर्व कृत्य करूँ। मैं उनके अंगों में मिलकर उसी प्रकार समा जाऊँ जिस प्रकार मिट्टी के सकोरे में पानी समा जाता है। धन्य है।

इस प्रकार हेमचंद्र के ग्रंथों में अनेकों सुंदर सुभाषित रत्न हैं। उनके छंदोनुशासन, देशी नाममाला तथा प्राकृत व्याकरण के छंदों में भाषाविषयक विविधरूपता प्राप्त होती है। यह भाषावैषम्य ही इस कल्पना को प्रश्रय देता है कि कुछ उदाहरण उनके हैं और कुछ प्रचलित सुभाषितों से संगृहीत।

सोमप्रभाचार्य (११९५) कृत कुमारपालप्रतिबोध में कवि ने बसंत, शिशिर और अन्य ऋतुओं के सुंदर चित्र दिए हैं। कोकिल की काकली, वन के सौंदर्य का वर्णन भी बड़ा सुंदर है। कल्पना में नवीनता है। शीतकाल का कस्तूरीविलेपन देखकर कवि को बालाओं का हृदयानुराग बाहर निकला हुआ प्रतीत होता है। यथा–

जहि तरुणहि घण घुसिणंगराओ निम्मविओ सीयसंगम विआओ।
मण मज्झि अभंतु पियाणुराओ, नं निमग्गओ वाहिु र निव्विवाओ॥

---

१. किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।–शकुंतला, अंक १–१७।

मेरुतुंगाचार्य कृत प्रबंधचिंतामणि (वि० सं० १३६१) तथा राजशेखर सूरि कृत प्रबंध कोश (वि० सं० १४०५) में भी अपभ्रंश के कुछ पद्य मिलते हैं। प्रबंधचिंतामणि में 'मुंज' और 'मृणालवती' के प्रसंग को लेकर कुछ पद्य प्राप्त होते हैं। कुछ पद्य केवल सूक्तियाँ हैं या सुंदर सुभाषित हैं, कुछ में शृंगार तथा प्रेम के चित्र प्राप्त होते हैं। यथा—

झाली तुट्टवि किं न मुउ, किं न हूअउ छर पुंजु।
हिंदइ दोरी, दौरियउ, जिमि मक्कडु तिमि मुंजु॥

—पृष्ठ २३

आग के टूटने मे क्यों न मरा ? छारपुंज क्यों न हो गया ? जैसे डोरी में बँधा बंदर घूमता है वैसे ही मुंज घूमता है।[1]

गत यौवन पर विषाद करती हुई मृणालवती को समझाते हुए मुंज कहता है—

मुंजु भणइ मुणालवइ जुव्वण गयउ न झूरि।
जइ सक्कर सयखंड थिय तोइ स मीठी चूरि॥

—पृष्ठ २३

राजा मुंज कहते हैं कि हे मृणालवती गए हुए यौवन के लिये शोक न करो। यदि गन्ने (इक्षुखंड) सौ टुकड़े भी हो जाँय तब भी वह मीठा ही रहता है।

प्राकृत पैंगलम् का उल्लेख हम पहिले कर चुके हैं। यह छंदशास्त्र का ग्रंथ है। डा० चटर्जी का विचार है कि इसमें संगृहीत पद्य ९००–१४०० ई० तक के हैं। इस ग्रंथ के रचयिता के विषय मे कुछ निश्चित नही। किसी हरिवंभ (हरिब्रह्म)

---

१. आचार्य रामचंद्र शुक्ल—हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० २३।

नामक कवि ने राजा हरिसिंह की कीर्ति के कुछ पद्य लिखे थे। राजा हरिसिंह का काल १३१४-१३२५ माना जाता है। ग्रंथ में कहीं कहीं हम्मीर का नाम भी उपलब्ध होता है। अतः डा० कोछड़ इस रचना का काल १४वीं तथा १५वीं शताब्दी में अनुमानित करते हैं।[1]

प्राकृत पैंगलम् में विद्याधर, शारंगधर, जज्जल तथा बव्वर आदि कवियों की कविता प्राप्त होती है।

विद्याधर कवि ने कन्नौज के किसी राठौर सम्राट् (शायद) जयचंद के प्रताप और यश का वर्णन किया है। ग्रंथ का पता नही, पर कुछ पद्य 'प्राकृत पैंगलम्' में प्राप्त होते है। यही बात कवि शारगधर के विषय में है, वे आयुर्वेद के तो विद्वान् थे ही परंतु साहित्य के भी अच्छे कवि थे। परंपरा से हम्मीर रासो वीरगाथा काव्य के अंतर्गत रक्खा जा सकता है, परंतु यह ग्रंथ अब अप्राप्य है केवल कुछ छंद प्राकृत पैंगलम् में उद्धृत हैं जिनको आचार्य रामचद्र शुक्ल जी ने विलुप्त हम्मीर रासो के पद्य माना है।[2] यथा—

ढोल्ला मारिय ढिल्लि महँ, मुच्छिउ मेच्छ शरीर।
पुर जज्जल्ला मंतिवर, चलिअ वीर हम्मीर।
चलिय बीर हम्मीर पाअभर मेइणि कंपइ।
दिगमग णह अंधार धूलि सुररह आच्छाइहि॥
दिगमग णह अंधार आण खुरसाणुक उल्ला।
दरमरि दमसि विपक्ख मारु ढिल्ली मह ढोल्ला॥

युद्धोद्यत हम्मीर अपनी पत्नी से बिदाई ले रहा है—

---

१. डा० कोछड़—अपभ्रंश साहित्य, पृ० ३३०।
२. आचार्य रामचंद्र शुक्ल—हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ३१।

मंचहि सुंदरि पाव अप्पहि हसिऊण सुम्मुहि खग्गं मैं ।
कप्पिअ मेच्छ शरीर पेच्छइ वअणाइ तुम्ह धुअ हम्मीरो ॥[1]

—पृ० १२७ ।

युद्धोद्यत सेना का दृश्य निम्नलिखित पद्य में अनुरण-नात्मक शब्दयोग द्वारा कितना प्रभावोत्पादक हो गया है—

खुर खुर खुदि खुदि महि घघर रव कलइ,
णणणण णगिदि करि तुरअ चले ।
ट ट ट गिदि पलइ टपु घसइ घरणि वपु
चकमक करि बहु दिसि चमले ।
चलु दमकि दमकि वल चलइ पइक वल
घुलकि घुलकि करि करि चलिआ ।
वर मणु सअल कमल विपख हिअअ सल,
हमिर वीर जव रण चलिआ ॥[2]

—पृ० ३२७ ।

संग्रहकार ने ऋतुवर्णन, स्तुति, सद्गृहस्थ, संतोष, परोपकार आदि विषय पर सुंदर उक्तियाँ भी दी हैं ।

इस प्रकार जनता जनार्दन के वाङ्मयविलास, उनके हृदय की सौंदर्यवासना, पर्वों पर का उल्लास[3], साधारण जन की रसिकता तथा प्रचलित मनोवृत्ति की सच्ची झलक इन मुक्तक

---

१. अर्थात् हे सुंदरी, चरणों को छोड़ो, (उठो) तथा हँसकर मुझे खड्ग अर्पित करो । मैं निश्चयपूर्वक म्लेच्छों के शरीर को काटकर तुम्हारे मुखारविंद का दर्शन करूँगा ।

२. अनुरणनात्मक शब्दप्रयोग के लिये देखो—स्वयंभु : हरिवंश पुराण, ६–१०, यशःकीर्ति : पांडवपुराण, २१–६; पुष्पदंत : जसहरिचरिउ, पृ० १६-१७; वीरकवि : जम्बुसामिचरिउ, ५-६ आदि आदि ।

३. के० देशपांडे—एनल्स आफ दी भंडारकर रिसर्च इंस्टी०, भाग ३६, सन् १९५५, पृ० ३४०-३५१ ।

काव्यों में मिलती है। यहाँ मनमयूर का स्वच्छंद नृत्य है, वासना की स्वतंत्र केलि है तथा स्वाभाविक रतिभाव का अकृत्रिम प्रकाशन है। हमारे दृष्टिकोण से मुक्तक काव्यों का अध्ययन अधिक महत्वपूर्ण है। महापुराण, चरिउ, कहा, रासक, चर्चरी आदि मे जैन धर्म भावना ने सबका पर्यवसान शृंगार में कर एक कृत्रिमता उत्पन्न कर दी है। कहीं कहीं पर तो कथावस्तु का सहसा गला घुट गया है। संसार की असारता का विवेचन एवं तद्जन्य निर्वेद संसार के प्रति न हो रचना के प्रति हो जाता है, क्योंकि पढ़ते पढ़ते पाठक का मन ऊब जाता है। परंपरा एवं रूढ़ियों की भरमार ने काव्यशैली में विविधता नही आने दी।

अपभ्रंश पद्य साहित्य का एक रूप और उपलब्ध होता है जिसको डा० कोछड़ ने रूपक काव्य कहा है।[1] यह रूपकात्मक शैली भारत में अत्यंत प्राचीन काल से चली आती है। संस्कृत में सर्वप्रथम इसके दर्शन उपनिषदों में प्राप्त होते हैं। इसमे प्रबोध चंद्रोदय नाटक मे यही शैली अपनाई गई है। इसमे मोह, विवेक, विज्ञान, विद्या, बुद्धि, दंभ आदि आदि अमूर्त भाव स्त्री और पुरुषों के रूप में आकर अभिनय करते हैं। इसी प्रकार का तेरहवी शताब्दी का रचा हुआ मोहपराजय नामक नाटक है[2]। प्रबंध चिंतामणि में श्री मेरुतुंगाचार्य ने परिशिष्ट में कुमारपाल तथा अहिंसा का विवाहसंबंध नामक प्रबंध भी रूपकात्मक शैली में लिखा है[3]।

---

१. डा० कोछड़—अपभ्रंश साहित्य, पृ० ३३४।

२. कवि नागदेव—मोह पराजय नाटक, संपादक-प्रो० राजकुमार जैन, काशी।

३. मेरुतुंगाचार्य—प्रबंध चिंतामणि, पृ० १२६।

अपभ्रंश में हमें जीवनमरणसंलाप कथा, मयणपराजय चरिउ तथा मयण जुज्झ नामक रचना इसी शैली में प्राप्त होती हैं। ये ग्रंथ लगभग (पिछले दो) १५वीं और १६वीं शताब्दी के है। इस समय अपभ्रंश केवल साहित्यिक भाषा रह गई थी और वह भी जैन संप्रदाय में। अतः हमारे विषय के बाहर इन ग्रंथों का वर्णन है। केवल उल्लेखमात्र कर दिया है।

अपभ्रंश मे काव्यो के नए रूप भी प्रचलित हुए। नई संज्ञा भी मिली। हम ११५ प्रकार के काव्यों की संज्ञा का वर्णन इससे प्रथम कर चुके है। इस प्रकार की रचनाएँ परंपराभुक्त महाकाव्यादि के भेदो मे समावेश नही पाती। यह ग्रंथ अपेक्षाकृत छोटे हैं। इनकी सामग्री भी यत्रतत्र संकलन ग्रंथों मे अथवा समाचारपत्रों में बिखरी पड़ी हुई है। इन ग्रंथों के नाम रास, चर्चरी, स्तोत्र, फाग, चौवीसी तथा बाईसी आदि आदि हैं। इस प्रकार की बहुत सी स्फुट रचनाएँ 'प्राचीन गुर्जरकाव्य संग्रह', 'अपभ्रंश काव्यत्रयी' तथा 'ऐतिहासिक जैनकाव्य संग्रह' में प्रकाशित हुई हैं। 'प्राचीन गुर्जरकाव्य संग्रह' मे चौदह पद्यात्मक रचनाओं के अतिरिक्त सात गद्यात्मक रचनाएँ भी हैं जो तेरहवी चौदहवी शताब्दी की हैं। ये रचनाएँ गद्य के ऐतिहासिक विकास के लिये बड़ी महत्वपूर्ण हैं। 'प्राचीन गुजराती गद्य संदर्भ' मे चौदहवी और पंद्रहवीं शताब्दी की लगभग सौ छोटी बडी कथाएँ, धर्मोपदेश आदि संगृहीत हैं। कुलमंडन सूरि कृत 'औक्तिक प्रकरण' (संवत् १४५० वि०) तो बड़ा ही महत्वपूर्ण ग्रंथ है, क्योंकि इसमें विभक्तिविचार, कृदंतविचार, उक्तिभेद, शब्दसंग्रह आदि का निरूपण उसी भाषा मे किया गया है। यह भाषा शास्त्र का अनुपम ग्रंथ है।

रास, चर्चरी तथा फाग नाम की रचनाएँ साहित्यिक दृष्टि से अधिक उपयोगी हैं। स्तोत्र तथा चौबीसी, बावीसी आदि तो पुराने ढंग पर प्रार्थना आदि ही हैं जिनमें उपास्य के गुणों का वर्णन है।

अपभ्रंश में भरतबाहुबलि रास, जंबूस्वामी रास, रेवत गिरि रास, गयसुकुमाल रास तथा समरा रास, आदि के नाम प्राप्त होते हैं। ऐतिहासिक जैनकाव्य संग्रह में जिनकलश सूरि पट्टाभिषेक रास, श्री जिनचंद्र सूरि अकबर प्रबोध रास, निर्वाण रास, जिनराज सूरि रास, जिनसागर सूरि रास तथा शाह लाधा कृत शिवचंद सूरि रास नामक रचनाओं का संग्रह है। 'आनंद काव्य महोदधि' के ८ भागों में अनेक रासों का संग्रह किया गया है जिनका उल्लेख हम अन्यत्र करेंगे।

भरतबाहुबलि रास की रचना[१] सं० १२४१ वि० में मानी जाती है। इसकी रचना शालिभद्र सूरि ने की है। कथा पौराणिक है। प्रथम तीर्थंकर के पुत्र प्रथम चक्रवर्ती भरत तथा उनके छोटे भाई बाहुबलि का युद्धवर्णन है। भरत बाहुबलि द्वारा पराजित हुए परंतु बाहुबलि ने अपने बड़े भाई को ही राज देकर संसार से वैराग्य ग्रहण किया। यह काव्य वीर-रस प्रधान है। भाषा मे गुजरातीपन (स्थानीय प्रभाव) का आधिक्य है। ग्रंथ में चउपई, रास, दोहा आदि छदों का प्रयोग है। सेना की यात्रा का वर्णन देखिये—

वज्जिय समहरि संचरिय, सेनापति सामतु तु।
मिलीय महावर मंडलीय, गढिय गुण गाजंत तु।

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५६, भाग १, संवत् २०११, पृ० २१।

गडयडत गयवर गुडीय, जंगम जिम गिरि श्रृंग तु।
सुंडादंड चिर चालवइ ए, वेलइं अंगिहिं अंग तु।
गंजइ फिरि फिरि गिरिसिहरि, मंजइ तरुवर डालि तु।
अंकुस वसि आवइ नही य, करइ अपार जि आलि तु॥

भेरी वज रही है। सेनापति सामंत सब चले जा रहे हैं। जंगम पर्वतों के समान हाथी बढे जा रहे हैं। पर्वतों के शिखर गुंजायमान हो गए। वृक्षों की शाखाएँ टूटने लगीं। हाथी अंकुश के वश में नही रहे।[1]

इसी प्रकार 'जंबुसामि रास' धर्म सूरि ने वि० सं० १२६६ में जंबूस्वामि के यशोगायन के लिये, रेवंतगिरि रास वि० संवत् १२८८ मे विजयसेन सूरि द्वारा रेवंतगिरि की प्रशंसा में, तथा गयसुकुसाल रास वि० सं० १३०० में[2] श्री देल्हण द्वारा जैनमतानुसार श्रीकृष्ण के छोटे भाई गज-सुकुमार मुनि के चरित्र की प्रशंसा में लिखे गए हैं। समरा रास भी वि० सं० १३७१ मे समरसिंह की दानवीरता का वर्णन करता है।

रास से मिलताजुलता काव्य चर्चरी है। चच्चरी, चर्चरी, चाचरि आदि शब्द पर्यायवाची है। यह भी मनोविनोद का ही साधन था और रासक अथवा रास के अंतर्गत माना जाता था[3]। यह वह रचना है जो ताल एवं नृत्य के साथ, विशेषतः उत्सव आदि पर गाई जाती थी। अपभ्रंश काव्यों से लेकर जायसी की पद्मावत तक मे इसका उल्लेख मिलता

---

१. डा० कोछड़-अपभ्रंश साहित्य, पृ० ३६४।
२. श्री अगरचंद नाहटा-राजस्थान भारती, वर्ष ३, अंक २, पृ० ८७।
३. भरत कोश—पृ० ≈०।।

है[1] । अनुमानतः यह वसंतोत्सव पर गेय काव्य होगा । प्रस्तुत चर्चरी जिनदत्त सूरि की रचना है जिसमें इन्होंने ४७ पद्यों में अपने गुरु का यशोगान किया है । आपने 'उपदेश रसायन' तथा कालस्वरूप कुलक नामक ग्रंथ और लिखे हैं जिनका वर्णन हम पहिले कर चुके हैं ।

रास तथा चर्चरी की भाँति तीसरा शब्द फाग है । यह भी चरितप्रधान रचना है । यह रचना भी हर्षोल्लास एवं नृत्य आदि का विषय है जो जैन मुनियों द्वारा अपने चरित नायकों का उल्लासरूप वर्णन करने के लिये अपनाया गया । श्री अक्षयचंद्र शर्मा फाग शब्द की विवेचना करने के उपरांत इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि 'फागु' वह गेय रूपक है जो मधु महोत्सव में गाया और खेला जाता हो; और भी संक्षेप में 'फागु मधुमहोत्सव संबंधी गेय रूपक है[2] ।'

जैन कवियों ने अनेकों फाग भी लिखे हैं[3] परंतु सिरि थूलिभद्द फागु प्राचीन है तथा अपभ्रंश रचना में इसे विशिष्ट स्थान प्राप्त है । इसकी रचना वि० सं० १२५७ में श्रीजिनपद्म सूरि द्वारा हुई है । कृति ७ भागों में विभाजित है । प्रत्येक भाग का नाम 'मास' दिया गया है । डा० कोछड़ को इन विभागों में वैदिक काल की 'अनुवाक' शैली का स्मरण हो आया है[4] ।

कथावस्तु बहुत ही संक्षिप्त है । स्थूलभद्र राजा नंद के मंत्री

---

१. डा० कोछड़—अपभ्रंश साहित्य, पृ० ३६२ ।
२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका-वर्ष ५८, अंक १, संवत् २०११, पृ० २५ ।
३. वही, वही, वही ।
४. डा० कोछड़—अपभ्रंश साहित्य, पृ० ३६५ ।

शकटार के ज्येष्ठ पुत्र थे। युवावस्था में अत्यंत विलासी एवं उन्मार्गगामी होकर प्रसिद्ध वेश्या कोशा के यहाँ दिनरात रहा करते थे। पिता की मृत्यु के उपरांत राजा के निमंत्रण पर वेश्यागृह से निकले और वैराग्य ग्रहणकर जैन साधु हो गए। उन्होंने अपना चतुर्मास कोशा के क्रीड़ा गृह में बिताया। यहीं से फागु की कथा प्रारंभ होती है। वेश्या मुनि के हृदय को अपने शतशः कामुक विलासविभ्रमों तथा अनेकानेक कामुकतापूर्ण चेष्टाओं, साजशृंगार सहित एवं वादन, गायन आदि साधनों से विचलित करने का प्रयत्न करने पर भी असमर्थ रहती है। मुनि का हृदय चार महीनों तक विभ्रमों के नग्न नृत्यों से भी हिमाचल की भांति अडिग रहा। यह काम विजय का अनूठा उदाहरण है।

कथानक अत्यंत संक्षिप्त है। परंतु काव्यप्रतिभा के अनुपम संयोग से वर्णन बड़े सजीव हो उठे हैं। 'हावभाव-कुशला' कोशा अपने उद्दाम यौवनावेग का समस्त सज्जा के साथ मुनि के चित्त को अस्थिर करने के लिये प्रयोग करती है, उसकी वाक्यावली उसके हृदय में उद्वेलित भावों की प्रकाशिका है। यह कहती है—

एरिसु पावसु कालु—सयलु मूसिउ माणीजइ।

(ऐसा सुहावना वर्षाकाल। तुम मेरे साथ आनंद मनाओ)।

वर्षावर्णन कितना सुंदर है—

झिरिमिरि, झिरिमिरि झिरिमिरि ए मेहा वरिसंति।
खलहल खलहल खलहल ए वाहला वहंति ॥
झब झब झब झब ए बीजुलिय झबक्कइ।
थरहर थरहर थरहर ए विरहणि मणु कंपई ॥१॥

महुर गंभीर सरेण मेह जिम जिम गाजंते ।
पंचवाण निय कुसुमवाण तिमि तिमि साजंते ।
जिमि जिमि केतकि महमहंत परिमत विहसावइ ।
तिमि तिमि कामिय चरण लग्गि जिन रमण मनावइ ॥२॥

कोशा की वेश भूषा का चित्र भी द्रष्टव्य है--

लहलह लहलह लहलह ए उरि मोतिय हारी ।
रणरण रणरण रणरण ए पगि नेउर सारी ॥
झगमग झगमग झगमग ए कानिहि वर कुंडल ।
झलमल झलमल झलमल ए आभरणइँ मंडल[1] ॥

अंत में समस्त शृंगार का पर्यवसान शांत रस मे हो जाता है । कोशा भी मुनि के के साथ वैराग्य ग्रहण करती है और वेश्या वृत्ति छोड़कर जैन धर्म में दीक्षित हो जाती है ।

श्रीअगरचंद्र नाहटा ने अपने ग्रंथानुसंधान प्रयत्न में तेरहवी शताब्दी के एक स्थूलिभद्द रास की सूचना दी है । रास के रचयिता का नाम स्पष्ट नही मिलता परतु अंत में 'जिन धाम' के आधार पर वह रचना जिनधर्म सूरि की मानी जा सकती है[2] । इस रचना में भी केवल ४७ पद्य हैं । कथावस्तु वही है परंतु वर्णन में वह सजीवता नहीं आ पाई जो उपर्युक्त फागु में है । इनके अतिरिक्त अभी हाल में श्रीयुत भँवरलाल नाहटा ने 'सुभद्रासती चतुष्पदिका' तथा

---

१. हिंदी अनुशीलन, वर्ष ७, अंक २, संवत् २०११, पृ० ३८-३९ ।
२. वही ।

'सतीमेणरेहा रास' प्रकाशित कराए है। आपके विचार में दोनों का रचनाकाल १३ वी से १५ वी शताब्दी है[1]।

अस्तु, प्रतीत होता है कि जैन मुनियों ने अपभ्रंश में अपने चरित्रनायकों के यशःविस्तार हेतु अनेक गेय काव्यों की रचना की है जो कुछ प्रकाशित हो चुके है और कुछ अभी अप्रकाशित हैं। इस साहित्य मे धार्मिक भावना प्रधान होते हुए भी काव्योपयोगी वर्णनक्षमता एवं भावोद्रेकता उपलब्ध होती है। स्तोत्र, स्तवन, स्तुति आदि केवल विशेषणों के पद्यवद्ध कोश है। कही कही उनमे कलात्मक संघटन का ढंग है। अतः वह हमारे विषय से वाहर की वस्तु है।

अपभ्रंश का दूसरा विशाल अंग कथा साहित्य है। जैन कथाकारो का सदैव एक ही पवित्र उद्देश रहा है और वह यह है कि श्रोताओ मे शुभ जिज्ञासा उत्पन्न हो, और उनकी प्रवृत्ति शुभकार्य की ओर अग्रसर हो। उनका एकमात्र लक्ष्य सद्भाव, सद्धर्म और सन्मार्गप्रेरक सत्कर्म का जनसमुदाय में प्रचार करके जनता के नैतिक तथा सदाचारमय जीवन को उच्चतर वनाना रहा है। जैन साहित्य की सवसे वड़ी विशेषता यह है कि उनका कथासाहित्य सर्वसाधारण की वस्तु है। उसका महत्व सार्वजनीन है। इन कथाग्रंथों मे नाना प्रकार के पात्रों का, उनके आचारविचार का, उनकी वहुमुखी व्यवहारकुशलता का चित्र होने से तत्कालीन समाज एवं संस्कृति का आभास मिलता है। सांस्कृतिक इस महत्व को स्पष्ट करते हुए मुनि जिनविजय जी लिखते हैं -

'इसी तरह सांस्कृतिक महत्व की दृष्टि से भी इन कथाग्रंथों का वैसा ही वह उच्चतम स्थान है। भारतवर्ष के पिछले ढाई

---

१. हिंदी अनुशीलन, वर्ष ६, अंक १–४, पृ० ६७।

हजार वर्ष के सांस्कृतिक इतिहास का सुरेख चित्रपट अंकित करने में, जितनी विश्वस्त और विस्तृत उपादान सामग्री, इन कथानक ग्रंथों में मिलती है, उतनी अन्य किसी प्रकार के साहित्य में नही मिल सकती। इन कथाओं में भारत के विभिन्न धर्म, संप्रदाय, राष्ट्र, समाज, वर्ण आदि के विविध कोटि के मनुष्यों के नाना प्रकार के आचारविचार, व्यवहार, सिद्धांत, आदर्श, शिक्षण, संस्कार, नीति, रीति, जीवनपद्धति, राजतंत्र, वाणिज्य व्यवसाय, अर्थोपार्जन, समाजसंघटन, धर्मानुष्ठान, एवं आत्मसाधन आदि के निर्देशक बहुविध वर्णन निबद्ध किए हुए हैं, जिनके आधार पर हम प्राचीन भारत के सांस्कृतिक इतिहास का सर्वांगीण और सर्वतोमुखी चित्र तैयार कर सकते हैं[1]'।

जैन साहित्य की इस प्रकार की कथाराशि बहुत अधिक है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और देशभाषाओ मे गुंफित छोटी बड़ी सैकड़ों नहीं हजारों जैन कथाओं से जैन वाङ्मय का सुविशाल भंडार भरपूर है। वस्तुतः कथा 'शब्द' बड़े व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। अपभ्रंश लेखकों ने इस विषय में बड़ी स्वतंत्रता अपनाई है। धनपाल ने अपने काव्य 'भविसयत्त कहा' को कहा (कथा) का नाम दिया है। समस्त पुराण एवं चरिउ भी कथा के अंतर्गत आ सकते है। संस्कृत आलंकारिकों ने 'धीरशांतनायका गद्येन पद्येन वा सर्वभाषा कथा,'[2] कथा का लक्षण दिया है और वर्णनशैली के आधार पर उपाख्यान, आख्यान, निदर्शन, प्रवह्लिका, मंथल्लिका, मणिकुल्या, परिकथा, खडकथा, उपकथा, वृहत्कथा

---

१. जिनविजय मुनि—कथा कोष प्रकरण की भूमिका, पृ० १५।

२. हेमचंद्र—काव्यानुशासन सू० ३०३, पृ० ४६३।

तथा आख्यायिका आदि अनेक भेद, प्रभेदों के नाम गिनाए हैं। परंतु यहाँ कथा से अभिप्राय उन ग्रंथों का है जहाँ उपदेशों को कथा द्वारा हृदयगम्य बनाया गया है, जहाँ काव्योपम गुणों का विस्तार अधिक नही किया गया है। वर्णनशैली सीधीसादी गद्यपद्यमय है। कही कही सुभाषितों का भी प्रयोग किया गया है। इस प्रकार के कुछ ग्रंथों का परिचय भी प्रसंगानुसार यहाँ दिया जाता है—

धम्मपरिक्खा– अपभ्रंश में हरिषेण कृत है। इसमें ग्यारह संधियाँ हैं। ग्रंथ अभी अप्रकाशित है[1]। जिनधर्म कोश में 'धम्मपरिक्खा' नाम के कई ग्रंथों की सूची मिलती है[2]।

लेखक के पिता का नाम गोवर्धन था। कवि चित्तौर का रहनेवाला था परंतु वहाँ से अचलपुर गया और १०४४ वि० सं० मे इस ग्रंथ का निर्माण किया। ग्रंथ का विषय मुख्यतः कथा द्वारा ब्राह्मण धर्म पर आक्षेप कर जिन धर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन है। कवि को स्थान स्थान पर प्रचलित लीलाओं और कथाओं पर भी व्यंग करने का अवसर प्राप्त हो गया है, यथा विष्णु के दस अवतार होने पर भी वे अजन्मा माने जाते है। शिव गंगा प्रसंग तथा श्रीकृष्ण की गोपी लीला पर भी कवि ने व्यंग किया है।

जहाँतक वस्तुवर्णन का प्रश्न है, वही अपभ्रश काव्य-परंपरा का अनुसरण है। नगरवर्णन, अनुरणनात्मक शब्दों तथा ध्वन्यात्मक रूपको का प्रयोग प्राप्त होता है। छंद भी वे ही गिने चुने हैं[3]।

---

१. डा० कोछड़—अपभ्रश साहित्य, पृ० ३४२।
२. प्रो० वेलणकर—जिन रत्न कोश, भाग १।
३. धर्मपरिक्खा पर स्पष्ट प्रभाव हरिभद्रसूरि कृत (८वीं शताब्दी)

कथाकोश—दूसरी पुस्तक है। इसके रचयिता श्रीचंद्र कवि हैं। प्रत्येक संधि के अंत में कवि का नाम दिया हुआ है। इनका रचनाकाल लगभग वि० सं० ११२३ (१०६६ ई०) माना जाता है। इस ग्रंथ में ५३ संधियों में ५३ कथाएँ धार्मिक उपदेश और व्याख्या के रूप में दी हैं। कहीं कहीं पंचतंत्र और हितोपदेशवाली शैली भी मिलती है—अर्थात् पशुपक्षी भी पात्र के रूप में लिए गए हैं।

ग्रंथ की भाषा एवं पदयोजना प्राकृत एवं संस्कृत के ढंग की है। यथा—'एक्केण कणसागएण हंसे पुच्छिउ' (एकेन कृत स्वागतेन हंसेन पृष्टम्) अर्थात् स्वागतकर एक हंस ने पूछा।

रत्नकरंड शास्त्र — यह श्रीचंद्र का दूसरा ग्रंथ है। यह भी अप्रकाशित है। डा० कोछड़ को इसकी प्रति आमेर शास्त्र भंडार में प्राप्त हुई। यह ग्रंथ सामंतभद्द की सुप्रसिद्ध कृति 'रत्नकारंड' की विस्तृत व्याख्या मात्र है।

स्थूलभद्द कहा(स्थूलभद्र कथा)—यह सोमप्रभाचार्य के कुमारपाल प्रतिबोध के अंतर्गत है। स्थूलभद्र जैन कथानक के परम प्रसिद्ध पुरुष हैं। अनेक जैन विद्वानों ने इनके जीवन पर फागु और रास लिखे हैं। ये अत्यंत विलासी तथा रूपवान् थे। ये नंद के मंत्री शकटार के ज्येष्ठ पुत्र माने जाते हैं। जो कथा स्थूलभद्द फागु की है वही प्रायः यहाँ उपलब्ध होती है। कोशा

धूर्ताख्यान का है। धूर्ताख्यान में चार धूर्त पुरुष तथा एक धूर्ता स्त्री की कथा द्वारा नाना प्रकार से असगत बातों को कहकर पुराण, रामायण, महाभारत आदि ग्रंथों में आए हुए प्रसगों का उपहास किया गया है और उनको अमान्य बतलाया गया है।

(वारविलासिनी) का रूप वर्णन, नखशिख वर्णन परंपराभुक्त है। कोशा के सौन्दर्य को देखिए, यथा —

'जसु वरण विणिज्यउ णं ससंकु
अप्पाणु निसिहि दंसइ ससंकु।
जणु णयण कंति जिय लज्ज भरिण
वण वासु पव्वनय नाइ हरिण॥

अर्थात् कोशा के मुख से पराजित चंद्रमा अपने आपको रात्रि में सशंकित हुआ दिखाता है। उसकी आखों से पराजित अतएव लज्जित होकर मृगों ने मानों वनवास प्राप्त कर लिया।[1]

छक् कम्मोवएस (षट् कर्मोपदेश)—इसके रचयिता अमर कीर्ति हैं। यह ग्रंथ १४ संधियों का है जो अभी अप्रकाशित है। यह ग्रंथ तथा अणुव्रत प्रदीप ग्रंथ कवि लक्खण द्वारा रचित कहे जाते है। अन्य व्रत, उपवास संवंधी कथाओं का उल्लेख भी प्राप्त होता है[2], जिनका विषय पूर्णतः धार्मिक है।

इस परिचय को समाप्त करने से पहिले हम गद्य साहित्य के विषय मे भी दो चार शब्द कहना अपना कर्तव्य समझते हैं। यद्यपि अपभ्रंश साहित्य अधिकतर पद्य में ही उपलब्ध है परंतु यत्रतत्र कुछ गद्य का भी प्रयोग उपलब्ध होता है। जैसा हम पहिले कह चुके हैं कि प्राचीन गुर्जर काव्यसंग्रह में सात गद्यात्मक रचनाएँ हैं जो तेरहवी और चौदहवी शताब्दियों की

---

१. उपमा हरि तनु देख लजानी।
कोउ जल में, कोउ वननि रहीं दुरि कोउ कोउ गगन समानी।
मुख निरखत ससि गयो अँबर को तड़ित वसन छवि हेरि।
मीन, कमल. कर चरन नयन डर जल में कियो बसेरि॥
—सूर सागर (२३५५)।

२. अगरचद नाहटा. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, सं० २००४, पृ० १०६।

हैं। उद्योतन सूरि कृत कुवलयमाला कथा (वि० सं० ८३५) में अपभ्रंश गद्य के कुछ वाक्य प्राप्त होते हैं। यथा—

'जनार्दन पुच्छह कत्थ तुज्झे कल्ल जिमि अल्ल या। तेन भणिउ–साहिउं जे तेतउतस्स वलक्खइएल्लयह तणए जिमिअल्लया। तेण भणियं—कि सा विसेमहिला वलक्खइएल्लिश्च? तेण भणिउ–अहहा! सा य भडारिअ संपूर्ण स्वलक्खण गायत्रि यदसिअ।

अण्णेण भणियं––अरे! कवणु तउ पाडित्थु?।
तेण भणिअं––षडंगु पढ़मि, त्रिगुण मंत्र पढमि, किं न पांडित्थु।

अण्णेण भणिअ––अरे! ण मंत्रेहि तुगुणेहिं पीणिज्वई, जौ सहितौ पातौ भि (वि) दइ सौ तं परिणेति[1]।'

अर्थात्, उसने कहा–हे जनार्दन! मैं पूछता हूँ कि तुमने कल कहाँ भोजन किया? उसने कहा–वही जो बलक्षयिक है–उसके यहाँ। उसने पूछा–क्या वह वैश्य महिला बलक्षयिका है। उसने कहा–अहा! वह तो साक्षात् गायत्री सदृश भट्टारिका है।

एक ने कहा–अरे! तेरा कौन सा पांडित्य है।

उसने कहा–षडंग वेद पढ़ता हूँ, त्रिगुण मंत्र पढ़ता हूँ, क्या मुझमें पांडित्य नही है?

दूसरे ने कहा–अरे! वह त्रिगुण मंत्रों से विवाह न करेगी, जो सहृदय पदों को जानेगा उससे विवाह करेगी।

---

१. लालचंद्र भगवानदास गांधी, अपभ्रंश काव्यत्रयी की भूमिका, पृ० १०४–१०६।

इन अवतरणों में ध्यान देने की बात यह कि पद्य मे जहाँ तत्सम शब्दों का प्रयोग पूर्णतः विलुप्त है वहाँ गद्य में कुछ प्रयोग मिलता है। उपर्युक्त अवतरण मे षडंग, त्रिगुण, मंत्र, पांडित्य तथा गायत्री आदि शब्द द्रष्टव्य है। इस अवतरण में कोढ़ी, अंधे, पंगु अथवा मातापिता से रूठे हुए अनाथालय मे भर्ती मनुष्यों की बातचीत है। उसमे तत्सम शब्दों का प्रयोग यही बताता है कि जन साधारण में संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रचार बढ़ता जा रहा था। श्रीअगरचंद्र नाहटा ने जर्नल आफ दि यू० पी० हिस्टारिकल सोसाइटी की बारहवीं जिल्द मे तरुणप्रभ सूरि नामक चौदहवी शती के जैन विद्वान् की एक गद्य रचना 'दशार्णभद्र कथा' की सूचना प्रकाशित की है। इसकी भाषा में भी तत्सम शब्दों की उसी प्रकार भरमार है जिस प्रकार कवि ज्योतिरीश्वर के 'वर्णरत्नाकर' में तथा विद्यापति की 'कीर्तिलता' के गद्य मे है[1]।

डा० कोछड़ ने अपने अपभ्रंश साहित्य मे 'जगतसुंदरीप्रयोग माला, आराधना, धनपाल कथा तथा तिलक मंजरी' के उदाहरणों पर भी विचार किया है। आपने पृथ्वीचंद्र चरित्र अथवा वाग्विलास नामक एक ग्रंथ का उदाहरण भी दिया है जो वि० सं० १४७८ की रचना है। इनसे प्राचीन ग्रंथ 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' पंडित दामोदर विरचित है। इसका रचनाकाल ११४४-११५५ ई० माना जाता है। उसके गद्य के अवतरण ध्यान देने योग्य हैं[2]। यथा—

---

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य का आदिकाल, पृ० १६।

२. जिनविजय मुनि—उक्ति व्यक्ति प्रकरण, पृ० ३।

गांग न्हाएं धर्मु हो, पापु जा, । जस जस धर्म बाढ़, तस तस पापु जाइह[1] ।

वे सो पूते जणि जाम जो निर्गुण हो[2] ।

हउं पव्वतउ टालउं, सर्वाहि भूतं दया करू[3] ।

अस्तु, इन गद्यों के आधार पर ये निष्कर्ष निकलते हैं—

१—पद्य की अपेक्षा अपभ्रंश गद्य में लोकरुचि तत्सम शब्दों के प्रयोग की ओर थी । संभवतः यह धार्मिक भावना तथा धार्मिक कृत्यों एवं संस्कारों के कारण थी ।

२—अपभ्रंश गद्य में भी अंत्यानुप्रास को प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है ।

३—गद्य में तत्सम शब्दों का प्रयोग प्रायः नवीं शताब्दी से हो चला था ।

४—गद्य साहित्य पद्य की अपेक्षा जनसाहित्य की प्रवृत्ति का अधिक प्रकाशक है ।

———

१. जिनविजय मुनि, उक्ति व्यक्ति प्रकरण, पृ० ३३ ।

२. वही, पृ० १० ।

३. वही, पृ० ६ ।

अध्याय ५

अपभ्रंश साहित्य के विभिन्न रूप तथा विशेषताएँ

'अपभ्रंश' के विकास तथा उसके उपलब्ध साहित्य का संक्षिप्त परिचयात्मक वर्णन हम अध्याय तीन तथा चार में प्रस्तुत कर चुके हैं। जहाँतक भाषा का प्रश्न है स्पष्टतः 'अपभ्रंश' मध्यकालीन आर्यभाषा के विकास का अंतिम सोपान है। भौगोलिक, राजनीतिक तथा धार्मिक उत्क्रांतियों द्वारा यह संभव हुआ कि अपभ्रंश जनसाधारण की कथ्य भाषा बनी और थोड़े दिनों मे उसका प्रचार हिमालय की तराई से गोदावरी तक तथा सिंधु से लेकर ब्रह्मपुत्र तक समस्त उत्तरापथ में व्याप्त हो गया। वह अपने समय में जीवंत और भावप्रवण तथा सक्षम भाषा रही। सर्वसाधारण के उपयुक्त जो भी अभिव्यक्ति हुई उसका माध्यम 'अपभ्रंश' रही। ६०० ई० से० १२०० ई० तक अर्थात् ६०० वर्ष के सुदीर्घ जीवन मे उसने नाना प्रकार की भावधाराओं को जन्म दिया होगा। परंतु खेद है कि जितना भाषा की व्यापकता का प्रमाण उपलब्ध होता है उसका उतना व्यापक साहित्य नही प्राप्त होता। जितना हम अध्ययन करते हैं उतना ही हम प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् पिशल के (लगभग ५० वर्ष पहिले) कथन से सहमत होते जाते हैं। पिशल ने सबसे पहिले अपभ्रंशसाहित्य के विनाश का अनुभव किया था। खोजों से यह भी पता चला है कि अभी जैन भांडारों में पर्याप्त सामग्री अप्रकाशित पड़ी है। यदि वह सब साहित्य भी प्रकाशित हो जाय तब भी हमारा यह निष्कर्ष कदाचित् बना रहेगा। कारण, 'मध्य युग की मूल चेतना धर्मप्रधान रही है। नवीन नवीन मत

सिद्धांतों की क्रिया प्रतिक्रिया ने धर्मक्षेत्र में कुछ अनुदारता का प्रवेश करा दिया था। प्रत्येक व्यक्ति ने अपने धर्मसंबंधी ग्रंथों के रक्षण करने का ही प्रयत्न किया है। अन्य धर्मों को उन्होंने उपेक्षा की दृष्टि से देखा है। अतः जो संप्रदाय विलुप्त हो गए उनके साथ उनका साहित्य भी नष्ट हो गया। अन्य धर्मों ने उनका संकेत तो किया है परंतु वह उनके खंडनात्मक रूप में प्राप्त होता है। अतः यह नितांत उचित है कि हमें बहुत सा अपभ्रंश साहित्य अब उपलब्ध नहीं होता और न उसकी कुछ आशा है।

इतिहास से पता चलता है कि मध्यदेशीय राजा प्राचीन हिंदू संस्कृति तथा सस्कृत के अनन्य भक्त एवं उन्नायक रहे। संस्कृत अध्ययन का केंद्र बनारस (काशी) हो गया था। शिक्षा का उद्देश्य केवल वेदशास्त्रों का अध्ययन था[1]। पं० दामोदर ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ उक्तिव्यक्ति प्रकरण को राजकुमारों के लिये स्थानीय भाषा का ज्ञान कराने के लिये संस्कृत में लिखा था। यह ग्रंथ यह भी सिद्ध करता है कि उस समय अपभ्रंश भाषा (जिसके उदाहरण पुस्तक में दिए गए हैं) भली प्रकार विकसित थी, उसमें साहित्य भी था परंतु वह सब नष्ट हो गया[2]। अतः ऐसी परिस्थितियों में यदि मध्यदेशीय कोई ग्रंथ अपभ्रंश का नहीं मिला तो आश्चर्य की बात नहीं और न यह समझना चाहिए कि मध्यदेश में अपभ्रंश का प्रचार न था।

साहित्य के मूल में वह विकार हैं जो नामरूपात्मक जगत् के संपर्क मे आने से मानव के हृदय में उत्पन्न होते हैं और जिन्हें 'भाव' की संज्ञा दी जाती है। इन भावों को कलात्मक

---

१. पं० दामोदर—उक्तिव्यक्ति प्रकरण भूमिका, पृ० ७६।

२. वही, पृ० ७८।

ढंग से अभिव्यक्त करने की मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। मानव अपने हृदयस्थ भावों को दूसरे पर अभिव्यक्त करने और दूसरे के भावों को सुनने तथा ग्रहण करने के लिये स्वभावतः तत्पर रहता है। उसका भावजगत् सतत परिवर्तनशील रहता है और नाना प्रकार की रुचियों को जन्म देता रहता है। साहित्य के विभिन्न रूपों के मूल मे भी यही विभिन्न रुचियाँ हैं। ये रुचियाँ सभ्यता संस्कृति की भाँति विकसनशील हैं। इन पर भी वातावरण का प्रभाव रहता है, यही कारण है कि हम साहित्य के विभिन्न युगों मे काव्य अथवा साहित्य के विभिन्न स्वरूपों का प्रचलन पाते हैं।

साहित्य के आचार्यों ने इस भावजगत् की मौलिक प्रवृत्ति को स्वीकार किया है। वह मानते हैं कि मनुष्य को अपनी भावाभिव्यक्ति में एक प्रकार का अपूर्व आनंद एवं संतोष होता है। अतः काव्य के प्रणयन के अन्य हेतुओं मे आनंद को मुख्यता प्राप्त है।[1] इस आनंद की तुलना ब्रह्मानंद से की जाती है। यह आनंद सहृदय तथा कवि दोनों को होता है। अतः आनद ही काव्य का सर्वश्रेष्ठ प्रयोजन है[2]। इस प्रकार काव्य प्रायः मनुष्य की अन्य प्रकार की अभिव्यक्तियों से पृथक् हो जाता है। यह मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति के अधिक सन्निकट रहता है, अधिक लोगों को रुचिकर रहता है, परंतु रुचि की विभिन्नता के अनुसार अभिव्यक्ति के प्रकारों में विभिन्नता आना अनिवार्य है। अतः हम केवल यहाँ उसी अभिव्यक्ति के

---

१. काव्यमानन्दाय यशसे कांतातुल्यतयोपदेशाय च।

—हेमचंद्र—काव्यानुशासन, पृ० ३।

२ इदं सर्वप्रयोजनोपनिषद्भूतं कविसहृदययोः काव्यप्रयोजनम्। इत्यमहे। काव्यानुशासन (टीका), पृ० ३।

विषय में कहेंगे जिसका मुख्य उद्देश्य आनंद है और वह है काव्य अथवा साहित्य।

अस्तु साहित्य अथवा काव्यजगत् में जो विभिन्न रूप देखे जाते हैं वे भी मनुष्य की उसी स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण हैं। काव्य (महाकाव्य, खंडकाव्य), रूपक (नाटक) तथा कथा आदि अपने मूल प्रयोजन मे एकता रखते हुए भी विभिन्न प्रतीत होते हैं। मनुष्य अपनी सौंदर्यप्रियता के कारण इनके रूपों में सतत परिवर्तन करता रहा है। यही कारण है कि आदिकाल के महाकाव्य की परिभाषा आधुनिक युग के काव्यों पर पूर्णतः नही घटती।, परिभाषाओ का निर्माण आदि यह मनुष्य की दूसरी प्रवृत्ति है। ज्ञान के विस्तार ने इन प्रवृत्तियों के दो रूप स्वीकार किए है—एक काव्य सृजन करनेवाली दूसरी काव्यानंद को व्यक्त करनेवाली। एक का कार्य विभिन्न प्रकार के भावों को अभिव्यक्त कर सहृदय जनता को आनदविभोर करना होता है। दूसरी प्रतिभा का कार्य काव्य की महत्ता का प्रतिपादन करना तथा उसकी विशेषताओं की ओर ध्यान आकर्षित करना है और इस प्रकार यह भी काव्यानंद को ही तीव्रतम रूप प्रदान करती है। मौलिक उद्देश्य एक होने पर भी कार्य दो रूपों में बट जाता है। दूसरी प्रवृत्ति का आधार पहिली प्रवृत्ति हो जाती है। पहिली प्रवृत्ति द्वारा प्रेरित ग्रंथ काव्य ग्रंथ कहे जाते हैं तथा दूसरी प्रवृत्ति लक्षण ग्रंथों को जन्म देती है। लक्षण ग्रंथों का आधार साहित्य अथवा काव्य ग्रंथ होते है। लक्षण ग्रंथों का कार्य होता है कि प्रचलित काव्य ग्रंथों के आधार पर उनका वर्गीकरण तथा उनके स्वरूप को समझने की प्रवृत्ति। यहाँ आनंद ज्ञानरूप होता है और प्रथम मे भावरूप।

प्रायः सामग्री संसार के समुन्नत साहित्य मे दोनो प्रकार के

ग्रंथों का निर्माण होता है। देश, काल, संस्कृति के अनुरूप इस आनंद की तथा आनदजन्य अभिव्यक्ति की व्याख्या की जाती है। इन लक्षण ग्रंथों के भी प्रायः दो रूप प्राप्त होते है। एक काव्य की आत्मा रस (आनंद) को मुख्य मानते है; दूसरे उसके वाह्य रूप को अर्थात् रचनाप्रकार को। इस प्रकार से हमारे साहित्य मे दो प्रकार के लक्षण ग्रंथों की परंपरा है जो हमे साहित्य के आनंद का पूरा विवेचन उपलब्ध करते हैं। प्रथम को हम साहित्यग्रंथ या साहित्यशास्त्र कहते है दूसरे को छंदःशास्त्र तथा व्याकरणशास्त्र। प्राचीन युग पद्यप्रधान रहा है। अतः छंदःशास्त्र की महत्ता रही है। संभवतः यही कारण है कि छंदःशास्त्र को वेद के षड् अंगों मे से एक माना जाता है। संस्कृत मे इस प्रकार के ग्रथों की कमी नही। काव्यग्रंथ तथा लक्षणग्रंथ प्रचुरता से रचे गए। काव्य के प्रयोजन अथवा हेतु के विषय को लेकर भी आचार्यों ने प्रचुर मात्रा मे विवेचन उपस्थित किया। साहित्य के विभिन्न रूपों के विकास, परिभाषा और उनकी मुख्यताओं पर भी प्रकाश डाला जिसके कारण वह अन्य रचना से भिन्न नाम की अधिकारिणी हो जाती है। यही नही अपितु आनेवाली पीढ़ी के लिये अभिव्यक्ति को कलात्मक रूप देने के लिये कुछ नियमों का भी सकेत किया है।

प्रत्येक साहित्य समाज का दर्पण होता है। अपने युग का सच्चा भावात्मक इतिहास होता है। उसकी नाना प्रकार की रूपात्मक सत्ता उस काल के कलात्मक विनोदों का इतिहास होती है। परतु इस दृष्टि से जब हम अपभ्रंश साहित्य को देखते हैं तब हमे बड़ा खेद होता है। इसका अर्थ यह नही कि 'अपभ्रंश साहित्य' मे विविध रूप नही मिलते। विविध रूप मिलते है, परतु उनको समझने, वर्गीकरण करने तथा परि-

भाषित करने का प्रयत्न नहीं प्राप्त होता। अपभ्रंश में अपना कोई लक्षण ग्रंथ नहीं मिलता। अपभ्रंश के अपने लक्षण ग्रंथ से हमारा अभिप्राय उन ग्रंथों से है जो अपभ्रंश के माध्यम से मुख्यतः अपभ्रंश के काव्यस्वरूपों की व्याख्या करते हैं। यद्यपि संस्कृत में इस प्रकार के अनेक ग्रंथ हैं। उनमें उदाहरण स्वरूप अपभ्रंश काव्य का भी वर्णन है और कुछ संस्कृत के इन लक्षण ग्रंथों का प्रणयन भी उसी समय हुआ है जब कि अपभ्रंश को साहित्यिक रूप प्राप्त हो चुका था। आचार्य हेमचंद्र का काव्यानुशासन तथा छंदोनुशासन इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। यह क्यों हुआ? संभवतः इसके दो कारण हो सकते हैं। प्रथम यह है कि 'अपभ्रंश' मध्य आर्य भारतीय भाषाओं की विकसित अवस्था है। इसके साहित्यिक पद पर आने से पूर्व ही सस्कृत काव्यशास्त्र इतना विकसित हो चुका था कि उस समय नवीन ग्रंथों की आवश्यकता न समझी गई। केवल अपभ्रंश की प्रवृत्तियाँ संस्कृत के ही काव्य ग्रथों में वर्णित कर दी गई। तत्कालीन इतिहास से सिद्ध है कि अपभ्रंश साहित्यिक भाषा होने पर भी संस्कृत के प्राधान्य को नहीं हटा सकी थी। भारतीय विद्वानों के हृदय पर संस्कृत के प्रति अपूर्व प्रेम था। अतः अब भी कोई शास्त्रीय विषय पर ग्रंथ रचा जाता था जो विद्वानों के लिये होता था तो उनके माध्यम के लिये संस्कृत को ही चुना जाता था; केवल साधारण जनता के प्रचारार्थ साहित्य ही अधिकतर अपभ्रंश में लिखा जाता था।

आचार्य हेमचंद्र के उदाहरण से यह बात स्पष्ट होती है। आचार्य हेमचंद्र जैन थे तथा अपने युग की एक महान् विभूति थे। 'अपभ्रंश भाषा' उनकी चिर कृतज्ञ रहेगी। उन्होंने

अपना काव्यानुशासन तथा छंदोनुशासन संस्कृत में लिखा है। काव्यानुशासन का मंगलाचरण द्रष्टव्य है—

अकृत्रिमस्वादुपदां परमार्थाभिधायिनीम्।
सर्वभाषापरिणतां जैनी वाचमुपास्महे[1] ॥ १ ॥

'जैनीवाक्' के उपासक, प्राकृत एवं अपभ्रंश के प्रकांड पंडित का ग्रंथ संस्कृत मे लिखा गया है; यद्यपि वह स्वीकार करते हैं कि जैनीवाक् (स्पष्टतः अर्द्धमागधी) सृष्टिआरंभ की भाषा है।

'काव्यानुशासन' आचार्य का बहुत सक्षिप्त एवं अनुपम ग्रंथ है। उसमे कुल २०८ सूत्र हैं तथा आठ अध्याय हैं। काव्य जैसे विषय का स्पष्टीकरण इस प्रकार के सूत्रों में असंभव देखकर स्वयं आचार्य ने 'अलंकारचूड़ामणि तथा 'विवेक' नाम की व्याख्या उपयुक्त उदाहरण सहित लिखकर अपने कथन को स्पष्ट किया है। इन अवतरणों तथा व्याख्याओं में हमें 'अपभ्रंश' साहित्य का उल्लेख मिलता है। अन्य साहित्य ग्रंथों की काव्यविधा विषयक परिभाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य हेमचंद्र के ध्यान में अपभ्रंश साहित्य भी था और उसकी विशेषताओं से वे भलीभांति परिचित थे जिनका वर्णन हम आगे चल कर करेंगे। यहाँ केवल इतना ही पर्याप्त है कि संस्कृत के प्राधान्य के कारण अपभ्रंश साहित्य मे लक्षण ग्रथों का तथा रसनिरूपण करनेवाली पुस्तको का निर्माण नही हो सका।

साहित्य ग्रंथो के साथ छंद ग्रंथो का अभाव है। अपने गत अध्यायो मे हमने यत्रतत्र छदों का नामोल्लेख किया है और केवल ग्रंथ परिचय मे स्वयभू छद का नाम दिया है। स्वयभू

---

१. हेमचंद्र—काव्यानुशासन, पृ० १।

छंद का जो भाग प्रकाशित हुआ है उससे वह प्राकृत भाषा के छंदों का ग्रंथ प्रतीत होता है और उसमे केवल एक अध्याय कुछ अपभ्रंश छंदों का वर्णन करता है। इसी प्रकार आचार्य हेमचंद्र के छंदोनुशासन मे (संस्कृत ग्रंथ) में अपभ्रंश के छंदों के उदाहरण तथा लक्षण मिलते हैं। प्राकृत में अनेक छद ग्रंथों का निर्माण हुआ।[1] कुछ छंदग्रंथकारों ने प्राकृत छंदों के साथ अपभ्रंश छंदों के भी उदाहरण एवं लक्षण देने की कृपा की है। प्रसिद्ध संग्रह ग्रंथ प्राकृत पैंगलम् का उल्लेख भी हम कर चुके हैं। इसमें भी हमें प्रसंगवशात् ही कुछ उदाहरण प्राप्त होते हैं। यही दशा हमें व्याकरण संबधी ग्रंथों में प्राप्त होती है। अपभ्रंश का व्याकरण संस्कृत सूत्रों में प्राकृत व्याकरण के साथ दिया गया है। यद्यपि इस प्रकार का वर्णन अथवा ग्रंथों की प्राप्ति हमारे निष्कर्ष को ही सिद्ध करती है कि अपभ्रंश का अस्तित्व प्राकृत से पृथक् नही था अपितु प्राकृत ही विकसित होकर अपभ्रंश रूप में अपने अंतिम सोपान मे पहुँची थी और वही आधुनिक आर्यभाषाओं के उत्पन्न करने में सहायक हुई। फिर भी जो भाषा लगभग ६०० वर्ष तक साहित्यिक भाषा रहे अथवा राष्ट्रभाषा के पद पर भी आसीन रहे उसमे अपने लक्षणग्रंथ तथा शास्त्र (व्याकरण तथा छंद) ग्रंथों का निर्माण न होना खटकता है। हमारे विचार से अपभ्रंश भाषा की यह सबसे बड़ी कमी रही और यह कमी हिंदी को भी ज्यों की त्यो उत्तराधिकार मे मिली। उसमे छंदशास्त्र, अलंकार तथा रसादि का विवेचन तो हुआ परंतु अपूर्ण। शब्दशक्ति का वर्णन तो प्रायः नगण्य ही रहा और नाट्य शास्त्र पर भी कोई रचना न हो सकी। आगे चलकर रीतिकाल

१. प्रो॰ कापडिया—पाइय भाषाओ अने साहित्य, पृ॰ ६१–७२।

मे कवियों ने आचार्य पदवी तथा कवि पदवी दोनों को ग्रहण करने का प्रयत्न किया जिसका परिणाम अच्छा नही हुआ। आचार्यत्व के लिये जिस सूक्ष्म विवेचन और पर्यालोचन शक्ति की अपेक्षा होती है उसका विकास नहीं हुआ।[1]

दूसरा कारण लक्षण ग्रंथों की अप्राप्ति का यह भी हो सकता है कि ग्रंथो का प्रणयन तो हुआ होगा परंतु शुद्ध शास्त्रीय होने से उन्हें धार्मिक प्रश्रयता एवं संरक्षण प्राप्त न हो सका। अतः वे कालकवलित हो गए।

एक तीसरा कारण भी दिया जा सकता है--वह है लोकरुचि तथा सामयिक परिस्थिति। मध्यकालीन युग-सामंतीय युग था। अतः वही साहित्य बचा जो उनके अनुकूल था। उदाहरण के रूप में गुणाढ्य की पैशाची साहित्य के नष्ट होने की कथा दी जा सकती है। कहा जाता है कि राजा सातवाहन के यहाँ से गुणाढ्य को मौन होकर पिशाचों की बस्ती मे जाना पड़ा। वहाँ एक गंधर्व से जो शापवश पिशाच हो गया था, गुणाढ्य ने मनोहर कथा सुनी। गुणाढ्य गुणी थे, पंडित थे। उन्होंने उस कथा को पैशाची भाषा मे लिख डाला। कागज का कार्य सूखे चमड़ों से लिया गया था और स्याही का कार्य पशुरक्त ने दिया था। कथा पूरी करने पर गुणाढ्य पुनः अपनी बस्ती को लौटे और राजा के पास अपने ग्रंथ को शिष्यों द्वारा भेजा। राजा ने कहा—

---

१. आचार्य रामचंद्र शुक्ल—हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० २३१।

२. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिंदी साहित्य का आदिकाल, पृ० २५।

पैशाची वाग् मषी रक्तं मौनोन्मत्तश्च लेखकः ।
इति राजाब्रवीत् का वा वस्तु सार विचारणा ।
(बृहत्कथामंजरी, १।८७)

अर्थात् जिसकी भाषा पैचाशी, स्याही रक्त, लेखक प्रमत्त एवं मौन हो उस पुस्तक पर विचार कैसा । गुणाढ्य को जब यह पता चला तो वह बड़े व्यथित हुए । निराश होकर उन्होंने पुस्तक को भस्म करने की ठान ली । बड़ी कठिनाई से शिष्यों के आग्रह पर वह इस बात पर तैयार हुए कि वह एक बार उस कथा को पढ़कर सुना देंगे । आग जला दी गई । सब शिष्यगण चारों ओर बैठ गए । गुणाढ्य पुस्तक का एक एक पत्र पढ़कर सुनाते जाते थे और तदुपरांत अग्नि के अर्पण कर देते थे । महीनों यह कार्य चलता रहा । कथा इतनी मोहक थी कि पशु पक्षी भी मुग्ध होकर खाना पीना छोड़ तथा नैसर्गिक वैर त्यागकर कथा सुनने लगे । परिणामस्वरूप राजा को शुष्क मांस आहार मे मिलने लगा जिससे उसके पेट में दर्द हो गया । वैद्यों के निदान पर कारण का पता लगाया गया । राजा को जब अज्ञात कथावाचक की महत्ता ज्ञात हुई तो वह तुरंत वहाँ उपस्थित हुआ परंतु समय निकल चुका था । कथा के ६ भाग भस्मसात् हो चुके थे । बड़ी कठिनाई से एक भाग बचा, वह भी अब मूल रूप में प्राप्त नहीं ।

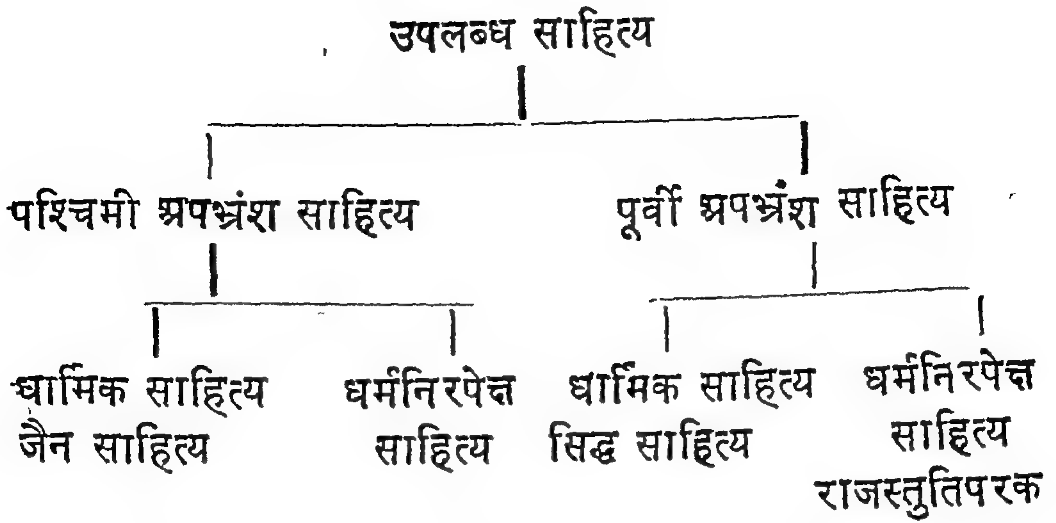
कथा की ऐतिहासिक सत्यता का विवेचन हमारा उद्देश्य नहीं, परंतु इससे एक बात निर्विवाद स्पष्ट हो जाती है कि साहित्य की सुरक्षा एवं प्रचार मे तत्कालीन लोकरुचि बड़ा कार्य करती है । हिंदी साहित्य मे बिहारी को जो यश प्राप्त है वह मुख्यतः तत्कालीन लोकरुचि के कारण है । अपभ्रंश के प्रसिद्ध कवि पुष्पदंत के कथानक से भी ऐसा ही आभास मिलता

है। महापुराण के प्रथम खंड में कथा आती है कि संसार के व्यवहार से क्षुब्ध होकर पुष्पदंत जंगलों मे भटकते भटकते मान्यखेट जा पहुँचे। वहाँ किसी न किसी प्रकार मंत्री भरत से भेंट हुई और उनकी प्रेरणा से महापुराण लिखा गया। मंत्री भरत ने पुष्पदंत को समझाया कि उनको जो यह वितृष्णा (मिथ्या राग) उत्पन्न हुई है उसका कारण है कि उन्होने वीरराज चरित लिखा था। अब प्रश्न होता है कि यह वीरराज चरित कैसा काव्य था ? निस्संदेह उसमे कोई धार्मिक अंश न था। वह शुद्ध प्रेमाख्यानक अथवा शृंगारमूलक काव्य रहा होगा जो उस समय की धर्मप्राण जनता के मनोनुकूल न होगा। अतः उन्होने उसकी रक्षा न की। हा हंत ! युगप्रवृत्ति ने उसको सदैव के लिये नष्ट कर दिया। पुष्पदंत प्रकाड पंडित, दर्शनशास्त्री तथा सुंदर कवि थे। यही कारण है कि उनके पुराण मे उनका कविरूप मुखर हो उठा है। इन रस-सिद्ध कवियो का साहित्य धार्मिक आवरण के कारण उपेक्षणीय नही माना जा सकता। काल की विषम परिस्थितियों ने अभीतक उनके काव्यात्मक रूप को जनता के सम्मुख नही आने दिया। हमारा विश्वास है कि इन ग्रथों का जितना अध्ययन किया जायगा उनमे काव्योपयोगी अंश उतना ही अधिक प्राप्त होगा।

साराश यह है कि अपभ्रश मे साहित्यशास्त्र संबंधी अथवा लक्षण ग्रंथो का अभाव है और छदग्रथो की भी न्यूनता है। अनुमानसगत कारण यही है कि इन विद्वानो ने शास्त्रीय विषय के लिये अपनी रचनाओ की भाषा संस्कृत को ही चुना था।

गत अध्यायों के सक्षिप्त वर्णन मे हमने प्राप्त अपभ्रंश साहित्य का सुविधा के अनुसार इस प्रकार वर्गीकरण किया है—

१. पुष्पदंत—महापुराण, १-८,११, पृ० ७, भाग १।



विपुल मात्रा में उपलब्ध साहित्य जैन साहित्य ही है। जैन साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि वह दार्शनिक पृष्ठभूमि पर रचा गया है। जैन दर्शन मुख्यतः निवृत्तिमूलक है। अतः जैन साहित्यकारों ने विलास और शृंगार से दूर हट कर आत्मसमर्पण और उत्सर्ग की भावना का अकन किया है। अतएव शृगाररस का वर्णन प्राधान्य नही पा सका है। नायिका के यौवन, रूप, गुण, शील, प्रेम, कुल वैभव और आभूषणों का निरूपण एवं चित्रण एक दूसरे ही दृष्टिकोण से किया गया है। जैन साहित्य मे शृंगार रस के वर्णन पूर्णतः निषिद्ध हों यह बात नही है। उसमें अज्ञातयौवना का भोलापन, ज्ञातयौवना का मानसिक विश्लेषण, नवोढा की लाजलालिमा, प्रौढ़ा का आनदसंमोहन, विदग्धा का वाक्चातुर्य, मुदिता की उमंग, प्रोषितपतिका की मिलनोत्कंठा, प्रवत्स्यत्पतिका की बेचैनी, आगमिष्यत् पतिका की अधीरता, खंडिता की उक्ति एवं कलहांतरिता के प्रेमाधिक्यजन्य कलह का चित्रण है परंतु इसको इस पृष्ठभूमि में रखा गया है कि वह उसमें मानव की उन भावनाओं और अनुभूतियों को उत्पन्न करे जो उसे शांतरस की ओर ले जानेवाली हैं, जिनपर मानवता अवलंबित है और जो त्याग और उत्सर्ग की पृष्ठभूमि है।

जैन दर्शन ईश्वर मे विश्वास नही रखता। वह मनुष्य को ईश्वर के दासत्व से मुक्त कर देता है। मनुष्य अथवा जीव तत्वचिंतन एवं आत्मशोधन द्वारा स्वयं ईश्वरत्व प्राप्त कर सकता है। आत्माएँ अनेक हैं, सबका स्वतंत्र अस्तित्व है। कर्म-अजीव (पुद्गल) के संबंध के कारण संसारी आत्माएँ अशुद्ध हैं, रागद्वेष से विकृत हैं। जब कर्मबंधन हट जाता है तब कोई भी आत्मा शुद्ध हो जाती है और शुद्ध आत्मा ही ईश्वर कहलाती है। प्रत्येक आत्मा ईश्वर बन सकती है। अपने पुरुपार्थ की हीनता के कारण आत्माएँ भिखारी या भगवान् बनने की ओर अग्रसर होती हैं।[1]

जैन दर्शन कर्मफल की प्राप्ति मे अडिग विश्वास रखता है। आत्मशोधन में श्रद्धा और सम्यक् ज्ञान के साथ सदाचार को महत्वपूर्ण स्थान देता है। व्रत, उपवास, तपस्या जैन साधना के मुख्य अंग हैं। अर्हंत, सिद्ध, उपाध्याय, आचार्य तथा साधु विशेष श्रद्धा के पात्र हैं और इन्हीं के द्वारा जैनधर्म प्रतिपादित होता है। सक्षेप मे जैनधर्म के तीन रत्न हैं—(१) सम्यग् दर्शन, (२) सम्यग् ज्ञान और (३) सम्यग् चरित्र।

जैन दर्शन का वर्णन करना हमारा उद्देश्य नही, परंतु जैन काव्यो में आई हुई कथावस्तु की दिशाओं के मोड़ को समझने के लिये जैन दर्शन की कुछ बातें आवश्यक हैं। जैसा हम पहिले भी कह चुके है इस दर्शन की पृष्ठभूमि में कहीं कहीं कथा का आवश्यकता से अधिक विस्तार हो गया है,पात्र आत्म-शोधन एवं विश्लेषण मे खो जाता है वह कथाप्रसंग को छोड़कर आत्मचिंतन मे लीन हो जाता है और निवृत्तिमार्ग अपना लेता है जिससे कथा का अनावश्यक रूप से गला घुट जाता है।

---

१. नेमिचन्द्र शास्त्री—हिंदी जैन साहित्य परिशीलन, पृ० २३–२७, भाग १।

जैन दर्शन की निवृत्तिमूलक प्रवृत्ति में काव्यगत मान्यताओं में भी एक दूसरा ही दृष्टिकोण रखा है। काव्य जगत् में शृंगार रस का प्राधान्य है। समस्त काव्यग्रंथों में शृंगार के संयोग एवं विप्रलंभ के चित्रों का प्राधान्य है। शृंगार के सहायक हास्य तथा वीर हैं। वीभत्स एवं शांत शत्रु वर्ग में रखे जाते हैं, परन्तु जैन काव्य शांतरस को मुख्य रस स्वीकार करता है। शृंगार और वीर केवल निर्वेद को जो शांतरस का स्थायी भाव है, स्थायी बनाने के लिये लाए गए हैं। समस्त शृंगारिक क्रीड़ाओं का बीभत्सकारी दृश्य उपस्थितकर आत्मचिंतन एवं जीवनशोधन की प्रेरणा उद्दीप्त करने के लिये ही कथावस्तु का संयोजन किया गया है। उदाहरणस्वरूप यहाँ पुष्पदंत के महापुराण के एक दृश्य का वर्णन करना असंगत न होगा।

यहाँ यह ध्यान रहे कि जैन तीर्थंकर अपने प्रारंभिक जीवन में मानव है। उसमें सभी माननीय दुर्बलता हैं, बुराईयाँ हैं। वे अपने आत्मचिंतन एवं जीवनशोधन द्वारा, तप, ज्ञान से अपने शरीर को शुद्धकर अपने पुरुषार्थ से कैवल्य ज्ञानार्जन में समर्थ हुए हैं। अस्तु, प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव विलासवैभव सपन्न[1] जीवन व्यतीत कर रहे थे। दरबार लगा हुआ था। महफिल जम रही थी। पीनस्तनी, तन्वी, कमलायताक्षी, विमलोरु, अनिद्य सुंदरी, नीलांजसा नाना भावभंगिमाओं युक्त हाव भाव-कटाक्ष सहित नृत्य कर रही थी। समस्त जन समुदाय आनंद-विभोर था। परंतु हा हंत! सहसा नीलांजसा गिरी और उसके प्राण पखेरू उड़ गए। उसके समस्त अंगों का लावण्य अस्त हो गया, ऐसा प्रतीत हुआ मानों चंद्ररेखा सहसा अस्त हो गई,

---

१ पुष्पदंत—महापुराण, ६–९, १–११ तथा ७१. १–१४, पृ० ६८–६६, भाग १।

शुभ्र सलिला गंगा मरुस्थल मे विलीन हो गई, कंचनसनिभा वाणी पिशुनो द्वारा नष्ट कर दी गई हो—यह दृश्य देखकर महफिल काँप उठी, सबके चित्त क्षुब्ध हो उठे। श्रीऋषभनाथ जी एकदम आत्मचिंतन मे लीन हो गए। उनकी दृष्टि मे समस्त संसार की हाव भावमय लीला हट गई। वह जीवन की अस्थिरता पर विचारकर ससार से विरक्त हो गए और अंत में तपस्याकर तीर्थंकर पद प्राप्त किया। यदि देखा जाय तो उपर्युक्त वर्णन शुद्ध दृष्टि से रसाभास का है, परंतु जैन साहित्य में इसी प्रकार के वर्णन की प्रचुरता है।

तीसरी प्रवृत्ति जो जैन साहित्य मे मिलती है वह है चिरप्रचलित लौकिक कथाओ को धार्मिक रूप देना। जैसा हम गत अध्यायो मे स्पष्ट कर चुके है कि प्रत्येक कहा (कथा) किसी न किसी व्रत अथवा उपवास के फलस्वरूप ही कही गई है। इस अलौकिक तत्व को सिद्ध करने के लिये अप्रकृत तत्वों का समावेश किया गया है। देव, विद्याधर, किन्नर आदि सहायतार्थ लाए गए हैं।

जैन साहित्य की चौथी प्रवृत्ति जो मुख्यतः मुक्तक काव्यों (आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक) मे पाई जाती है, वह है बाह्याचारो, आडंबरो की निंदा, अहिंसा, उपवास तथा व्रतों की प्रशंसा और अन्य धर्मों के प्रति संयत भाषा में अश्रद्धा।

पाँचवी बात जो उपलब्ध होती है वह प्रवृत्ति तो नहीं कही जा सकती है परंतु जैन विद्वानों की वर्णन चतुरता है कि उन्होने निवृत्तिमूलक धर्म में शृंगारिकता एवं कलात्मकता का सुंदर प्रयोगकर जनता के मन को रमाने के लिये रास एवं प्रतीकात्मक रूपको को जन्म दिया है।

अपभ्रंश का पूरवी धार्मिक साहित्य सिद्ध साहित्य है। यद्यपि यह अत्यंत अल्प मात्रा मे उपलब्ध है परंतु फिर भी

अपना विशिष्ट स्थान रखता है। सिद्ध साहित्य की सबसे बड़ी प्रवृत्ति रहस्यात्मक अभिव्यक्ति है। उसकी वाणी प्रतीक एवं रूपकों के बोझ से बोझिल हो अस्पष्ट हो गई है।

दूसरी विशेषता उनकी वाणी पर उनके दर्शन की अमिट छाप है। सिद्ध लोगों ने भी निवृत्ति ही प्रधान रखी है परंतु उन्होने सदाचार तथा मध्यम मार्ग पर जोर देते हुए क्रियात्मक रूप में भोग में ही निर्वाण, कमलकुलिश साधना, सहज संयम, गुरु महिमा, कायातीर्थ तथा मंत्रतंत्रादि की निरर्थकता प्रतिपादित की है। जैन दर्शन ने आत्मा को ही परमात्मा का रूप दिया है तो इन्होंने पिंड में ही ब्रह्मांड को स्थापित किया है।

सिद्धों की रचना में खंडन मंडनात्मक प्रतिक्रिया उग्र रूप में पाई जाती है। इनकी वाणियाँ द्व्यर्थक हैं--भोगपरक तथा निर्वाणपरक। परवर्ती जनता ने भोगपरक अर्थ को ही अपनाया। अतः परवर्ती युग में इनका प्रभाव जनता पर अवांछनीय पड़ा।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि अपभ्रंश साहित्य ने काव्य जगत् में नवीन नवीन रूपों को जन्म दिया। वर्णन में नवीन शैली अपनाई तथा रचना में नए छंदों को जन्म दिया। गत अध्याय में हम काव्यों के रूपों की संख्या ११५ दे चुके हैं। परंतु जैसा हमने वहां भी कहा है कि ये केवल नाम मात्र है। सुविधा के अनुसार हम अपभ्रंश साहित्य को काव्य के रूपों के अनुसार इस प्रकार रख सकते हैं —

(१) महापुराण, पुराण (पौराणिक शैली के महाकाव्य)-- यथा स्वयंभू—हरिवंश पुराण, पुष्पदंत—महापुराण।

(२) चरिउ तथा कहा (रोमांस शैली के काव्य)—इसका प्रचुर साहित्य है, यथा, स्वयंभू पउमचरिउ; पुष्पदंत—

णायकुमार चरिउ, जसहर चरिउ; धवल—पउमसिरी चरिउ, धनपाल—भविसयत्त कहा, आदि आदि ।

(३) प्रशस्तिमूलक काव्य—(क) देवपरक : स्तुति, स्तवन, वीनती, नमस्कार । छंदसंख्या के आधार पर : अष्टक, इक्कीसो, बावीसो, चौतीसो, आदि आदि ।

(ख) राजपरक : कुमारपाल चरित, पृथ्वीराज रासो, अन्य रासो, वीसलदेव रासो, कीर्तिलता, कीर्तिपताका, आदि ।

(४) गेय काव्य—(क) धर्ममूलक : रास, फाग, चर्चरी चौमासा, बारहमासा, विवाह, पट्टाभिषेक रास, चउपई, गीत तथा पदावली, आदि आदि । यथा, नेमिनाथ रास, स्थूलिभद्र फाग, जिन कुशल सूरि पट्टाभिषेक रास, बौद्ध सिद्धों के चर्या पद ।

(ख) धर्मनिरपेक्ष—संदेश रासक

(५) रूपक काव्य—मदन पराजय, मयण जुज्झ ।

(६) मुक्तक—(क) आधिभौतिक (आचार संबंधी)
(ख) आध्यात्मिक (सिद्धांत प्रतिपादक)
(ग) शुद्ध शृंगार संबंधी ।

(७) गद्य साहित्य ।

१ महापुराण तथा पुराण—

पुराण तथा महापुराण के नाम से जो ग्रंथ लिखे गए हैं उनमें पौराणिक शैली को अपनाया गया है । ये ग्रंथ प्रायः महाकाव्यों के समकक्ष ही रखे जा सकते हैं । पौराणिक कथा तथा साधारण कथा में अंतर यही है कि पौराणिक कथा प्राचीन विश्वास परंपरा से प्राप्त होती है और इन विश्वासों के आधार पर पौराणिक कथा सत्य मानी जाती है । उसका उद्देश्य विभिन्न प्रकार की वस्तुओं, विश्वासों, रीति रिवाजों की

उत्पत्ति तथा उपयोगिता को समझाना होता है। इन कथाओं में धार्मिक कर्मकांड, तंत्रमंत्र आदि का वर्णन रहता है। इसी लिये इनकी वर्णनविधा एक सी रहती है। अतः इसको पौराणिक शैली कहते हैं। प्रायः कथा का आरंभ संवादों से होता है।

जैन पुराण तथा हिंदू पुराण के अंतर को हम पहिले स्पष्ट कर चुके हैं। उनकी वर्णनशैली में प्रायः समानता है। कुछ सामान्य बाते जैन पुराणों में इस प्रकार पाई जाती हैं--

(१) महापुराणों में ६३ पुरुषों (२४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ वासुदेव, ९ प्रतिवासुदेव तथा ९ बलदेव) का जीवन-चरित होता है। पुराण में केवल एक तीर्थंकर का। कथानक पुराणसंमत होते हैं। व्यक्तिगत स्वातंत्र्य एवं कल्पना का अभाव रहता है।

(२) महापुराणों में जिन की जन्म कथा के वर्णन का क्रम एक रूप रहता है। अत पुनरावृत्तियाँ अधिक होती हैं। क्रम इस प्रकार है--सर्वप्रथम जिनकी माता स्वप्न देखती है, फलस्वरूप उसका जिनमाता होना निश्चित होता है, इंद्र आता है, गर्भशोधन होता है, जिनमाता स्वप्न में जिस रूप को देखती है उसी के अनुसार जिन उत्पन्न होकर संसार में प्रसिद्ध होते हैं। ऋषभनाथ की माता ने उनको वृषभ के रूप में देखा था। अतः वह अपने इस जन्म मे ऋषभनाथ या वृषभ-नाथ के नाम से प्रसिद्ध हुए। जन्मते ही बालक को इंद्र मेरु पर्वत पर ले जाते हैं और माता की गोद में एक मायाविनिर्मित बालक दे जाते हैं। मेरु पर्वत पर इंद्र जिन को स्वर्णपीठ पर बिठाते हैं। उन्हें मेरु जल से स्नान कराया जाता है। समस्त देवगण इस अवसर पर उपस्थित रहते हैं। यह क्रिया जन्माभिपेक कल्याण के नाम से प्रसिद्ध है। तदुपरांत इंद्र

जिन को लाकर माता को दे देते हैं। जिन जन्माभिषेक कल्याण का क्रम एक सा ही चलता है।

(३) चरितनायको तथा संबंधित व्यक्तियों के अनेक जन्मातर कथा का वर्णन ।

(४) सभी चरितनायक अथवा तीर्थंकर मानव हैं। उनमे प्रवृत्तिमूलक भावनाएँ हैं परंतु अंत में वे निवृत्तिमूलक हो शुद्ध मुक्त एवं कैवल्यज्ञान युक्त हो गए हैं। स्थान स्थान पर जैन सिद्धांत वर्णन है।

(५) भवांतर वर्णन का कारण अडिग कर्मफल प्राप्ति में आस्था है और जैन धर्म का उपदेश देना है। सभी काव्य वीर शृंगारमय होकर शातरस मे पर्यवसान करते हैं।

(६) अनेक अप्राकृत तत्वों का समावेश है।

(७) सभी पुराणों का प्रारंभ एक ही प्रकार से है। वही तीर्थंकर स्तवन, पूर्व कवियो का स्मरण, सज्जन प्रशंसा, दुर्जन निंदा, काव्य मे प्रेरणा देनेवालों की स्तुति अथवा प्रशंसा, विनम्रता प्रदर्शन के उपरांत, मगध वर्णन, राजगृह वर्णन, राजा श्रेणिक का वर्णन, महावीर स्वामी का समवसरण, श्रेणिक का समवसरण मे जाना तथा कथाविषयक प्रश्न करना और गौतम गणधर या वर्द्धमान द्वारा कथा का आरंभ।

(८) धार्मिक काव्यों मे कवियों ने प्राकृतिक वर्णन प्रचुर मात्रा मे किया है। संध्या, प्रभात, चंद्रमा, नदी, सागर, वन, पर्वत आदि का वर्णन अधिक मात्रा में है। साथ साथ स्त्रियों के सौंदर्य, उनके हाव भाव, कटाक्ष तथा जलक्रीड़ा एवं सुरत तक का वर्णन प्राप्त होता है। स्वयंभु तो जलक्रीड़ा वर्णन में

सिद्धहस्त हैं। यही कारण है कि विवश होकर हमने इन पुराणों को पौराणिक शैली का महाकाव्य माना है।

२. चरिउ तथा कहा—

दूसरी प्रकार की विधा चरिउ तथा कहा है। यद्यपि कभी-कभी चरिउ शब्द भी पुराण के अर्थ में प्रयुक्त हो गया है। जैसे रिट्ठणेमि चरिउ हरिवंश पुराण के लिये, तिसट्ठि महापुरिस गुणालंकारु चरिउ महापुराण के लिये। कवियों ने कहा तथा कथाओं में अपनी स्वतंत्रता की प्रवृत्ति का परिचय दिया है। उन्होंने महाकाव्य शब्द का केवल आदरप्रदर्शन के लिये ही प्रयोग किया है। किसी वैज्ञानिक कारण पर नहीं। भविसयत्त कहा में महाकाव्य के लक्षण प्राप्त होते है, णायकुमार चरिउ मे खंड काव्य के। परंतु हमने इनको एक नवीन विधा चरिउ अथवा कथा के अतर्गत रखा है क्योंकि यह सब पद्यबद्ध कथाएँ हैं जिनमे काव्यतत्व की प्रधानता है। हमारी दृष्टि से ये सब रोमांस शैली पर लिखे गए काव्य है जिनमे निम्नलिखित सामान्य बातें एक ही पाई जाती हैं—

(१) इन काव्यों की सबसे बड़ी विशेषता है कि इनका नायक अभिजात वर्ग का न होकर साधारण श्रेणी का वणिक् अथवा अन्य वर्ग का होता है। इनमे ऐहिकता एवं धार्मिकता का अपूर्व संमिश्रण है। कुछ काव्य धार्मिक व्रत, उपवासों के फलप्रदर्शन के लिये लिखे गए हैं, यथा भविसयत्तकहा श्रुतपंचमी का माहात्म्य प्रदर्शित करती है।

(२) युद्ध और प्रेम का अपूर्व संमिलन है। प्रेम का आधार स्वप्न, चित्र दर्शन है। 'लव एट फर्स्ट साइट' का महत्व है। नायक नायिका परस्पर देखते ही मुग्ध हो जाते हैं और परिणामस्वरूप विवाह हो जाता है।

(३) अतिशयोक्तियाँ अत्यंत हैं। बहुविवाह की प्रथा अधिक है—णायकुमार कई सौ कन्याओं से विवाह करता है। करकंडु के भी अनेक विवाह वर्णित किए गए हैं।

(४) साहसिक अप्राकृतिक कार्यों का आधिक्य है। मस्त हाथी को वश मे करना, नागलोक जाना, यक्षों से युद्ध, शकुन, मंत्र, तंत्र एवं नाना प्रकार की विद्याओं का वर्णन है।

(५) अंत में इनका पर्यवसान भी शांत रस मे होता है वह क्रम भी एक सा है। किसी मुनि के दर्शन होते है। अपने पूर्व जन्म की बात ज्ञात होती है और नायक जैनधर्म में दीक्षित हो वैराग्य ग्रहण करता है। जसहर चरिउ मे क्षुल्लक वृत्तांत समाप्त होते ही मारिदत्त दीक्षित हो जाता है और संन्यास ले लेता है।

(६) इन सबमे भारतीय कथा और प्रबंध साहित्य की चिराचरित कथानक संबंधी रूढियों या अभिप्रायों का भरपूर प्रयोग हुआ है जिससे कथा को आगे बढाने या उसकी धारा को मोड़ने मे कवि को सहायता मिली है। अपभ्रंश के रोमांचक काव्यो मे विशेषकर ये रूढ़ियाँ प्रयुक्त हुई है —

१. उजाड नगर का मिलना और कुमारी दर्शन तथा उससे विवाह (भविसयत्तकहा)। २. प्रथम दर्शन, गुणश्रवण या चित्रदर्शन से प्रेम (भविसयत्तकहा, सुदंसणचरिउ, करकंडु॰ चरिउ, णायकुमारचरिउ)। ३. द्वीपांतर, विशेषकर सिंहलद्वीप की यात्रा और समुद्र में जहाज का टूटना या ऐसी अन्य बाधाएँ, (भविसयत्तकहा, करकंडुचरिउ)। ४. दोहद कामना (करकंडुचरिउ)। ५. पंचदिव्याधिवास (करकंडुचरिउ)। ६. शत्रुसतापित सरदार की सहायता और युद्ध मोल लेना (णायकुमारचरिउ, करकंडुचरिउ)। ७. मुनि का शाप

(करकंडुचरिउ)। ८. पूर्व जन्म की याद, कई जन्मों में साथ पैदा होकर शत्रुता निभाना या पूर्व जन्म के उपकार का बदला चुकाना या पतिपत्नी होना (जसहरचरिउ, भविसयत्ताकहा, करकंडुचरिउ, णायकुमारचरिउ आदि)। ९. दुश्चरित्रा या धोखेबाज पत्नी (करकंडुचरिउ, जसहरचरिउ, सुदंसणचरिउ, भविसयत्ताकहा)। १०. रूपपरिवर्तन, (करकंडुचरिउ, भविसयत्तकहा आदि)।

अपभ्रंश काव्यों की बाह्य प्रबंधरूढ़ियाँ- जिस प्रकार काव्यों की कुछ आभ्यंतर विशेषताएं होती हैं जिनके कारण कोई काव्य महाकाव्य पद का अधिकारी होता है, उसी प्रकार प्राचीन भारतीय आलंकारिकों ने अधिकतर बाह्य प्रबंधरूढ़ियों को ही महाकाव्य का प्रधान लक्षण मान लिया था। अपभ्रंश के महाकाव्यों की भी कुछ विशेष प्रबंधरूढियाँ स्थिर हो गई थी जिनका पालन प्रायः सभी महाकाव्यों में किया गया है। मुख्य मुख्य इस प्रकार हैं—

(१) अपभ्रंश के सभी महाकाव्य संधियों मे विभक्त है। स्वयंभू के दोनों महाकाव्य कांडों में भी विभक्त है और संधियाँ भी रखी गई हैं। इनपर महाभारत और रामायण का प्रभाव होने से ही ऐसा हुआ है, पर अन्य सभी केवल संधियों में विभाजित हैं। ये संधियाँ कडवकबद्ध हैं। विश्वनाथ कविराज ने भ्रमवश कह दिया है कि अपभ्रंश महाकाव्यों मे सर्गों की जगह कडवक होते हैं। वस्तुतः कडवक तो पदों (स्टैन्जाज) के समान हैं और १५ से ३० कडवकों की एक सधि होती है। कुछ छंदों के बाद घत्ता जोडकर कडवक वनाए जाते हैं। प्राकृत मे 'गउड़वहो' और 'लीलावई कहा' आदि कुछ काव्य सर्गों या आश्वासों मे विभक्त नही है पर अपभ्रंश मे ऐसा अन्य कोई महाकाव्य नही है।

(२) रामचरितमानस, पद्मावत आदि प्रबंधकाव्यों में कुछ चौपाइयाँ रखकर दोहा या कभी कभी हरिगीतिका छंद रखा गया है और यह विधान ग्रंथ मे आद्यंत मिलता है। इस रूढ़ि का पूर्वरूप अपभ्रंश के प्रायः सभी प्रबंधकाव्यों में कडवकयोजना के रूप मे मिलता है। केवल 'णेमिणाहचरिउ', 'सुदंसणचरिउ' और 'संदेशरासक' इसके अपवाद हैं। णेमिणाहचरिउ आद्यंत रड्डा छंद में है और सुदंसणचरिउ हिंदी के काव्य रामचंद्रिका की तरह विविधि प्रकार के छंदों से विभूषित है। संदेशरासक भी कडवकबद्ध नही है। पुष्पदंत के काव्यो मे नाना छंदों का प्रयोग हुआ है पर वे कडवकबद्ध है, धाराप्रवाह नही। यद्यपि अपभ्रंश का प्रिय छंद दूहा या दोहा है पर प्रबंधकाव्यो में अधिकतर पद्धड़िया, अडिल्ल, रड्डा तथा अन्य कई प्रकार के मात्रिक छंदो का प्रयोग हुआ है। इनमे प्रधानता पद्धडिया की है जो चौपाई से मिलती जुलती है। कडवक के अंत मे घत्ता, दोहा, सोरठा या कुछ अन्य छंदों का प्रयोग हुआ है और ये सभी घत्ता कहे गए है। कभी कभी कडवक के प्रारंभ मे हेला, दुवई आदि छंद रखने की प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ती है। अपभ्रंश के छंदो की सबसे बडी विशेषता या नवीनता जो संस्कृत प्राकृत मे नही मिलती, यह है कि वे अधिकतर तुकांत और कभी कभी अंतर तुकों से युक्त भी है और उनमे गेय गुण भी है। संभवतः लोकगीतो के छंदो से प्रभावित होकर या उन्ही को अपनाने की प्रवृत्ति के कारण तुकांत छंदो का प्रचलन हुआ जो पहले पहले अपभ्रंश भाषा मे ही मिलते हैं। उसके बाद तो सभी आधुनिक आर्यभाषाओं के छंदो में यह बात देखने को मिलती है।

(३) संस्कृत के प्रारंभिक महाकाव्यो मे कुछ मे तो बिना मंगलाचरण या वस्तुनिर्देश आदि के ही काव्यारंभ हो गया

है और कुछ में ये बातें संक्षेप रूप में मिलती हैं। पर परवर्ती महाकाव्यों में मंगलाचरण, काव्य लिखने का कारण, विषयवस्तु की महत्ता, कवि का विनम्रता प्रदर्शन, पूर्वकवियों की प्रशस्ति, नायक के देश और नगर का वर्णन आदि बातों को लिखने की प्रथा प्रचलित हो गई थी। रुद्रट ने इनका निर्देश किया है। यह प्राकृत और अपभ्रंश के काव्यों की निजी विशेषता है और उसी परंपरा को हिंदी के महाकाव्यों में भी अपनाया गया है।

(४) अधिकांश अपभ्रंश काव्यों मे कथा का प्रारंभ दो व्यक्तियों के प्रश्नोत्तर या सवाद के रूप मे हुआ है। कहा जा चुका है कि अपभ्रंश महाकाव्यों पर कथा शैली का प्रभाव अधिक है। भामह ने काव्यालंकार मे कथा का जो लक्षण बताया है उसके अनुसार कथा दो व्यक्तियों के बीच बातचीत के रूप में कही जाती है और आख्यायिका में नायक स्वयं अपनी कथा कहता है। इन काव्यों पर संस्कृत की कथा का प्रभाव था या वे प्राकृत और लोकभाषा के कथात्मक काव्यो के अनुकरण पर लिखे जाने लगे, इसका निश्चय करना कठिन है, पर भामह के कथन से इतना स्पष्ट है कि कथा या कथात्मक काव्य प्रायः दो व्यक्तियों के संवाद के रूप में प्रारंभ होते हैं। प्राकृत और अपभ्रंश के सभी पौराणिक काव्य महाराज श्रेणिक और महावीर या गणधर गौतम के प्रश्नोत्तर के रूप मे शुरू हुए है। रोमांचक काव्यों मे भविसयत्त कहा और जसहरचरिउ आदि का प्रारंभ उसी तरह हुआ है। रामायण, महाभारत और वृहत्कथा मे भी कथा कहने की यही शैली अपनाई गई है और हिंदी में पृथ्वीराज रासो तथा रामचरितमानस में भी प्रश्नोत्तर और संवाद के रूप में कथा कहने की वही पुरानी

२६

परंपरा अपनाई गई है। पशुपक्षियों की बातचीत के रूप में भी अनेक अवान्तर कथाएँ कही गई हैं। कीर्तिलता भृंग और भृंगी की बातचीत के रूप मे है और पद्मावत मे हीरामन शुक पद्मावती की बाते बताता है।

(५) संस्कृत मे महाकाव्यों के लिये यह आवश्यक माना गया था कि उनकी कथा इतिहास पुराण या कथा (बृहत्कथा) से ली गई हो और नायक धीरोदात्त गुणोंवाला महान् आदर्श व्यक्ति हो जो देवता या सद्वंश क्षत्रिय हो। प्राकृत, अपभ्रंश के महाकाव्यों मे प्रायः कथा जैन पुराणो से ली गई है। पर रोमाचक काव्यों मे कल्पना द्वारा उनमे बहुत सी बाते जोड़ी भी गई हैं। नायक के संबध मे इस काल के कवियों—विशेषकर जैन कवियों—ने उक्त नियम को नही माना है। उनके नायक किसी भी जाति के और किसी भी वर्ग या श्रेणी के हो सकते हैं। रोमाचक काव्यों के नायक बहुधा वणिक् है, वे प्रारंभ से ही आदर्श व्यक्ति नही है। वे सभी प्रकार के अच्छे बुरे कार्य करते दिखाए गए है पर अत मे सत्कर्मो और तपश्चर्या के बल से या किसी विशेष व्रत या मंत्र की आराधना से वे मुक्ति प्राप्त करके आदर्श उपस्थित करते हैं। इस प्रकार सस्कृत के प्रारंभिक महाकाव्यों और प्राकृत अपभ्रंश के महाकाव्यों का यह अंतर मौलिक है। महती घटना और महच्चरित्र को अपभ्रंश कवियों ने यथार्थवादी मापदंड से नापा है और यह माना है कि कोई जन्मजात आदर्श चरित्रवाला नही होता बल्कि पूर्वजन्मो के कर्मों के कारण और वर्तमान भव के अच्छे कार्यों द्वारा ही उसका जीवन आदर्श बनता है, चाहे वह व्यक्ति किसी भी जाति, वर्ण या वर्ग का क्यों न हो।

३. प्रशस्ति काव्य—

यह प्रथा भी संस्कृत से आई है। गत अध्याय मे ऐति-

हासिक काव्यों के प्रसंग में हम कह चुके हैं कि संस्कृत में भी ऐतिहासिक व्यक्तियों को आधार मानकर काव्यरचना प्रारम्भ हो गई थी। प्रशस्तिमूलक काव्य वर्ण्यविषय के आधार पर दो प्रकार के कहे जा सकते हैं—(१) दिव्य, अलौकिक अथवा देवपरक और (२) लौकिक तथा राजापरक।

दिव्यपरक प्रशस्तियों में स्तोत्र, स्तवन आदि हैं जो कभी पद्यसंख्याओं के नाम से अष्टक, शतक, चालीसा आदि कहे जाते हैं। बहुत से इन स्तवों, स्तोत्रों मे काव्यत्व की कल्पना अथवा खोज करना व्यर्थ है। इनमें प्रायः आराध्य की प्रभुता, उदारता, क्षमाशीलता, सामर्थ्य आदि का वर्णन होता है। आराधक अपने अपराधो एवं पापों की क्षमा माँगता है। संस्कृत स्तोत्रों में तीन बातें पाई जाती हैं—(१) आराध्य के गुण का वर्णन, (२) आराधक का विनय तथा (३) स्तोत्र पढ़ने का फल। प्रायः अपभ्रंश में भी इन्ही बातों का अनुकरण किया गया है।

प्रशस्तिमूलक रचना ने लौकिकता को अपनाकर अपना रूप अधिक प्रशस्त किया। कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की प्रशस्तियों में अपनी प्रतिभा शक्ति को सम्यग् रूप से व्यक्त किया। यद्यपि पौराणिक शैली पर लिखे हुए काव्यों में प्रशस्तियाँ उपलब्ध होती है, परंतु वहाँ वे स्तवन अथवा स्तोत्र के रूप में आई हैं, यथा पुष्पदंत के महापुराण में दूसरी संधि का तीसरा कड़वक जिन स्तोत्र है। संस्कृत के अधिकतर स्तोत्र पुराणों में प्राप्त होते हैं। हिंदी ग्रंथ रामचरित मानस मे भी यह परंपरा अपनाई गई है। पौराणिक कथा का आधार विश्वास है, धार्मिक आस्था है, परंतु हमारा अभिप्राय प्रशस्तिमूलक उन काव्यों से है जो विलास, चरित, चरित चर्चा, लता एवं रासो के नाम से ऐतिहासिक व्यक्तियों को अपनाकर

कल्पना के प्राचुर्य से ओतप्रोत कर लिखे गए है, जिनमें संभावनाओं का आधिक्य है तथ्यों का ध्यान कम। इन प्रशस्तिमूलक काव्यों मे शृंगार और वीर के चित्र जैनचरित की भाँति मिलते हैं। इससे यह तो अनुमान होना सहज संभाव्य है कि इस प्रकार की अनेक रचनाएँ हुई होंगी परंतु नाना ऐतिहासिक कारणों से वे सब अप्राप्य हो गई।[1] हमने गत अध्याय में केवल पृथ्वीराज रासो तथा विद्यापति की कीर्तिलता का संक्षिप्त वर्णन उपस्थित किया है। रासो की परंपरा राजस्थान तथा गुजरात मे अधिक प्रसिद्ध रही। विद्यापति एवं रासोकार मे लगभग २०० वर्ष का अंतर है। विद्यापति यद्यपि अपभ्रंश के काल के अंतर्गत नही आते परंतु यह बात सिद्ध करने के लिये कि अपभ्रंश रचना आधुनिक आर्यभाषाओं के प्रतिष्ठित हो जाने पर भी पूर्व से पश्चिम तक साहित्यिक भाषा बनी रही, कीर्तिलता का वर्णन उपस्थित किया गया है। आशा है कि हमारा निष्कर्ष स्वीकृत होगा।

अपभ्रंश के परवर्ती काल मे तथा हिंदी के आदि युग मे इस ऐतिहासिक काव्यपरंपरा ने अधिक प्रचार पाया। इसका कारण कवियो को राजाश्रय मिलना है। मध्यकाल मे कवि लोग भी राज दरबार की शोभा बढानेवाले रहे है। अनेक ताम्रपत्र एव शिलालेखो से राजाओ की कविप्रतिष्ठा प्रतिपादित होती है। इन काव्यों मे फैक्ट (तथ्य) और फिक्शन (कल्पना) का अपूर्व समन्वय हुआ है अर्थात् साधारण ऐतिहासिक तथ्यो का संभावना के आधार पर वह कल्पनात्मक वर्णन किया गया है कि ऐतिहासिक तथ्य हाथ मलता रह गया है और कही कही तो उसका अस्तित्व ही लुप्त हो गया है। अपने आश्रयदाता की शौर्य-

---

1. श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिंदी साहित्य का आदिकाल, पृ० २६ तथा ४६।

वृद्धि के लिये स्वयंवर, विवाह, शत्रुविजय, जलक्रीड़ा, मृगया, आखेट, शैल वन बिहार, दोलाविलास, नृत्य गीत समारोह, कविगोष्ठी, समस्यापूर्ति, तथा दान आदि प्रसंग अनिवार्यतः लाए गए हैं। यदि कोई अवसर नही मिला तो अवसर की कल्पना कर ली गई है, और फिर उसका ऐसा काल्पनिक ब्यौरा प्रस्तुत किया गया है कि काव्य निर्जधरी कथा की सीमा तक पहुँच गया है। यह सब होते हुए भी वह अपनी प्रशस्ति-मूलक ऐतिहासिकता को बनाए रहा। 'ये रचनाएँ काव्य ही बन सकी इतिहास नही। वे निजंधरी कथाओं से इस अर्थ में भिन्न रही कि उनमें बाह्य तथ्यात्मक जगत् से कुछ न कुछ योग रहा। मात्रा मे कमीवेशी तो हुआ ही करती थी पर योग रहता अवश्य था। निजंधरी कथाएँ अपने आप में परिपूर्ण होती थीं'।[1]

इन काव्यों के पाठकों को भी अनेक कथानक रूढियों से टकराना पड़ता है। ये अधिकतर एक सी ही प्राप्त होती हैं। भारतीय साहित्य की इन कथानक रूढ़ियों के विषय में ब्लूम-फील्ड ने अपने ओरियटल सोसायटी के जर्नल की ३६वीं, ४०वीं तथा ४१वीं जिल्द में प्रकाश डाला और पेंजर ने कथा सरित्सागर के नए संस्करण में महत्वपूर्ण टिप्पणियाँ दी। पं० हजारीप्रसादजी ने अपने आदिकाल में इनका वर्णन किया है। श्रीब्रजविलास श्रीवास्तव ने 'पृथ्वीराज रासो में कथानक रूढियाँ' लिखकर हिंदीभाषियों के मार्ग को सुगम कर दिया है। इन कविकल्पित अथवा वर्णित रूढ़ियों के वर्गीकरण तथा उनके मूल स्रोतों पर विचार करना यहाँ अनावश्यक

---

१. श्रीहजारीप्रसाद द्विवेदी—हिंदी साहित्य का आदिकाल, पृ० ७१।

होगा।[२] हम यहाँ केवल कुछ मुख्य मुख्य रूढ़ियों का निर्देश कर इस प्रसंग को समाप्त करेंगे। मुख्य मुख्य रूढ़ियाँ इस प्रकार हैं—

(१) कहानी कहनेवाला सुग्गा (कीर्तिलता में भृंग और भृंगी)।
(२) प्रियदर्शन-(क) स्वप्न में, (ख) चित्र में, (ग) भिक्षुओं या वंदियों के मुख से कीर्ति सुनकर।
(३) मुनि का शाप।
(४) रूप परिवर्तन।
(५ लिंग परिवर्तन।
(६) परकाय प्रवेश।
(७) आकाश वाणी।
(८) अभिज्ञान या सहिदानी।
(९) परिचारिका का राजा से प्रेम और अंत में उसका राजकन्या और रानी की बहन के रूप में अभिज्ञान।
(१०) नायक का औदार्य।
(११) षड्ऋतु और बारहमासा के माध्यम से विरह वेदना।
(१२) हंस, शुक, कपोत आदि से संदेश भेजना।
(१३) घोड़े का आखेट के समय निर्जन वन में पहुँच जाना, मार्ग भूलना, मानसरोवर पर किसी सुंदरी स्त्री या उसकी मूर्ति का दिखाई देना, फिर प्रेम और प्रयत्न।

---

१. श्रीव्रजविलास श्रीवास्तव—पृथ्वीराज रासो में कथानक रूढ़ियाँ, पृ० ५२–६२।

(१४) विजन वन में सुंदरियों से साक्षात्कार ।

(१५) युद्ध करके शत्रु से या मत्त हाथी के आक्रमण से, या कापालिक की बलिवेदी से सुंदरी स्त्री का उद्धार और प्रेम ।

(१६) गणिका द्वारा दरिद्र नायक का स्वीकार और गणिका माता का तिरस्कार ।

(१७) भरंड और गरुड़ आदि के द्वारा प्रिय युगलों का स्थानांतरकरण ।

(१८) पिपासा और जल की खोज में जाते समय असुर-दर्शन और प्रिया वियोग ।

(१९) ऐसे शहर का मिल जाना जो उजाड़ हो गया हो ।

(२०) प्रिया की दोहदकामना की पूर्ति के लिये प्रिय का असाध्यसाधन का संकल्प ।

२१) शत्रु संतापित सरदार को उसकी प्रिया के साथ शरण देना और फलस्वरूप युद्ध, इत्यादि ।

४. गेय काव्य—

भारतीय परंपरा ने काव्य के साथ संगीत को भी बड़ा महत्व दिया है। भर्तृहरि ने 'साहित्य संगीत कलाविहीन' नर को साक्षात् पशु की संज्ञा दी है। वैदिक युग से सस्वर वेदध्वनि भारतीय गगनमंडल को ध्वनित करती रही है। संगीत मे वह शक्ति है, वह चमत्कार है कि वह बरबस प्राणी के मन को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। काव्य मे संगीत का सयोग मणिकांचन संयोग है। यदि देखा जाय तो काव्य मे छंदों का विधान संगीतात्मकता लाने के लिये ही हुआ था। यतिनियम, गणयोजना, मात्रानियमन का मुख्य आधार लय है जो संगीत का प्राण है। संगीत की माधुरी से जैन जैसे निवृत्तिप्रधान दर्शन भी नहीं बच सके। जैनचार्यों ने संगीतमय

काव्यो की रचना की है। उनके यहाँ रास, चर्चरी, फाग, रसायन, कुलक आदि गेयात्मक साहित्य है। बौद्ध सिद्धों के चर्यापद भी गेय है। 'रास' शब्द भी पश्चिमी प्रांतों मे खूब प्रचलित रहा है। परवर्ती युग के आनंदकाव्य महोदधि[1] में १७वी शताब्दी के लगभग ३७ रासो (गेय काव्यों) की तालिका दी है।

अतः स्पष्ट है कि यह एक गेयात्मक काव्य की विधा है जो अपभ्रंश काल मे अत्यत प्रचलित हुई। प्रश्न होता है कि 'रास' किस प्रकार के काव्य को कहा जाय। व्रज प्रादेश में आधुनिक युग मे 'रास' कृष्ण की लीला से संबंधित है। आज भी भक्तहृदय वृंदावन मे भगवान् का रास देख आनंदविभोर हो जाता है। इस रास मे नृत्य एवं सगीत तथा कुछ अभिनय संवादों के साथ रहता है। रासमंडली, रासधारी तथा रासलोला शब्द भी प्रचलित है। संभवतः रास की उत्पत्ति मंडलाकार नृत्य से ही हुई है। वज्जालग्गम् मे एक गाथा है जिससे यही अर्थ स्पष्ट होता है। यथा—

> विहडउ मडलिवंधो मज्जउ रासो न मंचए कएह।
> नवसिय सएहि लद्धो वुह हत्थो मज्झ हत्थेण ॥

गाथा से स्पष्ट है कि 'रास' शब्द मंडलाकार नृत्य का बोधक था। परवर्ती हिंदी काव्य में जो प्रशस्तिमूलक काव्यों के साथ 'रासो' शब्द पाया जाता है वह भी इसी का विकसित एवं मिश्रित रूप है। परंतु रासो शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध मे हिंदी मे अनेक धारणाएं प्रचलित हुईं। कुछ धारणाओं का

---

1. श्रीकावेरी—आनंद काव्य महोदधि (गुजराती), भाग ८, पृ० ७१-७२।
2. जयवल्लभ—वज्जालग्गम्, पृ० १२२।

आधार तो विशुद्ध कपोलकल्पना है। आधुनिक सामग्री के प्रकाशन और विद्वानों की खोज के समक्ष उनका वर्णन केवल मनोरंजन मात्र ही ठहरता है। हिंदी शब्दसागर के संपादकों ने 'रासो' शब्द का संबंध संस्कृत के 'रहस्य' शब्द से जोड़ा है और लिखा है कि किसी राजा का पद्यमय जीवनचरित्र विशेषत: वह जीवनचरित्र जिसमें उसके युद्धों और वीरता आदि का वर्णन हो रासो कहलाता है।' कविराज श्यामलदास तथा डा० काशीप्रसाद जायसवाल के मतानुसार 'रासो' रहस्य से उत्पन्न हुआ। फ्रांसीसी पंडित गार्सा द तासी ने 'रासो' को राजसूय से निकला हुआ माना। महामहोपाध्याय प० हरप्रसाद शास्त्रीजी के अनुसार श्रीविध्येश्वरीप्रसाद पाठक को यह शब्द 'राजयश' का बदला हुआ रूप दिखलाई दिया।

आचार्य शुक्लजी ने इसे रसायण से तथा अन्य विद्वानों ने रासक से इसकी व्युत्पत्ति स्वीकार की। इस शब्द के क्रमिक विकास को स्पष्ट करने का प्रयत्न डा० दशरथ शर्मा ने किया। आपने साहित्य संदेश (जुलाई १९५१) में महत्वपूर्ण निबंध लिखकर इस समस्या का समाधान किया। आपके मत से रासो मूलत: गानयुक्त नृत्यविशेष था जैसा कि काव्यानुशासन तथा वज्जालग्गम् से विदित होता है। कुछ दिनों में वह उपरूपक का स्थान ले बैठा, तदुपरांत वह पद्यबद्ध प्रबंधकाव्यों में परिणत हो गया। हिंदी अनुशीलन' (अक्टूबर-दिसंबर सन् १९५५) का 'रासो परंपरा निर्णय' भी इस विषय मे विशेष महत्व का है। प्रो० उदयसिंह भटनागर लिखते हैं–

रास शब्द की व्युत्पति रस धातु से मानी जाती है। रस का अर्थ है गर्जन। इसमें उल्लास और उत्साह की भावना प्रधान है। रास अपने प्रारंभिक काल मे एक नृत्य के रूप मे ही था। इसको लोग एक वृत्त के रूप मे मडली वनाकर

नाचते थे, और बीच बीच में गर्जन भी किया करते थे, यह नृत्य आज भी वर्तमान है। इसका संबंध पशुपालन नृत्य से माना जाता है। यही नृत्य धीरे धीरे परिष्कृत होकर गीतिकाव्य और अभिनय से पूर्ण हुआ। इस प्रकार रास ने गेय-रूपक के तत्व प्राप्त किए और फिर उसमें जब चरित्र का समावेश हुआ तब वह प्रबंध काव्य के रूप मे विकसित हुआ। यही चरितप्रधान रास गेयरूपक के तत्वों से युक्त होकर अपने कथानक को केवल काव्यमय प्रबंध के रूप मे लेकर विकसित हुआ और रासो कहलाया। रास के साहित्यिक रूप प्राप्त कर लेने पर वह रासक और नाट्यरासक के रूप में स्वीकृत हुआ और नाट्यशास्त्र मे इन दोनो को उपरूपक का स्थान मिला। रास के उपरूपक माने जाने से पूर्व वह नृत्य रूप में था इसलिये पहिले नृत्य की कोटि मे माना गया और फिर उप-रूपक भी मान लिया गया[1]।

इस प्रकार हिंदी मे रास गेयरूपक और रासो चरित-प्रधान प्रबंधकाव्य के रूप मे गृहीत हुआ। गेयरूपक रास का पूर्ण विकास जैन साहित्य मे हुआ और रासो चारणकाव्य के रूप मे विकसित हुआ। चारणकाव्य मे रासो साहित्य का वह प्रकार है जो किसी के वीर चरित्र का काव्यमय अंकन करता है और जिसमे ऐतिहासिक घटनाओं से रंजित प्रबंध रहता है। जैन रास धर्मोपदेश संबंधी गेय नृत्य से आरंभ होकर तीर्थंकरो, आचार्यों, श्रेष्ठियो आदि के धर्मपालन संबंधी कथानक को लेकर विकसित हुआ और आगे उसने पूरे जीवन-चरित्र का भी समावेश कर लिया परन्तु गेयात्मकता किसी न किसी प्रकार बनी रही।

---

१. हिंदी अनुशीलन—वर्ष ८, अंक २, पृ० १७०।

भरतकोशकार ने रासकः प्रबंधः गीतालंकार रासकम्, लता शृंखलाभेदक गुल्माः नृत्तविशेषः चर्चरी प्रबन्धाः वर्णः मल्लतालौ । खण्डः करण समूहः । तत्र स्थाने द्रष्टव्म् । नृत्त रूपकम, रासकम्, रासकभेदा तथा रासा शीर्षक देकर उदाहरण तथा आचार्यों के मत देकर उपर्युक्त बात स्पष्ट की है कि रासक शब्द से प्रबंध, गेयरूपक, नृत्त रूपक तथा मात्रिक छंद का बोध होता है[1] ।

उपदेशरसायन रास जिनदत्त सूरि की प्रमुख रचना है । वह अपभ्रंश काव्यत्रयी में जिनपाल उपाध्याय की टीका सहित प्रकाशित है । टीकाकार ने अपना मत इस प्रकार दिया है कि 'रासक'[2] पद्धटिका वंध मे १६ मात्रा का सब रागों में गाया जानेवाला छंद होता है । इसमें उपदेश भी है । यही चर्चरी अथवा रासकप्रबंध प्राकृत में प्रसिद्ध है । ऐसा प्रतीत होता है कि चर्चरी इन दिनों जनता मे खूब प्रचलित थी और गाई जाती थी । संस्कृत नाटिका 'रत्नावली' से तथा वाणभट्ट की पुस्तकों से भी इसकी सूचना उपलब्ध होती है । बारहवीं शताब्दी में सोमप्रभ इसे वसंतकाल का गाना स्वीकार करते हैं । यह शब्द परवर्ती हिंदी साहित्य में भी कबीर एवं जायसी द्वारा इसी अर्थ में प्रयुक्त किया गया है । डा० दशरथ ओझा ने भी 'अपभ्रंश' में रासक का विकास खोजने का प्रयत्न किया । 'अभिनव भारती', 'साहित्य दर्पण' तथा भावप्रकाश आदि संस्कृत ग्रंथों के आधार पर वे भी इसी निष्कर्ष पर

---

१. भरत कोश, पृष्ठ ५५०–५५२ ।

२. प्रो० लालचद गांधी–अपभ्रंश काव्यत्रयी, पृ० २६ ।

३. श्रीहजारीप्रसाद द्विवेदी–हिंदी साहित्य का आदिकाल, पृ० १०७ ।

पहुँचे हैं कि 'कालांतर मे रासक के दो रूप हो गए—एक तो नृत्य के रूप मे तद्वत् बना रहा, दूसरा विकसित होता हुआ उपरूपक की परिधि में विराजमान हो गया। विकासोन्मुख रूप में सर्वप्रथम नृत्यसंगीत के साथ अभिनय जोड़ा गया। तत्पश्चात् इसमें असंबद्ध कथानक को स्थान मिला[1]। विकास के तीसरे स्तर पर पहुँचते पहुँचते इसमें वार्तालाप भी संयुक्त हो गया[2]।

उत्तर अपभ्रंश काल मे जैन कवियों की कृपा से यह रास नामक काव्यविधा प्रचुर मात्रा में अपनाई गई। ऐसा प्रतीत होता है कि जैन मुनियों और कवियों ने अर्द्ध शिक्षित धर्मभीरु जनता के मन को रमाने तथा अपने जीवन के अनुभवों को उनके पास तक पहुँचाने के लिये सबसे अधिक इस गेयनृत्यमिश्रित विधा को अपनाया और रास कहकर संबोधित किया। धर्मबिंदु वृत्ति नामक ग्रंथ में रास की रचना का उद्देश्य इस प्रकार दिया है—

वाल स्त्री मूढ मूर्खाणा नृणां चारित्रकांक्षिणाम्।
अनुग्रहार्थं सर्वज्ञः सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः[3]॥

अर्थात् वालक, स्त्री, मूर्ख तथा चरित्रकांक्षी राजा, अनुग्रहार्थी सर्वज्ञों को रमाने के लिये यह अपूर्व रचना बनाई गई। डा० ओझा ने रास के विषयों का वर्गीकरण और उद्देश्य इस प्रकार लिखे हैं—

[१] वाल, स्त्री, और मूर्ख के लिये शिक्षाप्रद मनोरंजन उपस्थित करना।

---

१. हिंदी अनुशीलन—वर्ष ६, अंक १–४, पृ० १०।

२. वही ,,

३. यह श्लोक अन्यत्र प्राकृत के अर्थ में प्रयुक्त मिलता है। न जाने यहाँ क्योंकर इससे रासक का अर्थ लिया गया है।

[२] उपदेश मुख्य उद्देश्य था किन्तु भौतिक जीवन से असंपृक्त होकर नहीं।
[३] उपदेश में कथा तत्व नहीं।
[४] चरित्रसंकीर्तन रास का मुख्य उद्देश्य बनता गया।

विषय विभाजन—

[क] ऋषभदेव, नेमिनाथ, महावीर जंबुस्वामी, गौतम स्वामी, स्थूलिभद्र, शालिभद्र।

[ख] राजवंशी जैन साधुओं के चरित्र–वस्तुपाल, तेजपाल, समरसिंह, पेथड़ के जगड जेवा, जैन श्रेष्ठियों के जीवनचरित्र।

[ग] कोई श्रेष्ठी तीर्थयात्रा मे संघ करे तो उसका वर्णन।

[घ] केवल तीर्थो का माहात्म्य–आबूरास, गिरिनार रास।

[च] जैन रामायण और जैन महाभारत के पात्रों का रास।

[छ] जैन धर्म से प्रभावित व्यक्तियों का चरित्र।

[ज] तीर्थों और मंदिरों के उद्धारक दानी सेठ शांतिदास का रास, तीन पीढ़ी तक (अकबर से औरगजेब तक)।

[झ] काल्पनिक कहानी–ऐतिहासिक नाममात्र—शीलवतीनो रास, भूतप्रेत, चमत्कार, जादू-मंत्र की महिमा।

[ट] कुवलयमाला कथा (सस्कृत) का आधार लेकर सीमंधररास कर्ता तेजपाल समय संवत् १६८४वि०।

पात्र—

क्रोध, मान, माया, लोभ, चंद्र, सोम, मान भट, मायादित्य, लोभ देवी।

राग—

संगीतज्ञ रासकार—आसावरी, काशी, केदार, धन्याश्री, देशास, मल्लार, सामेरी, सारंग आदि राग रागनियाँ[1]।

डा० दशरथ ओझा का यह प्रयत्न सराहनीय है। उन्होंने रासों के विषयविभाजन मे केवल ऋषभदेव, नेमिनाथ, महावीर तथा गौतम स्वामी आदि जैन तीर्थंकर अथवा पुराणों से संवधित व्यक्ति लिए हैं। परंतु अभी हाल मे श्रीयुत भँवरलाल नाहटा ने 'सुभद्रा सती चतुष्पदिका' तथा 'सतीमेणरेहा रास' प्रकाशित कराए हैं।[2] आपके विचार में दोनों का रचनाकाल १३ वी से १५ वी ईसा की शताव्दी है। इन दोनों के प्रकाशन से डा० ओझा के वर्गीकरण के विषय का विस्तार और भी वढ़ जाता है। शेष रूपों में कोई अंतर नहीं आता।

जैन संप्रदाय के रास ग्रंथ मव एक ही शैली पर लिखे गए है। इनमे से अधिकांश खंड काव्यों की कोटि में रखे जा सकते हैं[3]। इनमे काव्यत्व अल्प, पौराणिकता तथा गेयात्मकता अधिक है। पश्चिम में रास, रासा तथा रासो का प्रचार हुआ। पूरब में सिद्ध साहित्य द्वारा चरियापदों का विस्तार किया गया।

चरियापद पूजा के समय गाए जाते थे[4]। राहुलजी ने चर्या का नेवारी मे विगड़ा हुआ रूप चचा दिया है। चचा के गीत अपभ्रंश के हैं और वोलनेवाले अथवा गानेवाले आर्येतर जाति के हैं। अतः वह गीतों को न समझते हैं और न उनका

---

१. हिंदी अनुशीलन—वर्ष ६, अंक १–४, पृ० ११–१२।
२. हिंदी अनुशीलन, वर्ष ६, अंक १–४, पृ० ६७।
३. नेमिचंद्र शास्त्री–हिंदी जैन साहित्य अनुशीलन, पृ० ५५।
४. राहुलजी–दोहा कोश, पृ० ३६।

शुद्ध उच्चारण कर सकते हैं। अतः उनके मुँह में पड़कर शब्दों के उच्चारण भी बदल गये हैं।

सारांश यह है कि संगीत से जैन और सिद्ध दोनों को प्रेम रहा। जैन आचार्यों के कारण 'रास' गेय पद्य रचे गए। धीरे धीरे यह गेय पद्य दो रूपों में विभक्त हो गए। एक में संगीत की प्रधानता रही जो विविध अवसरों पर गाए जाते तथा अभिनय किए जाते थे, यथा निर्वाण रास। इनके नाम चर्चरी, फाग आदि भी थे।

अपने दूसरे रूप में वह जिसमें चरित्र मिलाकर खंड काव्य का सा रूपक दिया गया और जिसमें काव्यत्व कम और पौराणिकता अधिक रही आगे चलकर रासक अथवा रासो के रूप में बदल गया।

धर्मनिरपेक्ष साहित्य में भी रास शब्द ने दो रूप अपनाए--एक गेयात्मकता प्रधान खंडकाव्य का रूप अपना लिया गया जिसका उदाहरण संदेश रासक है। दूसरा रूप विकसित होकर रासो बन गया जो हिंदी के आदिकाल में अधिक व्यापी हुआ और अनेक ग्रंथ रासो के नाम पर लिखे गए, यथा पृथ्वीराज रासो, खुमाण रासो, बीसलदेव रासो, आदि आदि।

रास अपने ब्रजभाषा के क्षेत्र में अभी तक संगीतप्रधान नृत्य ही बना रहा परंतु आधुनिक काल मे थोड़ा बहुत नाटकीय ढग उसमे भी आ गया है। अतः वह भी अब गेयरूपक का ही रूप धारण कर बैठा है। परंतु विषय उसका मुख्यतः कृष्ण लीला है।

५. रूपक काव्य—

संस्कृत मे रूपक शब्द नाटकों के अर्थ मे प्रयुक्त होता है।

---

१. राहुलजी—दोहाकोश, पृ० ७०।

वस्तुत: नाट्यशास्त्र में तो रूपक शब्द ही विशेषकर लिया गया है और उसी के उपभेद गिनाए गए हैं। अपभ्रंश साहित्य मे शुद्ध अपभ्रंश में नाट्यरचना अत्यंत अल्प ही हुई। संभवत: नाटको का कार्य रास और रासकों द्वारा ले लिया गया जो एक प्रकार से नाटकों के ही परिवर्तित रूप थे। अस्तु रूपक काव्य से यहाँ अभिप्राय उन काव्य अथवा नाटकाभास ग्रंथों से है जिनमे भावात्मक वृत्तियों को स्थूल अथवा मूर्त रूप देकर वर्णन किया गया है। यह परंपरा अत्यंत प्राचीन है। उपनिषदों में इस प्रकार के रूपकों के बीज पाए जाते हैं। संस्कृत का प्रबोध-चंद्रोदय नाटक बड़ा सुंदर उदाहरण है। इसमे मोह, विवेक, ज्ञान, विद्या, बुद्धि, दंभ, श्रद्धा आदि भावों को मूर्त रूप प्रदान किया गया है। जैन काव्यों मे भी इस प्रकार के आख्यान मिलते है। १३वी शताब्दी का मोह पराजय नाटक प्रसिद्ध है। इसमे राजा कुमारपाल का विवाह विवेकचंद्र की पुत्री कृपा सुंदरी से कराया गया है। इस प्रकार के यत्रतत्र छोटे छोटे आख्यान प्राप्त होते हैं। मयणपराजय चरिउ तथा मयण-जुज्झ इसी प्रकार की रचना है। इनकी विशेषता केवल अमूर्त भावनाओ को मूर्त रूप देना है।

६. मुक्तक—

मुक्तक के विषय मे हम चतुर्थ अध्याय मे कह चुके है। इसकी विशेषता यह है कि इसका प्रभाव तुरंत हृदय पर होता है। वर्णनात्मक परिचय मे हमने मुक्तकों मे श्रृंगारपरक मुक्तकों का प्राधान्य कहा है। हमारे निष्कर्ष से मुक्तक साधारण जन की मनोवृत्ति के सच्चे प्रतीक हैं। जैन और सिद्धों की निवृत्ति-मूलक साधना तथा उनकी उलटीपुलटी वाणी से घबड़ाकर साधारण जनता इन मुक्तकों द्वारा आनंद प्राप्त किया करती थी। इनका महत्व उपयोगिता की दृष्टि से भी है क्योंकि

इनमें साधारण जन की सामाजिक दशा, उनके त्योहार, पर्व एवं उल्लास का ब्यौरा निहित है। साधारण जनता में शुद्ध श्रृंगारिक मुक्तकों का बड़ा मान था। वे बड़े चाव से इन्हें सुनते थे। अतः उन पद्यों का बड़ा आदर था जो कामुकों को मनोहर प्रतीत हों, उठती हुई यौवन की तरंगोंवालों के पथ-प्रदर्शक हों, विरह प्रपीड़ित व्यक्तियों के हृद्य को स्वयं काम-देव स्वरूप हों, रसिकों के कंठहार हों तथा विलासप्रिय जनता के कर्णामृत हों। इन पद्यों का आनंद केवल सुरति विलक्षण पुरुष ही ले सकते थे।[1] कविवर अब्दुल रहमान इसी प्रकार की जनता की प्रवृत्ति का संकेत ही नहीं करते अपितु उन्होंने उसके लिये अपनी मधुर वाणी से संदेशरासक लिखने का प्रयत्न किया है। अतः जहाँ सामंत वर्ग अपने बिहार में मस्त हो, सिद्धों की वाणी का आधार लेकर मद्य, मांस, मदिरा तथा मैथुन का अबाध प्रचार प्रतिपादित किया जा रहा हो, दूसरी ओर यह प्रवृत्ति अप्राकृत रूप से दबाई जा रही हो, वहाँ राजनीतिक संघर्षों के जंजाल से बचकर जनता इस प्रकार की कविता में आनंद लेती हो तो कोई आश्चर्य नहीं। अतः इस युग में मुक्तकों की रचना का प्राधान्य बढ़ा।

कवि द्रष्टा ही नहीं अपितु स्रष्टा एवं भविष्यवक्ता भी होता है। वह आनेवाली जनता के लिये कुछ संकेत छोड़ जाता है। संदेशरासक का कथन हमें विद्यापति की पदावली में, लोकगीतों में तथा रीतिकाल की कविता में सत्य हुआ मिलता है। पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित शिक्षित वर्ग इन श्रृंगारप्रधान मुक्तकों में अश्लीलता की गंध भले ही देखे अथवा उनको समाज

---

१. अब्दुल रहमान—संदेशरासक, पृ० संख्या १–१०।

मे अनाचार फैलाने की प्रवृत्ति वताए पर हमारी तुच्छ संमति मे इनका अपना महत्व है। यह मनुष्य की उस भावभूमि पर आधारित है जो सत्य है, शाश्वत है, सुंदर है तथा समस्त सृष्टि का आधार है।

७. गद्य साहित्य

गद्यकाव्य का कोई रूप नही कहा जा सकता था। यह तो साहित्य का वाह्य रूप है। प्रायः प्राचीन युग में पद्य का ही प्राधान्य रहा है। गद्य साधारण जन की कथ्य भाषा के रूप मे रहा। गद्य का प्रयोग ग्रंथों में बहुत ही कम किया जाता था। संस्कृत साहित्य मे गद्यरचना मे कुशलता कवियों की कसौटी मानी जाती है। यह ठीक है परंतु फिर भी गद्य का प्रयोग संस्कृत साहित्य मे पद्य की अपेक्षा बहुत कम है। अपभ्रंश के गद्य का नमूना उद्योतन सूरि की कुवलयमाला कहा (सं० ८३५ वि०) मे प्राप्त होता है। इसका हम वर्णन कर चुके है। प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह में कुछ गद्य संगृहीत है। ज्योतिरीश्वर का वर्णरत्नाकर गद्यग्रंथ है। विद्यापति की 'कीर्तिलता' में यत्रतत्र गद्य प्राप्त होता है। वर्णरत्नाकर तथा कीर्तिलता के गद्य के नमूने इस प्रकार हैं—

वर्णरत्नाकर—

अथ वसंत वर्णना—वृक्षक नूतनता। पल्लवक उद्गम, कुसुमक संभार, मलयानिलक वेद, कोकिलाक कलरव, भ्रमरक झंकार, कंदर्प्पक प्रभाव, विरहिनीक उत्कंठा, नायकक हरष, नायिकाक अभिलाख।[1]

कीर्तिलता—

मध्यान्हे करी वेला संमद्द साज सकल पृथ्वी चक्र करे ओ,

1. ज्योतिरीश्वर—वर्णरत्नाकर, पृ० १८।

वस्तु विकाए आए बाज । मानुसक मीस पीसि वर आँगे आँग, अंगर आनक तिकल आन को लाग[1] ।

श्रीअगरचंद नाहटा ने १४वीं शताब्दी का तत्व-विचार नामक एक अप्रकाशित कृति का 'राजस्थान भारती' में उल्लेख किया है और उसके गद्य का नमूना इस प्रकार दिया है—

एउ संसारु असारु । खण भंगरु । अणाइ चउ गईउ । अणोरु अपारु संसारु । अणाई जीव । अणेग अणादि कर्म संयोगि सुभासुभ कर्म अचेष्टित परि वे णिढिया जीव प्रण नरक गति ![2]

उक्तिव्यक्ति प्रकरण का हम कई बार उल्लेख कर चुके है। उपलब्ध गद्य साहित्य के अवलोकन से एक आश्चर्य-जनक बात प्राप्त होती है। वह है संस्कृत तत्सम शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति। उपरिलिखित अवतरणों में हमने कुछ शब्दों को रेखांकित किया है। यह प्रवृत्ति गद्य में कबसे चली यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। डा० कोछड़ का अनुमान है जो ठीक जँचता है कि अपभ्रंश में तत्सम शब्दों का प्रयोग नवी शताब्दी के आरंभ से हो गया था और वह उत्तरोत्तर बढ़ता हो गया ।[3]

गत अध्यायों में हमने 'अपभ्रंश' शब्द तथा साहित्य पर एक विहंगम दृष्टि डालने का प्रयत्न किया है। उसके आधार पर संक्षेप में हमारे निष्कर्ष इस प्रकार है –

(१) 'अपभ्रंश' शब्द वस्तुतः बिगड़े हुए शब्दों के रूप के

---

१. विद्यापति—कीर्तिलता, पृ० ३० ।

२. राजस्थान भारती, वर्ष ३, अंक ३–४, पृ० ११८, १२० ।

३. डा० कोछड़—अपभ्रंश साहित्य, पृ० ३८१ ।

लिये प्रचलित हुआ। यह अशिक्षित जनता द्वारा उच्चरित शब्द थे जो आलस्य या प्रमादवश शुद्ध रूप में नही उच्चरित किए जाते हैं। शुद्ध रूप संस्कृत का माना जाता था।

(२) कालांतर मे मध्यभारतीय आर्यभाषाओं का अंतिम सोपान जो भाषा थी उसका नाम भी 'अपभ्रंश' पड़ा। इसके नाम 'अपभ्रंश' से यह संकेत मिलता है कि विद्वान् एवं संस्कृतप्रेमी इसे आदर की दृष्टि से नही देखते थे। परंतु सर्वसाधारण की यह राष्ट्रभाषा रही है और इसका प्रचार पंजाब से मान्यखेट और गुजरात से कामरूप तक रहा है।

(३) 'अपभ्रंश' के उत्कर्ष का समय ६०० ई०से १२०० ई० तक का है परंतु उपलब्ध साहित्य अधिकतर ८०० से १२०० ई० तक का है।

(४) अपभ्रंश मे प्रचुर मात्रा मे साहित्यनिर्माण हुआ था परंतु अभी तक दो छोरों पर रचे हुए साहित्य का ही उद्घाटन हो सका है। यह साहित्य धर्ममूलक है जिसमे जैन धर्म का प्रमुख हाथ है। जैन साहित्य का क्षेत्र, मान्यखेट, गुजरात, राजस्थान तथा मुल्तान है यद्यपि बहुत ही परवर्ती काल मे मथुरा, एटा तथा आगरा के जनपद भी आ गए हैं, जहाँ के लेखको ने जैन साहित्य का अपभ्रंश में निर्माण किया है। पूर्वी साहित्य सिद्ध साहित्य है जिसका क्षेत्र प्रायः प्राचीन बंगाल, उडीसा तथा विहार है। मध्यदेश (प्राचीन) का अथवा आज के मुख्य हिंदी भाषाभाषी देश का अपभ्रंश साहित्य अनुपलब्धप्राय है।

(५) दोनों प्रकार के साहित्य में निम्नलिखित समानता है —

[क] रूढ़ियों तथा बाह्याडंबरों के प्रति अश्रद्धा।

[ख] सिद्धांत प्रतिपादन।

[ग] निर्वाण तथा महासुख की निजी कल्पना—जैन धर्म ने निर्वाण को निवृत्तिमूलक माना है जिसमें समस्त कामोपभोग निषिद्ध हैं। उनपर प्राकृत तथा अप्राकृत सभी साधनों द्वारा विजय प्राप्त करना ही ध्येय है। व्रत उपवास, कर्मफल में अडिग विश्वास जैन धर्म का मुख्य ध्येय है। परंतु सिद्ध कामोपभोग क्रियाओं द्वारा ही सिद्धि की कामना करते हैं ये कर्म के फल पर भी मेष मार सकते है।

[घ] गुरु तथा साधुओं के प्रति अपूर्व श्रद्धा एवं विश्वास।

साधना पक्ष में दोनों भिन्न हैं। जैसे साधना बुद्धिवादी तथा मानवतावादी है। सिद्ध साधना गुह्य एवं रहस्यवादी है तथा एकांतिक है।

(६) [क] साहित्य शास्त्र के क्षेत्र में—

[१] अपभ्रंश का अपना कोई लक्षण ग्रंथ नहीं। अतः काव्यविषयक वितंडा का यहाँ अभाव है।

[२] शब्द, काव्य, महाकाव्य, पुराण आदि के प्रयोग में स्वतंत्रता है। लेखकों ने अपनी मनोवृत्ति के अनुसार अपनी रचनाओं के नाम में महाकाव्य, कहा, कहानी आदि शब्द स्वतंत्रता से प्रयोग किए हैं, परंतु हम जैन साहित्य के आधार पर यह बात मानते हैं कि—

पुराण, महापुराण, चरिउ धर्म संबंधी पुरुषों के चरितों का वर्णन करते हैं।

कहा और कहानी में सर्व साधारण जनता से नायक लिए जाते हैं। उनमें किसी न

किसी व्रत अथवा उपवास का फल होता है अथवा उसके श्रवण से किसी पुण्य की प्राप्ति होती है। अपने मूल रूप में इनका स्वरूप प्रेमाख्यानक का रहता है।

रास, या रासक धार्मिक गेय उपरूपक होते थे जो आगे चलकर कई विधाओं में बँट गए।

धार्मिक मान्यताओं एवं भावनाओं को मूर्त रूप देकर हृदयगम्य बनाने के लिये 'रूपक' अथवा रूपकात्मक काव्यपरपरा ने जन्म लिया। इनका दोनों प्रकार का रूप प्राप्त होता है काव्यरूप तथा नाट्यरूप।

[३] काव्य आनंददायक अथवा रसात्मक रचना है। रस के क्षेत्र में धार्मिक साहित्य में 'शांत रस' की महत्ता है तथा साधारण जनता मे 'शृंगार रस' का ही प्राचुर्य्य है।

[४] अपभ्रंश के परवर्तीकाल में शृंगारप्रधान प्रशस्तिमूलक काव्यों की प्रथा विकसित हुई जिसमें नाना प्रकार की रूढ़ियों का समावेश हो चला। साथ ही मुक्तकों की रचना भी सर्वप्रिय होने लगी।

[५] अपभ्रंश साहित्य ने लोककथाओं को अपनाया और उनको अपने धार्मिक साँचे में ढालने का प्रयत्न किया।

[६] सिद्धों की रचना में रहस्यवाद का प्राधान्य हुआ।

[ख] साहित्य के बाह्य रूप में —

तीन बंधों का प्रचार, मात्रिक छंदों का विस्तार, छंदरचना में मात्राओं के अनुसार शब्दरूप परिवर्तन की स्वतंत्रता तथा गेयात्मक रूप पर मुख्य ध्यान।

(७) भाषा के क्षेत्र में अपभ्रंश में—

शब्दरूपों में अत्यधिक सरलता, धातु-रूपों में सरलता, परसर्गों का प्रयोग तथा शब्द-कोश का विस्तार प्राप्त होता है।

अनुरणनात्मक शब्दों का प्रयोग अपभ्रंश की निजी विशेषता रही है।

अभी आवश्यकता है कि अपभ्रंश साहित्य पर पृथक् पृथक् दृष्टिकोण से शोध कार्य किया जाय और व्यापक रूप से उसका विश्लेषण किया जाय। जो साहित्य अभी अप्रकाशित है उसे प्रकाशित किया जाय तो संभव है कि हम मध्यकालीन संस्कृति पर नवीन प्रकाश प्राप्त कर सकें।

———

अध्याय ६

हिंदी का जन्म और अपभ्रंश

अपभ्रंश काल की समाप्ति के उपरांत आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का क्रम चलता है। भाषा के विकास की गति बड़ी मंद होती है। पूर्ववर्ती भाषा में आगामी भाषा के अंकुर बहुत पहिले परिलक्षित होने लगते हैं, परंतु उसको अपनी विशेषताओं के साथ पूर्णता प्राप्त करने में काफी समय लगता है। परवर्ती अपभ्रंश मे हिंदी ही के नही अपितु सभी आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं (मराठी, गुजराती, हिंदी, पंजाबी, बंगला, मैथिली आदि आदि) के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे थे। परंतु निश्चित रूप से यह निर्धारण कर सकने का अभी तक कोई असंदिग्ध साधन उपलब्ध नही है कि कथ्य भाषा के रूप में अपभ्रंश कबतक बनी रही और कब आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ अपनी अलग अलग विशेषताओं से पूर्ण होकर अस्तित्व मे आई। साहित्य की भाषा का प्राचीनता प्रेम प्रसिद्ध होता है। कथ्य भाषाओं को कालांतर में साहित्यिक पद प्राप्त होता है और पदप्राप्ति पर वह बहुत समय तक अपने पद पर दृढ रहती है। समस्त भारतीय वाङ्मय इसका प्रमाण है। यहाँ संस्कृत मे रचना अब भी होती है। अत. कथ्य भाषा के रूप मे अपभ्रंश की स्थिति न होने पर भी बहुत समय तक अपभ्रंश में साहित्यरचना होती रही और ...क भारतीय आर्यभाषाओ की प्राचीन रचनाओं में भी ... के रूपों का व्यवहार होता रहा। हेमचंद कृत अपभ्रंश

व्याकरण (बारहवी शती) से यह बात अवश्य सिद्ध होती है कि उनके समय तक अपभ्रंश साहित्यरूढ़ भाषा हो चुकी थी और कथ्य भाषा का स्वरूप इससे आगे विकास की अगली सीढ़ी की ओर अपना पग उठा चुका था। कारण स्वयं आचार्य हेमचद्र ने अपने काव्यानुशासन में अपभ्रंश का एक भेद 'ग्राम्यापभ्रंश'[1] के नाम से दिया है। संभवतः आचार्य का अर्थ तत्कालीन कथ्य भाषा से रहा हो। आधुनिक भारतीय आर्य-भाषा हिंदी का विशुद्ध साहित्य भक्तिकाल से प्रारंभ होता है। भाषा का जो स्वरूप इन प्रारंभिक रचनाओं में मिलता है वह अपभ्रंश की विशेषताओं से मुक्त एवं आधुनिक आर्य भारतीय भाषा हिंदी की विशेषताओं से युक्त है। परंतु भाषा के इस स्वरूप को साहित्यरचना के लिये स्वीकृत होने में पर्याप्त समय लगा होगा और भाषा का यह स्वरूप कथ्य भाषा के रूप में अपना अस्तित्व प्राप्तकर लोक में बहुत पहले प्रतिष्ठित हो चुका होगा। भक्तिकाल के सर्वप्रथम कवि कबीर माने जाते हैं। कबीर का जन्म संवत् १४५६ वि० के लगभग माना जाता है। अतः इनका रचनाकाल सोलहवी शती तक चला होगा। कथ्य भाषा को साहित्य के अनुरूप प्रौढता प्राप्त करने मे अनुमानतः एक शती का समय अवश्य लग गया होगा। अतः इस निष्कर्ष पर पहुँचने में कोई बाधा प्रतीत नही होती कि आधुनिक भारतीय आर्यभाषा-हिंदी भी अन्य भाषाओं के साथ साथ अपने आधुनिक काल में पंद्रहवी शती तक पदार्पण कर चुकी थी।[3] अतः हेमचंद्र के पश्चात् तेरहवी

१. हेमचंद्र—काव्यानुशासन, पृष्ठ, ४६१।

२. आचार्य रामचंद्र शुक्ल—हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ६२।

३. डा० उदयनारायण तिवारी—हिंदी भाषा का उद्गम और विकास, पृ० १४१।

शती से पंद्रहवीं शती तक का समय आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं का आदिकाल कहा जा सकता है। परंतु डा० उदयनारायण तिवारी ने इसे संक्रांतिकाल कहा है।[1]

संक्रांतिकाल अथवा आदिकाल में दो प्रकार की रचनाएँ मिलना अत्यंत स्वाभाविक है। अधिकतर रचनाओं में नवीन भाषा से पूर्ववर्ती भाषा के रूप अवश्य उपलब्ध होते हैं, और कभी कभी प्राचीनता का प्रेम नवीन भाषा को ऐसा बदल देता है कि उसके विषय में संदेह होने लगता है। भाषा के क्रमिक विकास में संस्कृत का समय बहुत पीछे का है, परंतु आधुनिक युग में भी उसका प्रभाव हमारी हिंदी भाषा पर स्पष्ट है। पं० अयोध्यासिंह उपाध्यायजी ने खड़ी बोली में मधुरता लाने के हेतु संस्कृत वृत्तों को तो अपनाया ही परंतु कहीं कहीं समस्त पदावली संस्कृतमय कर दी है। राधा का रूपवर्णन द्रष्टव्य है—

रूपोद्यान प्रफुल्लप्राय कलिका राकेंदु बिंबानना।
तन्वंगी कलहासिनी सुरसिका क्रीड़ा कला पुत्तली।
शोभावारिध की अमूल्य मणि सी लावण्य-लीलामयी।
श्रीराधा मृदुभाषिणी मृगदृगी माधुर्य सन्मूर्ति थी।

इसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदासजी भी 'रनजीति रिपुदल मध्यगत, पश्यामि राममनामयं' लिख बैठते हैं। महाकवि केशवदास को अपने कुल के संस्कृताधिकार का अभिमान था। वे भाषा में कविता करते हुए सकुचाते थे परंतु उनके समय तक हिंदी का रूप व्यापक हो चुका था, वह राजदरबारों में समादृत थी। राजा लोगों का संस्कृत का ज्ञान प्रायः इस समय

---

1 डा० उदयनारायण तिवारी—वही, पृ० वही।

नगण्य था अतः केशव को 'भाषा' में कविता लिखनी पड़ी[1]। उनकी भाषा क्लिष्ट है और संस्कृत के अनुरूप है तो कोई आश्चर्य नहीं। अस्तु हिंदी के आदिकाल की जो सामग्री अब उपलब्ध है उसमें दो प्रकार की रचनाएं हैं—(१) अपभ्रंश रचना तथा (२) देशी 'भाषा' की रचना। प्रायः देखा गया है कि 'देशी' अथवा 'भाषा' शब्द सर्वदा कथ्य भाषा के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है। इस आदिकाल की अपभ्रंश रचना को पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरीजी ने पुरानी हिंदी कहा है।

प्रसंगानुसार थोड़ा सा बिचार 'हिंदी' पर करना भी अनुचित न होगा। यह भी एक समस्या है कि हमारी भाषा हिंदी किस प्रकार और कब प्रसिद्ध हो गई। जहांतक शब्द की निरुक्ति का प्रश्न है यह शब्द 'हिंद' से निकला है। प्रारंभ में कुछ लोग भ्रांतिवश इस शब्द को घृणा की दृष्टि से देखते थे[2]। परंतु वस्तुतः यह शब्द ईरान अथवा फारसवासियों की कृपा का फल है। प्रायः फारस अथवा ईरान में स का उच्चारण ह होता है। अतः सिंधु का रूप वहाँ हिंद हो गया और शनैः शनैः समस्त भारत का वाचक बन गया। प्रारंभ में हिंदी शब्द भारतवासियों के लिये प्रयुक्त होता था। संभवतः यह भारतीय मुसलमानों के लिये विदेशी मुसलमान प्रयोग करते थे, अमीर खुसरो के समय तक हिंदी शब्द का अर्थ भारतीय मुसलमान होता था[3]। परतु धीरे धीरे यह शब्द भारतवासियों

१. भाषा बोल न जानहीं जिनके कुल के दास।
भाषा कवि भो मंदमति, तेहि कुल केशोदास ॥—केशवदास, कविप्रिया, पृष्ठ १०।

२. रामनरेश त्रिपाठी—कविता कौमुदी, भाग १, संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ १६—२०।

३. डा० उदयनारायण तिवारी—हिंदी का उद्भव और विकास, पृष्ठ १८२।

की भाषा के लिये प्रचलित हो गया। यह वही भाषा थी जिसका हिंदू तथा भारतीय मुसलमान समान रूप से व्यवहार करते थे। संक्षेप में भाषा के अर्थ मे 'हिंदी' शब्द मुसलानों की देन है और यह है भी बहुत प्राचीन[1]।

डा० तिवारी का यह कथन उपयुक्त है कि हिंदी शब्द अवश्य मुसलमानों की देन है। परंतु इस भाषा के लिये केवल हिंदी ही नही हिंदुई, हिंदवी, दक्खिनी हिंदी, हिंदोस्तानी, हिंदोस्थानी, खड़ी बोली, रेख़ता तथा उर्दू का प्रयोग कर दिया गया है। अतः कभी कभी बडी भ्रांति उत्पन्न हो जाती है। हिंदी, उर्दू और हिंदोस्तानी को लेकर जो विवाद एवं संघर्ष हमारे प्रात मे चला वह अब समाप्तप्राय है अतः हम उसका वर्णन करना केवल समय नष्ट करना समझते हैं। पं० चंद्रबली पाडेयजी ने अपनी पुस्तक 'उर्दू रहस्य' मे उर्दू की उत्पत्ति पर बड़ी मार्मिकता से विशद विवेचन किया है। दक्खिनी हिंदी अथवा दकनि हिंदी का विश्लेषण करने पर श्रीनामवर सिह का निष्कर्ष समीचीन है। वे कहते हैं—

इस प्रकार तथाकथित 'दक्खिनी हिंदी' की भाषासंबंधी पद्धतियों का विश्लेषण करने से पता चलता है कि उसमें अवधी, ब्रजभाषा और खड़ी बोली तथा राजस्थानी, पंजाबी आदि अनेक बोलियों का मिश्रण है। निस्संदेह उस भाषा की प्रवृत्ति मुख्यत. खडी बोली की ओर उन्मुख है, लेकिन उससे खड़ी बोली के आरंभिक अस्थिर तथा अव्यवस्थित रूप का ही पता चलता है[2]।

---

१. डा० उदयनारायण तिवारी—वही, पृष्ठ १८४।

२. श्रीनामवर सिंह—हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृष्ठ ६६।

हिंदुई, हिंदवी अथवा हिंदी—जायसी ने अपनी पद्मावत अवधी में लिखी है परंतु उन्होंने अपनी भाषा को अवधी न कहकर हिंदुई कहा है। यथा—

तुरकी अरबी, 'हिंदुई' भाषा जेती आहिं।
जेहि मह मारग प्रेम का सबै सराहैं ताहि॥

सैयद इंशा अल्ला द्वारा लिखित 'रानी केतकी की कहानी' की भाषा हिंदवी छुट है और इसमें किसी बोली का पुट नही है। वस्तुतः ये सभी शब्द भी सामान्य रूप से हिंदू मुसलमानों की संमिलित भाषा के लिये प्रचलित थे।

हिंदोस्तानी या हिंदुस्थानी की निरुक्ति और भी जटिल बन गई है। इस नाम को प्रचलित करने का श्रेय यूरोप के विद्वानों को है। पं० ललिताप्रसाद शुक्ल के अनुसार इस शब्द को जन्म देनेवाले भी तुर्क लोग ही थे। ग्रियर्सन ने हिंदुस्तानी, उर्दू तथा हिंदी के संबंध में लिखा है—

'हिंदुस्तानी मुख्य रूप से गंगा और ऊपरी दोआब की भाषा है। यह हिंदुस्तान के अंतःप्रादेशिक व्यवहार का माध्यम है। यह फारसी तथा देवनागरी दोनों लिपियों में लिखी जा सकती है तथा इसकी साहित्यिक शैली में अत्यधिक फारसी और संस्कृत शब्दों की उपेक्षा रहती है। तब उर्दू हिंदुस्तानी की वह शैली है जिसमे फारसी शब्द अधिक मात्रा मे प्रयुक्त होते हैं और जो फारसी लिपि में लिखी जा सकती है। इसी प्रकार हिंदी, हिंदुस्तानी की वह शैली है जिसमे सस्कृत शब्दों का प्राचुर्य रहता है तथा जो केवल देवनागरी लिपि मे लिखी

---

१. आचार्य शुक्ल—जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ ३४१।

जा सकती है।' आगे चलकर ग्रियर्सन साहिब ने जो वर्णन किया है उससे स्पष्ट हो जाता है कि वह सरल हिंदी के लिये ही हिंदुस्तानी प्रयुक्त करना चाहते थे।

हिंदू मुसलिम राजनीतिक चेतना के उद्बुद्ध होने पर अपने देश में हिंदी को एक और संघर्ष का सामना करना पड़ा। कचहरियों की लिपि फारसी चली आ रही थी अतः अंग्रेजी राज्य स्थापित होने पर भी कचहरियों मे फारसी लिपि का प्राधान्य रहा। व्यावहारिक दृष्टि से लोग उसे ही उर्दू मानते रहे। साहित्य संमेलन तथा नागरी प्रचारिणी सभा के प्रयत्न से नागरीलिपि का समावेश तो कचहरियों मे हुआ परंतु प्रचलन बहुत मंद गति से चलता रहा। अखिल भारतीय कांग्रेस का जन्म १८८५ ई० में हो चुका था परंतु बहुत दिनों तक इसकी कारवाई अंग्रेजी मे होती रही। सबसे प्रथम कानपुर अधिवेशन (१९२६ ई०) मे श्रीयुत माननीय टंडनजी ने अंग्रेजी के स्थान पर हिंदुस्तानी मे काररवाई होने का प्रस्ताव रखा। स्पष्टतः उस समय उनका अर्थ हिंदुस्तानी से हिंदी और उर्दू दोनो से ही था। परंतु कांग्रेस द्वारा अपनाए जाने पर यह शब्द एक अजीब और कृत्रिम भाषा हिंदुस्तानी के लिये चल पड़ा। धार्मिक भावनाओ ने उत्तरप्रदेश में इसके विरोध को और भी दृढ कर दिया। यद्यपि विरोध पुराना था और विदेशी शासकगण भी उसके साथ थे। मुसलमानों ने उर्दू के प्रश्न पर भारी आंदोलन उठाया और उसको (उर्दू को) इस प्रांत की भाषा सिद्ध करने का प्रयत्न किया। परंतु भारतीय विभाजन ने इस प्रश्न को समाप्त कर दिया। अब हिंदी उत्तरप्रदेश

---

१. ग्रियर्सन–लिंग्विस्टिक सर्वे आव इंडिया, खंड–९, भाग १, पृष्ठ ४७।

की भाषा स्वीकार कर ली गई है और संविधान द्वारा यह राष्ट्र-भाषा तथा केंद्र के राजकीय मामलों में काम आनेवाली अंग्रेजी के स्थान पर भी स्वीकार कर ली गई परंतु उसे व्यावहारिक रूप देने के प्रयत्न में नए संघर्ष चल पड़े हैं। यहाँ उन संघर्षों का वर्णन अनावश्यक है। आज हिंदी भाषा से तात्पर्य खड़ी बोली के विकसित रूप से है जिसकी मुख्यतः ब्रज और अवधी साहित्यक उपभाषाएँ हैं।

वस्तुतः बात यह है कि भारत के इतिहास में मध्यदेश का प्राधान्य रहा है। समयानुसार इसकी सीमा परिवर्तित होती रही है। अत्यंत प्राचीनकाल से हिमालय और विंध्याचल के बीच की भूमि आर्यावर्त के नाम से विख्यात रही है। इसी के बीच में वह मध्यदेश है जो भारतीय संस्कृति और सभ्यता का केंद्रविंदु रहा है। इस भाग मे भी गंगा यमुना के बीच का प्रांत अत्यधिक पवित्र माना गया है। भारतीय आर्यभाषाओं के मध्यकाल में शौरसेनी प्राकृत एवं अपभ्रंश का प्रभाव अन्य भाषाओं पर रहा है यह हम पहिले दिखा चुके है। आधुनिक भारतीय आर्यभाषा के विकास के समय पर ही नही अपितु अपने जन्मकाल के समय से ही आक्रमण करनेवालो का मुख्य स्थल बन जाने के कारण यह देश राजनीतिक उत्क्रांतियों का क्षेत्र रहा है। इस समय जो आक्रमणकारी थे वे अपनी एक विशिष्ट विचारधारा, भाषा, संस्कृति तथा धर्मोन्माद को लेकर आए थे। धर्मोन्माद के आवेश में यहाँ के साहित्य, कलाकेंद्रों तथा धार्मिक स्थलों को नष्टभ्रष्ट करना उनका मुख्य उद्देश्य बन गया था। उनकी इस ध्वंसात्मक मनोवृत्ति के दो परिणाम हुए। प्रथम तो भाषा का साहित्यिक विकास एक व्यापक भाषा के रूप में न होकर विभिन्न साहित्यिक बोलियों के रूप मे हुआ जिसके फलस्वरूप मध्यदेश के पश्चिम मे पिंगल तथा डिंगल,

मध्य में व्रजभाषा, खड़ी बोली और पूर्व में अवधी (कोशली) तथा मैथिली साहित्यिक बोलियों का विकास हुआ। इन साहित्यिक बोलियों की अनेक उपबोलियाँ हैं। यह अपभ्रंश के परवर्ती रूप का एक सर्वमान्य भाषा के रूप में प्रचार था जो गुजरात से लेकर बंगाल तथा पंजाब से लेकर मान्यखेट तक बोली जाती थी। यह सर्वसाधारण की भाषा थी अतः इसका व्यापक होना स्वाभाविक था, इसलिये पूर्व में सिद्धों ने अपनी रचनाएँ इसी भाषा में लिखी और पश्चिम मे जैन मुनियों ने भी इसे अपनाया। विद्यापति तथा अब्दुल रहमान ने इसे अवहट्ठ[1] कहा है और इसमे रचना की है। 'ढोला मारूरा दूहा' के संपादक वर्ग भी हमारे मत से सहमत है। वे लिखते हैं —

'अपभ्रंश से वर्तमान देशभाषाओं का जन्म हुआ। पर यह विकास आकस्मिक नहीं किंतु शताब्दियों का काम था। ये भाषाएँ आरंभ मे अपभ्रंश से बहुत कुछ प्रभावित रहीं और अंत में देशभेद से भिन्न भिन्न रूपो में विकसित हुईं। इनके स्पष्ट विकास के पूर्व का जो परिवर्तनकाल है उसकी भाषा को हमने लोकभाषा का नाम दिया है। आधुनिक देश-भाषाओं के पूर्व यह लोकभाषा थोडे बहुत अंतर के साथ समस्त उत्तरी भारत की भाषा थी। बाद मे पारस्परिक व्यवहार टूट जाने के कारण यह अंतर विभिन्न भागों में बढ़ता गया और इस प्रकार हिंदी, राजस्थानी, गुजराती आदि देश-भाषाओ का जन्म हुआ।'[2] यह वही लोकभाषा है जिसे हमने संक्रांतिकालीन भाषा कहा है और पंडित चंद्रधर शर्मा

---

१. अब्दुल रहमान—संदेश रासक, १—६, पृष्ठ ३।
२. ढोला मारूरा दूहा—प्रस्तावना, पृष्ठ १४६।

गुलेरी[1] तथा महापंडित राहुलजी ने पुरानी हिंदी माना है। पंडित गुलेरीजी ने 'पुरानी हिंदी' नाम बहुत ही सोच समझ कर रखा है। उनके विचारानुसार पुरानी गुजराती, पुरानी राजस्थानी, आदि नाम कृत्रिम हैं और वर्तमान भेदों पर प्राचीनता की छाप लगाने के लिये किए गए हैं।[3] भेद बुद्धि दृढ करने के अतिरिक्त इनका कोई फल नहीं। परंतु श्रीमोहनलाल दुलीचंद देसाई इस प्राचीन भाषा को 'जूनी-हिंदी–जूनी गुजराती' मानते हैं। साथ ही गुजरात के कुछ विद्वान् इस भाषा को केवल जूनी गुजराती मानते हैं। सर्वश्री पं० सूर्यकरण पारीक, पं० नरोत्तम स्वामी और ठाकुर रामसिंह इसको जूनी गुजराती न मानकर 'उत्तरकालीन अपभ्रंश' मानते हैं।[4] इन सबके विपरीत डा० तेस्सितोरी ने इसको प्राचीन राजस्थानी ही माना है और उसके पश्चिमी रूप (प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी) से १६वी सदी में गुजराती की उत्पत्ति मानी है।[5] स्वयं डाक्टर चटर्जी भी इसे राजस्थानी ही मानते हैं क्योंकि हेमचंद्र कृत प्राकृत व्याकरण के कुछ दोहों का प्रचार

---

१. क–पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी–पुरानी हिंदी; पृष्ठ १२।
   ख–शिवप्रसादसिंह–नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५८, अंक ४, पृ० ४५१।

२. राहुलजी–काव्यधारा, भूमिका, पृष्ठ ५-६।

३. पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी–पुरानी हिंदी पृष्ठ १२।

४. उत्तरकालीन अपभ्रंश को ही आगे चलकर इन्हीं विद्वानों ने लोकभाषा का नाम दिया है। देखो—ढोला मारू रा दोहा, भूमिका, पृष्ठ १४०–१४६।

५. पुरुषोत्तमलाल मेनारिया–राजस्थानी भाषा की रूपरेखा और मान्यता के प्रश्न, पृष्ठ १२।

परिवर्तित रूप में आधुनिक राजस्थानी मे उन्हें प्राप्त हुआ है हिंदी और गुजराती मे नही।[1] आगे चलकर पुनः मेनारिया महोदय लिखते हैं—'प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी अपने समय की प्रधान साहित्यिक भाषा मानी गई है। साहित्यिक भाषा के रूप में प्राचीन राजस्थानी का प्रसार न केवल समस्त राजस्थान, गुजरात मे था वरन् सिंध, पंजाब और कबीर की रचनाओं से प्रमाणित है कि पूर्व काशी तक था।'[2] यही नहीं मेनारिया महोदय ने प्राचीन राजस्थानी के उदाहरण मे अन्य उदाहरणों के साथ संदेशरासक के पद्य ८१ तथा १०८ दिए हैं। जिससे यही स्पष्ट है कि राजस्थानी का प्राचीन रूप कम से कम काशी तक समस्त उत्तर भारत मे प्रचलित था। इस काल के साहित्य मे कविगण अन्य प्रांतीय बोलियो के शब्द-प्रयोग के प्रति अनुदार न थे। स्वयं कबीर की इस प्रवृत्ति के कारण तथा भाषा के अव्यवस्थित रूप के कारण उनकी भाषा को आचार्य शुक्ल ने सधुक्कड़ी भाषा कह डाला है[3] जिसमें राजस्थानी एव पंजाबी का मिश्रण है। राजस्थानी का यह रूप गुलेरीजी के अनुसार पुरानी हिंदी ही था और परवर्ती अपभ्रंश ही लोकभाषा अथवा अवहट्ट के नाम से प्रसिद्ध हुई और यही अपने परवर्ती रूप मे पुरानी हिंदी के नाम से पुकारी गई।[4] ये नामकरण आधुनिक विद्वानों की देन है। वस्तुतः शौरसेनी अपभ्रंश का प्रभाव अपने मध्यकाल में बड़ा व्यापक रहा है। प्रत्येक शिष्ट व्यक्ति, कवि, प्रचारक, सिद्ध या साधु

---

१. श्रीमेनारिया—राजस्थानी भाषा की रूपरेखा और मान्यता के प्रश्न, पृष्ठ १३।
२. वही—पृष्ठ १४।
३. आचार्य शुक्ल—हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६२।
४. बद्रीनाथ भट्ट—हिंदी, पृष्ठ २०।

इसी भाषा के माध्यम से अपने विचारों को व्यक्त करता था। बंगाल के सिद्धों की रचनाओं में शौरसेनी अपभ्रंश की विशेषताओं की प्राप्ति यही बात स्पष्ट करती है[1]। वर्णरत्नाकर तथा कीर्तिलता में भी क्षेत्रीय भेद के साथ इसी भाषा के दर्शन होते हैं। राजपूताने में राजनीतिक कारणों द्वारा यह भाषा राजदरबारों में राजाश्रय प्राप्त करने में समर्थ हो गई। भाट अथवा चारणों ने राजस्तुतिपरक चरितकाव्य इसी में लिखे, जिन्हें भ्रांतिवश वीरगाथाएँ मान लिया गया है। हाँ, जिसे हम हिंदी का आदिकाल कहते हैं उसमें इसी भाषा में साहित्य का निर्माण हुआ। हमारे विचार से पुरानी हिंदी, पुरानी गुजराती, लोकभाषा, अवहट्ट आदि सब नाम उसी भाषा की ओर संकेत करते हैं जो क्षेत्रीय भेदों के साथ समस्त उत्तरी भारत में साहित्यिक राष्ट्रभाषा के रूप में ग्रहण की जाती थी। भारत के अन्यान्य प्रांतों में भी भाटों को यह भाषा सीखनी पड़ती थी और इसी में काव्यरचना करनी पड़ती थी[2]। पश्चिमी विद्वान् तेस्सितोरी के अनुकरण पर इसे राजस्थानी कहना उचित नहीं। पुरानी हिंदी कहने में आजकल के राजनीतिक विषाक्त वातावरण में मनुष्यों को संकोच होता है। हिंदी की दूसरी बोली मैथिली भी विकासोन्मुख थी जिसका लोकनिष्ठित रूप विद्यापति की पदावली में प्राप्त होता है। परतु राजनीतिक परिस्थिति तथा संस्कृत के प्राधान्य ने उसके विकास मे वाधा डाल दी और वह राजस्थानी से पिछड़ गई। आधुनिक युग में वह पुनः प्रयत्नशील है और सभवतः आगामी बीस

---

१. डा० चटर्जी—ओरिजन एंड डेवेलपमेंट आव् बंगाली लैंग्वेज, पृष्ठ ११२-१३।

२. शिवप्रसाद सिंह—कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, पृष्ठ २३।

वर्षों में उसकी मान्यता का प्रश्न भी विद्वानों द्वारा रखा जा सकेगा।

दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि गुजरात और राजपूताना, मिथिला तथा बंगाल को छोड़कर समस्त मध्य देश मे ऐसी सामग्री का अत्यत अभाव है जिसके आधार पर हम भाषाविषयक कोई निर्णय कर सके। यह बात सहसा समझने मे नही आती कि जिस समय पूर्व और पश्चिम के कविगण संदेशरासक तथा वर्णरत्नाकर अथवा कीर्तिलता लिख रहे हों, उस समय मध्यप्रदेश में कोई कवि या लेखक ही उत्पन्न नही हुआ। आधुनिक विद्वानों की खोज ने केवल उक्तिव्यक्ति प्रकरण को प्रकाशित किया है। उसके प्रकाशन से यह लाभ अवश्य हुआ कि हमारे साहित्य के नष्ट होनेवाले अनुमान की संपुष्टि हुई।[1] गुलेरीजी के जीवनकाल मे अपभ्रंश साहित्य का इतना प्रकाशन नही हुआ था तथापि यह नही कहा जा सकता कि उन्हें अपभ्रंश साहित्य से अनभिज्ञता थी अथवा उनके समय मे इस विषय की चर्चा नही हुई थी। गुलेरीजी के प्रबंध मे कई ऐसी रचनाओं की चर्चा नही मिलती जिनका प्रकाशन उनके समय मे हो चुका था। संभवतः उनको समय नही मिला और वे अपने प्रबंध को आगे न बढ़ा सके। सब कुछ बीच ही में छोड़कर उन्हें चल देना पड़ा।[2] अतः उनका यह प्रयत्न कि उन्होंने हिंदी के चिह्न पश्चिमी अपभ्रंश मे ही देखे अथवा उन्होंने पश्चिमी अपभ्रंश को ही पुरानी हिंदी कहा, अनुचित नही माना जा सकता।

१. पं० दामोदर—उक्तिव्यक्ति प्रकरण की भूमिका, पृष्ठ ७४।
२. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिंदी साहित्य का आदिकाल, पृष्ठ ३।

उन्होंने कम से कम इस बात का श्रीगणेश किया कि हिंदी का आदि रूप परवर्ती अपभ्रंश ही था।

हिंदी साहित्य के प्रसिद्ध इतिहासलेखक आचार्य रामचद्र शुक्ल ने भी गुलेरीजी के अध्ययनों का उपयोग तो किया परंतु उन्होंने उन रचनाओं की ओर ध्यान नहीं दिया जो गुलेरीजी की दृष्टि से छूट गई थीं। आचार्यजी ने प्राकृत की अंतिम अवस्था से ही हिंदी साहित्य का आविर्भाव माना जा सकना स्वीकार किया है।[1] परंतु उन्होंने अपभ्रंश काव्य परंपराओं का वह विवेचन प्रस्तुत नहीं किया जिनका विकास हिंदी के तीनों कालों में प्रत्यक्ष होता है और जिनको विना समझे बहुत सी बातें हिंदी साहित्य में असंगत अथवा भ्रांतिपूर्ण हो जाती हैं। विशेषतः हिंदी साहित्य का आदिकाल का वर्णन अत्यंत अपूर्ण हो जाता है। क्या भाषा, क्या साहित्य दोनों के विकास की गुत्थियाँ स्पष्ट नहीं हो पाती। दूसरी बात यह है कि आचार्य शुक्ल ने अपने हिंदी साहित्य का इतिहास के संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण मे 'आदिकाल के भीतर वज्रयानी सिद्धों और नाथपंथी योगियों की परंपराओं को कुछ विस्तार से दिखाने का प्रयत्न तो किया परंतु उनको साहित्य कोटि में नही माना[2], और न तो योगधारा को काव्य या साहित्य की कोई धारा ही माना। इसी बात को स्पष्ट करते हुए उन्होंने आगे लिखा है 'सिद्धों का और योगियों का इतना वर्णन करके हम

---

१. आचार्य रामचंद्र शुक्ल—हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ३।
२. वही—दो बातें, पृष्ठ १।

इस बात की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक समझते हैं कि उनकी रचनाएँ तांत्रिकविधान, योगसाधना, आत्म-निग्रह, श्वासनिरोध, भीतरी चक्रों और नाड़ियों कीं साधना के महत्व शिक्षामात्र हैं, जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों और दशाओं से उनका कोई संबंध नहीं। अतः वे शुद्ध साहित्य के अंतर्गत नही आती।'[1]

आचार्य शुक्ल द्वारा अपनाई गई परंपरा का ही पालन उनके अनुवर्ती अन्य इतिहासलेखकों ने किया। डा० रामकुमार वर्मा ने अपभ्रंश रचनाओं को अपनाया और अपभ्रंश से निकलनेवाली सिद्ध और जैन कवियों की भाषा मे हिंदी के प्रारंभिक रूप की छाप देखकर उसे अपने आलोच-नात्मक इतिहास में स्थान दिया। वस्तुतः श्रीगुलेरीजी के बाद आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपभ्रंश साहित्य की महत्ता को उद्घोषित किया। आपने हिंदी साहित्य की भूमिका मे अपभ्रंश को लोकप्रचलित भाषा स्वीकार किया जो अनेक कालों मे और अनेक स्थानों पर अनेक रूपों मे बोली जाती थी। आपने आगे चलकर 'हिंदी साहित्य' (१९५२) में अपभ्रंश को हिंदी का रूप मूल माना। महापंडित राहुलजी का प्रयत्न भी स्तुत्य है कि उन्होंने १९४५ ई० मे काव्यधारा नामक संग्रह प्रकाशित किया जिसमे आठवी शती से लेकर तेरहवीं शती तक की अनेक अप्राप्य रचनाओ को प्रकाशित किया गया। संग्रह के प्रारभ में एक सुविस्तृत भूमिका भी दी गई है। राहुलजी ने हिंदी साहित्य के आदिकाल को 'सिद्ध सामंत युग' कहकर पुकारा है। स्पष्ट शब्दो में सिद्धों की कविता को साहित्य की कोटि मे स्वीकार किया है। बड़े सजीव शब्दों

---

१. आचार्य रामचंद्र शुक्ल—हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २४।

में उन्होंने इन कवियों की ओर ध्यान आकर्षित किया है। उनका कथन है—

अपभ्रंश के कवियों को विस्मरण करना हमारे लिये हानि की वस्तु है। यही कवि हिंदी काव्यधारा के आदि स्रष्टा थे। वे अश्वघोष, भास, कालिदास और बाण की सिर्फ जूठी पत्तलें नही चाटते रहे, बल्कि उन्होंने एक योग्य पुत्र की तरह हमारे काव्यक्षेत्र में नया सृजन किया है; नए चमत्कार, नए भाव पैदा किए, यह स्वयंभू आदि की कविताओं से अच्छी तरह से मालूम हो जाएगा। नए नए छंदों की सृष्टि करना तो इनका अद्भुत कृतित्व है। दोहा, सोरठा, चौपाई, छप्पय आदि कई सौ ऐसे नए नए छदों की उन्होंने सृष्टि की, जिन्हें हिंदी कवियों ने बराबर अपनाया है, यद्यपि सबको नहीं। हमारे विद्यापति, कबीर, सूर, जायसी और तुलसी के ये ही उज्जीवक और प्रथम प्रेरक रहे हैं। उन्हें छोड़ देने से वीच के काल में हमारी बहुत हानि हुई और आज भी उसकी संभावना है[1]।

आचार्य शुक्ल ने आदिकाल की प्रवृत्तियों के मूल्यांकन के लिये अपभ्रंश और देशभाषा काव्य की केवल १२ पुस्तकें विवेचना योग्य समझीं। इनके नाम यह है—(१) विजयपाल रासो, (२) हम्मीररासो, (३) कीर्तिलता, (४) कीर्तिपताका। देशभाषा काव्य को आठ पुस्तकें ली है। उनके नाम ये हैं–(५) खुमान रासो, ६) बीसलदेव रासो (७) पृथ्वीराज रासो, (८) जयचंद प्रकाश, (९) परमाल रासो (आल्हा का मूल रूप), (१०) परमाल रासो, (११) खुसरो को पहेलियाँ आदि, (१२) विद्यापति की पदावली[2]।

---

१. राहुलजी–हिंदी काव्यधारा, अवतरणिका, पृष्ट १२-१३।

२. आचार्य रामचद्र शुक्ल–हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ट ४-५.

आचार्य शुक्ल ने मिश्रबंधुओं द्वारा दी हुई सूची को अस्वीकार कर दिया क्योंकि उसमे जैनधर्मतत्व निरूपण से संबंधित पुस्तकें थी। अतः वे शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आती। इस प्रकार आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने आदिकाल के एक बहुत समृद्ध और परिपुष्ट भाग को अविवेच्य कह दिया। इधर हाल की खोजों से पता चला है कि जिस सामग्री को शुक्लजी ने प्रामाणिक माना है और जिनके आधार पर इस काल की प्रवृत्तियों का विवेचन किया है उनमे से कई तो पीछे की रचनाएं हैं और कुछ केवल नोटिस मात्र है। उनके मूल रूप के विषय मे कुछ नही कहा जा सकता। शुक्लजी की सूची मे केवल 'कीर्तिलता' एक ऐसी पुस्तक है जिसकी प्रामाणिकता सिद्ध हो चुकी है। पृथ्वीराज रासो के विषय में हम गत अध्याय मे प्रकाश डाल चुके है। अन्य रासो ग्रंथों के विषय मे भारी संदेह है। अतः इन काव्यों के आधार पर आदिकाल की प्रवृत्तियो को वीरगाथात्मक प्रवृत्ति मानना युक्तिसंगत प्रतीत नही होता[1]। पं० मोतीलाल मेनारिया के शब्द इस विषय मे विशेष द्रष्टव्य है। वे लिखते है—

'इन ग्रंथों को प्राचीन बतलाते समय एक दलील यह दी जाती है कि इनके रचयिताओं ने इनमे सर्वत्र वर्तमान काल की क्रियाओं का प्रयोग किया है, और इससे इनका अपने चरित्रनायको का समकालीन होना सिद्ध होता है। परंतु यह भी एक भ्रांति है। यह कोई आवश्यक बात नही कि वर्तमान-कालिक क्रिया का प्रयोग करनेवाले कवि सम सामयिक ही हो। यह तो काव्यरचना की एक शैली मात्र है। काव्य मे वर्णित घटनाओं को सत्य का रूप देने के लिये कवि प्रायः ऐसा

---

१. श्रीलक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ७।

किया करते हैं । अनेक ऐसे ग्रंथ हैं, जिनके कर्ता समकालीन न थे, पर जिन्होंने वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग किया है। राजस्थान में चारण भाट अब भी जब प्राचीन काल के वीर पुरुषों पर ग्रंथ तथा स्फुट गीत आदि लिखते हैं तो वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग करते हैं। बाहरट केसरीसिंह कृत 'प्रताप चरित्र' इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है जो संवत् १९६२ में लिखा गया है ।' आगे चलकर इन ग्रंथों के आधार पर वीरगाथा काल की उपयुक्तता पर वे लिखते हैं 'इसके अतिरिक्त ये रासो ग्रंथ जिनको वीरगाथाएँ नाम दिया गया है और जिनके आधार पर वीरगाथा काल की कल्पना की गई है, राजस्थान के किसी समयविशेष की प्रवृत्ति सूचित नही करते। केवल चारण, भाट आदि कुछ वर्ग के लोगों की जन्मजात मनोवृत्ति प्रकट करते हैं। प्रभुभक्ति का भाव इन जातियों के खून में है और वे ग्रथ उस भावना की अभिव्यक्ति हैं। यदि इन रचनाओं के आधार पर कोई निर्णय किया जाय तब तो वीरगाथा काल राजस्थान में आज भी ज्यों का त्यों बना है। क्योंकि राजाओं, महाराजाओं अथवा उनके पूर्वजों की कीर्ति लिखने का काम ये लोग आज भी उसी उत्साह के साथ कर रहे हैं, जिस उत्साह से पहिले किया करते थे। परंतु राजस्थान के वातावरण तथा इन जातियों से अपरिचित लोगों का यह समझ लेना कुछ कठिन है।'[1]

महापंडित राहुलजी ने अपनी काव्यधारा मे जिन कवियों की कविताएँ दी हैं उनकी समयानुसार नामावली इस प्रकार है—

---

१. पं० मोतीलाल मेनारिया—राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृष्ठ ८१ ।

आठवींशती	नवीं	दशवी	ग्यारहवीं	बारहवीं	तेरहवीं
सरहपा	लुईपा	देवसेन	अज्ञात कवि	हेमचंद्र सूरि	लक्खण
सवरपा	विरूपा	तिलोपा	अब्दुर्रहमान	हरिभद्र सूरि	लज्जल
स्वयंभू	डोंविपा	पुष्पदंत	बब्बर	अज्ञात कवि	कुछ अज्ञात
भूसुकपा	दारिकपा	शांतिपा	कनकामर	आम भट्ट	हरिपद्म
	गुंडरीपा	योगींदु	जिनदत्त सूरि	विद्याधर	अंबदेवसूरि
	कुक्करीपा	रामसिह		शालिभद्रसूरि	अज्ञात कवि
	कामरिपा	धनपाल		सोमप्रभ	राजशेखर
	कण्हपा			जिनपद्म सूरि	
	गोरखनाथ			चंदबरदाई	
	टेंगणपा			(दामोदर)	
	महीपा				
	भादेपा				
	धामपा				

(नोट—अज्ञात कवियों की रचना प्राकृत पैंगलम् में उपलब्ध होती है। राहुलजी ने अपनी काव्यधारा का क्षेत्र १३वी शती तक ही रखा है। अत. मेरुतुंग, अमीर खुसरो, ज्योतिरीश्वर आदि आदि की गणना नही की गई।)

हम पहिले कह चुके हैं कि परवर्ती काल मे अपभ्रंश अथवा अवहट्ठ अथवा लोकभाषा तथा उसके साहित्य का सार्वभ भारतीय (उत्तर भारतीय) महत्व रखता था। एक ओर वह हिंदी (पुरानी) की ओर झुकता था तो दूसरी ओर वह राजस्थानी अथवा गुजराती की ओर। यदि उस साहित्य की गणना कर ली जाय तो हमारी संख्या में पर्याप्त अभिवृद्धि हो जाती है। श्रीमोतीलाल मेनारिया ने भी यह स्वीकार किया है कि प्रारंभ में साहित्यसृजन मे जैन मतावलंबियों का विशेष हाथ रहा है। लगभग पचास जैन साहित्यकारों

के नाम उपलब्ध होते हैं कुछ महत्वपूर्ण नाम इस प्रकार हैं[1]—

धनपाल (सं० १०८१), जिनवल्लभ सूरि (सं० ११६७), पल्ह (सं० ११७०), धादिदेव सूरि (सं० ११८४), वज्रसेन सूरि (सं० १२२५), शालिभद्र सूरि (सं० १२४१), नेमिचंद्र भंडारी (सं० १२५६), आसगु (सं० १२५७), धर्म (सं० १२६६), शाह रयण और भत्तउ (सं० १२७८), विजयसेन सूरी(सं० १२८८), राम (सं०१२८९), सुमति मणि (सं० १२९०), जिनेश्वर सूरि (१२७८-१३३१), अभय तिलक (सं० १३०७), लक्ष्मीतिलक (सं० १३११-१७), सोममूर्ति (सं० १२६०-१३३१), जिनपद्म सूरि (सं० १३०९–२२), विनयचंद्र सूरि (सं० १३२५-५३), आदि आदि।

इन कवियों की रचना अपभ्रंश मे है। कुछ कवियो की रचना में साहित्यिक सौष्ठव नहीं मिलता परंतु भाषा के विकास की दृष्टि से वे अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। इन रचनाओं के विषय में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि यह सब प्रामाणिक हैं। इनके कर्त्ता एव काल मे बहुत कम विवाद है। धर्म की छाप लग जाने से ये सभी अपना अस्तित्व जैन भंडारो में अक्षुण्ण बनाए रख सकी हैं। परतु सभी साहित्य धार्मिक होने के नाते त्याज्य नही कहा जा सकता। हाँ जिसमे केवल सिद्धांत प्रतिपादन अथवा वर्णन हो उसकी बात अवश्य ठीक है। इन जैन रचनाओं मे बहुत से ग्रंथ चरिउ, कहा, पुराण तथा रास हैं जिनके काव्योपम गुणों का वर्णन हम परिचय में दे चुके है। इनका साहित्य से निकालना अत्यंत अनुचित है। जैन साहित्यकारो ने धर्म से प्रेरणा

---

१. पं० मोतीलाल मेनारिया—राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृष्ठ ७८।

अवश्य ग्रहण की है परंतु साहित्यिक सौष्ठव को भी हाथ से नही जाने दिया। संभवतः आचार्य शुक्लजी को इन ग्रंथ-रत्नों के अध्ययन का पर्याप्त अवकाश न मिला हो, अन्यथा, शुक्लजी जैसे व्यापक दृष्टिवाले विद्वान् के लिये इनकी इतनी उपेक्षा असंभव थी।

अस्तु, आधुनिक खोज तथा शोधप्रयत्नों ने हिंदी साहित्य के आदिकाल की जो विपुल सामग्री उपस्थित कर दी है उसके आधार पर प्राचीन मान्यताएँ ठीक नही उतरतीं। काव्य विषयक मान्यताओं में भी परिवर्तन आता जा रहा है। अभी तक जो सामग्री उपलब्ध है उससे यह भी पता चलता है कि अभी जैन भंडारों मे और भी अप्रकाशित साहित्य है। अतः अभी आदिकाल के विषय मे निश्चयात्मक निर्णय करना कठिन है।

उपलब्ध सामग्री का वर्गीकरण हम इस प्रकार कर सकते है—

(१) पश्चिमी साहित्य—इसमे जैन मुनियों की रचनाएँ तथा राजस्थानी रचनाओ समावेश किया जा सकता है। ये रचनाएँ दो रूप मे प्राप्त होती हैं—

(क) जैन रचनाएँ—पुराण, महापुराण, कथा (और कहा), रास, चर्चरी तथा फाग आदि के रूप में जिन्हे हम धार्मिक साहित्य भी कह सकते है।

(ख) अजैन अथवा धर्मनिरपेक्ष साहित्य जिसमें मुख्यत. राजस्तुतिपरक साहित्य तथा शुद्ध शृंगारसंबंधी मुक्तक है। मुक्तक दोहों के रूप

में यत्र तत्र उपलब्ध होते हैं। गेय काव्य के अंतर्गत हमें केवल संदेश रासक प्राप्त होता है।

(२) मध्यदेशीय साहित्य—जैसा पहिले हम कह चुके हैं यहाँ का साहित्य बहुत कम प्राप्त है, केवल अभी तक उक्तिव्यक्ति प्रकरण नामक पुस्तक प्रकाशित हो सकी है। परंतु इसके अर्थ यह नही हैं कि यहाँ साहित्य ही नही रचा गया। उक्तिव्यक्ति प्रकरण के आधार पर यह बात स्वीकृत नही की जा सकती[1]।

(३) पूर्वी साहित्य—इसमें चर्यापद तथा बौद्ध गान और दूहा हैं। विद्यापति की कीर्तिलता और 'कीर्तिपताका' अपभ्रंश में है। ज्योतिरीश्वर का वर्णरत्नाकर भी अपने विषय का महत्वपूर्ण ग्रंथ है। अंतिम काल की कथ्यभाषा का रूप विद्यापति कृत पदावली में सुरक्षित है। यह शुद्ध 'देसिल बयना सबजन मिट्ठा' है। विद्यापति की कीर्तिलता, चर्यापद, दोहाकोश तथा संदेशरासक आदि की भाषा मे क्षेत्रीय भेदों को छोड़कर एक अपूर्व साम्य मिलता है परंतु पदावली की भाषा और कथ्य राजस्थानी में पर्याप्त अंतर है। कारण स्पष्ट है। मध्ययुग में राजनीतिक इकाइयों मे पारस्परिक संपर्क हट जाने के कारण अतर बढ़ता गया और क्षेत्रीय विशेषताएँ अधिक प्रस्फुटित होती गईं। पदावली की भाषा में तो संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग है जो मिथिला के संस्कृत प्रेम का द्योतक है जिसके विषय पर हम 'पदावली' की भाषा पर विचार करते समय अपने विचार प्रकट करेगे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हिंदी का आदिकाल पुरानी हिंदी अथवा अपभ्रंश साहित्य से ही समृद्ध है। इस काल की

---

१. प० दामोदर—उक्तिव्यक्ति प्रकरण की भूमिका, पृष्ठ ७४।

प्रवृत्तियों को तथा मुख्य मुख्य भावधाराओं को समझने के लिये इस समस्त साहित्य का अध्ययन परमावश्यक है। परंतु अधिकतर विद्वानों ने अपभ्रंश साहित्य को स्थान तो दिया है परंतु उसकी प्रवृत्तियों का अध्ययन नही किया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कुछ अप्रामाणिक सामग्री के आधार पर आदिकाल को वीरगाथा काल कह दिया तो उसी को डा० श्यामसुदरदासजी ने अपना लिया। डा० रामकुमार वर्मा ने उसे चारण काल कहा। केवल आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सबसे प्रथम अपभ्रंश साहित्य को हिंदी साहित्य का मूल रूप समझा है। उनकी दृष्टि मे 'हिंदी साहित्य में (अपभ्रंश की) प्रायः पूरी परंपराएँ ज्यो की त्यों सुरक्षित हैं। शायद ही किसी प्रांतीय साहित्य में ये सारी विशेपताएँ अपनी मात्रा मे और इस रूप में सुरक्षित हों। यह सब देखकर यदि हिंदी को अपभ्रंश साहित्य से अभिन्न समझा जाता है तो इसे वहुत अनुचित नही कहा जा सकता। इन ऊपरी साहित्य रूपों को छोड़ भी दिया जाय तो इस साहित्य की प्राणधारा निरवच्छिन्न रूप से परवर्ती हिंदी साहित्य में प्रवाहित होती रही है।[1]

गत अध्यायों के विवेचन से अपभ्रंश साहित्य के विभिन्न रूप एव साहित्यिक परंपराओं का परिचय मिल चुका है। अब यहाँ यह देखना है कि उन रूपों तथा परपराओं ने हिंदी के आगामी काल के काव्य रूप तथा परंपराओं को किस प्रकार प्रभावित किया। क्योकि आदिकाल में तो दोनों की रचनाएँ समानांतर रूप से चलती रही। अतः आदिकाल मे प्रभावित होना स्वाभाविक ही था।

---

१. श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिंदी साहित्य, पृष्ठ १५।

'अपभ्रंश' काव्यधारा का प्रभाव हम हिंदी साहित्य पर तीन रूप में देखते हैं--(१) भावधाराओं पर, (२) काव्य-रूपों पर तथा (३) प्रतिनिधि कवियों की रचनाओं पर।

१ – **भावधारा—**यदि हम आधुनिक युग के प्रारंभ होने से पहिले समस्त हिंदी साहित्य पर विहंगम दृष्टि डालें तो हमें (१) डिंगल कवियों की वीरगाथाएँ (२) शुद्ध शृंगार संबंधी मुक्तक तथा गेय पद, (३) प्रेमाख्यानक, (४) निर्गुण संतों के उद्गार, (५) सूफियों के प्रेमाख्यानक, (६) रागानुगा तथा वैधी भक्तिमार्ग के कवियों की कविताएँ तथा (७) ऐहिकतापरक हिंदू कवियों की रोमांस तथा रीति-बद्ध एवं रीतिमुक्त कविताओं का बाहुल्य मिलेगा। इन्हीं प्रवृत्तियों के आधार पर विद्वानों ने हिंदी साहित्य के कालों की मुख्य मुख्य प्रवृत्तियों की गणना की है। यदि विवेक-पूर्ण दृष्टि से देखा जाय तो अपभ्रंश ने विभिन्न प्रकार की दो चीजें हिंदी साहित्य को प्रदान की है—(१) पश्चिमी अपभ्रंश ने राजस्तुति और ऐहिकतामूलक शृंगारी काव्य, नीतिविषयक फुटकल रचनाएँ और लोकप्रचलित कथानक और (२) पूर्वी अपभ्रंश ने निर्गुणिया संतों की शास्त्रनिरपेक्ष उग्र विचारधारा, झाड़ फटकार, अक्खड़पन, सहज शून्य साधना, योगपद्धति और भक्तिमूलक रचनाएँ।[1] पूर्वी सिद्धों ने अपनी सहज शून्य साधना को योगपद्धति के शब्द जाल में छिपाकर प्रचलित किया जिसके कारण नाना प्रकार के प्रतीक स्वीकृत हुए और रहस्यमय विचारधारा प्रकट हो चली। सिद्धों की पद्धति में स्त्री का सहवास आवश्यक था। अतः आगे चलकर

१. श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिंदी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ २९।

यह धारा पंचमकारसेवी बन गई और भैरवानंद के शब्दों में—न मंत्र है न तंत्र न ज्ञान, न ध्यान, मद्य पीना तथा अवाध रूप से रमणियों के साथ रमण करना और मोक्ष प्राप्त करना यही कुलाचार है।[1] क्योंकि 'मोक्खों समं सुरअकेलि सुरा रसेहि'[2] अर्थात् सुरापान और सुरत मोक्ष के समान हैं। इसी प्रकार नयचंद्र सूरि कहते हैं—

झाणेण निव्वुइपयं जइ निच्चलेण
ता तन्न अत्थि सुरएवि कहिंपि दूरे।
कामीण जं रइरसेसु हविज्ज झाणं
जोईसराण न हु तं सिविणेवि मन्ने[3] ॥

अर्थात् यदि निश्चल ध्यान से ही मोक्ष पद मिलता है तो यह निवृत्ति पद (मोक्ष पद) सुरत संभोग में भी दुर्लभ नहीं। क्योंकि कामियों का जो निश्चल ध्यान सुरत सभोग में होता है वह योगीश्वरों का स्वप्न में भी नहीं होता।

अस्तु इस प्रकार की पृष्ठभूमि ने आगे चलकर निर्गुणिया संतों को और भी उग्र कर दिया। उन्होने इस सुरत-केलि के आधार स्वरूप नारी की घोर निंदा की। भक्तिकाल की जो प्रमुख धारा है उसमे इन दोनों विरोधी धाराओं का अपूर्व समन्वय है। रागानुगा भक्ति मे नारी-सौंदर्य है, नखशिख है, सुरतकेलि है, परंतु वे सब हैं प्रतीकात्मक। वहाँ केवल लीला ही कैवल्य है। राधिका एवं कृष्ण के आविष्कार ने भक्तिकालीन साहित्य को

---

१. राजशेखर—कर्पूर मंजरी, पृष्ठ ३५।
२. वही—पृष्ठ ३६।
३. नयचंद्र सूरि—रंभामंजरी, पृष्ठ ३।

एक अतींद्रिय जगत् में रख दिया जहाँ मनुष्य की स्वाभाविक वासनाओं की तृप्ति होते हुए भी इंद्रियसंसर्ग नहीं होता। समस्त वासनाओं का आधार अथवा विषय देवपरक मान लिए गए। अतः वे कल्याणकारी ही कल्पित किए गए। पश्चिमी आर्यों की रूढ़िप्रियता, कर्तव्यनिष्ठा के साथ पूर्वी आर्यों की भावप्रवणता को भक्तिकाल में मणिकाँचन सयोग प्राप्त हुआ। वैधी भक्ति की मुख्य प्राणधारा, आचारप्रवणता, परमात्मा की शक्ति में अनन्य विश्वास तथा श्रद्धा का अपूर्व साम्राज्य लेकर चली है जिसमे एक प्रकार के सम्यक् ज्ञान की आवश्यकता बनी रहती है।

पश्चिमी जैन साहित्य में कर्मफल की विवशता के साथ साथ श्रृगार को निवृत्तिमूलक के रूप में अपनाया गया है। जैनागमों, चरितों, पुराणों ने तथा कहाओं ने श्रृंगार को अपनाया है और खूब अपनाया है, परंतु अंत में वह शांत रस में परिवर्तित हो गया है। समस्त मानवीय वृत्तियों को निवृत्ति की ओर मोड़ा गया है। भक्तिकाल की श्रृंगारपरंपरा का ही श्रद्धाविहीन विकास हमें रीतिकाल में प्राप्त होता है। रीतिकाल की कविता मे राजस्तुति एवं ऐहिकतामूलक श्रृंगारी भावनाओं का अपूर्व समन्वय है। वहाँ कवि का काम केवल रासायनिकों का रह गया है जो नायिका के हावभावमय नग्न चित्र उपस्थितकर कामोद्दीपन में सहायक होते थे। आदिकाल मे जो श्रृंगार के लिये ओज, दर्प, शौर्य एवं उत्साह तथा इसके परिणामस्वरूप युद्ध का वर्णन होता था वह अंग अब परिस्थितिवश छूट गया।

सूफी साधना में मुसलमानी भावधारा का प्रभाव अवश्य है परंतु वह भारतीय साँचे मे ढल कर। जायसी ने प्रेम का भावात्मक रूप ही प्रधान रखा है[1]। राजा रतनसेन प्रेमसुरा से मतवाला दिखाया गया है[2]। अस्तु संक्षेप में हम यही कह सकते हैं कि हिंदी साहित्य अपभ्रंश काव्यधाराओं का ही विकसित, संवर्द्धित एवं पल्लवित रूप है।

२. काव्यरूपों पर प्रभाव—यह प्रभाव दो प्रकार से प्राप्त होता है। गत अध्यायों मे हमने अपभ्रंश साहित्य का वर्गीकरण करते समय यह दिखाने का प्रयत्न किया था कि अपभ्रंश ने काव्यों को नई विधा, प्रेरणा और वर्णनशैली दी है। अपभ्रंश रचनाएँ अधिकतर पुराण, महापुराण, चरिउ, कथा (कहा), रास पद आदि के नाम से प्रचलित हैं। हिंदी में भी 'चरिउ' शब्द अपने तत्सम शब्द के रूप मे अधिक गृहीत हुआ है। रामचरित, देवचरित, सुदामाचरित, सुजानचरित तथा बुद्धचरित आदि आदि ग्रंथों के नाम हिंदी मे भी प्रसिद्ध हैं। अपभ्रंश चरिउ ग्रंथ अधिकतर जैन धर्म से प्रभावित हैं। यहाँ के चरितनायक मानव है परंतु भागवत धर्म के प्रभाव से हिंदी मे दो प्रकार के चरित हो गए हैं—(१) धार्मिक जिनके नेता देव कोटि मे पहुँच जाते हैं और (२) राजस्तुति परक जहाँ अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा रहती है। हिंदी के आदिकाल में राजस्तुति परक ग्रथों का नाम प्रायः रासो रहा है।

अपभ्रंश की 'कहा' प्राय. प्रेमाख्यानक काव्य है जिसमें रोमास एवं प्रेम है। सूफी प्रेमाख्यानक में हम प्रायः इसी 'कहा' का विकास देखते हैं। जायसी कृत 'पद्‌मावत' में भवि-

---

१. आचार्य रामचंद्र शुक्ल—हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ८७।
२. आचार्य रामचंद्र शुक्ल—जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ ६६।

सयत्त कहा का अपूर्व साम्य मिलता है। वही वर्णनात्मक रूढ़ियाँ हैं। सिंघल देश की कथा है। जायसी ने भी लोक-प्रचलित आख्यानक को काव्योपम रूप देने के लिये मनोनुकूल परिवर्तन कर पद्मावत का रूप दे दिया है।

तीसरा रूप गेय पदों का है। गीत काव्य की विशेषता (१) गेयता, (२) संक्षिप्तता, (३) विचारों की एकरूपता तथा (४) आत्माभिव्यक्ति मानी गई है। अपभ्रंश के गीतों का उल्लेख हम विक्रमोर्वशीय के गीतों के संबंध में तथा गेय काव्य में कर चुके हैं। सिद्धों के चर्यापद प्रसिद्ध गीतकाव्य हैं। इन चर्यापदों में गेयता और भावतीव्रता का मणिकांचन संयोग है। यही परंपरा आगे विद्यापति, सूर, तुलसी तथा आधुनिक युग के गीतों में प्राप्त होती है।

चौथा रूप स्फुट मुक्तक रचना का है जो दोहों के रूप में चलता हुआ प्राप्त होता है। इसके विषय में अधिक कहना व्यर्थ है। रीतिकाल की सतसई परंपरा केवल अपभ्रंश का अनुकरण मात्र है। इसके अतिरिक्त रीतिकाल में जो सवैया आदि छंदों में मुक्तक रचना हुई है उसपर भी अपभ्रंश की स्पष्ट छाप है।

काव्यों के इन नामरूपों पर न जाकर हम यदि गंभीरतापूर्वक वर्णनशैली पर विचार करें तो भी हमें यही बात मिलती है कि अपभ्रंश साहित्य ने वर्णनशैली को भी प्रभावित किया है। काव्य के बाह्य रूप अर्थात् छंदों के प्रयोग में भी अपभ्रंश ने हिंदी को प्रभावित किया है। साधारणतया हिंदी ने मात्रिक छंदों को अधिक अपनाया है। चरितकाव्यों में पाँच शैलियाँ मुख्यतः मिलती हैं--(१) छप्पय पद्धति, (२) गीत पद्धति, (३) दोहा पद्धति, (४) कवित्त सवैया पद्धति और (५) दोहा चौपाई पद्धति। हिंदी साहित्य की वीरगाथा काल की

छप्पयपद्धति का मूल रूप अपभ्रंश मे वर्तमान है। छप्पय का 'स्वयंभू छंद' में वर्णन मिलता है। कुमारपाल प्रतिबोध में इसका आभास प्राप्त होता है। सदेशराशक का और रासो का साम्य हम कह चुके हैं। हिंदी के वीर काव्यों में छंदों की वहुलता अपभ्रंश से ही आई है, छदों के अदर एक वात और विशेष ध्यान देने की है, वह है 'नाम मुद्रा'[1]; यह प्रवृत्ति अपभ्रंश की देन है।

रामचरित मानस तथा पद्मावत के विषय मे कहना व्यर्थ है, वे स्पष्टतः अपभ्रंश की कड़वक पद्धति का अनुसरण करते हैं। रीतिकाल के कवियों का एक वड़ा दोष बताया जाता है कि उन्होंने यमक, अनुप्रास तथा तुक के प्रेम मे आकर शब्दों को वहुत ही विकृत किया है। देव और भूषण इसके लिये अत्यंत प्रसिद्ध हैं। लाला भगवान दीन ने देव के द्वारा प्रयुक्त अनेक शब्दों का विश्लेषण करते हुए उनके अनौचित्य का अत्यंत प्रामाणिक विवेचन किया है। देव ने यमक, अनुप्रास अथवा तुक के लिये शब्दों की वहुत ही तोड़-मरोड़ की है। ऐसा करने मे उन्होने भाषाविज्ञान के नियमों का का उल्लंघन ही नही किया, कही कही तो उसका रूप ऐसा वदल दिया है कि वे सर्वथा नवीन शब्द ही प्रतीत होते हैं, जिनका अर्थ लगाना असंभव हो जाता है। इस शब्दविकृति के मूल मे प्रायः दो कारण है—एक तुक का आग्रह, दूसरा यमक अथवा अनुप्रास का आग्रह। तुक के आग्रह से कंदुक का कंद वन जाता है, इच्छा का ईछी, अभिलाषिणी का वा अभिख्या, हिरण्य का हिरन, तुला का तुलही, उल्लसित-हृदयवाली का हिये उलही, विदित का विद्योत, द्वंद्व का दंदरा—

1. प्रो० भायाणी—पउमचरिउ की भूमिका, पृष्ठ १८।

१, औचक ही उचकौ कुच 'कंद' सो।
२. भूख न भोजन की कछु 'ईछी'।
३. राखै मुख आभा अभिमान की 'अभिख्या' हों।
४ तौलियत मानिक ते तुला सों 'हिरन' के।
५ कपोल ज्यों प्रेम पला 'तुलही' के।
६. मिले सुखदायक न देख्यो दुख 'दंदरा'।
७. मरदर्नसिह महीप सुत देस बंस-'विद्दोत'।

इसी तरह, (२) यमक अनुप्रास के आग्रह से भी पूर्णेंदु का पुमनेंदु, व्यामोह का व्योह, जल्पना का लपना, पांडर का पंडल, हेमंत का हैउत बन गया है।

१. 'लपने' कहाँ लों बालपने को विकल बातें।
२. है उत देव वसंत सदा इत 'हैउत' है हिय कंप महावस।

यह अत्याचार केवल संस्कृत के शब्दों के साथ ही नहीं हुआ, हिंदी के शब्दों का भी बड़ी निर्दयता से अंगभंग किया है—

गर्बीली गुननि लजीली ढीली भोंहनि के,
ज्यों ज्यों नई जाति त्यों त्यों नए नेह 'नितई'।
बीधी बात बातनि, 'उनीधी' गात गातनि,
'समीधी' पर्यंक में निसंक अंक 'हितई'।
अँसुवन भीजी बीजी सीजी औ पसीजी,
भीजी पी जी सों पती-जी रागरंग रैन रितई।
नाह नाह सोहैं के हँसोहैं नेह सोहैं करी,
क्यों हू नाह सोंहैं ना हंसोंहैं नेक चितई।

इसी प्रकार वंशीवारौ के वजन पर धनसीवारौ, तनसीवारौ, सहचर के वजन पर रहचर, महचर, चहचर, आदि अनेक शब्द देव ने गढ लिए हैं। उनकी संगति वैठती है या नही, उनका कुछ अर्थ निकलता है या नही, इसकी कोई

चिंता नही की। देव के काव्य में ऐसे शब्द भी सैकड़ों हैं जिनका कोई अर्थ ही नही मिलता। तीभ, धील, वावस, हुद्र, सांजी वसीकने, गमारूयौ, दुहुव, तरावक, हूप आदि आदि। वैसे तो व्रजभाषा का कोई भी कवि इससे मुक्त नही है परंतु देव में यह दोष इतना अधिक है कि पाठक को प्रायः अर्थ के उलझ जाने के कारण अत्यत क्षोभ होता है। उनके छंदों की वहुत वड़ी संख्या इस प्रकार से प्रयोगों से ग्रस्त है[1]।

अब प्रश्न होता है कि क्या यह प्रवृत्ति सर्वथा नई थी? नही, अपभ्रंश की रचनाओं मे भी यह प्रवृत्ति पाई जाती है। अपभ्रंश रचना मुख्यतः पद्य मे है और पद्य में छदोभंग महान पाप है। प्राकृत पैंगलम्कार का कहना है--

जेम ण सहइ कणअ तुला, तिल तुलिअं अद्ध अद्धेण।
तेम ण सहइ सवण तुला अव छंदं छंदभंगेण[2]॥

अर्थात् जिस प्रकार तराजू तिल के समान अंतर को नही सह सकती है उसी प्रकार कर्ण रूपी तुला को जरा सा भी छंदोभंग असह्य होता है। अतः कवियों को नाना प्रकार के तोड़मोड़ करने पड़ते हैं। अपभ्रंश मे ये तोड़मोड़ मुख्यतः चार प्रकार से किए गए हैं। इन चारों पद्धतियों का विस्तृत वर्णन डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने हिंदी साहित्य के आदिकाल में (पृष्ठ ४३ मे ४८) किया है। संक्षेप मे वे इस प्रकार है--

(१) स्वार्थिक प्रत्यय अ, ड़, अल, इल्ल, उल्ल का प्रयोग; यथा – अलंकित का अलंकियउ, मुक्क (मुक्त)क मुक्कओ।

---

१. डा० नगेंद्र—देव और उनकी कविता, पृष्ठ २०९।
२. प्राकृत पैंगलम्- पृष्ठ ५।

मयणवट्टु मिग्रणाहिण कस्स व पंकियउ,
अन्नह भालु तुरक्कि तिलइ आलंकियउ ॥४८॥
—संदेस रासक

कभी कभी एक, दो, तीन प्रत्ययों को छोड़ दिया जाता है। यथा (बलल्लुड़ा–हेम)। यह बात हिंदी में जियड़ा, मुखड़ा, गहेलड़ी आदि शब्दों में मिलती है। परवर्ती हिंदी साहित्य में 'ड़ा' के घिसे रूप 'र' का प्रयोग कुछ सुकुमारता लाने के लिये किया गया है—

'जियरा यों ही लेहुगे विरह तपाइ तपाइ।'
——कबीर

(२) क——लघु स्वर को गुरु बनाकर छंद की पूर्ति कर लेना—

यह साधारण सी बात है। अपभ्रंश में यह व्यत्यय होता था, हिंदी में यही नियम के रूप में प्रयुक्त होने लगा। यथा—

'हसब ठठाइ फुलाउब गालू'।
—तुलसी

आवश्यकता पड़ने पर शब्द के मध्य (पदमध्य) स्वर को भी दीर्घ कर दिया जाता है। यथा–

काहि पूरिक गेह समांडणि एह सुंदरि पेक्खआ।
गुरू सद्द किज्जे अ एक्का तआरेण।

संभवतः इस प्रथा का पुराना अवशेप संस्कृत के 'पद्मावती' जैसे शब्दों मे खोजा जा सकता है जिसके तौल पर 'कनकावती', 'मुग्धावती' जैसे शब्द हिंदी में चल पड़े। ललितविस्तर और अन्य महायानी ग्रंथों की सस्कृत गाथा में इस नियम के अनेक चिह्न मिल सकते हैं।

ख——दूसरा कौशल परवर्ती वर्ण को द्वित्व करके पूर्ववर्ती लघु स्वर को संयोगपरक गुरु बना देना। जैसे, लज्जा, गरुई,

परव्वसो, अप्पा। 'परव्वसो' परवशः का प्राकृत रूप है। वकार का द्वित्व छंदसौकर्य के लिये है। इसी प्रकार संदेश-रासक मे 'चिरगय' (चिरगतः) के लिये प्रयुक्त हुआ है। आधुनिक रासो में, फरक्कि, झड़प्पि आदि शब्दों का प्राचुर्य है।

ग—रासो मे अनुस्वार देकर छंदों के निर्वाह की योजना बहुत अधिक है। जैसे—

रजंत भूषनं तनं। अलक्क छुट्टयं मनं।

(३) गुरु स्वर को लघु बनाकर छंद का निर्वाह; साधारणतः तीन कौशलों से कवियों ने इसे अपनाया है—

क—दीर्घ स्वर को ह्रस्व करके—ज्वाला झाला जाला या झाल होना चाहिए था परंतु झल या जल ही बना दिया गया है। यथा—

'उल्हवइ ण केणइ विरहज्झल'।

—संदेश रासक

ख—संयुक्त वर्णों मे से एक को रखकर पूर्ववर्ती स्वर को लघु बनाना। अपभ्रंश मे थक्कइ (रहता है) प्रयोग मिलता है परंतु कही कही यह 'थकइ' कर लिया जाता है—

जो पुणु पर उवआर विरुज्झइ।
तासु जणणि किं ण थकइ वज्झइ॥

—प्राकृत पैंगलम्

इसी प्रकार विपमतन का विपमत्थण होना चाहिए परंतु कही कही कविता में विपमथण ही प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार संदेशरासक मे उन्मुक्त (उम्मुक्क) के स्थान पर 'धम्मिल उमुक्कमुह' (संदेश रासक ९७) मे प्रयोग किया गया है। इसी

प्रकार समुद्र का समुद हो जाना अनुचित नहीं कहा जा सकता है।

ग—अनुस्वार को सानुनासिक मात्र रहने दिया जाता है। अर्थात् लिपि में अनुस्वार के स्थान पर चंद्रबिंदु से काम ले लेना तीसरा कौशल है। यथा—

'पँचमी चउठी तिजहि मिलाउ।'

(४) एक और कौशल है वह शब्दों को सिकोड़ना या लंबा खींचना। अपभ्रंश में दोनों प्रयोग हैं। इन दोनों कौशलों का संकोचन और संप्रसारण नाम भाषावैज्ञानिकों ने दिया है।

क—संकोचन—सहकार < सहआर। परंतु सुविधा के लिये साहार, सहार आदि रूप दे दिए जाते हैं। यथा—

१. हउ किय णिस्साहार पहिय साहार वणि।
२. साहारह णाउ ण सा अंगिरह।

इसी नियमानुसार अर्द्ध द्वितीय हिंदी में केवल ढाई रह गया (सं० अर्द्ध द्वितीय < प्रा० < अड्ढीय < अड़ाई < ढाई)। इस प्रकार के अनेक प्रयोग ब्रजभाषा में हैं; यथा—अस, स, अहै, है आदि। इसी प्रकार उपदेश उवेश (सरहे कहिअ उवेस)।

ख—दूसरा कौशल संप्रसारण है। ह्रस्व का दीर्घ करना, अनावश्यक स्वार्थिक प्रत्यय के योग से शब्दों का लंबा बनाया जाना आदि कौशल है। अतः देव आदि कवियों में जो यह प्रथा प्रचलित है वह भी अपभ्रंश की देन है।

हिंदी छंदों की अंत्यानुप्रास की प्रथा का मूल भी अपभ्रंश मे है। इसके अतिरिक्त अपभ्रंश कवियो के पादा-

कुलक, पज्झटिका, हरिगीत, भुजंगप्रयात, ताटंक छप्पय, रोला, दोहा, सोरठा आदि आदि छंदों का प्रयोग हिंदी के संत और भक्त कवियों ने अपभ्रंश के इन्ही नामों से, या कुछ परिवर्तन के साथ मिलते हुए छंदों का प्रयोग किया है। अब हम अंत में हिंदी के परवर्ती कवियों पर अपभ्रंश काल की रचनाओं का प्रभाव दिखाने के लिये कुछ उदाहरण उपस्थित करते हैं।

जैसा हम पहले कह चुके हैं कि विशुद्ध रूप में हिंदी का जन्म भक्तिकाल में हुआ। भक्तिकाल की विभिन्न धाराओं के कवि कबीर (ज्ञानाश्रयी), जायसी (प्रेमाश्रयी), सूर (कृष्णाश्रयी) तथा तुलसी (रामाश्रयी) हैं।

कबीर मे आदि सतो का अक्खड़पन, उग्रता, झाड़-फटकार तथा रहस्यवादी एवं प्रतीकवादी रचना प्रचुर मात्रा मे मिलती है। कही कहीं अपूर्व साम्य भी मिलता है। यथा—

१—गगन मंडल में ऊँधा कूवा, तहाँ अमृत का वासा।
सगुरा होइ सु भरि भरि पीवे निगुरा जाइ पियासा॥
—गोरख बानी

आकासे औंधा कुवा पाताले पनिहार।
ताका पानी विरला पीवे जानै जाननहार॥
—कबीर ग्रंथावली

२—मंडिय मंडिय मुंडिया सिर मंडिउ चित्तु ण मंडिया।
चित्तहँ मुंडणु जि कियउ संसारह खंडणु ति कियउ॥
—पाहुड दोहा

केसन कहा बिगारिया जौ मूँडौ सौ बार।
मन को क्यो नही मूँडिया जामे विषै विकार॥
—कबीर ग्रंथावली

सिद्धों ने अपनी कविता मे अनेक रूपकों का प्रयोग किया है—रुई धुनने का, विवाह का, नौका का, हरिण का, चूहे का रूपक, आदि ।

कण्हपा ने महासुख का विवाह के रूपक द्वारा वर्णन किया है—

भव निर्वाणे पटह मादला ।
मण पवणवेणि करंडक शाला ।।
जब जब दुंदुहि साद उछलिला ।
काण्ह डोंबी विवाहे चलिला ।।

—पदचर्या

कबीर कहते हैं—

दुलहनी गावहु मंगलचार ।
हम घरि आए हो राजा राम भरतार ।।

बाह्य कर्म कलाप का खंडन जिस प्रकार सिद्धों ने किया उसी प्रकार इन संत कवियों ने भी । यद्यपि उतना अक्खड़पन सिद्धों की कविता मे नही जितना कि कबीर की कविता में किंतु कर्मकांड का विरोध सिद्धों और संतों दोनों मे मिलता है ।

जायसी के पद्मावत मे और अन्य अपभ्रंश काव्यों के सादृश्य के साथ रचनाशैली, वर्णनशैली और सदेश रासक की शैली मे बहुत साम्य है[1] । ऋतुवर्णन, वस्तुवर्णन आदि मे भी वही परिपाटी उपलब्ध होती है । सदेसरासक में पथिक द्वारा जो नगर का वर्णन दिया है उसमे वनस्प-

---

१. प्रो० भायाणी—संदेस रासक एंड पद्मावत, भारतीय विद्या, भाग १०, १६४८ ई०, पृ० ८१ ।

तियों के नाम भी दिए हैं[1]। जायसी ने भी सुल्तान के भोजन के समय भोजन और मांसों के नामों की सूची दे डाली है[2]। डा० कोछड़ कहते हैं कि अद्यावधि प्राप्त अपभ्रंश सामग्री से ऊपर दिए गए उदाहरणों के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जायसी के पद्मावत की दोहाचौपाई शैली का बीज अपभ्रंश साहित्य में था और उत्तरकालीन कवियों ने नवीनता की दृष्टि से कड़वकों के आरंभ में प्रयुक्त होनेवाले दोहे को अंत में रखना प्रारंभ कर दिया।[3]

बंधुदत्त की समुद्रयात्रा के यहाँ कुछ पद्य दिए जाते हैं। उनकी जायसी के पदमावत से तुलना करने पर भविसयत्त कहा का उसपर प्रभाव स्पष्ट हो जायगा।

णिज्जावय वयणुज्जुअमुहइँ किखवयइं ण णं भडइं।
संचल्लइ रयणायरहो जलि खरपवणाहयवयवडइं ॥२२॥
दिढवंधइँ जिह मल्लरगणाइ णिल्लोइइ जिह मुणिवरमणाइ।
णिव्विरणाइं जिह सज्जणहियाइँ अकियत्थइँ जियदुज्वणकियाइँ।

वहणइ वहति जलहररउदि दुत्तरि अत्थाहि महासमुद्दि।
लंघतइ दीवंतर थलाइ पिक्खंति विविह कोऊहलाइ।
इय लीलइं वच्चंताह ताहं उच्छाहसत्ति विक्कमपराहं।
दुप्पवणें पणततरुवरसमीवे वहणइं लग्गइ मयणायदीवे।
कल्लोलवोलजलरववमाले असगाहगाहगहणंतराले।
तीरतरे ज सवट्टपोय उत्तरिय तरिव पमुहाइ लोय ॥

---

1. अब्दुल रहमान—संदेस रासक, पृष्ठ ५५-६४।
2. आचार्य शुक्ल जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ २७७-२८२।
3. डा० कोछड़—अपभ्रंश साहित्य, पृष्ठ २१६।

अब जरा जायसी का समुद्रवर्णन भी देखिए --

सायर तरै हिये सत पूरा। जौ जिउ सत, कायर पुनि सूरा॥
तेइ उन बोहित कुरी चलाए। तेइ सत पवन पंख जनु लाए॥
सत साथी, सत कर संसारू। सत खेल लेई लावै पारू॥
सत्त ताक सब आगू पाछू। जहं जहं मगर मच्छ औ काछू।
उठे लहरि जनु ठाढ पहारा। चढै सरग औ परै पतारा॥
डोलहि बोहित लहरैं खाही। खिन तर होहि खिनहि उपराही।
राजै सो सत हिरदै बाँधा। जेहि सत टेकि करै गिरि काँधा॥

वात्सल्य और श्रृंगार रस के मर्मज्ञ कवि सूरदासजी ने भी गेयपद शैली अपनाई है। उनकी वर्णनशैली के परंपरागत उपमान, नारी सौंदर्य की वर्णनविधि तथा नख शिख वर्णन अपभ्रंश के श्रृंगार मुक्तकों में देखे जा सकते है। पुष्पदंत ने ऋषभनाथ की बाललीला का जो चित्र दिया है[1] उसमें हमें बालकृष्ण की झाँकी मिलती है। कही कहीं अपूर्व भावसाम्य भी दृष्टिगोचर होता है। यथा- -

होहल्लरु जो जो सुहुं सुअहि पइं पणवंतउ भूवणगणु॥
णंदइ रिज्झइ दुक्कियमलेण कासु वि मलिणु ण होइमणु॥
धूली धूसरो कडि किंकिणिसरो।
णिरुवम लीलउ कीलइ बालउ॥

—पुष्पदंत

सूरदास जी कहते हैं—

खंडित वचन देत पूरन सुख, अलप, अलप जलपाई।
घुटुरुन चलत रेनु तन मंडित सूरदास वलि जाई।

गोस्वामी तुलसीदास के विषय मे हम रामकथा के विवेचन मे कह चुके हैं। स्वयंभू का पउमचरिउ रामचरित ही है।

---

१ पुष्पदंत—महापुराण, प्रथम खंड ४–४,५, पृ० ५८–५६।

तुलसी का आत्मनिवेदन और स्वयंभू के आत्मनिवेदन मे अपूर्व साम्य है । यथा—

बुहयण सयभू पइँ विण्णवइ ।
महु सरिसउ अण्ण णाहि कुकइ ॥
वायरणु कयाइ ण जाणियउ ।
णउ वित्ति सुत्त वक्खाणियउ ॥
णा णिसुणिउ पंच महाय कव्वु ।
णउ भरहु ण लक्खणु छंदु सव्वु ॥
णउ बुज्झिउ पिंगल पच्छारु ।
णउ भामह दंडीय लंकारु ॥
वेवेसाय तो वि णउ परिहरमि ।
वरि रयडा वुत्तु कव्वु करमि ॥
सामाणभास छुड मा विहडउ ।
छुडु आगम जुत्ति किंपि घडउ ॥
छुडु होंति सु हासिय वयणाइं ।
गामेल्ल भास परिहरणाइं ॥
एहु सज्जण लोयहु किउ विणउ ।
जं अवुहु पदरिसिउ अप्पणउ ॥
जं एवंविहसाइ कोवि खलु ।
तहो हत्थत्थलिलउ लेउ छलु ॥

— पउमचरिउ

निज बुधि वल भरोस मोहि नाही ।
ताते विनय करउं सव पाही ॥
करन चहउं रघुपति गुनगाहा ।
लघु मति मोरि चरित अवगाहा ॥
सूझ न एकउ अग उपाऊ ।
मन मति रंक मनोरथ राऊ ॥

मति अति नीच ऊचि रुचि आछी ।
चहिअ अमिअ जग जुरइ न छाछी ॥
छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई ।
सुनिहहिं बाल वचन मन लाई ॥
जौं बालक कह तोतरि बाता ।
सुनहिं मुदित मन पितु अरु माता ॥
हँसिहहिं कूर कुटिल कुविचारी ।
जे परदूषन भूषन धारी ॥

\+ \+ \+

भाव भेद रस भेद अपारा ।
कवित दोष गुन विविध प्रकारा ॥
कवित विवेक एक नहिं मोरे ।
सत्य कहउं लिखि कागद कोरे ॥

—मानस, वालकांड

इसी प्रकार ऋतु, काल, संध्या, नगर, समुद्र, नदी, वन, यात्रा, नारी सौंदर्य, विबाह, रनिवास, जलक्रीडा, विरह एवं युद्ध आदि विषय, तथा छंद, शैली आदि दृष्टियों से 'पउमचरिउ' से तुलसीदास ने वहुत कुछ ग्रहण किया है ऐसा प्रतीत होता है ।

भविसयत्तकहा से भी तुलसीदास ने विषय और वर्णन-शैली की अपेक्षा से अनेक वातें ग्रहण की है। पाठक देखेंगे कि निम्न पद्यों में कितनी समानता है—

सुणिमित्ताइं जाअइं तासु ताम ।
गय पयहिणत्ति उड्डेवि साम ॥
वायंगि सुत्ति सहसहइ वाउ ।
पिय मेलावइ कुल कुलइ काउ ॥

वामउ किलंकिचउ लावएण।
दाहिणउ अंगु दरिसिउ मएण॥
दाहिणउ लोयणु फंदइ सबाहु।
णं भणइ एण मग्गेण जाहु॥

उसको सुंदर शकुन दिखलाई पड़े। श्यामा पक्षी उड़कर दाहिनी ओर आ गई। बाईं ओर से मंद मंद वायु बह रही थी और प्रियतम से मेल करानेवाली ध्वनि में कौवा बोल रहा था। लावा ने बाईं ओर बोलना शुरू किया और दाहिनी ओर मृग दिखलाई पड़े।

इसी भाव की कविवर तुलसीदास की चौपाइयाँ देखिए—

दाहिन काग सुखेन सुहावा।
नकुल दरस सब काहुन पावा॥
सानुकूल बह त्रिविध बयारी।
सघट सबाल आव नर नारी॥
लोवा फिरि फिरि दरस दिखावा।
सुरभी सन्मुख शिशुहि पिआवा॥
मृगमाला दाहिन दिश आई।
मंगल गन जनु दीन्ह दिखाई॥

संभवतः इसी तथ्य से प्रभावित होकर प्रोफेसर श्री जगन्नाथराय शर्मा ने अपने 'अपभ्रंश-दर्पण' मे लिखा है कि 'हिंदी का कौन कवि है, जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में अपभ्रंश के जैन प्रबंध काव्यों से प्रभावित न हुआ हो। चद से लेकर हरिश्चंद्र तक तो उसके ऋणभार से दबे हैं ही, आजकल की नई नई काव्यपद्धतियो के उद्भावक भी विचारकर देखने पर उनकी परिधि के बहुत बाहर न मिलेंगे[1]।'

---

1. हिंदी जैन साहित्य परिशीलन, पृ० ३२

रीतिकाल की परंपरा का मूल स्वरूप अपभ्रंश के बिखरे हुए मुक्तकों में मिल जाता है। बिहारी के दोहे तथा देव की कविता का मूल रूप वज्जालग्गम्, हालकृत सप्तशती और हेमचंद्र व्याकरण के दोहों में प्राप्त हो सकता है। यह सत्य है कि रीतिकालीन साहित्य को संस्कृत साहित्य से भी प्रेरणा मिली है। परंतु अपभ्रंश का प्रभाव भी कम नहीं है। वस्तुतः रीतिकालीन कवियों ने धार्मिक आवरण को हटा दिया है और शुद्ध प्रेम का मनोहर रूप रखा है। सच्चे प्रेम की उद्भावनाएँ रीतिमुक्त कवियों में अधिक मुखर हैं। जहाँ वर्णनपरंपरा का प्रश्न है वही प्राचीन उपमान हैं और वही प्राचीन शैली।

उपर्युक्त वर्णन से हमारा अभिप्राय यह कदापि नही कि हिंदी साहित्य में अपना कुछ नहीं है और हिंदी कवियों ने केवल अपभ्रंश से अथवा संस्कृत से ही सब कुछ ग्रहण किया है। ऐसा कहना हिंदी के महान कलाकारों के प्रति अन्याय होगा। इस प्रभाव दिग्दर्शन से हमारा यही अभिप्राय है कि साहित्य-सरिता अजस्र कलकलनिनादिनी स्रोतस्वनी की भाँति चलती रहती है। वह समय और परिस्थिति के कूलों से व्याप्त होकर नाना रूप धारण करती रहती है। उसका प्रवाह कभी गंभीर होता है तो कभी त्वरित, समय समय पर धारा के बाह्य रूप में अंतर आ जाता है परंतु मूल प्रेरणा मे वही जीवन का स्रोत रहता है। इसमें नाना प्रकार की नदी और नाले चारों ओर से मिलकर इसको समृद्ध और सुंदर बनाते रहते हैं। हमारी काव्यधारा पर अपभ्रंश और संस्कृत का प्रभाव मूल रूप में है परंतु अभिव्यक्ति अपनी निजी वस्तु है। हिंदी के इस काल में इसका संपर्क इस्लाम संस्कृति एवं विचारधाराओं से भी हुआ। इन विचारधाराओं ने भी हिंदी साहित्य को प्रचुर

मात्रा में प्रभावित किया है। हिंदी ने अपनी समन्वयात्मक प्रवृत्ति से कुछ न कुछ ग्रहण किया है और उसको एक नवीन रूप मे रखने का प्रयत्न किया है।

हिंदी की भावधारा, काव्य का रूप तथा वर्णनशैली अपभ्रंश से तो विकसित हुई परंतु जिसके माध्यम के द्वारा हुई उस 'भाषा' ने अपभ्रंश से क्या क्या लिया ? हमने अपने विषय के आरंभ में परवर्ती अपभ्रंश को पुरानी हिंदी कहा है। आधुनिक हिंदी अपने विशुद्ध रूप में पंद्रहवी शती में आ गई थी और १६वी शती से इसमें साहित्य उपलब्ध होने लगा, जिसका संक्षिप्त वर्णन हम ऊपर दे चुके हैं। अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि इस परवर्ती अपभ्रंश ने हिंदी भाषा के विकास मे किस प्रकार सहायता प्रदान की। दूसरे शब्दों में हिंदी के ध्वन्यात्मक, रूपात्मक विकास तथा शब्दकोश का अपभ्रंश से विकास दिखाने का प्रयत्न करेंगे।

हिंदी की ध्वनियाँ —

हिंदी मे अपभ्रंश की प्रायः सभी ध्वनियां (१० स्वर और ३७ व्यंजन) उपलब्ध होते है। ये इस प्रकार हैं—

स्वर— अ, इ, उ, ए, आ (ह्रस्व)
आ, ई, ऊ, ए, ओ, (दीर्घ) १०

व्यंजन— क ख ग घ (कंठ्य), च छ ज झ (तालव्य), ट ठ ड ढ ण (मूर्धन्य), त थ द ध न (दंत्य) प फ ब भ म (ओष्ठ्य), य र ल व (अंतस्थ), और स ह (ऊष्म)

स्थानभेद से— ड़ ढ़ (विशेषकर पूरब मे न्ह, वॅ और अर्द्धस्वर के रूप मे य, व ध्वनि

और मिलती है। इस प्रकार स्वर और व्यंजन मिलाकर कुल ४७ ध्वनियाँ होती हैं।

इनके अतिरिक्त ऐ (अए) और (अओ) इन दो संध्य-स्वरों का विकास भी पुरानी हिंदी में प्राप्त होता है। विदेशी भाषाओं से जो व्यंजन आए थे वे सब तद्भव बन गए। अंत में आधुनिक हिंदी का काल आता है। उसमें स्वर तो वे ही—पुरानी हिंदी के १२ स्वर—हैं पर व्यंजनों में वृद्धि हो गई है। क़ ख़ ग़ ज फ़ के अरिरिक्त ऑ तथा श आदि अनेक ध्वनियाँ तत्सम शब्दों के प्रयुक्त होने लगी हैं। संस्कृत तत्सम शब्दों के प्रयोग के कारण हिंदी में ऋ, ष, ऐसे व्यंजन है जो केवल तत्सम शब्दों में ही आते हैं परंतु लिखने मात्र में। उनका मूल उच्चारण हिंदी में लुप्त हो गया है 'ष' का उच्चारण प्रायः श ही होता है। ऋ तत्सम शब्दों मे 'रि' हो गई है। ऋण शब्द का उच्चारण अब रिण होता है इसी प्रकार पोषक, कष्ट, कृषक आदि शब्द पोशक, करट, क्रिशक हो गए हैं। ञ संस्कृत शब्दों में भी स्वतंत्र रूप से नही मिलता, केवल शब्द के मध्य में आता है। हिंदी में मध्य में आनेवाले ञ का उच्चारण न् के समान होता है। यथा—चञ्चल, मञ्जन, काञ्चन वास्तव में चंचल, मंजन, कांचन बोले जाते हैं।

ण् का भी उच्चारण हिंदी में न् के समान होता है। यथा—परिण्डत, ठण्डा, ताण्डव उच्चारण में पन्डित, ठन्डा तान्डव हो जाते हैं। प्रायः संस्कृत व्याकरण के नियमों से अनभिज्ञ सज्जन हिंदी में इन शब्दों को लिखते भी इसी प्रकार हैं। लिपि में इन सब अनुनासिकों का स्थान अनुस्वार ने ले लिया है और प्रायः अब पङ्कज, चञ्चल, परिण्डत, दन्त, सम्बन्ध आदि पंकज, चंचल, पंडित, दंत

तथा संबंध के रूप में लिखे जाते हैं। तत्सम शब्दों में ण् का प्रयोग हिंदी में होता है। जैसे—गणना, गणेश, परंतु इसका शुद्ध उच्चारण पश्चिमी देशों में ही मिलता है; पूर्वी प्रांतों में इसका उच्चारण वस्तुतः ड़ँ के समान होने लगा है।

पश्चिमी अपभ्रंश में आद्य न 'ण' में बदल गया है। केवल मध्यम न बना रहा है। यथा–नभ > णभ, नदी > णइ, निज > णिय; निर्मल > णिम्मल। परंतु हिंदी ने न के रूप को सुरक्षित रखा है। ञ का प्रयोग पूर्वी अपभ्रंश मे ही शेष रह सका है। कीर्तिलता में प्रचुर मात्रा में इस अक्षर का प्रयोग है। निञ (२।२३६), हिञ (३।११) मे ञे (२।३६) आदि। वस्तुतः प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में ध्वनि व्यवस्था अपभ्रंश की है, अंतर केवल इतना है कि प्राचीन राजस्थानी में जैन महाराष्ट्री की तरह आद्य ण तथा मध्यम एण दंत्य हो जाते हैं। संभवतः प्राचीन राजस्थानी मे ल़ ध्वनि भी होती थी, जो गुजराती और मारवाड़ी दोनो मे सामान्यतः मिलती है; परंतु पांडुलिपियों मे इसके लिये कोई भिन्न वर्ण नही है।[1] स्वयं अपभ्रंश का अपना कोई ध्वनितत्व नही था, वह प्राचीन भारतीय आर्यभाषा से मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं द्वारा विकसित होकर अपभ्रंश को प्राप्त हुआ था। यह ध्वनितत्व निरंतर विकसित होता रहा है। इसपर अनेक विद्वानो ने विस्तृत व्याख्या लिखी है। डा० ज्यूल ब्लाख और डा० सुनीतिकुमार चटर्जी की विवेचनाएँ आधुनिकतम हैं। उन्ही के आधार पर डा० उदयनारायण तिवारी

---

१. तेस्सितोरी–पुरानी राजस्थानी, (हिंदी अनुवाद), पृष्ठ १५।

ने अपनी पुस्तक हिंदी भाषा का उद्गम और विकास में हिंदी ध्वनियों के विकास पर प्रकाश डाला है। जो भी व्यंजन ध्वनियाँ हिंदी में प्रचलित हैं वे उसी निरंतर विकास-क्रम में हैं। यथा—

सं० राजन्, प्रा० राज राव, क्षतिपूर्ण दीर्घीकरण से राअ राआ। हिं०—राय हो गया।

सं० चंद्रमस् <चंदमा < चंदआ, हिंदी चंदा।

सं० कुष्ठिन् < कुट्ठिन < कुत्थि < कोढ़ी हिंदी।

कहीं कहीं व्यंजनों में परिवर्तन भी हो गया है। यथा—

सं० शकुन <सुगुन < सगुन < और हिंदी सुगन

सं० गृहम् < (ग + ह=घ) + र+रा = हिंदी घर

अस्तु, हिंदी की अपनी ध्वनियों के मूल रूप में मुख्यतः अपभ्रंश की ध्वनियाँ हैं। हाँ, विदेशी प्रभाव के कारण कुछ नवीन ध्वनियाँ अवश्य आ गई हैं जिनका विस्तृत वर्णन डा० धीरेंद्र वर्मा द्वारा दिया गया है।

रूपात्मक विकास—संस्कृत संज्ञा प्रायः तीन अंशों से मिलकर बनती है - धातु, प्रत्यय तथा कारकचिह्न। धातु और प्रत्यय से मूल शब्द बनता है और फिर उसमें कारक आदि चिह्न लगते हैं। आधुनिक आर्यभाषाओं में संस्कृत कारकचिह्न लुप्त हो गए हैं, यद्यपि कारकों की संख्या वही बनी हुई है। हिंदी में प्रत्येक कारक में भिन्न भिन्न संयोगात्मक रूप नहीं होते। यह सब होते हुए भी हिंदी विभक्तिप्रधान भाषा रहती है। हिंदी मे विभक्ति का विचार संज्ञा सर्वनाम और क्रिया मे मुख्यतः होता है। अतः हम अपभ्रंश का और हिंदी का तुलनात्मक रूप देकर इन दोनों के संबंध को समझने का प्रयत्न करेंगे।

कारक विभक्ति—

१—निर्विभक्तिक शब्द मात्र—अपभ्रंश से लेकर आधुनिक हिंदी तक अनेक कारकों में परसर्ग सहित अथवा परसर्ग-रहित निर्विभक्तिक शब्द मात्र का प्रयोग होता आ रहा है।

कर्त्ता कारक, एकवचन

केहउ मग्गण एहु (हेम०)।
अहिर गोरु वाग मेलव (उक्ति०)।
बहुरि राम मायहि सिरु नावा (मानस)।
छात्र पढ़ता है (ख० बो०)।

कर्ता कारक, बहुवचन

सुपुरिस कंगुहे अणुहरिहिं (हेम०)।
बहुतु पूत भए (उक्ति०)।
सुनत निसाचर मारन धाए (मानस)।
छात्र पढ़ते है (ख० बो०)।

कर्म कारक, एकवचन

लेवि महव्वय सिवु लहहिं (हेम०)।
केवट नाम घटाव (उक्ति०)।
अस विचारि गवनहु घर भाई (मानस)।
वह घर जाता है (ख० बो०)

कर्म कारक, बहुवचन

जो गुण गोवइ अप्पणा (हेम०)।
ब्राह्मण उं पर निवतेसु (उक्ति)।
अस कहि चरन गहे बैदेही (मानस)।
उसने अनेक नगर देखे (ख० बो०)।

अधिकरण कारक, एकवचन

महुज्जि घर सिद्धत्था वन्देइ (हेम०)।
दुआर पइसति निहुड (उक्ति०)।
बड़े भाग उर आवइ जासू (मानस)।
बैठ शिला की शीतल छाँह (कामायनी)।

इस प्रकार अन्य कारकों मे भी निर्विभक्तिक पद मिलते हैं। परंतु परिनिष्ठित अपभ्रंश में अन्य कारकों में इस ढंग के निर्विभक्तिक पदों के प्रयोग कम दिखाई पड़ते है, विशेषतः करण और अपादान कारकों में। ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रवृत्ति परवर्ती अपभ्रंश में अपेक्षाकृत अधिक बढ़ गई थी और आधुनिक बोलियों के उदय के साथ जब सभी कारकों के लिये नए नए परसर्ग आ गए तो निर्विभक्तिक पदों के प्रयोग करने की प्रवृत्ति और भी प्रबल हो उठी। हेम व्याकरण के उदाहरणों की तुलना में 'उक्तिव्यक्ति प्रकरण', 'वर्णरत्नाकर' और कीर्तिलता में निर्विभक्तिक पद कहीं अधिक मिलते है।

इसके अतिरिक्ति अपभ्रंश में परसर्ग के पूर्व निर्विभक्तिक पदप्रयोग के उदाहरण खोजने से ही मिल सकते हैं जब कि आधुनिक बोलियों मे इसके उदाहरण भरे पड़े हैं। अपभ्रंश में तण, हुंत, केर, मज्झि के पूर्व कोई न कोई सविभक्तिक पद ही रहता है; जैसे—

बड्डुत्तणहो तणेण, तसु केरअ, तुह्म्हं होंतउ, जीवहिं मज्झे आद (हेम०)।

इसके विपरीत परवर्ती भाषा मे—

गांव हुंत आव (उक्ति०)।
ओझा पास वीदा ले (उक्ति०)।

का किह (उक्ति०)।
मृत्यू सओ कलकल करइते अछ (वर्ण०)।
जनि अमृत सरोवर सओ पंक उद्धरि आनल (वर्ण०)।
जूआर संग (वर्ण०)।

पश्चात् अवधी, ब्रज और खड़ी बोली में इससे पुष्कल प्रयोग मिलते हैं। मन महँ, उर माहीं, गुरु सन, सुख लगि, जल ते, जल को इत्यादि।

२—स विभक्ति—अपभ्रंश उकारवहुला है। कारक विभक्ति के रूप मे उ का प्रयोग प्रायः केवल कर्त्ता और कर्म के एकवचन मे होता है। अपभ्रंश से यह प्रवृत्ति अवधी और ब्रज मे चलती रही। यथा—

घर्मकीजु। कुउ गाल (उक्ति०)।
उपजा हिय अति हरपु विसेखा (मानस)।
आश्रमु देखि नयन जलु छाए (मानस)।
स्यामु हरति दुति होतु (विहारी, ३३४)

आधुनिक खड़ी बोली में इसका लोप हो गया। ब्रजभाषा में इसका प्रयोग कम मिलता है। हाँ, केवल कीर्तिलता में कहीं कहीं इसके दर्शन होते हैं। यथा—पआजु।

३—हिं, हि विभक्ति के विविध रूपांतर प्राप्त होते हैं। अपभ्रंश में यह करण और अधिकरण, बहुवचन की विभक्ति है परंतु आगे चलकर यह सब कारकों के लिये प्रयुक्त होने लगी[1]। यथा—

कर्म कारक—

मांत्रहि नाट (उक्ति०)।

---

1. डा० चटर्जी—उक्तिव्यक्ति प्रकरण की भूमिका, पृष्ठ ३७।

सत्रुहि मित्र कए (कीर्ति०) ।
चाँटहि करै हस्ति सरि जोगू (पद्मा ०) ।
सतरूपहि बिलोकि कर जोरे (मानस) ।
और सर्वहि कर जोरे (सूर०) ।

संप्रदान कारक—

वरहि कन्या दे (उक्ति०) ।
देस देस के वर मोहि आवहि (पद्मा०) ।
तुम्हहि देत अति सुगम गोसाईं (मानस) ।

अपादान कारक—

बाघहि डर (उक्ति०) ।
राजा गरबहि बोलै नाहीं (पद्मा०) ।

संबंध कारक—

रायघरहि का पव्व खेत (कीर्ति०) ।
पंखिहि तन सब पाँख (पद्मा०) ।
अपर सुतहि अरिमर्दन नामा (मानस) ।

करण कारक—

वेवहार भुल्लहि वणिक विक्कण (कीर्ति०) ।
वज्रहि तिनकहि मारि उड़ाई (पद्मा०) ।
लीलहि हते कबंध (मानस) ।

अधिकरण कारक—

विहाणहि आदितु रफा (उक्ति०) ।
तारु-जिह्वाहि विवाड (वर्ण०) ।
की ससारहि सार (कीर्ति) ।
ज्यों विंवहि प्रतिबिंब समाना (कबीर०) ।
तेहि चढ़ि हेर कोह नहि साथा (पद्मा०) ।
तहंहि जाहु जहं भाए हो (सूर०) ।

यद्यपि हि (हिं) विभक्ति के उदाहरण सभी कारकों में मिलते हैं, तथापि गणना करने से पता चलता है कि अपभ्रंश में इसका प्रयोग जहाँ करण, अधिकरण में अधिक होता था, वहाँ अवधी और व्रजभाषा मे कर्म, संप्रदान मे विशेष होने लगा।

(क)--हि (हिं) विभक्ति का पहला रूपांतर--ई और ए के रूप मे मिलता है। ध्वनिदुर्बलता के कारण हि के 'ह' का लोप हो जाना स्वाभाविक प्रवृत्ति है। फलतः अपभ्रंश के अनुसार हि का अवशिष्ट रूप इ कही कहीं करण कारक मे भी कुछ दिनो तक प्रयुक्त होता रहा; जैसे--

गुरु मुखि विना न भाजसी ये दूज्यो वड़ रोग (गोरख)।
जाणे डसी भुयङ्गि (ढोला०)।
जिही सरि मारी काल्हि (कवीर)।

लेकिन अवधी मे इसका प्रयोग प्रायः भूतकालिक सकर्मक क्रिया के करणवाचक एकवचन के कर्ता के रूप में विशेष मिलता है; जैसे—

राजैं कहा सत्त कहु सूआ (पद्मा०)।
सुऐं कहा हमहू अस भूले (पद्मा०)।

संज्ञा के इन रूपों ने सर्वनाम के ऐसे प्रयोगों को भी प्रभावित किया है—'केइँ न जगत जस वेंचा, केइँ न लीन्ह जस मोल (पद्मा०) मे 'केइँ' 'केंहि' (केहि) का ही रूपांतर है।

(ख)--अपभ्रंश के बाद 'उक्तिव्यक्ति', 'वर्णरत्नाकर', 'कीर्तिलता' तथा पुरानी अवधी और व्रज मे कही कही अधिकरण कारक में अँ-आँ विभक्ति का प्रयोग मिलता है, जिसे डा० चटर्जी ने इसी हि विभक्ति से संबद्ध मानने का सुझाव दिया है[1]।

---

1. डा० चटर्जी, वर्णरत्नाकर—अंग्रेजी भूमिका, पृ० ५१।

सेजॅं ओलर (उक्ति०) ।

तेहू करि समाँ अहुतु गुणिया भए (उक्ति०) ।

पात्रँ देयिते थमलि (वर्ण०) ।

सेवाँ बइसल छथि (वर्ण०) ।

लाभ जानि आएउँ एहि हाटाँ ।

मूर गँवाई चलेउं एहि बाटाँ (पद्मा०) ।

अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी (मानस) ।

४—न्हि, न्ह विभक्ति और उसके विविध रूपांतर—

अपभ्रंश में न्हि, न्ह जैसी कोई विभक्ति नही मिलती। परंतु अपभ्रंश के बाद 'उक्तिव्यक्ति', "वर्णरत्नाकर' 'कीर्तिलता' तथा अवधी और ब्रजभाषा के ग्रंथों मे इसका प्रयोग व्यापक रूप से दिखाई पड़ता है। विद्वानों का अनुमान है कि यह मिश्रित विभक्ति है जो अपभ्रंश की दो भिन्न विभक्तियों (करण कारक, बहुवचन की—हि < भि और संवध कारक, बहुवचन की—ण <आनाम्) के संयोग से बनी है[1]।

लेकिन अपभ्रंश मे संबंध कारक, बहुवचन की विभक्तियों में हँ, ह वाले रूप अधिक मिलते हैं। इनके अतिरिक्त आणँ, आण विभक्तिवाले प्राकृतप्रभावित रूप भी यत्र तत्र दिखाई पड़ जाते हैं लेकिन परिनिष्ठित अपभ्रंश में इनका प्रचलन बहुत कम था। इस तरह न तो अपभ्रंश मे और न प्राकृत में ही संबंध कारक बहुवचन में ण जैसी कोई विभक्ति मिलती है। ऐसी दशा में न्हि, न्ह की व्युत्पत्ति के लिये प्राकृत आण और अपभ्रंश हि के संयोग का ही सहारा लेना पड़ेगा, जो अन्य किसी संतोषप्रद व्युत्पत्ति के अभाव में अबतक बहुमान्य है।

न्हि, न्ह का प्रयोग सामान्यत. कर्म, संप्रदान, करण,

---

१. डा० चटर्जी, वही पृ० ४७।

अधिकरण और संबंध कारकों मे परसर्ग सहित और परसर्ग-रहित दोनों स्थितियो में मिलता है। अपादान कारक में प्रायः इसका प्रयोग परसर्ग के साथ विकारी रूप में ही दिखाई पड़ता है, परंतु, न्ह, न्हि का प्रयोग जब करण कारक में होता है, तो प्रायः भूतकालिक कृदंत तद्भव सकर्मक क्रियाओं के कर्ता के रूप में होता है।

वायसन्हि कोलाहल करु (वर्ण०)।
भमरन्हि पद्म त्यजल (वर्ण०)।
लव्वे भन्तिन्ह कियउ पथ्थाव (कीर्ति०)।
उन वानन्ह आस को जो न मारा (पद्मा०)
जात पवनसुत देवन्ह देखा (मानस)।
बात अस लरिकन्हि कही (मानस)।

(क) आगे चलकर अवधी और व्रज मे 'न्ह' का महाप्राणत्व लुप्त हो गया और वह केवल न के रूप में अवशिष्ट रह गया। न्ह>की प्रवृत्ति का सूत्रपात 'वर्ण रत्नाकर' के समय से ही हो गया था लेकिन प्रयोग की स्वल्पता देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय तक उस प्रवृत्ति का सूत्रपात ही हुआ था।

पूरे 'वर्णरत्नाकर' मे न विभक्ति का केवल एक उदाहरण मिलता है। काचनगिरि काँ श्रृंग मयूरन चरइतें अछ।

अवधी और व्रज मे इस न के दो रूप और मिलते हैं— नि और नु।

निज निज मुखनि कही निज होनी (मानस)।
सखी इन नैनन ते घन हारे (सूर०)।
पलन प्रकटि बरुनीन बढ़ि, नहिं कपोल ठहरात (विहारी०)।
अनियारे दीरघ दृगनि (विहारी)।

(ख) अंत में न्ह विभक्ति घिसते घिसते खड़ी बोली में आकर केवल ओं के रूप में अवशिष्ट रह गई जिससे सभी कारकों के बहुवचन में परसर्गों के पूर्व विकारी रूप निर्मित होते हैं; जैसे आँखों को देखा, आँखों ने देखा, आँखों से देखा, आँखों देखा आँखों के लिये देखा, आँखों का देखा, आँखों में देखा और आँखों से गिरा।

५ - इनके अतिरिक्त अपभ्रंश की अन्य विभक्तियों का प्रयोग परवर्ती काल में बहुत कम हो गया और धीरे धीरे अवधी ब्रज और खड़ी बोली का उदय होते होते वे सर्वथा अप्रचलित हो गईं। 'कीरति गई समुद्रहँ पारा' जैसे प्रयोग जायसी ने भी किए हैं; 'घरहँ जमाई सों घट्यो खरो पूस दिन मान' जैसे प्रयोग बिहारी के समय तक दिखाई पड़ते हैं जिनमें अपभ्रंश के संबंध कारक, बहुवचन की विभक्ति हँ अवशिष्ट है। इसी तरह पृथ्वीराज रासो में 'जादू कुलह अभग्ग' जैसे प्रयोग मिलते हैं जिनमें अपभ्रंश के संबंध कारक एकवचन की विभक्ति—ह सुरक्षित है। कारण स्पष्ट है। भाषा में एक बार जो ध्वनि संबंधी प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है, फिर उसका पुनरुद्धार प्रायः नही होता, किंतु व्याकरणिक प्रवृत्तियों के विषय में यह नियम लागू नहीं होता। प्राचीन विभक्ति, प्रत्यय अथवा परसर्ग बहुत दिनों तक अवशिष्ट और सुरक्षित रहते हैं।

अस्तु 'घरहँ जमाई' और 'जादू कुलह' जैसे प्रयोग अपवाद ही माने जायँगे।

इन अपवादों के अतिरिक्त अपभ्रंश की हु, हुं, हो

आदि विभक्तियाँ या तो अप्रचलित हो गईं, या लुप्त हो गई अथवा यह कहा जाय कि वे अवधी, व्रजभाषा और खड़ी बोली के विकारी प्रत्ययों में समाविष्ट हो गईं।

६—परसर्ग—लुप्तविभक्तिक पदों के कारण वाक्यविन्यास में अस्पष्टता आना स्वाभाविक था। अतः इसको दूर करने के लिये अनुसर्गों और परसर्गों का प्रयोग अपभ्रंश में बढ़ा। 'परसर्ग' रूप की दृष्टि से स्वतंत्र शब्द थे और किसी पद के साथ कारक संबंध प्रकट करने के लिये प्रयुक्त होते थे। परंतु विभक्ति प्रत्यय से 'परसर्ग' भिन्न हैं क्योंकि शब्दरूप में परिवर्तन होने पर भी इनमें परिवर्तन नहीं होता। अपभ्रंश के मुख्य परसर्ग केरअ, मज्झ, उप्परि, केहि, तण, लागि, होन्तउ तथा सहुँ हैं। हिंदी में इनके रूप इस प्रकार मिलते हैं—

(१) केरअ—केरा, केर, के, < कइ < करि < कर, क।

(२) मज्झ—माँह, मँह आगे चलकर मैं तथा मे।

(३) उप्परि—परि, पर।

(४) संप्रदान परसर्ग केहि केहिँ कहुं अथवा कहँ रूप मिलते हैं। जो आगे चल कर कॉ-कौं-कूँ और को मे परिवर्तित हो गए।

(५) तण—अपभ्रंश के उपरांत यह तण तन, तई, तैं, ते और त्यों मे बदल गया है; यथा—पियतन चितइ भौंहँ करि बाँकी (तुलसी)।

(६) संप्रदान परसर्ग लागि और उसके रूपांतर—लागि का प्रयोग परिनिष्ठित अपभ्रंश मे तो नहीं मिलता, लेकिन उसके बाद वर्णरत्नाकर और कीर्तिलता में इसका प्रयोग बहुतायत से मिलता है। आगे चलकर अवधी में भी यह प्रचलन दिखाई पड़ता है।

जनि एहि आलिगए लागि एक कृष्ण चतुर्भुज भए गेलाह (वर्ण०)।

तेसरा लाग तीनू उपेक्खिअ (कीर्ति०)।

की ओहि लाग हिवंचल सोभा (पद्मा०)।

छन सुख लागि जनम सत कोटी (मानस)।

पर व्रजभाषा और खड़ी बोली में लागि का प्रयोग नहीं हुआ। इसके स्थान पर खड़ी बोली में प्रायः लिये का प्रयोग मिलता है। विद्वानों के अनुसार लिये का संबंध संस्कृत के लग्न से है और यदि यह अनुमान सही है तो लग्न और लिये के बीच की कड़ी निश्चय ही लागि होनी चाहिए।

७—होअंतउ—हेमचंद्र व्याकरण में केवल तीन उदाहरण हैं। आगे चलकर यह हुंते (कीर्ति०), हुँते, हुंत (अवधी में) बन गया है।

हुंत का संबंध √ भू धातु के कृदंतज रूप से होने के कारण हिंदी बोलियों में इसके और भी रूप प्रचलित हो गए, जिनमें से कुछ तो ह मूलक है और कुछ भ मूलक; जैसे—

बैठ तहाँ होई लंका ताका (पद्मा०)।

ऊपर भए सो पातुर नाचहि (पद्मा०)।

भरत आई आगे भए लीन्हे (मानस०)।

संभवतः ये दोनों रूप भू के पूर्वकालिक रूप के तद्भव हैं। इनका प्रयोग केवल अवधी में ही दिखाई पड़ता है; व्रजभाषा और खड़ी बोली मे ये अप्रयुक्त हैं।

करण परसर्ग सहुँ और उसके रूपांतर—इसका संबंध संस्कृत सह से स्पष्ट है। अपभ्रंश में करण कारक के लिये प्रायः विभक्ति प्रत्यय का ही प्रयोग होता था, संभवतः उसके लिये किसी परसर्ग की आवश्यकता बहुत बाद में अनुभव की गई।

हेमचंद्र के प्राकृत व्याकरण मे करण कारक के लिये सहुँ का प्रयोग एक स्थान पर मिलता है—

जइ पवसन्ते सहुँ न गय (हेम० ४।४१९)।

(क) 'उक्तिव्यक्ति' मे इसके लिये सउँ और सेउँ दो रूप मिलते हैं—

दूजने सउँ सब काहु तूट (३७।२३)।
घिएँ सांकरे सेउँ खातु (२१।२१)।

(ख) 'वर्णरत्नाकर' और 'कीर्तिलता' मे इसके लिये सओं रूप मिलता है—मृत्यु सओं कलकल करइतें अछ (वर्ण०)।

(ग) व्रज और अवधी मे संधि की प्रक्रिया से सओं का सों हो गया—औ विनती पंडितन्ह सों भजा (पद्मा०)।
कर सो पद पलुटावति (सूर०)।

(घ) अवधी मे सहुँ सउँ का एक और रूपांतर सन भी मिलता है—सो मो सन कहि जात न कैसे (मानस)।

(ङ) जिस प्रकार कहुँ के 'को' और 'कूँ' दो रूप मिलते हैं, उसी तरह सहुँ का भी 'सो' के अतिरिक्त कहीं कहीं सूँ रूप भी मिलता है।

(च) स्वरपरिवर्तन तथा निरनुनासिकता के द्वारा सों से से रूप भी बन गया जो कीर्तिलता से ही मिलता चला आ रहा है। इसका प्रयोग करण और अपादान दोनों कारकों मे होता है—

विपक्ख केन मेन हेरि हिंसि हिंसि दाम से (कीर्ति०)।
निसान सद्द भेरि संग खोणि खुंद तास से (कीर्ति०)।

उर्दू तथा खड़ी बोली मे एक कर्तृवाचक परसर्ग 'ने' है जो भूतकालिक सकर्मक क्रिया के कर्ता के साथ लगता है; जैसे वाने

कहीं उसने कही। विद्वानों 'ने' इस ने को संस्कृत की तृतीया, एकवचन की विभक्ति एण से संबद्ध किया है; लेकिन एण से ने तक के विकास की अन्य अवस्थाएँ प्राय. उपलब्ध नहीं होती। परिनिष्ठित अपभ्रंश में भी ने का कोई प्रारूप प्राप्त नही होता।

अपभ्रंश से आधुनिक खड़ी बोली तक के परसर्गों के विकास पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि खड़ी बोली के अधिकांश परसर्गों के मूल आधार अपभ्रंश में ही हैं। इसके अतिरिक्त क्रमशः अवधी, ब्रजभाषा और खड़ी बोली की तीन अवस्थाओं से गुजरने पर एक ही परसर्ग काफी घिस घिसाकर परिमार्जित हो गया। 'सहुँ' से 'से', 'कहुं', से 'को', 'महँ' से 'मे', 'केरअ' से 'का' आदि क्रमशः परिमार्जन के प्रमाण हैं। हर्ष का विषय है कि परसर्गों के इन विविध रूपांतरों की प्रायः सभी अवस्थाओं के अवशेष हिंदी की किसी न किसी बोली में मिल जाते हैं। प्रयोग की दृष्टि से जो तीसरा तथ्य सामने आता है वह यह है कि अपभ्रंश के बाद से कारक विभक्तियों की अपेक्षा परसर्गों का प्रयोग क्रमशः अवधी से परवर्ती ब्रज में और ब्रज से खड़ी बोली में बढता गया।

सर्वनाम—कामताप्रसाद गुरु के अनुसार आधुनिक हिंदी में कुल मिलाकर ११ सर्वनाम हैं[1]। मै, तू, आप, यह वह, सो, जो, कोई, कुछ, कौन और क्या। प्रयोग के अनुसार इनके ६ भेद हैं—पुरुषवाचक, निजवाचक, निश्चयवाचक, संबंधवाचक, प्रश्नवाचक तथा अनिश्चयवाचक। इन सर्वनामों

१. कामताप्रसाद गुरु—हिंदी व्याकरण, संशोधित संस्करण, ना० प्र० सभा, काशी, २००६ वि०, पृ० ६० ।

के विकारी रूप भी होते हैं। अपभ्रंश से उनका विकास इस प्रकार प्राप्त होता है—

(१) उत्तमपुरुष कर्ताकारक एकवचन मे हउँ, हौं, हों का प्रयोग कभी कभी कर्मकारक में भी होता है। यथा—

हौं इन बेची बीच ही (विहारी)।
हउँ झिजउँ तउ केहिं (हेम०)।

(२) मइँ और मैं—मूलत. करणकारक एकवचन के रूप हैं जिनका विकास संस्कृत मया से माना जाता है परंतु इसका प्रयोग अपभ्रंश मे कम और अवधी और व्रज मे हौ के बराबर ही होता है।

(३) हम और उसके अन्य रूप—अपभ्रंश मे 'हम' नहीं मिलता–हो का बहुवचन अम्हे है। अतः अम्ह>हम्ह> हम्म>से ही हम हो सकता है।

(४) मो और मोहि—परिनिष्ठित अपभ्रंश में ये रूप अप्राप्य हैं परंतु अवहट्ट मे मिलते हैं। खड़ी बोली मे मों और मोंहि के स्थान पर मोको, मोसो, मोपे, मोंमे और मोर रूप प्रचलित हो गए हैं।

मोर क्षेम को करहि (उक्ति०)।
होइ दोसु नहि मोर (तुलसी)।

(५) मुज्झ>मुझ—संप्रदान एकवचन का रूप है जिसमे विविध प्रकार की विभक्तियाँ जोडकर मुझे, मुझको मुझसे, मुझमे, मुझ पर आदि रूप बनते हैं।

(६) उत्तमपुरुष, सर्वनाम के रूपो की भाँति ही मध्यमपुरुष के भी रूप होते है इसमे भी तुहुँ, तेइँ, तुम, या तुम्ह, तौ और तुज्झ रूप मिलते हैं।

अन्य पुरुष तथा अन्य सर्वनामों के रूपों का विकास भी अपभ्रंश में प्राप्त होता है। वह का प्रयोग कर्ताकारक एकवचन में होता है। इसके अन्य रूप वे, उस, उन अपभ्रंश अवशेषों से बने हैं। इसी प्रकार निजवाचक अपना अपभ्रंश में अप्पण, निकटवर्ती अपभ्रंश में एह, आय, एहु, एही और एहि के रूप मे मिलते हैं। सबंधवाचक सर्वनाम जो तथा इसके विकारी रूप अपभ्रश में ज्यों के त्यों वर्तमान हैं। प्रश्नवाचक सर्वनाम अपभ्रंश में काईं और कवण दो रूप में मिलते हैं जिनसे हिंदी शब्द कौन तथा कोई की उत्पत्ति हुई है। कभी कभी कोउ और कुछ या कछु का प्रयोग भी मिलता है।

सार्वनामिक विशेषणों का विकास अपभ्रंश में सन्निहित है; यथा—को कस इहाँ (उक्तिव्यक्ति ३२।१), हेमचंद ने जइसो, तइसो, कइसो रूप दिए हैं (४।४०३)।

संख्यावाचक विशेषण हिंदी में अपभ्रंश से क्षतिपूरक दीर्घीकरण, समीकरण, स्वरसंधि आदि नियमों के द्वारा अपने ही अनुकूल बना लिए गए है। उदाहरणस्वरूप अपभ्रंश का चउद्दह हिंदी मे चौदह बन गया है। डा० तगारे ने अपभ्रंश और हिंदी के कुछ संख्यावाचक विशेषणों की तुलनात्मक सूची दी है।[1] उससे स्पष्ट है कि किस प्रकार अपभ्रंश ने हिंदी को सख्यावाचक विशेषण दिए हैं। अपूर्णांकबोधक, क्रमवाचक तथा आवृत्तिवाचक एवं समुदायवाचक विशेषणों का प्रयोग भी अपभ्रंश से ही विकसित हुआ है।

क्रिया—

सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं की भाँति हिंदी की क्रियाएँ भी प्रायः तद्भव है। वस्तुतः क्रिया ही विशेष

१. डा० तगारे–हिस्टोरिकल ग्रामर आफ अपभ्रंश, पैरा० ११४।

शब्द हैं। यह तत्सम हो ही नही सकते। जो तत्समवत् क्रिया प्रयुक्त होती हैं उसमे अन्य तद्भव क्रिया का योग रहता है। तद्भव होने के नाते हिंदी की क्रियाएँ विशेषतः अपभ्रंश के माध्यम से प्राप्त हुई हैं। संस्कृत से प्राकृत तक क्रिया की रूपावली में क्रमशः ह्रास होता गया और क्रिया के रूपों में कमी आती गई[१]। संस्कृत से पाली और पाली से प्राकृतों में क्रियाओं में सरलीकरण की प्रवृत्ति चलती रही। अन्य आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की तरह हिंदी के रूपांतरों का ढंग भी अत्यंत सरल है। पाँच धातुओं को छोड़कर अन्य धातुओं मे संस्कृत के गणों के समान किसी प्रकार का श्रेणीविभाजन नही हैं। प्रयोगों के भावों को प्रकट करने का ढंग भी हिंदी का अपना नया है। इसकी सहायता से हिंदी में प्रयोगों के भाव स्पष्ट रूप से किंतु सरलता से प्रकट हो जाते हैं। ये रूप संयोगात्मक हैं। कालों की संख्या हिंदी में पंद्रह के लगभग है तथापि रूपरचना की दृष्टि से कोई अड़चन नही पड़ती। प्रायः ये कृदंत अथवा कृदंतसहायक क्रिया के योग से बनते हैं। सबसे बड़ी विशेषता यह है कि हिंदी में क्रिया के रूपों की बनावट बहुत बड़ी संख्या में वियोगात्मक हो गई है। अपभ्रंश ने हिंदी की क्रियाओं के निर्माण में दुहरा योग दिया— धातुनिर्माण में और रूपरचना में।

धातु—

धातु क्रिया के उस अंश को कहते है जो समस्त रूपो मे पाया जाता है; यथा चलना, चलता है, चला, चलेगा आदि मे √चल्। हार्नले के अनुसार हिंदी धातुओं की संख्या लगभग ५०० है। हार्नले ने हिंदी धातुओ की जो सूची वर्गीकरण तथा व्युत्पत्ति के साथ दी है, उससे हिंदी धातुओं

१. डा० धीरेंद्र वर्मा—हिंदी भाषा का इतिहास, पृष्ठ २८८।

में अपभ्रंश के योगदान पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। हार्नले ने तद्भव धातुओं की संख्या ३९३ दी है। यहाँ कुछ धातुओं का उल्लेख है जिनमें अपभ्रंश ने पर्याप्त रूप में सहायता दी है —

(क) सामान्य ध्वनि परिवर्तन द्वारा निर्मित धातु यथा —
खा < √ खाद्, चू < √च्युत, तोड < √त्रुट, पड़ < √पत्

(ख) विकरणविशिष्ट धातु—संस्कृत में धातु गणों में विभाजित थीं और उनके रूपपरिवर्तन के लिये पृथक् पृथक् विभक्तियाँ थी जिनको लगाकर रूपरचना की जाती थीं। अपभ्रंश ने संस्कृत के विकरणयुक्त रूप को ही धातु स्वीकार कर लिया और हिंदी ने भी उनको ज्यों का त्यों अपना लिया। यथा—सुन < √ श्रु+नु; नाच < √ नृत् + य, बूझ < √ बुध + य। ऋकारांत धातुओं का रूप हिंदी में रकारांत हो गया। अथवा इ, उ, ऋ, लृकारांत धातुओं में स्वरावस्थान का क्रमशः गुण होकर ए, ओ औ हो गया। यथा—चेत >√चित, गिर > √ गृ आदि

(ग) गणपरिवर्तन से प्रभावित धातु—यथा, रो (रोव) < √ रुद्, आव < √ आव् , ले < √ ला।

(घ) कालपरिवर्तन से आविर्भूत धातु—यथा √ दृश् का लृट् द्रक्ष्यति होता है। अपभ्रंश और हिंदी में द्रक्ष्य के आधार पर देख बना।

(ङ) कृदंतयुक्त धातु—अपभ्रंश और हिंदी में इनकी संख्या अधिक है। यथा—चुक ≤ √ च्युत + क्त; पैठ > प्र + √ विश् + क्त (प्रविष्ट)

(च) सोपसर्गोपाद धातु—(उपसर्ग + धातु) यथा—ओढ़ < उप + √ विश्, उखाड़ < उत + √ कष्ट ।

(छ) इनके अतिरिक्त कुछ ऐसी धातु हैं जो देशज हैं क्योंकि उनकी उत्पत्ति केवल अनुमान का विषय है । हेमचंद्र के 'धात्वादेश' में से कुछ ऐसे ही आदेशों का उनके हिंदी रूपों के साथ उल्लेख है ।

कालरचना — अंच=ऐंच (कृप्); अफ्फुण=अफन, उफन; कोक्क = कूक । हिंदी के विविध कालो की क्रियाएँ अपभ्रंश के उन क्रियापदों से विकसित हैं, जिनमे से कुछ (क) संस्कृत के तिङंत रूपों के तद्भव हैं (ख) कृदंत रूपों के तद्भव हैं और (ग) तिङंत तद्भव और कृदत तद्भव है ।

तिङत तद्भव —

सहायक क्रिया—हिंदी मे है, हैं, हूँ, हो तथा था, थे, थी, थी आदि जो सहायक क्रियाएँ हैं, वे संस्कृत के तिङंत रूपों के अवशेष हैं और उन्हें वर्तमान रूप अपभ्रंश, अवधी, ब्रजभाषा आदि कई अवस्थाओ के माध्यम से प्राप्त हुआ है । इनका इतिहास निम्नलिखित है—

है तथा इसके अन्य रूप—विद्वानों ने है का संबंध संस्कृत के √अस के वर्तमानकालिक रूप अस्ति से माना है । अनुमानत. अस्ति और है के बीच अवस्थाएँ इस प्रकार हैं—

अस्ति > असति > अछइ > अहइ > अहै > है ।

इनमे से अपभ्रंश मे है, अहै और अहइ मे से कोई भी रूप प्राप्त नही होता । इनके स्थान पर अच्छ अथवा अच्छि अवश्य मिलता है; जैसे—

होसइ करत म अच्छि (हेम० ४।३८८)

अध्ययन करने से पता चलता है 'अवहट्ट' में भी 'अछ' वाले रूपों की ही प्रधानता थी और प्रारंभिक अवधी में भी कहीं कहीं 'अछ' वाले रूपों का प्रयोग प्रचलित था—

भलहि जो आछै पास (पद्मा०) ।

कँवल न आछे आपनि बारीं (पद्मा०) ।

परवर्ती अपभ्रंश में विकल्प से यत्र तत्र 'अह' वाले रूप भी मिलते हैं। अवधी और ब्रज में 'अह' वाले रूप के भी अवशेष दिखाई पड़ते हैं—

भाट अहै ईसर के कला (पद्मा०) ।

एहि घाट ते थोरिक दूर अहै (कवितावली) ।

'अहै' वाले रूप प्रधानतः अवधी के ही है। है का प्रयोग परवर्ती अवधी तथा ब्रज में भी मिलने लगता है--

है कछु कुटिल भाउ मन माहीं (मानस) ।

आवत है दिन गारि (सूर०) ।

था तथा उसके अन्य रूप - भूतकालिक सहायक क्रिया था का संबध कुछ लोग√ अस् से और कुछ √ भू - अभूत से मानते हैं। अभूत से था तक पहुँचने में अनेक प्रकार के ध्वनि-परिवर्तनों का अनुमान किया जाता है--

अभूत > अहूत > हूत > हुतो=हो, तो, था त+ह)

भाषा में था के पूर्वरूप की ये सभी अवस्थाएँ नही मिलती। ब्रजभाषा में हुतो, हो (ही, है), तो (ती, ते) आदि रूप मिलते है, था वाले रूप अपभ्रंश से लेकर ब्रजभाषा तक कही नही मिलते।

एक हुतो सो गयो स्याम सँग (सूर०) ।

पौन सो जागति आगि सुनी ही (घनानंद) ।

मैं हो आन्यो लोयननु जुरत बाढ़ि है जोति (विहारी०) ।

था वाले रूपों का प्रयोग खड़ी बोली की अपनी विशेषता मालूम होती है।

होगा और उसके अन्य रूप—

अपभ्रंश में भविष्यत् काल बनानेवाली सहायक क्रिया होगा अथवा उसकी तरह का कोई रूप नही मिलता। संभवतः आरंभिक ब्रजभाषा में भी इसका प्रयोग नही होता था। 'ग्रंथ साहब' में इसका प्राक्रूप मिलता है—

ना को मेरा किस गही ना को होआ न होग।
तिस बिन दूसर होआ न होग।

मिर्जा खा ने अपने 'ब्रजभाषा व्याकरण' (१६७६ ई०) मे भविष्यत् के लिये गा वाले रूप करूँगे, करोगे, करूँगी, करैगी, करेंगी आदि लक्षित किए हैं। गा वाले रूपों की व्युत्पत्ति के विषय में संदेह है। संभवतः सहायक क्रिया होगा तथा उसके अन्य रूप के हो और गा दो भिन्न क्रियाओं से उत्पन्न हुए है और फिर संयुक्त हो गए।

सामान्य वर्तमान काल—अपभ्रंश मे सामान्यतः सामान्य वर्तमान काल के रूप निम्नलिखित प्रकार के होते हैं—

	एक०	बहु०
अ० पु०	करइ	करहिं
म० पु०	करहि	करहु
उ० पु०	करउँ	करहुँ

अवधी और ब्रज में प्रायः ये रूप ज्यों के त्यों प्रचलित रहे; परंतु इनके साथ ही इनके कुछ विकृत रूप भी चल पड़े और अइ—ऐ, ए, अ, अहिं, अउं, ओं और अउं, ऊँ में बदल गए। इस प्रकार के प्रयोग तुलसी, सूर, कबीर तथा रसखान में पर्याप्त रूप में मिलते हैं।

सामान्य भविष्यत् काल—अपभ्रंश में भविष्यत् काल के रूप दो प्रकार के मिलते हैं—

(क)—स प्रकार; जैसे-करिसइ, करिसहि, करिसुं, करसहुं आदि।

(ख)—ह प्रकार; जैसे-करिहइ, करिहंहि, करिहहि, करिहहु, करिहउँ आदि।

दोनों ही संस्कृत के 'ष्य' वाले रूपों के अपभ्रंश हैं। इनमें से स प्रकार के रूप राजस्थानी और ह प्रकार के रूप अवधी, ब्रज आदि बोलियों में प्रचलित हो गए हैं। यथा—

उहाँ लगे मो लग्गसी (ढोला०)।
ह्वै है सोइ जो राम रचि राखा (मानस)।
पति रहिहै ब्रज त्यागे (सूर०)।

वर्तमान आज्ञार्थ—हेमचंद्र ने आज्ञा के लिये—इ, उ और ए प्रत्ययों का आदेश दिया है (प्रा० व्या० ४।३८७)। इस प्रकार सुमरि, विलंबु और करे तीन प्रकार के रूप बनते हैं। ये वस्तुतः हि प्रत्यय के विकार हैं। हिंदी बोलियों में इनके रूप इस प्रकार हैं—

बार हजार लै देखु परिच्छा (सुदामाचरित)।
अली जिय जिना (बिहारी)।

इनके अतिरिक्त हु और औ प्रत्ययवाले रूप भी मिलते हैं। खड़ी बोली में इनमें से केवल अ और ओ वाले रूप ही मिलते है; जैसे—तू कर और तुम करो।

कृदत तद्भव रूप—

वर्तमान कालिक कृदत--अपभ्रंश मे संस्कृत शतृ प्रत्यय वाले रूप अत लगाकर बनाए जाते थे और ऐसे वर्तमान-कालिक कृदत कभी किसी सहायक क्रिया की सहायता से तथा

कभी अकेले ही सामान्य वर्तमान काल का संकेत करते हैं; जैसे—

होसइ करत म अच्छ (हेम०) ।

यहाँ करत के साथ अच्छ सहायक क्रिया आवश्यक हो उठी है। यह प्रवृत्ति परवर्ती अपभ्रंश से होती हुई अवधी, व्रज और खड़ी बोली मे भी पहुँची।

भूतकालिक कृदंत—अपभ्रंश मे भूतकाल में प्रायः निष्ठा के ही रूप प्रचलित थे; तिङंत रूप नही। यही परंपरा भूतकाल के विषय मे हिंदी बोलियों मे भी दिखाई पड़ती है—

गयउ सु केहरि (हेम० ४।४२२)।

लपन सकोप वचन जब बोले (मानस)।

भविष्यत् कृदंत—अपभ्रंश मे कभी कभी तव्य तव्यत् प्रत्ययवाले रूप सामान्य भविष्यत् काल का कार्य करते थे; जैसे—

महु करिएव्वउं किं (हेम० ४।४३८)।

अपभ्रंश के इस रूप का प्रचलन अवधी तथा अन्य पूरबी मे दिखाई पडता है—

वेद पढव, स्मृति अभ्यासवि, पुराण देखव, धर्म करव (उक्ति०, १२)।

इस तरह के प्रयोग व्रजभापा मे भी मिल जाते हैं, किंतु खड़ी बोली मे ये रूप सर्वथा अप्रचलित हो गए हैं।

पूर्वकालिक कृदंत—हेमचंद्र ने अपभ्रंश मे पूर्वकालिक के लिये इ, एवि, अवि, इवि, इउ, एप्पि, एप्पिणु, एविणु आठ प्रत्ययो का विधान किया है (प्रा० व्या० ४।४३९-४०), लेकिन इनमे इ प्रत्यय का ही विशेष चलन दिखाई पडता है; जैसे—कर् + [illegible]रि। हिंदी बोलियों मे इ प्रत्ययवाले रूपो के अतिरिक्त इसके कुछ अन्य विकृत रूपों का भी प्रचलन रहा—

पकरि के (सूर०)।

खड़ी बोली में अधिकतर अ वाले रूप तथा उनके साथ कर्+अ=कर का प्रयोग करके पूर्वकालिक रूप बनाया जाता है; लेकिन जहाँ दो बार कर कर आता है वहाँ दूसरे कर का के हो जाता है और 'करके' रूप बनता है। इस तरह खडी बोली में चलकर और चल करके दोनों रूप चलते हैं।

संयुक्त काल—सामान्य वर्तमान, अपूर्ण भूतकाल, आसन्न भूतकाल तथा पूर्ण भूत सहायक क्रियाओं को जोड़कर बनाए जाते हैं। इनका मूल रूप भी अपभ्रंश मे प्राप्त हो जाता है।

संयुक्त क्रिया—संयुक्त काल के अतिरिक्त अपभ्रंश में संयुक्त क्रिया बनाने की भी प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। ये क्रियाएं प्रायः वर्तमानकालिक कृदंत, भूतकालिक कृदंत, पूर्वकालिक कृदंत और क्रियार्थक संज्ञा के विकारी रूपों की सहायता से बनाई जाती हैं। इनमें से प्रत्येक का इतिहास यथासंभव अपभ्रंश से लेकर खड़ी बोली तक का दिया जा सकता है जो विस्तार के भय से केवल कुछ उदाहरण देकर ही छोड़ दिया जाता है। यथा—

वर्तमानकालिक कृदंत निर्मित—अब्भा लग्गा डुंगरहि पहिउ रडन्तउ जाइ=रटता जाता है (हेम० ४।४४५)।

भूतकालिक कृदंत निर्मित—जइ भग्गा घर एंतु=भग्गा एंतु = भागा आता (हेम० ४।३५)।

अव्यय—

क्रियाविशेषण—कुछ एक को छोडकर अपभ्रंश के अधिकांश विशेषण संस्कृत के तद्भव हैं और थोड़े से ध्वन्यात्मक परिवर्तन के साथ उनमे से कई एक अवधी, ब्रज

तथा खडी बोली में प्रचलित दिखाई पडते हैं। नीचे ऐसे ही विविध क्रियाविशेषणों की सूची दी जा रही है।

(क) कालवाचक--अज्जु=अजु, आज; एवहिं (अधुना)= अवहिं, अब।

(ख) स्थानवाचक--कहिं (कुत्र)=कहँ, कहाँ; जहिं (यस्मिन्)=जहं, जहाँ।

(ग) रीतिवाचक--एउँ, इउँ, एवं (एवम्)=यों; णिरु, णिराइउ (नितराम्)=निरा।

(घ) विविध--अवस(अवश्यम्)=अवस, अवसि (अवधी); इ (अपि)=इ;

समुच्चयबोधक अव्यय अनु (अन्यथा)--

अपभ्रंश के अनु का प्रयोग हिंदी मे बहुत कम मिलता; 'मानस' में जहाँ अनु मिलता है, वहाँ उसके लिये 'अरु' पाठ भी मिलता है, अनु पाठ पं० शंभुनारायण चौबे के संस्करण मे ही सुरक्षित है।

जइ, जो (यदि); कि (वा); जैसे--अज्ज कि कल्लि।

वाक्यविन्यास—अपभ्रंश में प्रायः छोटे छोटे साधारण वाक्य ही मिलते हैं, एकसे अधिक वाक्य अथवा उपवाक्यों-वाले मिश्रित और संश्लिष्ट वाक्य बहुत कम मिलते है। मिश्रित वाक्य प्रायः वही आते हैं जहाँ एक वाक्य शर्तवाला होता है, जैसे—

जइ आवइ, तो आणिवइ (हेम०)।

परवर्ती अपभ्रंश मे एक से अधिक विशेषण उपवाक्यों को जोड़ने के लिये संबंधवाचक सर्वनाम 'जो' तथा उसके अन्य रूपों से मदद लेने की अपेक्षा 'एनाफोरिक' ढंग से स्वतंत्र वाक्यों में रखने की ओर प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है; जैसे—

णव घण रेह विणग्गय निम्मलकरु सरयरयणि पच्च्क्खु अमियभरु झरंतउ फुरत तह चंदह जिणणत्थु पियह संजणिय-सुहु मुहु विरहग्गिधूमि कइयलग्गि झंपियउ। (सं० रास०, १२२)

(नवघन रेखा विनिर्गत निर्मल करः शरद्रजन्यां प्रत्यक्ष-ममृतभरं क्षरन् स्फुरति तस्य चंद्रस्य जयनार्थं प्रियस्य संजनितसुखं मुखं विरहाग्निधूमेन क दिनमारभ्य झंपितम्)

इस प्रकार वाक्यविन्यास के लिये अपभ्रंश मे विभक्ति-व्यत्यय, कर्मवाच्य के प्रयोग की विशेषता, क्रियासंबंधी कुछ विशिष्ट प्रयोग तथा संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग आदि सभी प्राप्त होते हैं जो आगे चलकर खड़ी बोली में विशेष रूप से विकसित हुए हैं।

शब्दकोश—

हिंदी के शब्दकोश को चार भागों में विभाजित कर सकते हैं।

(१ तत्सम—संस्कृत के ज्यों के त्यों शब्द, यथा रात्रि, (२ तद्भव—जो शब्द संस्कृत के विकृत रूप हों, काम अछरी (अप्सरा), (३) देशज, (४) विदेशी- जो अरबी, फारसी तथा अंगरेजी से आए है, यथा—लालटेन, टेशन आदि।

अपभ्रंश का प्रभाव तद्भव शब्दों पर ही देखा जा सकता है। हय, गय, लोयन, मैन, अपछरा तथा मयंक आदि अनेक शब्दों का प्रयोग अवधी, व्रजभाषा में होता रहा है। परंतु धीरे धीरे तत्सम शब्दों की रुचि बढत जा रही है। हिंदी का विशुद्ध साहित्य भक्तिकाल से प्रारंभ होता है। भक्तिकाल की प्रेरक शक्तियाँ प्राचीन संस्कृत ग्रंथों के साथ थीं। अतः स्वभावतः तत्सम शब्द अधिक प्रयोग में आने लगे। फिर भी अपभ्रंश से

आए हुए शब्दों का भंडार कम नही है। अनेक शब्द अपभ्रंश के द्वारा आकर हिंदी मे मिल गए है जिनकी पूरी सूची देना यहाँ न सभव है और न आवश्यक। उदाहरण के लिये कुछ शब्द दिए जाते हैं :—

अपछरी, अछरी (अप्सरा), कुजात (विजाति), दुकाल (दुष्काल), धरती (धरित्री), घिउ (घृत), जिउ (जीव), नह (नख), पत (इज्जत), पहिराना (परिधान करना), उमस (ऊष्मा, उसांस (उच्छ्वास), पायक (दूत, सेवक), पेखना (प्रेक्षण), फोकट, वाट (वर्त्मन्), रसरी (रश्मि+डी), राकस (राक्षस), रैन (रजनी), उपासी (उपवासी), संघाती (संगी) आदि।

इस प्रकार साहित्यिक परंपराओं तथा भाषा के विकास का ऐतिहासिक संबंध देखने के उपरांत हमे राहुलजी के मत से सहमत होना पड़ता है। हिंदी के विकास को समझने के लिये सीधा संस्कृत से संबंध जोड़ना हानिकारक है। हिंदी और संस्कृत के मध्य की कड़ी अपभ्रंश है जिसने संस्कृत की परंपराओं मे परिवर्द्धन किया, संशोधन किया, सौकुमार्य एवं सरलता का सन्निवेश कर एक नवीन प्रगति दी। काव्य विधाओं को तथा साहित्य को सार्वजनीन धरातल तक लाकर सामंतवर्गीय विलासिता एवं कामुकता के चित्र दिए। साधना के क्षेत्र मे गुह्यात्मक एवं रहस्यवादी साधना का प्रचलन किया। रूढ़ियों के प्रति विद्रोह की नीव डाली। जाति पाँति तथा वर्गगत विभेदों के प्रति अश्रद्धा के स्वर तीव्र किए जिसका परवर्ती युग ने समुचित लाभ उठाया।

अध्याय ७

विद्यापति और उनका काव्य

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने हिंदी साहित्य के इतिहास में कवि विद्यापति का दो स्थलों पर उल्लेख किया है। प्रथम, अपभ्रंश की काव्यचर्चा करते हुए आपने विद्यापति की 'कीर्तिलता' तथा 'कीर्तिपताका' का उल्लेख किया है। आपने इन दोनों पुस्तकों की भाषा को पूर्वी अपभ्रंश स्वीकार किया है[1] जिसकी विशेषता देशी भाषा का सम्मान और तत्सम शब्दों का प्रयोग है। पुनः आदिकाल के अंतिम फुटकल कवियों में आपकी गणना की गई है।[2] आदिकाल की मुख्य प्रवृत्तियाँ शुक्लजी के अनुसार वीरों का यशवर्णन था। विद्यापति की कीर्ति का मुख्य श्रेय उनकी पदावली को है वह वीर गाथाओं में नही गिनी जा सकती। संभवतः पदावली के आधार पर ही विद्यापति का नाम फुटकल कवियों मे रखा गया। विद्यापति की कविता के माधुर्य से मुग्ध होकर बंगाली लोग विद्यापति को बगीय मानने लगे थे। महाप्रभु चैतन्य देव सदृश भक्त कवि विद्यापति के पद गाते गाते भाव विभोर होकर अलौकिक आनंद प्राप्त करते थे। चैतन्य देव की शिष्य परंपरा मे विद्यापति की पदावली गृहीत हुई, अतः इस आधार पर विद्यापति को भक्त कवियों में स्थान प्राप्त हो गया। इधर हिंदी के कुछ इतिहासकार उन्हें कृष्णभक्ति शाखा के कवियों में गिनने लगे।[3] अतः

---

१. आचार्य रामचंद्र शुक्ल—हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ३२।

२. वही, पृष्ठ ७०।

३. डा० रामकुमार वर्मा—हिंदी का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ ५०२।

विद्यापति के लिये यह कम गौरव की बात नहीं है कि उन्हें तीन प्रांतवाले समान की दृष्टि से देखते ही नहीं अपितु अपनाते हैं।

कवि विद्यापति को प्रकाश मे लाने का श्रेय भाषातत्व-विशारद श्रीयुत ग्रीअर्सन महोदय को है। कवि के पदों के माधुर्य से प्रभावित होकर आपने मिथिला मे मौखिक रूप मे प्रचलित ८२ पदो का संग्रह 'मैथिल क्रस्टोपैथी' के नाम से सन् १८८२ ई० मे प्रकाशित कराया। इससे प्रथम जून सन् १८७५ ई० के 'वंगदर्शन' नं० २ पार्ट ४ मे स्वर्गीय राजा कृष्ण मुखोपाध्याय ने एक प्रवध निकाला जिससे विद्यापति के इतिहास मे एक युगांतर स्थापित हो गया[1]। आपने यह सिद्ध कर दिया कि विद्यापति मैथिल थे वंगाली नही। तदुपरांत अन्य विद्वानों ने भी गवेषणापूर्वक निवंध लिखे और यह बात स्वीकार कर ली गई कि विद्यापति मिथिला निवासी थे। उनका निवासस्थान दरभंगा जिले के अंतर्गत विसपी (विसपी गढ़) ग्राम था। यह विवाद अव समाप्त-प्राय है परंतु फिर भी संक्षेप मे उन प्रमाणो का देना अनुचित न होगा जिनके आधार पर विद्यापति मिथिलावासी माने जाते हैं—

(१) सबसे सच्चा तथा मौलिक प्रमाण कवि की पदावली की भाषा है। भाषावेत्ताओं ने वंगाली और मैथिली भाषाओं की विभिन्नता खोज निकाली और उनके आधार पर पदावली की भाषा मिथिला के उपयुक्त है क्योकि मैथिली की क्रियाओ में विभिन्न लिंगो मे विभिन्न रूप उपलव्ध होते हैं यथा राम गेलाह, (राम गया , गौरी गेलीह (गौरी गई , परतु यह वात वॅगला मे अप्राप्त है।

१. शिवनदन ठाकुर - महाकवि विद्यापति, पृष्ठ २—३।

(२) मिथिला में कुलीन मैथिल ब्राह्मणों में पंजी का अपूर्व प्रचार है। इसमें ब्राह्मणों के वंश का उल्लेख रहता है। मिथिला की पंजी में विद्यापति की वंशावली प्राप्त होती है।

(३) विद्यापति की रचनाओं में जो भी राजाओं के नाम हैं वे सब मिथिला निवासी हैं।

(४) विद्यापति रचित शैव सर्वस्वसार, गंगावाक्यावली आदि ग्रंथ मिथिला में उपलब्ध हुए हैं।

(५) विद्यापति का भौगोलिक वर्णन मिथिला से ही साम्य रखता है। उन्होंने जिस नदी और स्थान का वर्णन 'पुरुष परीक्षा' में किया है वह मिथिला में ही है।

(६) मिथिला में विद्यापति के संबंध में अनेकों जन-श्रुतियाँ प्रचलित हैं। विद्यापति की शिवभक्ति से प्रसन्न हो शिव का उदना (उगना) नाम से विद्यापति की सेवा करना, पत्नी द्वारा प्रताड़ित किए जाने पर विद्यापति का रहस्य खोल देना और तदुपरांत पागल सा हो जाना। मृत्यु समय पर गंगा का आह्वान तथा गंगा का उनके समीप आना, विद्यापति की चिता पर सहसा शिवलिंग का प्रकट होना, उनके सहपाठी पक्षधर मिश्र का अतिथि के रूप में उनकी धर्मशाला में आना, तथा किसी का ध्यान उनकी ओर न जाने पर स्वयं विद्यापति का उनके पास पहुँचना और यह कहना 'प्राघुणो॰ घुणवत् कोणे सूक्ष्मत्वान्नोपलक्षितः'[1]। पक्षधरजी का प्रत्युत्तर देना 'नहि स्थूलधियः पुंसः सूक्ष्मे दृष्टिः प्रजायते।' तब दोनों मित्रों की पारस्परिक भेंट, आदि न जाने कितनी किंवदंतियाँ मिथिला में प्रचलित हैं।

---

१. डा॰ बाबूराम सक्सेना—कीर्तिलता की भूमिका, पृष्ठ ११।

(७) विद्यापति का अंतिम काल का स्मारक शिव मंदिर वाजितपुर स्टेशन के पास मिथिला मे है।

(८ इनके अतिरिक्त विद्यापति रचित कीर्तिलता, तथा विद्यापति द्वारा हस्तलिखित पुस्तकों की प्राप्ति मिथिला में कवि चंदा झा तथा स्व० लोकनाथ झा के यहाँ मिली थी। विद्यापति की कोई रचना बंगाल मे नही प्राप्त हुई।

(९) राजा शिवसिंह द्वारा दिया हुआ ताम्रपत्र आज भी दरभंगा निवासी रतिकांत चौधरी के पास है।

(१०) जान वीम्स, ग्रियर्सन, नगेंद्रनाथ, महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री आदि विद्वान् विद्यापति को मैथिल ही मानते हैं।

(११) विद्यापति रचित नचारी तथा शिवभक्ति संबंधी पदों का विहार के मंदिरों मे आज भी उपयोग होता है और अनेक शृंगारी पद लोकगीत के रूप में विवाह आदि उत्सवों पर गाए जाते है।

परंतु आश्चर्य है कि यह सब होते हुए भी मिथिला में विद्यापति बहुत दिनो तक अज्ञात ही रहे। कारण संभवतः वही संस्कृतप्रेम था जिसके कारण मध्यकाल मे मध्य देश में लोकभाषा का साहित्य नही पनप सका। मिथिला भी गत शताब्दियों मे संस्कृत का केंद्र रहा। अतः वहाँ भी 'भाषा' के कवि की उपेक्षा रही और मैथिल विद्वान् मैथिली मे कविता करने से कोसो दूर भागते रहे। उनकी धारणा हो गई थी कि कविता की भाषा संस्कृत या प्राकृत है[१]। मैथिल के प्रसिद्ध कवि चंदा झा को रामायण को लोकभाषा मे लिखने पर वही

---

१. शिवनंदन ठाकुर—महाकवि विद्यापति, पृष्ठ २।

संमान मिला था जो गोस्वामी तुलसीदास को काशी के संस्कृताभिमानी विद्वानों द्वारा मिला था।

विद्यापति केवल कवि ही न थे। वे उच्च श्रेणी के शृंगारी कवि, संगीतलेखक, स्मृतिकार, राजनीति तथा नीतिशास्त्र विशारद, भूगोल के पंडित तथा सभाचतुर व्यक्ति थे। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा 'देशी वयना' (अर्थात् मैथिली) में कविता करना उनके लिये अत्यंत सरल कार्य था। मैथिली भाषा उस समय अपनी प्रधान राष्ट्रीय भाषा से पृथक् होने का प्रयत्न कर रही थी। परतु परवर्ती अपभ्रश से उसका संबंध कुछ बना हुआ था। हम गत अध्याय में कह चुके हैं कि विद्यापति ने 'कीतिलता' अवहट्ट में लिखी जो शौरसेनी अपभ्रंश से प्रभावित थी। शौरसेनी के प्रभाव से चर्यागीत तक प्रभावित रहे हैं। अतः 'पदावली' को हिंदी साहित्य के आदिकाल मे खींच लिया गया तो ठीक ही किया गया। हमारी स्थापना के अनुसार भी विद्यापति अपभ्रंश काव्यपरंपरा के पूर्वी प्रदेश में अंतिम कवि हैं। उनकी पदावली में जो शृंगार का मधुर प्रवाह एवं स्वाभाविक वर्णविन्यास है वह रसिकों को तथा भावुकों को बरबस अपनी ओर खीच लेता है। परंतु इस महान कलाकार का व्यक्तित्व कुछ अपूर्व रहस्यमय है। सब कुछ ज्ञात होने पर भी उनकी जीवन सामग्री विवाद का विषय है। उन्होंने अपने विषय मे बहुत कम लिखा है और जो कुछ भी लिखा है वह अपने आश्रयदाताओं के विषय में अथवा उनके आज्ञानुसार।

भारत के अन्य श्रेष्ठ कवियों की भाँति विद्यापति का जन्म कब हुआ यह अनुमान का विषय है। विद्यापति का संबंध एक विशिष्ट राजघराने से रहा है। इस रूप मे वह केवल कवि न होकर ऐतिहासिक व्यक्ति भी स्वीकार किए जा सकते है परंतु

अभाग्यवश इतने प्रसिद्ध व्यक्ति की जन्मतिथि तथा जीवनकाल के विषय में कोई मतैक्य नही।

कालनिर्णय—विद्यापति की जन्मतिथि का जब कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता तब उनके काल का निर्णय विद्यापति रचित ग्रथ तथा अन्य समसामयिक ग्रंथों मे उल्लिखित तिथि के ही आधार पर किया जा सकता है। जो सामग्री उपलब्ध है वह इस प्रकार है—

(१) विद्यापति के स्वहस्तलिखित भागवत के अंत मे लक्ष्मण संवत् ३०९ का उल्लेख है[1]।

(२) संभवतः लिखनावली २९९ ल० सं० मे लिखी गई।

(३) लक्ष्मणाब्द २९३ में देवीसिंह की मृत्यु हुई उसी वर्ष शिवसिंह का राज्याभिषेक हुआ। अवहट्ट मे यह रचना इस प्रकार है—

अनल[3] रंध्र[9] कर[2] लक्खन नरवइ सक
समुद्द[4] कर[2] अगिनि[3] ससी।
चैत कारि छठि जेठा मिलिओ
वार वेहप्पय जाहु लसी॥
× × ×
विज्जावइ कविवर एहु गावए मानव मन आनद भएओ।
सिंहासन सिवसिंह वइठ्ठौ उच्छवै वैरस विसरि गएओ॥[2]

(४) विद्यापति की सनद में ल० सं० २९३ का उल्लेख है।

(५) विद्यापति की आज्ञा से देवशर्मा और प्रभाकर द्वारा

---

१. डा० बाबूराम सक्सेना—कीर्तिलता की भूमिका, पृ० १४।
२. मजूमदार—विद्यापति की पदावली, पृ० ८।

ल० सं० २९१ में लिखित काव्यप्रकाश विवेक बंगाल एशियाटिक सोसाइटी को प्राप्त हुआ है[1]।

(६) राजा शिवसिंह की मृत्यु के ३२ वर्ष उपरांत विद्यापति ने स्वप्न देखा[2]। जिसमें राजा शिवसिंह का वर्ण काला था। इस पद से ज्ञात होता है कि विद्यापति का देहावसान राजा शिवसिंह के ३२ वर्ष बाद हुआ।

(७) धीरसिंह की आज्ञा से रत्नेश्वर ने 'सेतुदर्पणी' लिखी। उस पुस्तक के अंत में उसका समय ल० सं० ३२१ दिया हुआ है। इन्ही राजा के राजत्व काल में विद्यापति ने 'दुर्गाभक्ति तरंगिणी' की रचना की।

(८) विद्यापति ने कीर्तिलता का रचनाकाल ल० सं० २५२ दिया है वह पंक्ति इस प्रकार है—

लक्खणसेन नरेश लिहिअ जवे पष्ख[2] पंच[5] वे[2]।

अर्थात् जब ल० सां० २५२ था तब कीर्तिलता लिखी गई।[3]

(९) राजतरंगिणी में नासिर शाह का नाम आया है। नासिर शाह का राजत्वकाल १४२६ ई० से १४५१ ई० तक माना जाता है।[4]

(१०) विद्यापति के युग में 'अपभ्रंश' साहित्यिक भाषा थी। अतः उन्होंने अपनी प्रारभिक रचनाओं में अवहट्ट (अपभ्रंश) को लिया और उनके समय में ही अपभ्रंश का युग समाप्त हो गया और 'देशीवयना' ने स्थान के लिया।

---

१. शिवनंदन ठाकुर—महाकवि विद्यापति, पृ० ७१६ (पाद टिप्पणी)।

२. मजूमदार—विद्यापति की पदावली, पृ० ५८०।

३. डा० बाबूराम सक्सेना—कीर्तिलता, पृ० १६।

४. शिवनदन ठाकुर—महाकवि विद्यापति, पृ० २७।

(११) विद्यापति के एक पद में राजा भोगीश्वर का नाम मिलता है—

विद्यापति कवि गाविग्रा रे तोके ग्रछ गुनक निधान।
राउ भोगिसर गुन नागरा रे पदमा देवि रमान ॥[1]

यदि इस पद को प्रामाणिक मान लिया जाता है तो विद्यापति का समय अत्यंत दीर्घ हो जाता है क्योंकि भोगीश्वर कीर्तिसिंह के पितामह थे। अतः श्रीयुत मित्र तथा मजूमदार महोदय इसे किसी अन्य व्यक्ति की रचना मानते हैं[2]।

उपर्युक्त विवरणों से केवल इतना पता चलता है कि विद्यापति का रचनाकाल ल० स० २५२ से ३२१ तक चलता रहा। पं० शिवनंदन सिंह ठाकुर को यही अनुमान युक्तिसंगत प्रतीत होता है[3]।

विद्यापति के जन्म का समय निश्चित करने मे तो अत्यधिक कठिनाइयाँ हैं पर उनकी मृत्यु के समय का निश्चित करना कुछ सुगम है। शिवसिंह का राज्याभिषेक ल० सं० २९३ मे हुआ और उन्होंने ३ वर्ष और ९ महीने राज्य किया। उनकी मृत्यु के उपरांत ३२ वर्ष वाद विद्यापति की मृत्यु हुई, जैसा कि विद्यापति रचित पद्य मे वर्णन है[4]। विद्वानों ने ब्रह्मवैवर्त पुराण के आधार पर स्वप्नफल का समय १ वर्ष (प्रथम प्रहर का स्वप्न), ८ मास (दूसरे प्रहर का), तीन मास (तीसरे प्रहार का) और १५ दिन (चतुर्थ प्रहर का) माना है। इसके अनुसार विद्यापति की मृत्यु ३२९ ल० सं०

१. नगेन बाबू—पदावली, इंडियन प्रेस, पृष्ठ ४०६।
२. मजूमदार—पदावली भूमिका, पृष्ठ २५।
३. प० शिवनंदनसिंह—महाकवि विद्यापति, पृष्ठ ३७।
४. मजूमदार—पदावली, पृष्ठ ५८०।

में ठहरती है। विद्यापति की मृत्यु के विषय में कहा जाता है—

कार्तिक धवल त्रियोदसि जान, विद्यापति के आयु अवसान।

अर्थात् कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी को विद्यापति की मृत्यु हुई। विद्यापति की जन्मतिथि को निकालने में पुनः अनुमान का ही सहारा लेना पड़ता है। यह कहा जाता है कि विद्यापति आयु में शिवसिंह से दो वर्ष बड़े थे। अत. ल० सं० २९३ में शिवसिंह यदि ५० वर्ष के थे तो विद्यापति की अवस्था ५२ वर्ष की हुई। इस प्रकार विद्यापति की अवस्था ८७–८८ वर्ष की ठहरती है। परंतु जनश्रुति उनकी मृत्यु को ९० वर्ष की अवस्था में मानती है।

कीर्तिलता उनका प्रथम ग्रंथ है। कहते हैं कि विद्यापति ने इसे २० वर्ष की अवस्था में रचा था[१]। इस प्रकार विद्यापति का जन्म ल० सं० २३२ के लगभग पड़ता है। यदि यह भी मान लिया जाय कि उनका जन्म ल० सं० २३२ मे हुआ था तो दूसरी समस्या ल० सं० की खड़ी हो जाती है। लक्ष्मणाब्द कब प्रारंभ हुआ, इस विषय में भी विद्वान् एकमत नही है।

सर्वप्रथम श्रीराजेंद्रलाल मित्र ने लक्ष्मण संवत् का प्रारंभ ११०६ ई० में माना। उनका एकमात्र आधार मिथिला मे प्रचलित प्रथा थी[२]। कीलहार्न ने बड़े परिश्रम से इस समस्या पर विचार किया[३]। उन्होंने मिथिला की छह पांडुलिपियों पर विचार किया। पॉच पाडुलिपियों के आधार पर लक्ष्मण संवत् का आरंभ १११९ ई० ठीक उतरता था परतु एक मे गड़वडी

१. डा० बाबूराम सक्सेना—कीर्तिलता, भूमिका, पृ० ११।

२. डा० सुभद्र झा—विद्यापति गीत संग्रह, भूमिका, पृ० २७।

३. इंडियन एंटिक्वेरी भाग १९, सन् १८२० ई०, पृ० ७।

वैठती थी। तदुपरांत श्रीजायसवाल ने इस प्रश्न को पुनः उठाया और लसभग १८ पांडुलिपियों की तिथियों की तुलना की। उनका निष्कर्ष है कि लक्ष्मण संवत् मे १११६ जोड़ने से ई० सन् बन सकता है परंतु यह संख्या केवल कर्णाट तथा ओइनीवार वंश तक के ऐतिहासिक कागज पत्रों के लिये ही सही है। इसके पश्चात् की तिथियों को जानने के लिये क्रमशः दो वर्ष कम कर देने चाहिए[1]। अर्थात् श्रीजायसवाल के मत से १५३० ई० के पहले की तिथियों के लक्ष्मण संवत् मे १११६ जोड़ने से तत्कालीन ई० सन् का पता चलेगा किंतु वाद की तिथियों मे ११०६ जोड़ना आवश्यक होगा[2]। डा० सुभद्र झा ने विद्यापति गीत संग्रह की भूमिका में इन प्रश्नों पर पुनः विचार किया। इस विचार करने में उन्हे विद्यापति द्वारा वर्णित आधारों के अर्थ मे भी हेरफेर करना पड़ा। कीर्तिलता मे इब्राहीम शाह को जौनपुर का शासक वर्णित किया है। डा० झा ने अपने तर्क को सिद्ध करने के लिये जौनपुर का अर्थ दिल्ली सिद्ध करने का प्रयत्न किया है जो केवल निराधार एवं दूरारूढ़ कल्पना मात्र ही कही जा सकती है। इस आधार को छोड़कर अन्य आधारों के विवेचन के उपरात उनका निष्कर्ष इस प्रकार है—'अंत में हमारे निष्कर्ष इस प्रकार हैं : विश्वसनीय लिखित सूत्रों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि कवि का समय १३५२ ई० से १४४८ ई० तक का माना जा सकता है तथा अन्य वह सब अवतरण जिनसे यह सिद्ध होता है कि अथवा जिनमे उन व्यक्तियो का नाम आता है जो इस समय के पश्चात् हुए, सब क्षेपक हैं।'[3]

१. डा० सुभद्र झा—विद्यापति गीत संग्रह भूमिका, पृ० ३१।
२ वही पृ० ४१ तथा ४२।
३. वही, पृष्ठ ६२।

श्रीनगेंद्रनाथ गुप्त के अनुसार विद्यापति का जन्म १३५८ ई० में, महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार १३५७ तथा बेनीपुरी जी के अनुसार १३५० ठहरता है। डा० बाबूराम सक्सेना 'कीर्तिलता' की रचना १३८० ई० मे मानते हैं और इसके आधार पर विद्यापति का जन्म १३६० ई० ठहरता है।[१] डा० जयकांत मिने विद्यापति का काल १३५० ई० से १४५० ई० तक[२] माना है। इन सब बातों के ऊपर डा० विमानविहारी मजूमदार ने विचार किया। उनके निष्कर्ष ध्यान देने योग्य हैं। वे इस प्रकार हैं[३]——

विद्यापति के काल और जीवनी के संबंध में नानारूप विचार-वितर्क के फलस्वरूप जो सिद्धांत हुआ उसका सार निष्कर्ष नीचे दिया जाता है।

(१) १३८० ई० के आसपास विद्यापति का जन्म।

(२) १३९४-९६ ई० के बीच पद लिखकर गियास उद्दीन आजमशाह और नसरतशाह को उत्सर्ग करना। १३९६-९७ ई० के बाद जौनपुर के प्रथम सुलतान ने तिरहुत जीता। १३९७ ई० के बाद नसरतखान के दिल्ली का सुलतान पद दावा करने के पहले, ये दोनों पद लिखे गए थे।

(३) १४०० ई० के आसपास नैमिषारण्यनिवासी देवसिंह के आदेश से 'भूपरिक्रमा' की रचना।

(४) १४०२-१४०४ ई० के बीच इब्राहीम शाह द्वारा

---

१. डा० बाबूराम सक्सेना——कीर्तिलता, भूमिका, पृष्ठ १८।

२. डा० जयकांत मिश्र—ए हिस्ट्री आव मैथिली लिटरेचर, पृष्ठ १३०।

३. डा० मजूमदार—विद्यापति की पदावली, भूमिका, पृष्ठ ४८-४९।

कीर्तिसिंह को मिथिला का सिंहासन प्रदान होना और उसी समय 'कीर्तिलता' की रचना।

(५) १४१० ई० में विद्यापति के आदेश से 'काव्यप्रकाश विवेक' की पोथी की अनुलिपि। इसी समय कवि अलंकार शास्त्र की अध्यापना करते थे। इसी समय (देवसिंह की जीवित-अवस्था मे) पुरुषपरीक्षा की रचना और देवसिंह की मृत्यु के पहले अथवा पश्चात् 'कीर्तिपताका' की रचना।

(६) १४१०-१४१४ ई० के बीच शिवसिंह के राज्यकाल मे कम से कम दो सौ पदो की रचना।

(७) १४१८ ई० मे द्रोणवार के अधिपति पुरादित्य के आश्रय मे राजबनौली मे 'लिखनावली' की रचना।

(८) १४२८ ई० मे इसी राजबनौली मे विद्यापति द्वारा भागवत की अनुलिपि का समाप्त करना।

(९) १४३०-४० ई० के बीच पद्मसिंह और विश्वासदेवी के नाम से एक पद की रचना और 'शैवसर्वस्वसार' और 'गंगा वाक्यावली' की रचना।

(१०) १४४०-१४६० ई० के बीच 'विभागसार', 'दानवाक्यावली' और 'दुर्गाभक्तितरंगिणी' की रचना।

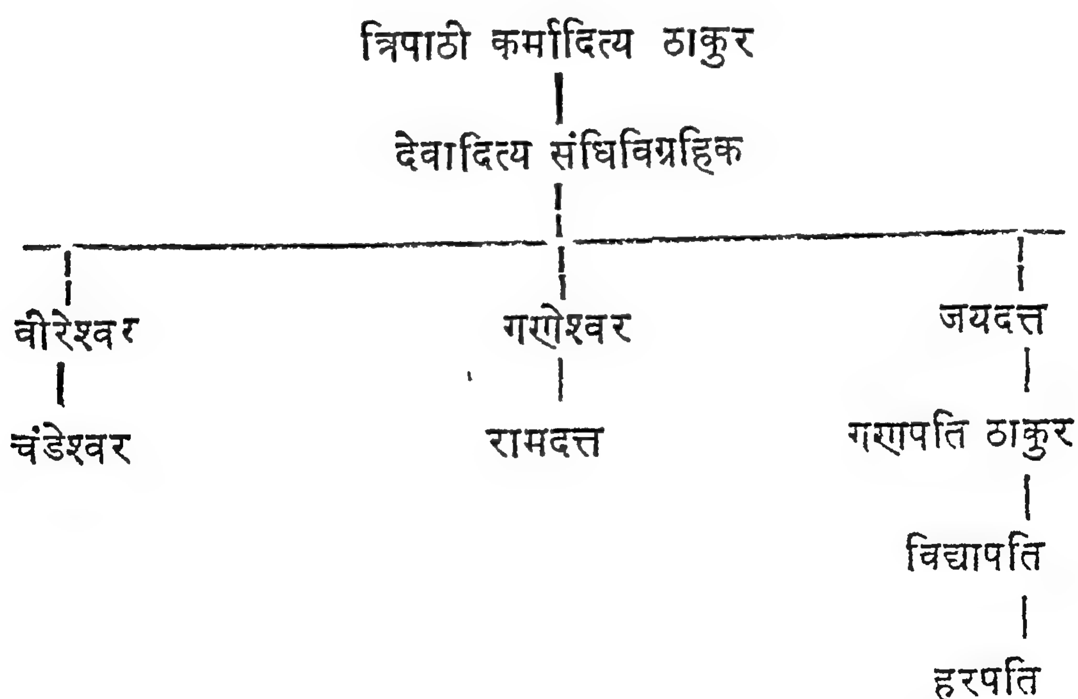
(११) १४६० ई० में स्मृति के अध्यापक के रूप में 'ब्राह्मण सर्वस्व' की अध्यापना।

संक्षेप मे डा० मजूमदार विद्यापति को सन् १४६० ई० में जीवित मानते है और उस समय उनकी अवस्था ८० वर्ष की थी। इसके अनुसार भी विद्यापति का जन्म सन् १३८० ई० ठहरता है।

उपर्युक्त विवेचनो से कम से कम इतना स्पष्ट है कि विद्यापति का संपर्क राजदरबारों से रहा। परंतु यह सब होते हुए

भी उनके जीवनवृत्त के निर्माण के लिये प्रामाणिक एवं ऐतिहासिक सामग्री का अभाव तो नही कहा जा सकता। हाँ, वह अल्प मात्रा में अवश्य है। उनके काव्यात्मक ग्रंथों के आधार पर उनका जीवनवृत्त खड़ा करना खतरे से खाली नही है। प्रसिद्ध कवियों के नाम पर अनेक अलौकिक एवं चमत्कारपूर्ण किंवदंतियों का घटाटोप हो जाता है। अतः इन सबका यथातथ्य विवेचन बड़ा कठिन कार्य हो जाता है।

विद्यापति का जन्म मिथिला के विसपी नामक ग्राम मे एक प्रसिद्ध ब्राह्मण परिवार में हुआ था। यह गाँव दरभंगा जिला में कमतौल स्टेशन से चार मील है। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने उनका वंशवृक्ष इस प्रकार दिया है—



परंतु परवर्ती गवेषकों ने पंजियों के आधार पर इस वंशवृक्ष को दूसरे रूप में उपस्थित किया है। डा० उमेश मिश्र तथा डा० सुभद्र झा ने यह वंशवृक्ष इस प्रकार दिया है—

- विष्णुठाकुर (बीजी पुरुष)
  - हरादित्य ठाकुर
    - त्रिपाठी कर्मादित्य ठाकुर (राजा नान्यदेव के मंत्री)
      - देवादित्य—मन्त्री हरिसिंह (प्रसिद्ध शिवादित्य) देव का
        - वीरेश्वर
          - चंडेश्वर
          - गोविंददत्त
        - धीरेश्वर
          - कीर्ति
          - जयदत्त
            - गौरीपति
            - गणपति (राजा गणेश्वर के सभा पंडित)
              - कविशेखर विद्यापति ठाकुर (स्त्री—चन्दलदेइ या चंपतिदेवी ?)
                - वाचस्पति
                - हरपति
                - नरपति
                - कन्या (दुल्लहि ?)
                - पुत्रवधू—चन्द्रकलादेवी
        - गणेश्वर
          - रामदत्त
        - जटेश्वर
        - हरदत्त
        - लक्ष्मीश्वर
        - शुभदत्त
      - भवादित्य

इस वंशवृक्ष के अनुसार विद्यापति सुप्रसिद्ध पंडित और राजमंत्री वीरेश्वर, गणेश्वर तथा चंडेश्वर आदि के अधस्तन पुरुष हैं। यह वंश अत्यंत सम्भ्रांत एवं सम्मानित व्यक्तियों को जन्म दे चुका है। इस परिवार का घनिष्ट संबंध ओइनी वंश से रहा है। विद्यापति के पिता का नाम गणपति ठाकुर था।

वाल्यकाल ही से विद्यापति ने अपनी अपूर्व प्रतिभा एवं कुशाग्र बुद्धि का परिचय देना प्रारंभ कर दिया था। महामहोपाध्याय हरि मिश्र से उन्होंने विद्याध्ययन प्रारंभ किया और यही इनका परिचय जटाधर मिश्र से हुआ। संभवतः विद्याति का प्रवेश राजदरबार में अल्पावस्था में ही हो गया था। वह अपने पिताजी के साथ वहाँ जाया करते होंगे। अतः शास्त्र व्यवसाय अधिक नही चला। केवल राजदरबार मे काम आनेवाले शास्त्रों का अध्ययन पर्याप्त समझा गया।

मिथिला नरेश गणेश्वर की मुसलमान सरदार असलान ने ल० सं २५२ में छलपूर्ण हत्या कर दी। राजा की मृत्यु से देश में भयानक अराजकता व्याप्त हो गई। विजेता के अत्याचारों से प्रजा अत्यंत विक्षुब्ध थी। नैतिक तथा आर्थिक पतन का बोलबाला था। विद्यापति ने अपनी 'कीतिलता' में इसका बड़ा करुणाजनक, हृदयद्रावक एवं भयोत्पादक चित्र उपस्थित किया है। वे लिखते हैं—

ठाकुर ठक भए गेल चोरें चप्परि घर लिज्झिअ।
दास गोसाइनि गहिअ धम्म गए धंध निमज्जिअ॥
खले सज्जन परिभविअ कोई नहि होइ विचारक।
जाति अजाति विवाह अधम उत्तम कां पारक॥

अक्खर रस बुज्झनिहार नहि, कइकुल भमि भिक्खारि भउँ।
तिरहुत्ति तिरोहित सब्ब गुणे रा गणेस जबे सग्ग गउँ[1]॥

'अक्खर रस बुज्झनिहार नहि, कइकुल भमि भिक्खारि भउँ', पंक्ति से कुछ विद्वानों का अनुमान है कि इसमे आत्मचरिताभिव्यंजना है। अर्थात् विद्यापति की किशोरावस्था

---

१. डा० बाबूराम सक्सेना—कीतिलता २।११-१६, पृ० १६-१८।

भयानक दुखःपूर्ण परिस्थितियों की छाया में व्यतीत हुई थी। राजा गणेश्वर की मृत्यु के उपरांत बहुत दिनो तक विद्यापति निराश्रित रहे। राजकुमार कीर्तिसिंह ने अपने खोए हुए राज को समानपूर्वक प्राप्त करने के लिये प्रयत्न किए। संभवतः इसी बीच मे इधर उधर घूमते घूमते विद्यापति नसरत शाह और आजमशाह जैसे राजपुरुपों के संपर्क मे आए।[1] पदावली मे तीन पद मिलते हैं जिनमे 'नसरत साह', 'साह हुसेन' तथा 'ग्यासदीन सुल्तान' का नाम प्राप्त होता है। परंतु नरसतसाह तथा हुसेन साह जिन पदों मे प्राप्त होता है उनकी प्रामाणिकता मे संदेह है। 'कवि शेखर भन अपरूप रूप देखि गए नसरद साह भजलि कमल मुखि' पद लोचन ने राज तरंगिणी, पृष्ठ ४४ मे दिया है।[2] इसी प्रकार दूसरा पद जिसमे साह हुसेन नाम प्राप्त होता है वह जशोधर नामक 'कविशेखर' का है।[3] केवल 'ग्यासदीन सुल्तान' के विपय में डा० नलिनीकांत का मत है कि उसने अपने पिता सिकंदर को युद्ध मे मारकर आजमशाह की उपाधि धारण की और १४१० ई० तक शासन किया। शिवसिंह के पिता देवसिंह थोड़े दिन राज्य करके १४१३ ई० के मार्च मे परलोकवासी हुए। अतः गयासउद्दीन ने शिवसिंह और देवसिंह के मिथिला राज्य करने से पहले राज्य करना शुरू किया था। संभवतः विद्यापति उसके सपर्क मे आए थे। परंतु यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि यह पद देवसिंह के सिंहासनारोहण के पहले लिखा अथवा बाद मे। अतः हमारे विचार से श्रीयुत्

---

१. शिवप्रसाद सिंह—विद्यापति, पृष्ठ ५२।
२. डा० मजूमदार—विद्यापति, पृष्ठ ७५ (भूमिका)।
३. वही, पृष्ठ ६१२ (भूमिका)।
४. डा० मजूमदार—विद्यापति, पृष्ठ ३।

शिवप्रसाद सिंह के अनुमान में संभावना का ही आधिक्य है तथ्य का कम।

अस्तु सन् १४०२-३ में जौनपुर के शासक इब्राहीम शाह की सहायता से कीर्तिसिंह को मिथिला राज्य प्राप्त हुआ। 'कीर्तिलता' में कवि ने जौनपुर नगर का विस्तृत वर्णन किया है। नगर की अट्टालिकाओं, पण्यों, हाटो, वेश्याओं, मुसलमानों के व्यवहारों का कवि ने वह सुंदर एवं सच्चा चित्र दिया है जो कदाचित बिना प्रत्यक्ष देखे और बिना अनुभव किए संभव नही हो सकता। अतः कभी कभी यह भी अनुमान अधिक असंगत प्रतीत नही होता कि कवि भी स्वयं राजकुमारों के साथ जौनपुर गया हो। कवि ने वर्णन मे जिस भाषा का प्रयोग किया है उससे यह धारणा और भी स्पष्ट हो जाती है। 'कीर्तिसिंह' के राज्यारोहण के उपरांत तिरहुत को अपना लुप्त वैभव पुनः प्राप्त हुआ। कीर्तिपताका' भी संभवतः इसी समय रची गई।

कीर्तिसिंह के कोई संतान न थी। कीर्तिसिंह के उपरात भवसिंह राजा हुए। भवसिंह के समय की कोई विशेष घटना उपलब्ध नही होती, परंतु विद्यापति के 'विभागसार' एवं 'पुरुषपरीक्षा' के आधार पर भवसिंह का राजा होना निस्संदेह सिद्ध होता है। भवसिंह के उपरांत उनके पुत्र देवसिंह गद्दी पर बैठे। विद्यापति ने 'भूपरिक्रमा' देवसिंह की आज्ञा से बनाई। देवसिंह के समय मे ही शिवसिंह राजकुमार बनाए गए थे। एशियाटिक सोसाइटी मे विद्यापति की आज्ञा से लिखा हुआ 'काव्यप्रकाश विवेक' नामक ग्रंथ मिलता है जिससे ज्ञात होता है कि शिवसिंह युवराज काल मे भी महाराजाधिराज कहलाते थे।[1] पदावली

---

१. प० शिवनंदन ठाकुर—महाकवि विद्यापति, पृ० ६६, भाग-१।

में शिवसिंह के राज्यारोहण तथा देवसिंह के देहावसान के समय की घटना का उल्लेख है। देवसिंह की मृत्यु ल० सं० २९३ चैत्र कृष्णा षष्ठी वृहस्पतिवार को हुई[1]। देवसिंह का स्वर्गारोहण तथा यवन सेना का आक्रमण होना एक साथ वर्णित है। शिवसिंह के पराक्रम के संमुख यवन सेना को मुँह की खानी पड़ी और धूमधाम से शिवसिंह यवन सेना को परास्त कर सिंहासनासीन हुए। चार मास उपरांत बिसपी ग्राम विद्यापति को प्राप्त हुआ।

पदावली के अवलोकन से स्पष्ट है कि शिवसिंह के समान राजा और लखिमा देवी के समान काव्यमर्मज्ञा रानी को पाकर कवि के हृदय की शृंगाररस्रोतस्वनी अनुपम मस्ती के साथ निकल पडी। विद्यापति के पदो का अंतःपुर मे भी प्रवेश था। लखिमादेई का नाम जिस स्वतंत्रता के साथ कवि ने लिखा है उससे वंग प्रदेश मे इनके अनुचित प्रेम की कल्पना दृढ़ बन गई थी जो नितात निराधार प्रतीत होती है[2]।

कवि के लिये यह जीवन के सर्वाधिक उल्लासपूर्ण वर्ष थे। वर्षो की अशांति के उपरांत मिथिला मे पुनः सुखशांति की लहर फैली। कीर्तिसिंह के समय के 'खेलन कवि' ने अपने सखा एवं समवयस्क मित्र के साथ प्रेम एवं यौवन की उद्दाम लालसाओं का मनोहर राग अलापा। पदावली का प्रत्येक पद मध्यकालीन विलासिताओं का साक्षात् चित्र है जिसमें कामशास्त्र के आधार पर नागरिक जीवन की अठखेलियाँ वर्णित की गई है। पदावली के इस पक्ष पर हम आगे चलकर विचार

---

१. श्री विमानविहारी मजूमदार–विद्यापति, पदसंख्या ८, पृष्ठ ८।

२. श्री शिवनदन ठाकुर–महाकवि विद्यापति (पाद टिप्पणी), पृष्ठ १८।

करेंगे, परंतु यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि पदावली में जो प्रेम चरित्र है वह शायद ही किसी राजा से अन्य दरबारी कवि को उपलब्ध हुआ हो।

विधाता की गति विचित्र है। काल की गति वक्र रहती है। विद्यापति के उल्लास में भी धक्का लगा। शिवसिंह और मुसलमानों का युद्ध होता रहता था; राज्याभिषेक के साढे तीन वर्ष बाद वह मुसलमानों से पराजित हुए और संभवतः मारे गए। प्रिय राजा के वियोग में कवि का समस्त प्रेम का संसार, वह मांसल सौंदर्य तथा काममुद्राओं का नशा जाता रहा। मिलन और अभिसार के स्थान पर विरह के राग ने स्थान ले लिया। पदावली में अनेक पद ऐसे प्राप्त होते हैं जिनमें विद्यापति ने उस विरहविधुरा लखिमा देई को सांत्वना देने का प्रयत्न किया है। परंतु यह मिथ्या उपचार कबतक चल सकता था। आनंद के क्षण सदा के लिये चल बसे और कवि को देव-दुर्विपाक के सामने नतमस्तक होना पड़ा।

ओईनी वंश के वंशवृक्ष से यह अनुमान होता है कि राजा शिवसिंह के उपरांत कुछ दिनों लखिमा देवी ने राज्य सँभाला। उसके बाद पदमसिंह राजा हुए, उनकी पत्नी विश्वास देवी रानी थी। उन्होंने १२ वर्ष राज्य किया। इन्ही के राजत्वकाल में विद्यापति ने 'शैवसर्वस्वसार' तथा 'गंगा-वाक्यावाली' की रचना की। ओईनी वंश के अंतिम राजा लक्ष्मीनाथ देव थे जिन्होंने यवनयुद्ध में वीरगति पाई और उनके साथ यह वंश भी समाप्त हो गया।

राजा शिवसिंह की मृत्यु के ३२ वर्ष उपरांत मैथिल-कोकिल ने भी अपनी ऐहिक लीला समाप्त कर दी। इनके मृत्यु के विषय में भी कई प्रकार की किंवदंतियाँ है। सुना जाता है

कि विद्यापति की चिता के स्थान पर अचानक शिव लिंग प्रकट हो गया। इस समय तक वहाँ शिव मंदिर वर्तमान है[1]। अपनी पुत्री को सांत्वना देते हुए उन्होंने अपना शरीर छोड़ा था।

माय बाप जो सद्गति पाव, संतति का अनुपम सुख आव।
विद्यापति क आयु अवसान कातिक धवल त्रियोदसि नान ॥[2]

विद्यापति के पृष्ठपोषक राज्य वर्ग— उपर्युक्त जीवनवृत्त से पता चलता है की विद्यापति की प्रत्येक रचना मे किसी न किसी राजा का अथवा परिवार का संबंध अवश्य प्राप्त होता है। उनके काल निर्णय के आधार पर विद्यापति की रचना और जीवन की कई एक प्रधान घटनाओं का समय निर्भर करता है। विद्यापति का जीवनवृत्त मुख्यतः ओईनी राजवंश लिपटा हुआ है, उन्होंने अपनी सर्वप्रथम पुस्तक 'कीर्तिलता' में उसी का यशोगान किया है[3]।

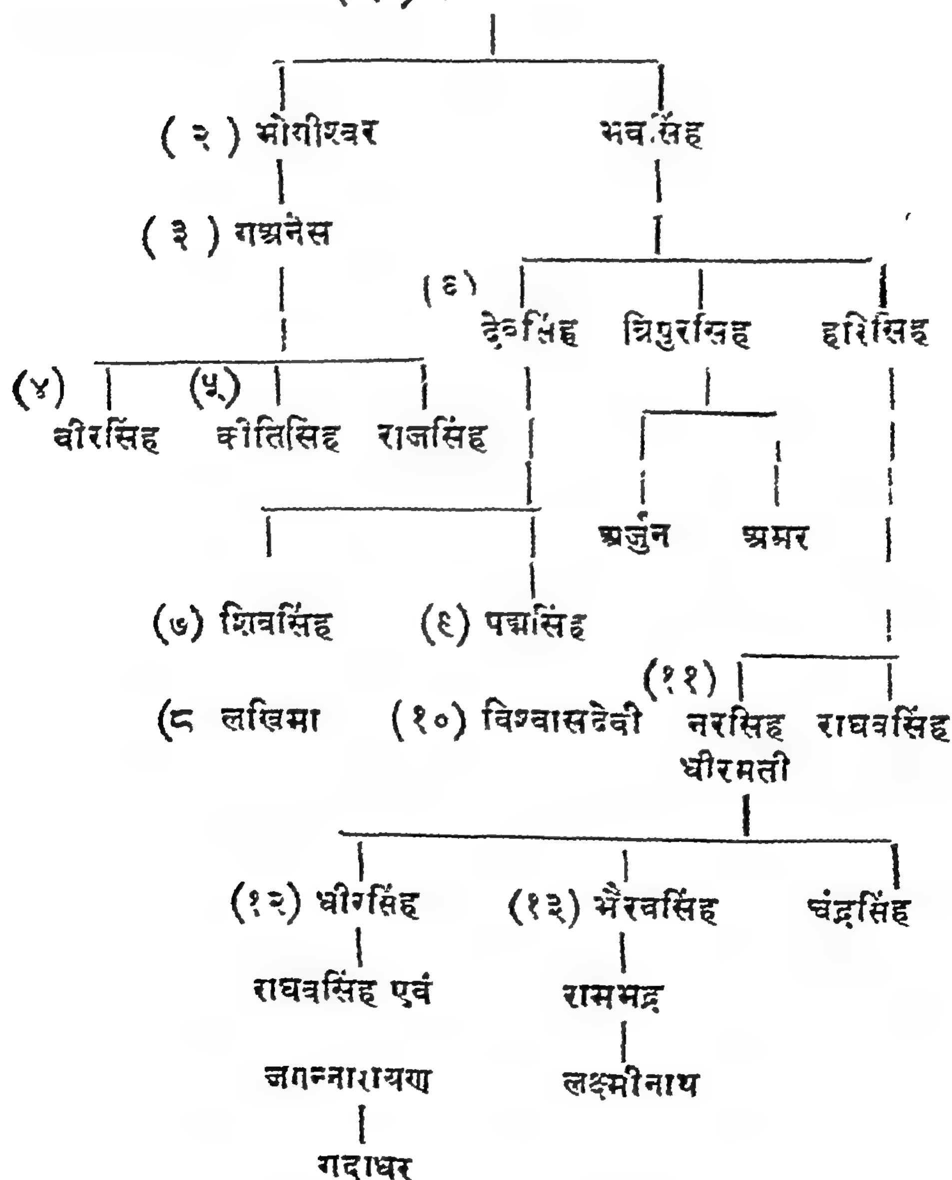
विद्यापति द्वारा रचित ग्रंथों की आलोचना करके देखा जाता है कि कवि ने कीर्तिलता में (१) कामेश्वर और उनके पुत्र (२) भोगीश राय और उनके पुत्र (३) गअनेश वा गअन राय और उनके तीनों पुत्रों (४) वीरसिंह (५) कीर्तिसिंह (६) राअसिंह का नाम; भूपरिक्रमा मे (७) देवसिंह और (८) शिवसिंह का नाम; पुरुष परीक्षा मे (९) भवदेवसिंह, उनके पुत्र देवसिंह और उनके पुत्र शिवसिंह का नाम; शैवसर्वस्वसार मे भवसिंह, उनके पुत्र देवसिंह, उनके पुत्र शिवसिंह और शिवसिंह के अनुज (१०) पद्मसिंह और उनकी स्त्री (११) विश्वास देवी का

१. प० शिवनंदन ठाकुर—महाकवि विद्यापति, पृष्ठ २५।
२. डा० बाबूराम सक्सेना- कीर्तिलता, पल्लव १, पृष्ठ ८१४।
३. डा० मजूमदार—विद्यापति, पदसंख्या ९१२, पृष्ठ ५८०।

नाम; गंगावाक्यावली में फिर से विश्वास देवी का नाम; विभागसार में भवेश, उनके पुत्र (१२) हरिसिंह और उनके पुत्र दर्पनारायण का नाम; दान वाक्यावली में (१३) नरसिंह दर्पनारायण और उनकी पत्नी (१४) धीरमती का नाम; एवं दुर्गाभक्तितरंगिणी मे नरसिंह और उनके तीन पुत्र (१५) वीरसिंह (१६) भैरवसिंह और (१७) चंद्रसिंह के नाम का उल्लेख किया है। इन पंद्रह पुरुषों और दो नारियों में भवदेव, भवसिंह वा भवेश के साथ कामेश्वर का क्या संबंध था अथवा नरसिंह के साथ शिवसिंह का क्या संबंध था, यह विद्यापति ने नही कहा है। लिखनावली का अर्जुन कौन था इस विषय में भी कवि चुप है। इन सब विषयों की खबर पाने के लिये मिथिला की पंजी की आलोचना करनी होगी। कामेश्वर के अधस्तन पुरुषों मे (१) कीर्तिसिंह (२) देवसिंह (३) शिवसिंह (४) पद्मसिंह और उनकी स्त्री विश्वास देवी (५) नरसिंह और उनकी स्त्री धीरमती (६) धीरसिंह (७) भैरवसिंह और (८) चंद्रसिंह का नाम उन्होंने ग्रंथों में पृष्ठपोषक के रूप में उल्लिखित किया है।

मजूमदार की पदावली में यदि देखा जाय तो विद्यापति ने कामेश्वरवंशियों में देवसिंह का नाम चार पदों में, हरिसिंह का नाम एक पद मे, शिवसिंह का नाम १९८ पदो में (८ से २०४ और २ ७), विश्वास देवी के पति पद्मसिंह का नाम एक पद में (२०८) (४७), अर्जुनराय का नाम पाँच पदों में (२०९ से २१३), कुमार अमरसिंह का नाम दो पदों मे (२१४ और २१५), कंसदलन नारायण सुंदर धीरसिंह का नाम एक पद मे (२१६), राघवसिंह का नाम तीन पदों मे (२१७ से २१९) और नृप रुद्रसिंह का नाम दो पदों में (२२० और २२८) में प्राप्त होगा। कुमार अमर राघवसिंह

और रुद्रसिंह के साथ कामेश्वर वंशीय (शिवसिंह, धीरसिंह प्रभृति) का क्या संबंध था, यह भी जानने का प्रयोजन है। इसके लिये भी मिथिला की पंजी की सहायता लेनी होगी। विद्यापति के ग्रंथ और पंजी में जो सब संवाद पाया जाता है उसे मिलाकर पढ़ने से पदावली समझने के लिये निम्नलिखित पीठिका का सारांश दिया जाता है :—



---

१. डा० विमानविहारी मजूमदार—विद्यापति, पृष्ठ २१।

ओइनी वंश के पुरुषों को छोड़कर पदावली के पद्यों मे शाह हुसेन, नरसद शाह तथा ग्यासदीन सुल्तान का नाम भी मिलता है। इनका वर्णन हम पहिले कर चुके हैं। डा० विमान-विहारी मजूमदार का निष्कर्ष है कि 'पुश्तों के हिसाब से तीन पुश्तों के भीतर ही कविकर्तृक उल्लिखित कामेश्वरवंशीय समस्त पृष्ठपोषकों के नाम पाए जाते हैं। कालानुयायी इन सब पृष्ठपोषकों के नाम सजाकर उनके आदेश वा उद्देश्य से उत्सर्गीकृत ग्रंथ वा पदों का उल्लेख किया जाता है[1]।

१. कीर्तिसिंह—कीर्तिलता।

२. देवसिंह—भूपरिक्रमा और १, ३, ४, ५, ६ संख्या के पद (कीर्तिसिंह के गोतिया चचा)।

३. हरिसिंह - ७ संख्या का पद (देवसिंह के भाई)।

४. शिवसिंह—कीर्तिपताका, पुरुषपरीक्षा और ८ से २०४ और २०७ पद।

५. पद्मसिंह और विश्वास देवी—शैवसर्वस्वसार प्रमाणभूत, पुराणसंग्रह, गंगावाक्यावली और २०८ संख्या का पद (शिवसिंह के भाई)।

६. अर्जुन और अमर २०९-२१३ एवं २१४-२१५ संख्या के पद (शिवसिंह के चचेरे भाई)।

७. राघवसिंह—२१७-१९ संख्या के पद (शिवसिंह के चचेरे भाई, हरिसिंह के पुत्र)।

८. रुद्रसिंह—२२० और २२८ संख्या के पद (शिवसिंह के गोतिया भाई)।

९. नरसिंह और धीरमती विभागसार, दान वाक्यावली (शिवसिंह के चचेरे भाई, हरिसिंह के पुत्र)।

---

१. डा० विमानविहारी मजूमदार—पृष्ठ २२।

१०. धीरसिंह, भैरवसिंह, चंद्रसिंह—दुर्गाभक्तितरंगिणी और २१६ संख्या का पद (शिवसिंह के चचेरे भाई के लड़के)।

विद्यापति की रचनाएँ—विद्यापति ने संस्कृत, अवहट्ट तथा 'देशीवयना' में रचना की है[1]। अभी तक उनके जो ग्रंथ प्रकाश मे आ सके हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—

(क) संस्कृत की पुस्तकें भूपरिक्रमा, पुरुषपरीक्षा, लिखनावली, शैवसर्वस्वसार, शैव सर्वस्वसार प्रमाणभूत, पुराण-संग्रह, गंगावाक्यावली, विभागसार, दानवाक्यावली, दुर्गा-भक्तितरंगिणी, गयापत्तनक और वर्षकृत्य हैं।

(ख) अवहट्ट की पुस्तकें—१—कीर्तिलता और २—कीर्तिपताका है।

(ग) देशी वयना अथवा मैथिली की रचना—पदावली है।

कीर्तिलता और कीर्तिपताका का वर्णन हम अपभ्रंश काव्य के अंतर्गत अध्याय चार में कर चुके हैं। संस्कृत ग्रंथों का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है—

१—भूपरिक्रमा—बलराम के शापग्रस्त होने के पश्चात् प्रायश्चित्त के लिये तीर्थों में जाने की कथा है। इस कथा को बड़े ही सुंदर ढंग से वर्णित किया गया है। इसकी एक प्रति कलकत्ते के संस्कृत कालेज में सुरक्षित है। इस पुस्तक की रचना राजा देवसिंह के कहने पर हुई थी।

२-पुरुषपरीक्षा-इसकी रचना शिवसिंह ने करवाई थी। इसमे महमूद गजनवी के समय से लेकर विद्यापति के समय तक की अनेकों घटनाओं का उल्लेख है। इस पुस्तक मे पुरुष के लक्षणों का उल्लेख भी हुआ है। यह पुस्तक १८१५ ई० में सर्वप्रथम बंगला अनुवाद से छपी। लार्ड विशप टर्नर की आज्ञा

---

१. पं० शिवनंदन ठाकुर—महाकवि विद्यापति, पृष्ठ ४०—४१।

से सन् १८३० में राजा कालीकृष्ण बहादुर ने इस पुस्तक का अँगरेजी भाषा मे अनुवाद किया। हिंदी अनुवाद के साथ वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई ने भी इसे प्रकाशित किया है। डा० ग्रियर्सन ने भी अपनी विद्वत्तापूर्ण भूमिका और अँगरेजी अनुवाद के साथ इस पुस्तक का संपादन किया है।

३ लिखनावली—यह संस्कृत ग्रंथ रजावनौली के राजा पुरादित्य के लिये लिखी गई थी। इसमें चिट्ठी, तमस्सुक आदि लिखने के नियम और नमूने पाए जाते हैं। साथ ही साथ उस समय के राजा और प्रधान पुरुषों के भी नाम भी पाए जाते हैं। यह दरभंगा से प्रकाशित हुई थी। यह ताल पत्र पर स्वर्गीय कवि पं० चंदा झा के घर में है।

४--शैवसर्वस्वसार--इसमे शिवपूजा की विधि प्रमाणों के साथ बतलाई गई है। ग्रंथ के आरभ में भवसिंह से लेकर विद्यापति के समय तक के राजाओं का वर्णन है। यह पुस्तक पद्मसिंह की धर्मपत्नी, विश्वास देवी की आज्ञा से लिखी गई थी। राजपुस्तकालय में शैवसर्वस्वसार प्रमाणभूत पुराणसंग्रह नाम का भी एक ग्रंथ पाया जाता है।

५—गंगावाक्यावली—इसकी रचना भी रानी विश्वास देवी की आज्ञा से ही हुई थी। इसमें हरिद्वार से गंगासागर तक के संपूर्ण तीर्थो का का माहात्म्य लिखा हुआ है।

६—विद्यासागर—इस पुस्तक की रचना राजा नरसिंहदेव की आज्ञा से हुई। इस पुस्तक मे संपत्ति के विभाजन और अधिकारो की चर्चा है।

यह पुस्तक अभी अप्रकाशित है किंतु इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ कई लोगों के पास है।

७ –दानवाक्यावली—इस पुस्तक मे दान की व्याख्या की

गई है और उसके करने की विधि पर भी प्रकाश डाला है। इस पुस्तक की अनेकों प्रतियाँ उपलब्ध हैं। यह पुस्तक काशी से बहुत समय पूर्व प्रकाशित भी हो चुकी है।

८—गयापत्तनक —इस पुस्तक में गयाश्राद्ध करनेकी विधि है। मंगलाचरण इस पुस्तक में नही है। अंत में महामहोपाध्याय विद्यापति का नाम है।

९—दुर्गाभक्तितरंगिणी—इसमें दुर्गापूजा की विधि लिखी हुई है। १९०२ मे इस ग्रथ का प्रकाशन हुआ किंतु इस समय यह प्राप्य नही।

१०—वर्षकृत्य—यह ९६ पृष्ठ की पुस्तिका है। इसमें वर्ष भर के संपूर्ण पर्वों का विधान है। संपूर्ण पुस्तक में प्रमाण दे देकर पर्वों पर प्रकाश डाला है। यह पुस्तक वल्लीपुर (दरभंगा) निवासी बाबू दामोदरनारायण चौधरी के घर पर है।

पं० शिवनंदन ठाकुर (महाकवि विद्यापति के लेखक को कलकत्ता संस्कृत कालेज मे पांडवविजय' नाम की एक पुस्तक मिली। उस पुस्तक में जो तालिका है उसमें ग्रंथकर्ता का नाम विद्यापति दिया गया है, किंतु उस पुस्तक का प्रारंभिक और अंतिम भाग उपलब्ध न होने के कारण उसके विषय मे संदेह है। इसी प्रकार की एक और पुस्तक जिसका नाम 'मणिमंजरी' है दरभंगा मे मिली है। पुस्तक के अंत में आशीर्वाद श्लोक के बाद निम्नलिखित वाक्य पाया जाता है'—

---

१ संस्कृत की रचनाओं का संक्षिप्त परिचयात्मक वर्णन केवल प्रसंगपूर्ति के कारण दे दिया है। वस्तुतः वे हमारे आलोच्य विषय के बाहर हैं। हमारे आलोच्य विषय के अंतर्गत केवल कीर्तिलता, कीर्तिपताका तथा पदावली ही आती है।

'महामहोपाध्याय श्रीविद्यापतिकृता मणिमंजरी समाप्ता'

मैथिली साहित्य पदावली—विद्यापति के कीर्तिस्तंभ का मुख्य आधार उनकी पदावली है। उनके गीतों के विषय का विस्तार आश्चर्यजनक है। यह मुख्यतः प्रेमकाव्य है जिसमें संगीतात्मकता का अपूर्व समन्वय है। साहित्यिक शब्दावली में यह शृंगार रस से ओतप्रोत है। कोमल तथा माधुर्य भावना-युक्त शब्दलालित्य का यह अक्षय्य भांडार है जिसमें सौंदर्य की अपूर्व सृष्टि है, भावप्रवणता है, विदग्धता है, सुरसिकता है, वाग्वैदग्ध्य है, छलना है, नोंकझोंक है तथा यौवन की उल्लासमयी उमंगों का मांसल वर्णन है। पदावली के काव्यपक्ष पर हम आगे चलकर विचार करेंगे।

विद्यापति के व्यक्तित्व की भाँति उनकी 'पदावली' भी रहस्यपूर्ण है। उसके प्रकाशित होने का भी इतिहास है। पदावली मुक्तक गीतकाव्य है। अतः संभवतः इसके गीतों की रचना समय समय पर होती रही होगी। विद्यापति ने अपने जीवनकाल में ही पदावली के आधार पर महाकवि की उपाधि प्राप्तकर अपनी कीर्तिकौमुदी का विस्तार किया था। उनकी पदावली का जादू महाप्रभु चैतन्य पर भी चल जाता था और वे इन पदों को गाते गाते आनंदविभोर हो जाते थे। परंतु खेद है कि बीसवी शती से पहिले किसी एक ग्रंथ में उनके समस्त पदों का संकलन नही हुआ। यदि इस प्रकार का कोई संकलन हुआ था तो अभी तक वह आविष्कृत नही हुआ।[1]

पं० शिवनंदन ठाकुर का कहना है कि तरौनी गाँव में विद्यापति लिखित भागवत के साथ पदावली की एक खंडित

---

१. डा० विमानविहारी मजूमदार—विद्यापति भूमिका, पृष्ठ २७।

पोथी की प्रति प्राप्त हुई थी। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री भी एक प्रति नेपाल राज्य पुस्कालय से लाए थे। इन दोनों पुस्तकों के आधार पर बाबू नगेंद्रनाथ गुप्त ने विद्वत्ता-पूर्ण भूमिका के साथ सन् १३१६ फसली में बँगला में इसका संपादन किया[१]। गुप्तजी ने कीर्तनानंद नामक ग्रंथ से भी बड़ी सहायता ली। यही पुस्तक सन् १९१० ई० में इंडियन प्रेस द्वारा हिंदी में प्रकाशित हुई परंतु इसमें भूमिका भाग नही छापा गया। इस पदावली मे ८४१ पद + ४४ पद हरगौरी पदावली + ३ गगा गीत + १३ नाना विषयक पद + १५ परकीया नायिका + २० प्रहेलिका, शीर्षक के साथ कुल मिलाकर ९३५ पद है। तदुपरांत आरा निवासी बाबू व्रजनदन सहाय ने 'मैथिलकोकिल के नाम' से पदावली का संपादन किया। जिसमे लगभग ४०० पद हैं। आरा नागरी-प्रचारिणी सभा से यह पुस्तक प्रकाशित हुई थी परंतु अब यह अप्राप्य है। इसके बाद रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी ने पुस्तक-भंडार लहेरियासराय से पदावली का संपादन हिंदी में किया। हिंदी जगत् में यही पदावली अधिक प्रचलित हुई। इसमें २६५ पद हैं। इसके कई संस्करण निकल चुके हैं। डा० जनार्दन मिश्र ने विद्यापति नाम की पुस्तक लिखी जिसमें समालोचना के साथ साथ कुछ पदों का संग्रह भी किया है। परंतु इन सग्रहों का आधार मुख्यतः बेनीपुरी की पदावली ही है। इन सबसे पहिले सर जार्ज ग्रियर्सन ने सन् १८८२ ई० मे बंगाल ऐसियाटिक सोसाइटी के मुखपत्र के विशेषांक मे मैथिल क्रेस्टोपेथी के नाम से ८२ पद प्रकाशित कराए थे। हम पहिले कह चुके हैं कि विद्यापति को प्रकाश मे लाने का

---

१. पं० शिवनंदन ठाकुर—महाकवि विद्यापति, पृष्ठ ४७।

श्रेय (मुख्यतः) श्रीग्रियर्सन को है। पदावली साहित्य प्रकाशित होने पर विद्वानों का ध्यान विद्यापति की ओर गया। पं० शिवनंदन ठाकुर ने खंडित तालपत्र की पोथी खोज निकाली और उसके आधार पर महाकवि विद्यापति नाम की पुस्तक में अन्य सामग्री के साथ ८६ शुद्ध पदों का प्रकाशन किया। पंडितजी ने प्रथम बार पदावली की भाषा पर भी विचार उपस्थित किए। डा० विमानबिहारी तथा डा० खगेंद्रनाथ मित्र ने बड़े परिश्रम से बंगला में पदावली का संपादन किया है। यह सस्करण बड़ा महत्वपूर्ण हैं। अत्यंत हर्ष का विषय है कि यह पदावली भी अब अपने हिंदी रूप में श्रीहरेश्वरी प्रसाद (पटना ट्रेनिंग कालेज) की कृपा से संवत् २०१० में प्रकाशित हो गई है। डा० महोदयों का प्रयत्न सराहनीय है। आप लोगों ने १२७ पृष्ठ की भूमिका मे अनेक तुलनात्मक तथ्यों का उद्घाटन किया है। यह पदावली पाँच खंडों मे विभाजित है। प्रथम खंड में २३० पद हैं जिसमे राज-नामाकित कालानुयायी सन्निविष्ट पद है। दूसरे खंड में ३८५ वे पद हैं जो मैथिल पोथियों से प्राप्त हुए हैं, तीसरे खंड में १५६ वे पद है जो बंगाल में प्रचलित राज नामविहीन विद्यापति के पद माने जाते हैं, चतुर्थ खंड में १५० वे पद हैं जो मिथिला में प्रचलित हैं और जिनका आधार मौखिक है; ये हरगौरी और गगाविषयक है; तथा पाँचवे खंड मे कुल १२ पद हैं जिनका प्रचलन बंगाल में है और जिनकी प्रामाणिकता विद्वान् संपादक के मत से संदिग्ध है। छह पद परिशिष्ट में दिए है। इस प्रकार कुल मिलाकर ९३९ पदों का संग्रह है। आपने अपनी पदावली के पदों का और श्रीयुत गुप्त की पदावली के पदों का तुलनात्मक विवरण दिया है। वह इस प्रकार है—

(१) नगेंद्र बाबू के संस्करण में कुल पद ९३५[1]

इसमें से छोड़े गए पद २०३		
और लिए गए पद	...	७३२
नए जोड़े गए पद	...	२०७
सब मिलाकर	...	९३९

उनमें —

नेपाल पोथी से	...	४६
रामभद्र पोथी से	...	६०
पद कल्पतरु से	...	३
पदामृत समुद्र से	...	२
बेनीपुरी संस्करण से	...	१२
मिथिलागीत संग्रह से	...	२३
ग्रियर्सन से	...	१३
रामनाथ झा	...	६
पं० बाबा की पोथी	...	८
विविध	...	२७
	कुल योग	२०७

आपने जिन पुस्तको का नाम लिया है उनका संक्षेप में वर्णन भी दिया है। सबसे अधिक महत्व नेपाल पोथी को दिया गया है। इस पोथी की पांडुलिपि का पता डा० जायसवाल को अपनी नैपाल यात्रा मे १९३६ ई० में चला था। आपने पटना के दैनिक 'सर्चलाइट' मे यह संवाद दिया कि इस पाडुलिपि का अभीतक किसी ने प्रयोग नही किया है। यद्यपि इससे पहिले पं० हरप्रसाद शास्त्री द्वारा मँगवाई हुई नेपाली

---

१. डा० मजूमदार — विद्यापति भूमिका, पृष्ठ ११८।

पांडुलिपि के आधार पर श्रीनगेंद्र गुप्त अपनी पदावली का संपादन कर चुके थे।

महाराजाधिराज डा० श्रीकामेश्वरसिंहजी की कृपा से नेपाल राज्य से इसकी दो फोटो प्रतिलिपियाँ प्राप्त की गईं इनमे एक पटना कालेज में और दूसरी पटना विश्वविद्यालय के पुस्तकालय मे है। नेपाल राज्य की अनुमति लेकर डा० सुभद्र झा ने उसी के आधार पर 'विद्यापतिगीत संग्रह' अंग्रेजी भूमिका के साथ प्रकाशित किया है जिसमें २६५ पद हैं। इस पांडुलिपि मे कुल २८८ गीत हैं। २६१ भनिता सहित हैं जिनमें विद्यापति अथवा विद्यापति का कोई न कोई उपनाम अवश्य है। एक पद्य मे यद्यपि विद्यापति का नाम नही है परंतु उसमें उगना का नाम है। अतः यह अवश्य विद्यापति की ही रचना है क्योंकि उगना का संबंध जनश्रुति विद्यापति से ही बतलाती है। शेष २६ पद्यों में से १३ पद्यों मे ११ अन्य कवियों के नाम हैं और शेष १३ अपूर्ण हैं। यह पाडुलिपि बड़ी अच्छी दशा में है, केवल दो एक स्थानों पर अक्षर कुछ धूमिल एवं अस्पष्ट हो गए हैं। यह एक ही लिपिक द्वारा तिरहुती लिपि मे लिखी हुई है। र, व, ब, ल, न, लु, जो, तथा स अक्षर, मे भ्रांति हो जाती है। पांडुलिपि इस विषय मे भी मौन है कि वह कहाँ लिखी गई, किसने लिखी और किस आधार पर लिखी गई।[1]

डा० मजूमदार का भी वर्णन डा० सुभद्र झा से मिलता जुलता ही है। इन पदावली तथा सग्रहों के अतिरिक्त अन्य कई संग्रह और पदावलियों के नाम हिंदी जगत् मे प्रचलित हैं। यथा, विद्यापति की पदावली—वसतकुमार माथुर, भारती भापा भवन,

---

१. डा० सुभद्र झा—विद्यापतिगीत संग्रह, अंग्रेजी भूमिका, पृष्ठ ११३-११८।

देहली, विद्यापति की पदावली—डा० मोहनलाल गौतम, रीगल बुक डिपो, देहली; मैथिलकोकिल विद्यापति की पदावली—शंभुप्रसाद बहुगुना, लखनऊ, तथा विद्यापति का अमर काव्य -गुणानंद जुयाल, साहित्य निकेतन, कानपुर। इन ग्रंथों मे कोई विशेष महत्व की बात नही है। सबका आधार विशेषकर बेनीपुरी की पदावली है और उसी की व्याख्या अथवा टीका के साथ ये अन्य ग्रंथ प्रकाशित किए गए हैं। अतः हमने अपने अध्ययन के लिये श्रीबेनीपुरी, श्रीगुप्त, प० शिवनंदन ठाकुर, डा० विमानविहारी मजूमदार तथा डा० सुभद्र झा द्वारा संपादित संस्करणों को ही प्रामाणिक माना है। पद-संख्या अधिकतर डा० विमानविहारी की पदावली की उद्धृत की गई है। जहाँ दूसरी पुस्तक ली गई है उसका नामसंकेत कर दिया गया है।

उपर्युक्त पदावलियों के वर्णन से पदावली के महत्व का तो परिचय होना ही है साथ साथ यह भी जिज्ञासा हो जाती है कि कदाचित् अभीतक विद्यापति के समस्त पद प्रकाश में नही आए। यदि मिथिलावासी इस ओर ध्यान दे तो संभवतः और नए रहस्यों का उद्घाटन हो सकता है। हर्ष का विषय है कि बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् ने इस काम को अपने हाथ में लिया है और उसका उद्देश्य विद्यापति विषयक समस्त सामग्री को एकत्रित करना तथा खोज करना है। आशा है कि भविष्य मे इस विषय पर कुछ नवीन प्रकाश पड़ सके।

विद्यापति की रचना और उनके मूल स्रोत—विद्यापति की रचनाएँ संस्कृत, अपभ्रंश तथा देशी भाषा में उपलब्ध होती हैं। विद्यापति की संस्कृत रचनाओं के मूल स्रोत पुराण, स्मृति तथा नीतिसंबंधी ग्रंथो मे प्राप्त होते हैं। उनकी पुरुष-परीक्षा का प्रधान उद्देश्य नीतिशास्त्र से अपरिचित मनुष्यों को

नीतिशास्त्र की शिक्षा देना था। केवल शिक्षा देना ही नहीं अपितु उन्हें कामकला में चतुर भी बनाना था। ग्रंथ के प्रारंभ मे ही उन्होंने लिखा है—

शिशूनां सिद्ध्यर्थन्नयपरिचितेर्नूतनधिया
मुदे पौरस्त्रीणां मनसिजकथाकौतुकजुषाम्।
निदेशान्निःशंकः सदसि शिवसिंहक्षितिपतेः
कथानां प्रस्तावं विरचयति विद्यापतिकविः॥[1]

इससे मालूम पड़ता है कि ग्रंथ की रचना का प्रधान उद्देश्य नीतिशास्त्र से अपरिचित मनुष्यों को नीतिशास्त्र की शिक्षा देना ही था। अतः इसका स्रोत कामंदकीय नीति, शुक्र नीति तथा चाणक्य नीति आदि ग्रथों मे पाया जा सकता है।

कीर्तिलता तथा कीर्तिपताका—ये दोनों रचनाएँ तत्कालीन इतिहास से संबंध रखती है। इनमे कवि के समक्ष हुई घटनाओं का वर्णन है। वर्णन शैली में ये ऐतिहासिक स्तुति-परक काव्य हैं।

विद्यापति की कीर्ति का मुख्य आधार 'पदावली' है। पदावली का मूल स्रोत क्या है, यह एक जटिल प्रश्न है। 'पदावली' किस प्रकार का काव्य है, इस प्रश्न पर हम आगे विचार करेंगे। यहाँ केवल यही स्वीकार कर लेते हैं कि यह गीतों का एक संग्रह है और साहित्यिक शब्दावली में वह प्रगीत मुक्तक है। इसका विषय शुद्ध शृंगार है। गीतकाव्य के नाते से पदावली में नाना प्रकार के भावों का समावेश है। सृष्टि के अनादिकाल से मानवहृदय प्रकृति के परिवर्तनों से तथा उसके मनोहर रूपों से आश्चर्य एवं आनंद प्राप्त करता रहा है और उसी की अभिव्यक्ति भी करता रहा है। अतः अनेक समय के,

---

१. पं० शिवनंदन ठाकुर— महाकवि विद्यापति, पृष्ठ ६७.

अनेक देश के कवियों मे तथा एक देश के अनेक कवियों में कभी कभी इन विषयों पर अपूर्व भावसाम्य मिल जाता है। भावसाम्य के आधार पर हम एक दूसरे का मूल स्रोत नहीं कह सकते। मूल स्रोत तो प्रकृति है अथवा उसके रूप हैं जो मनुष्यों को अथवा उनके हृदय को प्रभावित करते हैं। यही दशा शृंगार वर्णन की है। प्रायः परवर्ती कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों से प्रेरणा अवश्य ग्रहण करते हैं। आचार्य हेमचंद्र ने काव्य का कारण यद्यपि प्रतिभा माना है[1] परंतु प्रतिभा को सहायता देनेवाली व्युत्पत्ति है जिसके अर्थ हैं शास्त्र और साहित्य का अभ्यास। इस प्रकार यह भी काव्य का कारण नही तो उप कारण अवश्य माना जाता है[2]। अभ्यास से संस्कार बन जाते हैं वे और प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से कवि की रचना मे प्रकट होते हैं।

प्रतिभासंपन्न कवि द्रष्टा भी होता है और स्रष्टा भी। वह जिस समाज में रहता है उसी से प्रेरणा ग्रहण करता है और उसी के अनुरूप साहित्यसर्जना में व्यस्त रहता है। प्राय. देखा गया है कि अतीत का चित्र खीचनेवाले कविगण भी अपने वर्तमान वातावरणजन्य प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं हो पाते। विद्यापति की अधिकतर संस्कृत रचनाएँ सामंतीय वातावरण मे लिखी गई हैं। वे या तो किसी राजा की आज्ञा की पूर्ति हैं या उसकी प्रसन्नता के हेतु समर्पण हैं। अतः हमारे विचार से पदावली का मुख्य स्रोत है तत्कालीन समाज और जीवन। विद्यापति जिस वातावरण में रहते थे उससे संबंध रखनेवाले जीवन को उन्होने बड़े निकट से एवं ऐहिकता

---

१ हेमचन्द्र--काव्यानुशासन, पृष्ठ ३ ।

२. वही पृष्ठ ७ ।

की दृष्टि से देखा है, अनुभव किया है; और अपनी प्रतिभा के बल पर उसे अभिव्यक्त किया है।

भारत की अपनी विशेषता है कि यहाँ अधिकतर विचार-धाराएँ दार्शनिक पृष्ठभूमि पर पल्लवित होती हैं। उनका संबंध किसी न किसी प्रकार की आमुष्मिकता से जोड़ दिया जाता है। तब यह प्रश्न स्वतः उठता है कि इस प्रकार के शुद्ध ऐहिक दृष्टिकोण की मूल प्रेरणा का स्रोत क्या है; क्या शुद्ध ऐहिकतापूर्ण अथवा आमुष्मिकतारहित साहित्य का सृजन विद्यापति से पहिले भी था? यदि था तो विद्यापति की अपनी मौलिक देन क्या है?

इस प्रश्न पर विचार करने के लिये हमें इतिहास की ओर ध्यान डालना पड़ता है। गत अध्याय में हमने अपभ्रंश मुक्तक-काव्य पर अपने विचार स्पष्ट किए हैं। वहाँ हमने शुद्ध शृंगार-युक्त अथवा रसवती रचना को ही प्रधानता दी है। हेमचंद्र के अपभ्रंश व्याकरण में, उनकी देशी नाममाला में हमें अनेक बिखरे हुए श्लोक, पद तथा गाथाएँ उपलब्ध होती हैं जिनमें जीवन को निकट से देखने का प्रयत्न किया गया है। उनमें उस जीवन की झाँकी है जो प्रवृत्तिमूलक है और जिसमें निवृत्तिमूलक महाफल की आवश्यकता नहीं[1]। भले ही यह जीवन वह है जिसमें साधारण जन की आकांक्षा है, उनकी स्वाभाविक चेष्टाएँ हैं। यथा—

सिरि जरखंडी लोअडी गलि मणिअडा ण वीस
तो वि गोट्ठडा कराविआ मुद्धए उट्ठवईस ॥

---

१ न मांस भक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिः सर्वभूतानाम् निवृत्तिस्तु महाफला।—मनुस्मृति

इस पद्य में नैसर्गिक एवं अकृत्रिम सौंदर्य से युक्त एक बाला के निकल जाने पर बैठे हुए रसिकों की स्वाभाविक उठकबैठक का वर्णन है। यह ऐसी प्रवृत्ति है जो सर्वसाधारण मे पाई जाती है। ऐसी रचनाओं का प्रारंभ प्राकृत से हुआ होगा[१]। इस प्रकार की रचनाओं का मुख्य एवं प्राचीन संग्रह जो अब उपलब्ध है वह है 'हाल' कृत गाथा सप्तशती। 'गाथा सप्तशती' जीवन के नवीन दृष्टिकोण को सम्मुख रखती है। वहाँ स्वतंत्रता है, स्वच्छंदता है, सरसता और कामुकता है। धार्मिकता एवं आमुष्मिकता का सर्वत्र अभाव है। गाथा प्राकृत का अपना छंद है। प्राकृत की मधुरता एवं उपादेयता मे गाथा सप्तशती में एक गाथा आती है—

'अमिअं पाउअकव्वं पढिउं सोउं अ जे ण जाणंति।
कामस्स तत्ततन्तिं कुणन्ति ते कहं ण लज्जंति।[२]

अर्थात् जो प्राकृत काव्य को पढ़ना और सुनना नहीं जानते वे कामतत्व की चर्चा करते लज्जित क्यों न हों। इसी प्रकार के एक अन्य संग्रह वज्जालग्गम् मे एक गाथा मिलती है—

ललिए महुरक्खरए जुवईजण वल्लहे ससिंगारे।
सते पहिउ कव्वे को सक्कइ सक्कअं पढिउम्॥[३]

अर्थात् ललित मधुर युवतिजन वल्लभ शृंगारयुक्त प्राकृत रचना के होते हुए सस्कृत कौन पढ़ सकता है?

---

१. प० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिंदी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ ११२।

२. हाल—गाथा सप्तशती—१।२, पृष्ठ २।

३. श्रीमथुरानाथ शास्त्री—सप्तशती की भूमिका, पृष्ठ १३-१४।

इन गाथाओं के आधार पर हमें ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारंभ की जो संस्कृत की ऐहिकतापरक रचनाएँ थीं वह तो धार्मिकता के आवेश में लोप हो गईं और पुनः धार्मिक एवं दार्शनिक अभिव्यक्ति के लिये तो विद्वानों ने संस्कृत भाषा को माध्यम रखा और आमुष्मिकता से रहित ऐहिकतापरक जनता ने अपनी सीधी सादी प्राकृत को अपनाया और उसमें अपनी ऐहिकता की प्रवृत्ति को उच्च स्वर से स्वतंत्रतापूर्वक अभिव्यक्ति दी[1]। 'हाल' की सतसई के रचनाकाल के संबंध में बहुत मतभेद है परंतु हमें उसपर जाने की आवश्यकता नहीं। यदि हम इस रचना को पाँचवी शती की भी मान लें तो भी हमारी बात में कोई व्याघात नही पड़ता। इस ग्रंथ ने तत्कालीन समाज के प्रवृत्तिमूलक जन समुदाय का चित्र प्रस्तुत किया है। सतसई में जीवन की छोटी मोटी घटनाओं के साथ एक ऐसा निकट का सबंध पाया जाता है जो इसके पूर्ववर्ती संस्कृत साहित्य मे कम मिलता है। प्रेम और करुणा के भाव, प्रेमियों की रसमयी क्रीड़ाएँ और उनके आघात प्रतिघात इस ग्रथ मे अतिशय जीवित रूप में प्रस्फुटित हुए है। अहीर और अहीरिनियों की प्रेमगाथाएँ ग्राम वधूटियों की शृंगार चेष्टाएँ, चक्की पीसती हुई या पौधों को सीचती हुई सुंदरियों के मर्मस्पर्शी चित्र, विभिन्न ऋतुओं का भावोत्तेजन आदि बातें इतनी जीवित, इतनी सरस और इतनी हृदयस्पर्शी हैं कि पाठक बरबस इस सरस काव्य की ओर आकृष्ट होता है[2]। अपभ्रंश काल में यह परंपरा और भी विकसित हुई। फुटकल रचनाओं का प्राधान्य हुआ और दूसरी प्रेमगाथाओं के रूप

---

१. जयवल्लभ—वज्जालग्गम्, पृष्ठ २।

२. पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिंदी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ ११२।

में जनता में इनका प्रचार चल पड़ा। परंतु लोकप्रचलित इन प्रेमगाथाओं के संग्रह उपलब्ध नहीं होते हैं। मुक्तक रूप में फुटकल पद्य साहित्य में पर्याप्त रूप में प्राप्त होते हैं। हेमचंद्र कृत व्याकरण तथा 'देशी नाममाला' का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। उनके दूसरे ग्रंथ काव्यानुशासन तथा छंदोनुशासन हैं उनमे भी उदाहरण स्वरूप इस प्रकार के पद्य हैं। यथा—किसी घूमते हुए पथिक से कोई ग्रामीणा कहती है—

पंथिय न एत्थ सत्थरमत्थि मणं पत्थरत्थले गामे।
उन्नय पओहरं पेक्खिऊण जइ वससि ता वससु ॥[1]

अर्थात् हे पथिक इस पत्थरवाले ग्राम मे अच्छी अच्छी शय्या कहाँ? यदि उन्नत पयोधरों को (उठते हुए बादलों को, तथा उन्नत उरोजों को) देखकर वसना चाहते हो तो यहाँ वसो। अर्थात् रात्रि व्यतीत करो। यह है ग्रामीणा के जीवन की निष्कपट वासना का सच्चा चित्र।

'हाल' की सप्तशती तथा अन्य प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य के इस रूप ने संस्कृत मनीषियों का ध्यान भी आकृष्ट किया। वस्तुत. ऐहिकता भी कोई त्याज्य, सर्वथा अयोग्य एवं अवर्णनीय-वस्तु नहीं। अतः संस्कृत में भी इस प्रकार के ग्रंथ रचे जाने लगे जिनमे अमरुक का अमरु शतक, कालिदास का शृंगार तिलक, चौर पंचाशिका तथा भर्तृहरिकृत शृंगार शतक आदि आदि है। शृंगार के अनेक अप्राप्य एवं छोटे छोटे काव्य निर्णयसागर से 'काव्यमाला' मे प्रकाशित हुए हैं।

इस प्रकार की विचारधारा को प्रभावित करने का काम 'कामशास्त्र' को भी है। कामशास्त्र का सबसे प्राचीन एवं

---

१. हेमचंद्र—काव्यानुशासन, पृष्ठ ८७।

प्रामाणिक ग्रंथ वात्सायनप्रणीत कामसूत्र है। कामसूत्र के प्रथम अधिकरण के चतुर्थ अध्याय में जो नागर वृत्त दिया है वह विशेषत: उन लोगों का ही चरित्र है जो आजकल रसिक एवं सुविधासंपन्न व्यक्ति कहे जा सकते हैं, जहाँ कादंब, कामिनी और कांचन का अनुपम संयोग है। इसी प्रकार कामसूत्र का सांप्रयोगिक अधिकरण भी बड़ा महत्वपूर्ण है। इसमें दस अध्याय है जिनमें रतावस्थापन, आलिंगन-विचार, चुंबनभेद, नखरदन जाति प्रकरण, दशनच्छेद्य विधि तथा संप्रवेशन, एवं प्रणयकलह आदि आदि विषय उनकी उपयोगिता के साथ वर्णित किए गए हैं।[1] उनका प्रयोग हमारे साहित्य में भी किया गया है। यथा आलिंगन विचार में, आलिंगन का एक प्रकार वृक्षादिरूढ़क है[2]। उसी का वर्णन विद्यापति ने किया है—

तरुअर वलि थर डारे जाँति। सखि गाढ़ आलिंगन तेंह भाँति।
मे नीदे निदारुधि करो काह। सगरितनि कान्हु केलि चाह॥

प्रथम दो पंक्तियों में आलिंगन का भेद है। कामशास्त्र ने प्रेम और शृंगार से संबंध रखनेवाले समस्त उपकरणों पर प्रकाश डाला है। वहाँ नागर जनों के सहायक, दूती, नायिका आदि सभी अपने गुणों सहित वर्णित उपलब्ध होती हैं। कामशास्त्र के साथ साथ सामुद्रिक शास्त्र ने भी नारी सौंदर्य को रूढिगत बना दिया[3]। देवी देवताओं तक के ध्यान

---

१. वात्सायन—कामसूत्र, पृष्ठ १२५-५६७।
२. वही, पृष्ठ २९१।
३. पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिंदी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ २३८-२४५।

में उनके अंगसौंदर्य पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। सरस्वती का ध्यान है--

तरुण शकलमिन्दोर्बिभ्रती शुभ्र कांतिम्,
कुचभरनमितांगी सन्निपण्णा सिताब्जे।
निजकरकमलोद्यल्लेखनी पुस्तकश्रीः
सकलविभवसिद्धयै पातु वाग्देवता नः॥

—पुरोहितदर्पण, पृ० २२७

इन ग्रंथों ने केवल ध्यान ही नहीं अपितु नारी अंग एवं उनके उपमानों तथा शुभाशुभ लक्षणों का भी विधान कर दिया। इन कामशास्त्रीय लक्षणों के अनुसार नारीसौंदर्य अत्यंत रूक्ष एवं निवृत्तिमूलक जैनागमों मे भी प्राप्त होता है। यद्यपि उनका प्रसंग दूसरे दृष्टिकोण से है। वहाँ यह सब शृंगार अंत मे निर्वेद उत्पन्न कर कैवल्य ज्ञान की प्रेरणा देता है, परंतु यदि हम उद्देश्य को छोड दें तो वहाँ पर भी पीनस्तनी, वासकसज्जा, अपनी भावभंगिमा से मुनियों के मन को डिगानेवाले स्त्रीरूप के दर्शन होते हैं।

पुराण साहित्य में भी इन शास्त्रों का पर्याप्त प्रवेश है। गरुड पुराण तथा विशेषकर ब्रह्मवैवर्त पुराण में प्रेम, रास, तथा विहार वर्णन की अपूर्व छटा है। इन सब ग्रंथों से समसामायिक सामाजिक चेतना पर प्रकाश पड़ता है। अपनी धारणा ऐसी है कि शृंगारिक चेष्टाएँ तथा विलास की विधियाँ कविकल्पना नहीं। उनका अस्तित्व समाज मे था। हाँ कल्पना द्वारा कवियो ने उन्हे भावात्मक एवं आनंददायक अधिक बना दिया है।

अस्तु मिथिला प्रांत भी अत्यंत प्राचीन काल से प्रसिद्ध है। यह वह पवित्र भूमि है जहाँ जनक, यज्ञवाल्क्य, गौतम तथा महावीर जैसे स्वतंत्र विचारक उत्पन्न हुए हैं। इतिहास

से पता चलता है कि मध्य काल में यह देश विद्या और कला का केंद्र था।[1] यहाँ का नालंद विश्वविद्यालय अपने युग की अभूतपूर्व चीज थी। धार्मिक क्षेत्र में मिथिला की सबसे बड़ी विशेषता सर्वधर्म समन्वय रही है। वहाँ एक साथ शक्ति, शिव, विष्णु की उपासनाएँ चलती रहीं है। सिद्धों के चर्या-गीतों का जन्म मिथिला प्रांत में ही हुआ है। दूर की बात जाने दीजिए विद्यापति के समय से पहिले ११वीं १२वी शताब्दी में ललित कलाओं को राजाश्रय प्राप्त हो चुका था। कर्णाट वंश के प्रथम राजा नन्हदेव (१०९७-११३३) संगीत के उन्नायक थे, उन्होंने 'सरस्वती हृदयालंकार' की रचना की। गीतगोविंदकार जयदेव की कोमलकांत पदावली 'रतिकेलि' की माधुरी के साथ गोविंद के गुण भी सुनाकर जनता को मुग्ध कर चुकी थी। कोणार्क का मंदिर अपनी चित्रकला तथा जगन्नाथ मंदिर की दीवारों पर दिए हुए दृश्य तत्कालीन सामंतवर्गीय मनोवृत्ति को तथा उनके जीवन को भली प्रकार स्पष्ट करते हैं। ज्योतिरीश्वर ठाकुर का 'वर्ण-रत्नाकर' तत्कालीन नृत्य प्रथा पर भलीभाँति प्रकाश डालता है। वर्णरत्नाकर के इस वर्णन[2] को पढ़कर हम तो इसी निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि तत्कालीन समाज, समृद्ध था, कलाप्रिय था, संगीत और नृत्य का समाज में प्रचार था। साधारण जनता केवल विशेष विशेष अवसरों पर तथा सामंत वर्ग सदैव इन कलात्मक मनोविनोदों में भाग लेते रहते थे जहाँ प्रेमालापों का संगीतमय प्रचार था।

---

१. डा० जयकांत मिश्र—ए हिस्ट्री आफ मैथिली लिटरेचर, पृष्ठ ७।

२. ज्योतिरीश्वर ठाकुर—वर्णरत्नाकर, पृष्ठ ४१-५१।

अतः विद्यापति ने अपनी पदावली की मूल प्रेरणा इसी वातावरण से ग्रहण की। उन्होंने अपनी अलौकिक प्रतिभा के बल पर इस बिखरी हुई सामग्री का संगीत के साथ समन्वय कर पदावली का निर्माण किया। समाज और जीवन को छोड़कर यदि प्राचीन एवं समसामयिक ग्रंथों की ओर देखा जाय तो विद्यापति के भावों का मूल स्रोत कामशास्त्र संबंधी ग्रंथों, गाथा सप्तशती, आर्या सप्तशती, कवीद्रवचन समुच्चय से लेकर सुभापितावली जैसे सुभाषितसंग्रह ग्रथ, सदुक्तिकर्णामृत, शार्ङ्गधर पद्धति, शृंगार तिलक, तथा अमरु शतक जैसे अनेक काव्य एव नाटक ग्रंथों मे प्राप्त हो जाएगा। संस्कृत साहित्य मे अमरु शतक एवं गीतगोविद अत्यंत प्रसिद्ध हैं। इन दोनों का प्रभाव विद्यापति पर अत्यंत स्पष्ट है। इन शृंगार संबंधी ग्रंथों में नारीप्रेम को आलंबन करके शृंगारमय जीवन से संबंधित जो उक्तियाँ हैं वे अवश्य द्रष्टव्य हैं। वहाँ वयःसंधि तथा यौवनागम की समस्त लीलाओं का चित्र है जो किसी न किसी रूप में विद्यापति में प्राप्त होता है। समस्त पदों का मूल स्रोत अथवा भावसाम्य देना संभव नही। यहाँ कुछ थोड़े से अवतरण देकर ही हम अपने कथन की संपुष्टि करने का प्रयत्न करेंगे।

वहुत दिनों के बाद प्रवासी प्रियतम लौट रहा है। प्रेयसी का हृदय आनंद से उद्वेलित है वह उसके आने पर किन किन मंगल अनुष्ठानों द्वारा उसकी अभ्यर्थना करेगी, इस प्रसंग को लेकर गाथा सप्तशती और अमरु शतक ने अपनी कल्पना से चित्र उपस्थित किए है। यथा—

> रत्थापइण्णणअणुप्पला तुमं सा पडिच्छए एंतम्।
> दारणिहिएहिँ दोहिँ वि मगलकलसेहिँ व थणेहि॥
>
> —गाथा सप्तशती २।४०

इसी पर अमरु शतक की उक्ति देखिए—

दीर्घा वन्दनमालिका विरचिता दृष्ट्यैव नेन्दीवरैः
पुष्पाणां प्रकरः स्मितेन रचितो नो कुंदजात्यादिभिः।
दत्तः स्वेदमुचा पयोधरभरेणार्घो न कुम्भाम्भसा
स्वैरेवावयवैः प्रियस्य विशतस्तन्व्या कृतं मंगलम् ॥

—अमरुशतक ४५, पृ० ३९

इसी भाव को विद्यापति ने अपनी पदावली मे व्यक्त किया है। वे कहते हैं—

पिया जब आओब ए मझु गेहे।
मंगल जतहुँ करब निज देहे ॥
कनयाकुंभ भरि कुचयुग राख।
दरपन धरब काजर देइ आँखि ॥
वेदि बनाओब हम अपन अंकमे।
झाड़ करब ताहे चिकुर बिछाने ॥
कदलि रोपव हम गरुआ नितंब।
आम पल्लव ताहे किंकिनि सुझम्प ॥
दिसि दिसि आनव कामिनि ठाट।
चौदिगे पसारब चाँदक हाट ॥
विद्यापति कह पूरब आस।
दुइ एक पलकें मिलब तुअ पास ॥

—पदावली, ७६०

अर्थात् जब प्रिय मेरे इस घर में आएँगे तब अपने शरीर मे समस्त मंगल (मंगलाचार) करूँगी। कुचयुग को स्वर्ण-कलश बनाकर रखूंगी। आँखों मे काजल देकर दर्पण धरूँगी। (निर्मल चक्षु दर्पण होगा—मेरे नेत्रमुकुर में प्रिय अपना मुख अवलोकन करेंगे)। मैं अपने अंग में वेदी रचना करूँगी। केश पसार कर उससे भाड़ू करूँगी (केशपाश झाड़ू होगा)।

अपना गुरु नितंबरूपी कदली रोपूंगी। उसमे किंकिणीरूपी आम्र पल्लव डुला दूँगी।

इसी प्रकार इस हर्ष में मस्त होकर कोई दूसरी नायिका किस किस प्रकार की कल्पना कर रही है उसका भी अवलोकन कीजिए। वह कहती है—

अंगने आओब जब रसिया। पालटि चलब हम इसत हँसिया॥
आवेशे आँचर पिया धरवे। याओब हम जतन पहु करवे॥
कचुआ धरव जब हठिया। करे कर वारव कुटिल आध दिठिया॥
रभस माँगव पिया जवही। मुख मोड़ि विहसि वोलव नहि तवहि॥
सहजहि सुपुरुख भमरा। चिर धरि पियव अधर रस हामरा॥
तखने हरव मोर चेतने। विद्यापति कह धनि तुआ जीवने॥

—पदावली, ७५६

अर्थात् नायिका कहती है कि जब रसिक आँगन में आएंगे उस समय (मैं) उनकी ओर न जाकर (इषत् हँसकर लौट कर चलने लगूंगी। जब वे आवेश मे मेरा अंचल पकडेंगे, (उस समय) मे चली जाऊँगी। प्रभु (मुझको रोकने के लिये) यत्न करेगे। हठपूर्वक जब (मेरी) काँचलि पकडेगे, तब कुटिल कटाक्ष से हनकर मै हाथ से हाथ रोकूँगी। पिया जब केलि माँगेगे, तब मुस्करा कर मुख फेर कर ना ना कहूँगी। सुपुरुष के स्वभाववश वे भ्रमरतुल्य मेरा वस्त्र पकड़ कर मेरा मुख कमलमधु पान करेगे। तब मैं ज्ञान खो दूँगी (तब मुझे होश नही रहेगा); विद्यापति कहते हैं, तुम्हारा जीवन धन्य है।

किसी अन्य विरहणी नायिका की बात सुनिए। वह कहती है कि प्रवास करते समय पति ने जो दिन दिए थे उनको गिनते गिनते मेरी उँगलियाँ भी घिस गई। अब क्या होगा। इस भाव को लेकर हेमचंद्र के व्याकरण में एक दोहा है—

जे महु दिराणा दिम्रहडा दइएँ पवसंतेण।
ताण गणंतिएँ अंगुलिउ जज्जरिश्राउ णहेण ॥ १ ॥
—अपभ्रंश व्याकरण, ३३३-१

इसी को विद्यापति इस प्रकार कहते हैं—

कत दिन माधव रहब मथुरापुर कबे पुजव विहि बाम।
दिवस लिखि लिखि नखर खोयायलुं बिछुरल गोकुल नाम ॥
हरि हरि काहे कहब ए संवाद।
सोडरि सोडरि नेह खिन भेल मभु देह जीवने आछये किवा साध ॥

× × ×

विद्यापति कह धैरज धर धनि मिलब तुरतहि कान ॥
—पदावली, ७३४

अर्थात् माधव कितने दिन मथुरापुर रहेंगे, कब विधाता का वामभाव समाप्त होगा ? दिवस लिखते लिखते नख नष्ट हो गए, गोकुल का नाम भी भूल गई। हरि हरि, किसको यह (दुर्दशा) संवाद कहें। वही प्रेम स्मरण कर करके मेरा शरीर क्षीण हो गया।

कितना भावसाम्य है। गाथा सप्तशती तथा अपभ्रंश के दोहे इस प्रकार के प्रसंगों के अगाध सागर हैं। अब जरा गीतगोविंद को लीजिए—

रतिसुखसारे, गतिमभिसारे, मदनमनोहरवेशम्
न कुरु नितम्बिनि ! गमनविलम्बनमनुसर त्वं हृदयेशम् ॥१॥
धीर समीरे यमुना तीरे, वसति बने वनमाली।
गोपी पीन पयोधर मर्दन चंचल कर युग शाली।
नाम समेतम् कृत संकेतम् वादयते मृदु वेणुम्।
बहुमनुते तनु ते तनु संगत पवन चलितमपिरेणुम् ॥
—गीतगोविंद

इसी का अविकल अनुवाद विद्यापति की पदावली में मिलता है—

नंदक नदन कदंवेरि तरु तरे धिरे धिरे मुरलि वलाव।
समय संकेत निकेतन वइसल वेरि वेरि वोलि पठाव ॥२॥
साभरी तोरा लागि अनुखने विकल मुरारि ॥३॥
जमुनाक तिर उपवन उदवेगल फिरि फिरि ततहि निहारि।
गोरस विके अवइते जाइते जनि जनि पुछ वनमारि ॥५॥
तोंहे मतिमान सुमति मधुसूदन वचन सुनह किछु मोरा।
भनइ विद्यापति सुन वरजौवति वंदह नंदकिसोरा ॥७॥

—पदावली

उपर्युक्त दोनों रचनाओं में कुछ पंक्तियों में शब्दसाम्य ध्वनित होता है। इसी प्रकार विद्यापति का एक प्रसिद्ध पद्य है—

कत न वेदन मोहि देसि मदना।
हर नहि वला मोहि जुवति जना ॥
विभूति भुषन नहि चाँदनक रेनू।
वाघछाल नहि मोरा नेतक वसनू ॥
नहि मोरा जटाभार चिकुरक वेनी।
सुरसरि नहि मोरा कुसुमक सेनी ॥
चान्दनक विंदु मोरा नहि इंदु गोटा।
ललाट पावक नहि सिन्दुरक फोटा ॥
नहि मोरा कालकूट मृगमद चारु।
फनिपति नहि मोरा मुकुता हारु ॥
भनई विद्यापति सुन देव कामा।
एक पथ दुषन अछ ओहि नामक वामा ॥

—पदावली, २५०

गीत गोविंद मे यह पद्य भी इस प्रकार मिलता है—

हृदि विलसता हारो, नायं भुजंगमनायकः
कुवलयदलश्रेणी, कण्ठे न सा गरल द्युतिः।

मलयजरजो नेदं भस्म प्रियारहिते मयि
प्रहर न हरभ्रान्त्यानंग क्रुधा किमुधावसि।

अर्थात्, विरही नायक कहता है--हे काम ! विरहवेदना से व्याकुल हृदय को शीतल करने के लिये यह कमलनाल है, सर्पराज नही। गले में नील कमल का हार है, विष नहीं। यह चंदन की रज है भस्म नहीं। इसलिये भूल में शिवजी समझ कर मुझ विरही पर बाण मत चलाओ। कवि के कहने का उद्देश्य है कि शिवजी अर्द्धनारीश्वर हैं और मैं अपनी प्यारी के विरह में झुलस रहा हूँ--इस ओर भी काम को ध्यान देना चाहिए।

विद्यापति ने प्रसंग को बदल कर यही बात नायिका के मुँह से कहलाई है। अन्य बातें प्रायः वही हैं। विद्यापति के शब्द में 'वामा' में विशेष महत्व है। क्योंकि वामा से वामदेव शिवजी का भी अर्थ हो सकता है और वामा से स्त्री का भी। अतः नायिका कहती है कि हे कामदेव ! तू इसी शब्दसाम्य के आधार पर मुझे तंग मत कर। यह उनकी विशेषता है।

प्राकृतपैंगलम् में अपभ्रंश के कुछ पद्य संगृहीत हैं। एक पद्य है—

अरेरे वाहहि कान्ह, णाव छोटि डगमग कुगतिण देहि।
नइ इाम णदिहिं संतार देइ जो चाहसि सो लेइ ॥५॥

अर्थात्, अरेरे कन्हैया नाव छोटी है डगमगा कर कुगति न दे। यदि इस नदी से पार कर देगा तो जो चाहेगा सो मिलेगा। विद्यापति ने इसी भाव को लेकर तीन पदों की रचना की है और वे इस प्रकार हैं—

कर धरु करु मोहि पारे। देव मे अपरुब हारे, कन्हैया ॥
सखि सभ तेजि चलि गेली। न जानु कोन पथ भेली, कन्हैया ॥

हम न जाएब तुअ पासे । जाएब ऊघट घाटे, कन्हैया ॥
विद्यापति एहो भाने । गुंजरी भजु भगवाने, कन्हैया ॥ ३४९
तथा—

नाव डोलाव अहीरे जिवइत न पाओब तीरे
खर नीरे लो ।
खेवा न सेअए मोले हँसि हँसि की दहु वोले
जिव डोले लो[1] ॥२॥

\+ + +

कवि विद्यापति भाने नृप सिवसिंघ रस जाने
नव कान्हे लो ॥६॥

तुअ गुन गौरव सील सोभाव । सेहे लए चढ़लिहु तोहरी नाव ।

\+ + +

राजा सिवसिंह रूपनारायन । इ रस सकल से पावे ॥ ४९

संस्कृत के शृंगारी काव्यों में अमरुशतक की ख्याति है। इसका एक पद्य हम पहले दे चुके हैं। अमरुशतक मे नायक के सामने नायिका ने जो विचित्र चेष्टाएँ की उनका वर्णन करती हुई और अपनी विवशता दिखाती हुई वह अपनी सखी से कहती है—

तद्वक्त्राभिमुखं मुखं विनमितं दृष्टिः कृता पादयो-
स्तस्यालापकुतूहलाकुलतरे श्रोत्रे निरुद्धे मया ।
पाणिभ्यां च तिरस्कृतः सपुलकः स्वेदोद्गमो गण्डयोः ।
सख्य : ! किं करवाणि यान्ति शतधा यत्कंचुके संधयः ॥११॥

अर्थात् हे सखी ! मैं क्या करूँ ? मेरी चोली में सैकड़ों छेद हो गए हैं यद्यपि मैंने अपनी मानरक्षा के लिये क्या क्या

---

1. वेनीपुरी—पदावली, पृष्ठ ८६ ।

नहीं किया ? उनकी ओर देखते हुए मैंने अपने मुँह को मोड़ लिया, दृष्टि को पैरों की ओर ले गई, मेरे कान उनकी बातें सुनने के लिये व्याकुल थे उनमें भी अंगुली लगा ली, जो सात्विक प्रस्वेद हुआ उसे भी पोछ डाला। परंतु प्रेमभाव प्रकट हो ही गया क्योंकि कंचुकी में सैकड़ों छेद हो गए।

यही दशा विद्यापति द्वारा सुनिए—

अवनत आनन कए हम रहलिहु बारल लोचन चोर।
पिया मुखरुचि पिवए धाओल जनि से चाँद चकोर॥
ततहु सें हठे हटि मोयँ आनल धएल चरन राखि।
मधुप मातल उड़ए न पारए तइअओ पासरए पाँखि॥
माधवे वोललि मधुर बानी से सुनि मुदु मोयँ कान।
ताहि अवसर ठाम बाम भेल धरि धनु पचवान॥
तनु पसेव पसाहनि भासलि पुलग तइसन जागु।
चूनिचुनि भए कांचुअ फाटलि बाहु बलआ भागु॥
भन विद्यापति कंपित कर हो बोलत बोल न जाय।
राजा सिवसिंह रूपनराएन साम सुंदर काय॥ ३४

इसी प्रकार सुभाषित संग्रह एक में श्लोक है—

उद्भेदं प्रतिपद्यपद्मबदरी भावं समेता क्रमात्।
पुन्नागकृतिमाप्य पूगपदवीमारुह्यविल्वश्रियम्॥
लव्धा ताल फलोपमां च ललितामासाद्य भूयोधुना।
चंचत् कांचनकुम्भजम्भनमिमावस्या स्तनौ विभ्रतः॥

अर्थात् कवि ने नायिका के उठते हुए उरोजों को वर्णन किया है। उसी का प्रायः अविकल अनुवाद विद्यापति के पद्य में मिलता है। वे कहते हैं—

पहिल बदरि कुच पुन नवरंग।
दिन दिन बाढ़य पिड़ए अनग॥ २॥

से पुन भए गेल बीज क पोर।
अब कुच बाढल सिरिफल जोर ॥ ४ ॥
माधव पेखल रमनि संधान।
घाटहि भेटल करत सिनान ॥ ६ ॥
तनसुक सुवसन हिरदय लागि।
जे पुरुख देखव तेकर भागि ॥ ८ ॥
उर हिल्लौलित चाँचर केस।
चामर झाँपल कनक महेस ॥१०॥
भनई विद्यापति सुनह मुरारि।
सुपुरुख विलसए से वरनारि ॥१२॥ ६२३

यौवनागम पर नायिका के अंगों में परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन मानसिक एवं शारीरिक होता है। पुष्पोद्गम उनके जीवन का परिवर्तन काल माना जाता है। इस परिवर्तन को लक्ष्य करके रसिकों ने सुंदर उक्तियाँ कही हैं। इस विषय में साहित्य दर्पण तथा काव्यप्रकाश में दो सुंदर पद्य मिलते हैं। काव्यप्रकाश का पद्य यह है—

श्रोणी बन्धःस्त्यजति तनुता सेवते मध्य भागः
पद्भ्यां मुक्तास्तरलगतयः संश्रिता लोचनाभ्याम्।
वक्षः प्राप्तं कुच सचिवतामद्वितीयन्तु वक्त्रं
तद् गात्राणां गुणविनिमयः कल्पितो यौवनेन।

साहित्यदर्पणकार ने अपने पिता के नाम से एक पद्य दिया है—

मध्यस्य प्रथिमानमेति जघनं, वक्षोजयोर्मन्दता
दूरं यात्युदरं च, रोमलतिका नेत्रार्जवं धावति।
कन्दर्पं परिवीक्ष्य नूतनमनोराज्याभिषिक्तं क्षणा-
दंगानीव परस्परं विदधते निर्लुण्ठनं सुभ्रुवः ॥

अर्थात् जैसे किसी नवीन राजा के अभिषेक के समय उसके 'अंग' मन्त्री, पुरोहित आदि) आनंद में निमग्न होकर एक दूसरे की वस्तुओं की छीनाझपटी करने लगते हैं उसी प्रकार नवीन मनोराज्य मे कामदेव को राज्याभिषिक्त देखकर इस सुंदरी के 'अंग' (नयन, जघन आदि) एक दूसरे के गुणों की लूट मचाने लगे हैं। देखो, कमर की पृथुता (मुटाई) नितंब ने ले ली है अर्थात् बाल्यकाल मे जो मुटाई कमर में थी वह आज उसके पड़ोसी नितंब में दीखती है और कमर पतली हो गई है। एवं स्तनों की मंदता सुदूरवर्ती उदर में पहुँच गई है और नेत्रों का सीधापन रोमलता ने ग्रहण कर लिया है अर्थात् बचपन में स्तन मंद थे और आँखों मे सीधापन था परंतु अब उदर मद है और नाभि के ऊपर से निकली हुई रोमावलि सीधी है एवं स्तन पृथु हो गए हैं और नेत्र चचल तथा कुटिल हो गए हैं।

विद्यापति ने वयःसंधि में इन्ही पद्यों के भावों के कितने ही पद्य रचे हैं। उदाहरण के लिये हम यहाँ केवल एक ही पद्य दे रहे हैं—

सैसव जोवन दरसन भेल। दुहु पथ हेरछत मनसिज गेल॥
मदन किताब पलि परचार। भिन जने देयल भिन अधिकार॥
कटिक गौरव पाओल नितंब। इन्हि के खीन उनके अवलंब॥
प्रकट हास अब गोपत भेल। बरण प्रकट फेर उन्हके भेल॥
चरन चपल गति लोचन पाव। लोचन के धैरज पदतले जाव॥
नव कविसेखर कि कहिते पार। भिन भिन राज भीन वेवहार॥६२६

अर्थात् शैशव और यौवन के दर्शन हुए। मदन दोनों के (शैशव और यौवन के) पथ वा रीतिनीति को देखने लगा

(इन दोनों मे किसको क्या अधिकार दिया जाय, यह देखने लगा, परंतु स्थिर न कर सका)। पहले ही मदन का कर्तृत्व प्रचारित हुआ—भिन्न जन को भिन्न अधिकार दिया गया। कटि का गौरव वा स्थिरता नितंब ने प्राप्त की—एक की (नितंब की) क्षीणता दूसरे का (कटि का) अवलंब हुआ। प्रकट हँसी अब गुप्त हुई—किंतु वर्ण ने उसकी प्रकटता ग्रहण की अर्थात् यौवन के आविर्भाव से नायिका का वर्ण अधिक समुज्ज्वल हुआ। चरण की चपल गति लोचन ने ले ली। लोचन का धैर्य पदतले चला गया। नव कवि शेखर (विद्यापति) क्या कह सकें, भिन्न भिन्न व्यवहार (है)।

हिंदी के आदि कवि चंदवरदाई सामंत युग में हुए हैं उन्होने भी श्रृंगार का वर्णन किया है। पृथ्वीराज रासो में अनेक विवाहों का वर्णन है। अतः उन्हे रूपवर्णन रासो मे अनेक अवसर मिले थे। पृथ्वीराज संयोगिता से मिलने गए। सहसा सुंदरी संयोगिता ने गवाक्षों से झाँका। पृथ्वीराज आश्चर्य में पड़ गए और धोखा खा गए। कवि चंद ने उस अवस्था का वर्णन किया है—

> कुंजर उप्पर सिंघ, सिंह उप्पर दोय पव्वय।
> पव्वय उप्पर भ्रंग, भ्रंग उप्पर ससि सुभ्भय।
> ससि उप्पर इक कीर, कीर उप्पर म्रग दिठ्ठौ।
> म्रग उप्पर कोवंड, संध कंद्रप्प वयट्ठौ।
> अहि मयूर महि उप्परह, हीर सरस हेम न जरचौ।
> सुर भुअन छंडि कविचंद कहि, तिहि धोखै राजन परचौ।

अर्थात् गवाक्ष से झाँकती हुई संयोगिता ने राजा को धोखे मे डाल दिया। वह ऐसा अपूर्व सम्मिश्रण था कि राजा उसके सौंदर्य से धोखे में आ गया। राजा पृथ्वीराज को वहाँ

दो मस्त कुँजरों (जंघाओं) के ऊपर सुदर शार्दूल (कटि), और शार्दूल के ऊपर दो पर्वत (सुंदर कुच), तथा पर्वतों पर भ्रंग (स्तन के श्याम अग्रभाग) बैठे हुए थे। भ्रंगों के ऊपर शशि (मुखचंद) अपनी प्रभा विकीर्ण कर रहा था। शशि (मुखचंद्र) पर एक सुंदर सुग्गा (नासिका) था और उसके ऊपर दो मृग (नेत्र) उल्लसित थे जिनके बीच में साक्षात् कामदेव बैठा हुआ था (संभवतः मस्तक की विंदी), मयूर सदृश ग्रीवा के ऊपर सोने हीरों से युक्त सर्पों का राज्य था। जड़ाऊ आभूषणों से सुसज्जित केश फैले हुए थे। ऐसा अपूर्व सौंदर्य देवलोक छोड़कर वहाँ गवाक्षों में आ विराजा था।

विद्यापति भी उस अपूर्व सौंदर्य का वर्णन नहीं कर सकते। वे कहते हैं—

माधव कि कहब सुंदरि रूपे।
कतेक जतन विहि आनि समारल देखलि नयन सरूपे।
पल्लवराज चरण युग शोभित गति गजराजक भाने।
कनक कदलि पर सिंह सभारल तापर मेरु समाने।
मेरु उपर दुइ कमल फुलायत नाल बिना रुचि पाई।
मनिभय हार धार वह सुरसरि तें नहि कमल सुखाई।
अधर विंब तन दसन दाड़िम-विजु रवि ससि उगधिक पासे।
राहु दूरि बसु नियरो न आवधि तैं नहि करथि गरासे॥
सारंग नयन वचन पुन सारंग सारंग तसु समधाने।
सारंग उपर उगल दस सारंग केलि करथि मधुपाने।
भनइ विद्यापत्ति सुन वर यौवति एहन जगत् नहि जाने॥
राजा सिवसिंघ रूपनरायन लखिमादेइ प्रति नेभा॥२५

अर्थात् माधव ! सुंदरी के रूप का वर्णन क्या करें ? विधाता ने कितना यत्न करके सजाया है, मैंने अपनी आँखो देखा। उसके दोनो चरण कमल के समान शोभित है, उसकी चाल गजराज के समान है। सोना के केले (जंघा) के ऊपर सिंह (कमर) सजाया; उसके ऊपर मेरु के समान पयोधर रखे। मेरु के ऊपर दो कमल खिलाए, वे बिना नाल के भी शोभा देते हैं। मणिमय हार गंगा की धारा के समान है, उसी से कमल सूखने नही पाता है। अधर विंवफल के समान, दाँत अनार के बीज के समान, रवि (सिंदूर विंदु) और चंद्र (मुख) एक दूसरे के निकट ही उगे हुए हैं। राहु (केश) दूर वास करता है, निकट नही आता, इसी से रवि शशि को ग्रसता नहीं है। उसके नेत्र हरिण के समान और वचन कोकिल के समान है, उसके कटाक्ष मे कामदेव निवास करते है। कमलतुल्य मुख के ऊपर दस भ्रमर (चूर्ण कुंतल) केलि करते हुए मधुपान करते है। विद्यापति कहते हैं, युवतिश्रेष्ठ सुन, यह रस कौन जानता है ? लखिमादेवी के पति रूपनारायण शिवसिंह यह जानते हैं।

स्पष्टतः विद्यापति ने वही पद्धति अपनाई है जो कवि चंद ने, परतु विद्यापति के पद्य का विस्तार जितना माधुर्य-युक्त है उतना चंद का नही। विद्यापति ने कई बातें और भी जोड़ दी हैं। इसका कारण संभवतः दोनों के दृष्टिकोण का अतर है। परंतु यह निर्विवाद है कि विद्यापति ने अपने काव्य को अत्यंत सरस और मधुर बना दिया है।

अतः यदि प्रयत्न करके देखा जाय तो विद्यापति के पदों के अनेक वाक्य या वाक्यांशों का भाव संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश ग्रंथों मे प्राप्त हो सकता है। क्या हम उन ग्र थों को विद्यापति की पदावली का मूल स्रोत मान ले ? हमारी

समझ से यह मानना विद्यापति की प्रतिभा के साथ अत्याचार करना होगा। मनुष्य शिक्षा, अध्ययन एवं शास्त्रावलोकन से अपने ज्ञान एवं अनुभव का विस्तार करता है। उनमें आए हुए भावों को आत्मसात् करता है और आवश्यकता पड़ने पर उनकी अभिव्यक्ति भी करता है। भावावेश में सच्ची हृदयानुभूति की अभिव्यक्ति ही कविता है। अतः ऐसे अवसर पर यदि कहीं अन्य काव्यों में आए हुए वाक्य या वाक्यांशों का साम्य प्राप्त हो जाय तो उसके आधार पर पहले काव्य को पिछले काव्य का मूल स्रोत कहना उचित नही जँचता। एक दूसरा कारण और भी है। पदावली प्रबंध काव्य नहीं, वहाँ न कथा का प्रवाह है, न आधार, और न संबंधनिर्वाह का प्रश्न। पदावली के पद तो हृदयतंत्री की झंकार हैं, उनमें एक ही भाव के अनेक पद हैं। कवि का मन नायिका के सौंदर्यावलोकन में खूब रमा है, उसने अंगप्रत्यंग का निरीक्षण किया है, वर्णन किया है। कवि ने उठते हुए यौवन में नागरिकों की लीलाओं, उनके सहवासों, अभिसारों तथा सखियों के हास परिहास एवं नायक वृत्तों को बड़े समीपस्थ होकर देखा है, वर्णन किया है, और खूब किया है। जिस प्रकार जैन कवियों ने अपने धर्म से प्रेरणा ग्रहण कर अपने काव्यों में कवि-रूप को ही प्रधान रखा है उसी प्रकार विद्यापति ने भी अपने पूर्ववर्ती कवियों से प्रेरणा ग्रहण कर उसे नवीन रूप में अपने हृदय के अनुकूल अभिव्यक्ति दी है। अतः इस विस्तृत विवेचन के उपरांत हमारे निष्कर्ष यह हैं—

(१) विद्यापति की पदावली की प्रेरणा का मूल स्रोत तत्कालीन समाज एवं जीवन था।

(२) इस प्रकार का दृष्टिकोण प्राचीन था। अतः प्राकृत,

अपभ्रंश, संस्कृत के शृंगारी काव्य, नाटक, काम शास्त्र तथा सामुद्रिक शास्त्र के वर्णनों ने उनके उत्साह की वृद्धि की और कल्पना को नवीन नवीन चित्र दिए।

(३) गीतगोविंद के नाद सौंदर्य ने उनकी उत्सुकता को और भी अभिवृद्धि दी।

(४) अतः अपनी निजी रसिकता की छाप लगाकर पदावली की रचना की गई।

विद्यापति की मौलिकता—विद्यापति ने जहाँ कही से भाव लिया है उसको उन्होंने आत्मसात् कर लिया है और अपनी रसिकता की छाप लगाकर प्रकट किया है। उदाहरण के लिये कवि कुलगुरु कालिदास ने अभिज्ञान शाकुंतल मे दुष्यंत द्वारा शकुंतला की चतुरता का वर्णन कराया है। श्लोक इस प्रकार है—

दर्भांकुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे
तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा।
आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती
शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम्[1] ॥

अर्थात् शकुंतला असमय मे ही दर्भांकुर लग जाने का बहाना कर, तरु शाखाओं से उलझे हुए वस्त्रों को छुड़ाने का बहाना कर मुड़ती हुई मेरी ओर देखती रही।

इसी प्रकार का प्रसग विक्रमोर्वशीय नाटक में भी मिलता है। राजा पुरुरवा के चले जाने पर उर्वशी कहती है—

अम्मो, लदा विडवे एसा एआवली वैअंतिका मे लग्गा। (सव्याजमुपसृत्य राजानं पश्यन्ती) सही चित्तलेहे,मोआ वेहि दावणम्'।

अर्थात्, लता के वृक्ष में यह एकावली उलझ गई है। हे सखि चित्रलेखा ! इसे सुलझा दो। इसी प्रसंग को लेकर विद्यापति ने एक पद दिया है—

नहाइ उठलि तीरे राहि कमल मुखि समुखे हेरल वर कान।
गुरुजन संगे लाजे धनि नत मुखि कैसन हैरब बैयान।
सखि हे अपरुब चातुर गोरि।
सब जन तेइ अगुसरि संचरि आड़ बदन तहिं फेरि।
तँहि पुन मोति हार टूटि फेंकल कहइत हार टुटि गेल।
सब जन एक एक चुनि संचरु श्याम दरश धनि लेल।

जरा तुलना कीजिए। तीनों की नायिकाएँ प्रियतम के दर्शनों के लिये ब्याज रखती हैं। शकुंतला तपोवन कुमारी है। अतः उसके लिये दर्भांकुर एवं वल्कल वस्त्र का तरुशाखाओं में उलझना स्वाभाविक है। कालिदास ने यह बहाना दिया। उर्वशी अप्सरा है, उसकी एकावली का उलझना भी स्वाभाविक है, परंतु राधिका राजनंदिनी है और स्नान करके चल रही है। वह नागरिक जीवन में अभ्यस्त है। अतः कोई उपाय उसको अपने अनुकूल करना चाहिए जिसमें वह कृष्ण को देख सके और यह भेद किसी पर लक्षित भी न हो। अतः वह अपूर्व चतुराई से झट तेजी से आगे चलती है और निगाह बचाकर हार तोडकर डाल देती है। मोती जैसी अमूल्य वस्तु पृथ्वी पर बिखरा देती है और स्वयं खेद प्रकाशित करती हुई मुँह फाड़े कृष्ण की ओर देखती हुई खड़ी हो जाती है। सखियाँ एवं गुरुजन मोती उठाने में व्यस्त हो जाते हैं। राधा ने कैसा सुंदर अवसर प्राप्त कर लिया और साथियों में से किसी को संदेह भी न हुआ। जहाँतक शकुंतला का प्रश्न है

---

१. कालिदास, अभिज्ञान शाकुंतलम्, अंक २-१२, पृष्ठ ७५।
२. श्रीनरेंद्रनाथ दास, विद्यापति का काव्यालोक, पृष्ठ ४८।

वहाँ वहाना परिस्थिति के अनुकूल होने पर भी थोडा सा व्याघात करनेवाला हो सकता है। संभवतः काँटे को निकालने के लिये उसे अपने चरणों की ओर देखने का भी वहाना करना पड़ा होगा। अतः उसे अवाध गति से शंका-रहित नेत्र फाड़कर देखने का वह अवसर नही मिला जो राधिका को मिला। उर्वशी का चित्रलेखा को पुकारना और उसे अपने आप कुछ न करना कुछ अखरता है। यद्यपि कारण स्पष्ट है कि यदि वह स्वयं प्रयत्न करती तो वह राजा को न देख पाती। परतु जो माला के टूट जाने मे और साथियो के मोतियों को चुनने मे लग जाने पर अवसर मिलता है वह अन्य अवसरो पर नही।

अमरुशतक का हम एक पद्य पहले दे चुके हैं अब जरा दूसरे पद्य की बात देखिए—

आलोलामलकावली विलुलितां विभ्रच्चलत्कुण्डलं
किंचिन्मृष्टविशेषकं चतुतरैः स्वेदाम्भसः शीकरैः।
तन्व्या यत्सुरतान्ततान्तनयन वक्त्र रतिव्यत्यये
तत्त्वा पातु चिराय कि हरिहरस्कन्दादिभिर्दैवतैः[1] ॥३॥

अमरु का यह मंगलमय श्लोक है। पद मे विपरीत रति का वर्णन है। कवि कहता है कि विखरी हुई चंचल अलकावली से सुशोभित, चंचल कुडलवाली, थोड़े थोडे प्रस्वेद के विंदुओं से सुशोभित, तथा थोड़े थोड़े नेत्रो को वंद करती हुई विपरीत रति में रमण करती हुई नायिका का मुख चिर दिन तुम्हारी रक्षा करता रहे तो हरि, हर, ब्रह्मा इत्यादि देवताओं का क्या प्रयोजन ?

---

१. अमरुशतकम्, पृष्ठ ६।

अब जरा विद्यापति की बात सुनिए—

विगलित चिकुर मिलित मुखमंडल चाँद वेढ़ल घनमाला ।
मनिमय कुंडल स्रवणे दुलित भेल घामे तिलक बहि गेला ।।
सुंदरि तुअ मुख मंगल दाता ।
रतिविपरीत समय यदि राखवि कि करब हरि हर धाता ।।
किंकिनी किनिकिनि कंकन कनकन कलरव नूपुर बाजे ।
निज मदे मदन पराभव मानल जय जय डिंडिम बाजे ।
तिल एक जघन सघन रव करइत होयल सैनक भंग ।
विद्यापति पति ओ रस गाहक जामुने मिलली गंग तरंग ।।७०३

अर्थात् चिकुर गलित (मुक्त) होकर मुखमंडल पर छा गया, मेघमाला (केश) ने चंद्रमा (मुख को) को घेर लिया । मणिमय कुंडल कानों में हिलने लगे, पसीने से तिलक मिट गया । सुंदरी, तुम्हारा मुख मंगलदायक है; विपरीत रति के समान तुम यदि रक्षा करो तो हरि हर ।वधाता मेरा क्या कर लेंगे । उनका क्या प्रयोजन है ?

वस्तुतः विद्यापति ने अमरुशतक का अक्षरशः अनुवाद किया है । 'आलोलामलकावलि' का विगलित चिकुर अनुवाद है, 'किं हरिहरब्रह्मादिभिर्दैवतैः' का 'कि करव हरि हर धाता' में केवल भाषाभेद है, 'विलुलितां' का अर्थ घामे तिलक वहि गेला अधिक स्पष्ट है । परंतु रसिक तथा सुरत-कला कोविद ही इसके अंतर का आनंद ले सकते हैं । अमरु की नायिका का पुरुषायित संभोग का चित्र इतना आनदातिरेक से युक्त नहीं है जितना कि विद्यापति का । विद्यापति ने अलकावलि को मुख चंद्र को ढकने के लिये मेघमाला वनाया है वही उनकी सूझ है । रतिरण में मदनपराजय को डिम डिम बाजे बजाकर घोषित किया जा रहा है । किंकिनी किनकिन

कंकन कनकन' मे अनुरणनात्मक शब्दों का ध्वनि-माधुर्य है वह श्लोक मे नहीं बना। पद में जो नादसौंदर्य है उसके कारण विद्यापति के पद का सौंदर्य और बढ़ जाता है और श्लोक कुछ फीका पड़ जाता है। यही विद्यापति की अपनी मौलिकता है। उनके पद मे सुरसिकता की छाप कही अधिक है।

यत्र तत्र जैन पुराणों तथा काव्यों मे भी नारी सौंदर्य के चित्र उपलब्ध होते है। महाकवि पुष्पदत ने भी त्रिवली, रोमावलि एवं स्तनों के सौदर्य का वर्णन किया है। यथा—

तिवलीसोवाणेहि चडेप्पिणु रोमावलिकुहिणी लंघेप्पिणु।
सिहिणगिरिदारोहण दोरइ लगगउ बंभउ मोत्तिय हारह॥

अर्थात्, मरु देवी की त्रिवली शोभापूर्वक रोमावली स्तनों की ओर जाती हुई ऐसी प्रतीत होती है कि मानों स्तनरूपी शिखर पर चढने के लिये डोरी है। गले में पड़ा हुआ मोती का हार ऐसा प्रतीत होता है मानो स्तनों का कवच हो[1]।

विद्यापति कहते हैं —

नाभि विवर सँय लोमलतावलि भुअगि निसास पियासा।
नासा खगपति चंचु परम भय कुच गिर संधि निवासा।
+ + +
गिरवर गरुअ पयोधर परसित गिम गज मौतिक हारा
काम कंबुभरि कनक संभु परि ढारत सुरसरि धारा॥

अपभ्रंश काव्यों मे वही उपमान है, वही परपरा है परंतु वहाँ वस्तुवर्णन का आधिक्य है; संवेदनशीलता का प्रयास

---

१ पुष्पदंत—महापुराण, २-१६, १-२, पृष्ठ २१ (प्रथम खंड)।

कम है। विद्यापति प्राचीन उपमानों को एक नवीन वातावरण में उपस्थित करने में सिद्धहस्त हैं। उनकी पदावली के पढ़ने से तथा संस्कृत शृंगारिक काव्यों से तुलना करने पर यह बात भी स्पष्ट है कि उन्हें संस्कृत काव्यों से जितनी प्रेरणा मिली है उतनी अपभ्रश काव्यों से नही। यह भी संभवतः परिस्थिति-वश है। जैसा हम पहले कह चुके हैं कि मिथिला संस्कृत अध्ययन का केंद्र था। क्या संस्कृत भाषा पर प्रगाढ़ अधिकार न होने के कारण विद्यापति ने अपभ्रंश और देशी भाषा को अपनाया ? यह कहना नितांत अशुद्ध होगा जब कि उनके संस्कृत में रचे हुए मान्यताप्राप्त ग्रंथ प्राप्त हैं। अतः यही कहना उचित जान पडता है कि उन्होने सामयिक परिस्थितियों का अनुभव किया और उनका लाभ उठाया। राजदरबारों में गीतगोविंद जैसे काव्यों का आनंद लिया जाता था वह केवल 'केलिकौतूहल' के लिये[1]। संभवतः वह भी आनद स्वरानंद था, गीतगोविंद के शब्दों के अर्थ समझने का प्रयास नही। अतः विद्यापति की सबसे बड़ो मौलिकता यह है कि उन्होंने देशी भाषा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम चुना और 'हरिस्मरणे सरसं मनो' के आवरण को दूर किया। उन्होंने अपनी प्रतिभा के बल पर विषयविस्तार, शब्दरचना में चमत्कार, तथा अलंकारों के प्रयोग में विशेषकर उपमा और उत्प्रेक्षा के प्रयोग मे, अनुपम मौलिकता प्रकट की है। उन्होंने शृंगार रस की वह धारा वहा दी है जिसने परवर्ती कवियों के लिये मार्ग सुगम कर दिया। क्या सूरदास,

---

१. यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
मधुर कोमल कांत पदावलीम् शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्।
—गीतगोविंद, १ ३ पृष्ठ ८५।

क्या विहारी, देव, मतिराम तथा अनेक रीतकाल के कवियों ने उनके पदगत भावों को नाना छंदों मे प्रकट किया है। यथा—

मदन किताब पलि प्ररचार। भिन जने देयल भिन अधिकार।
कटिक गौरव पाओल नितंब। इन्हि के खीन उनके अवलंब॥६२१॥

विहारी ने इस भाव को इस प्रकार लिया है—

नव नागरि तन मुलक लहि जोवन आमिल जोर।
घटि वढि से बढ़ि घटि रकम करी और को ओर॥३१॥
अपने तन के जानि के जोवन नृपति प्रवीन।
स्तन मन नैन नितंब को बड़ो इजाफा कीन[1]॥२६॥

संक्षेप मे विद्यापति श्रृंगार काव्य परंपरा के प्रवर्तक हो गए है। उनके उपरात बगाल और विहार मे अनेक कवियों ने उन्ही की शैली मे पदरचना की। हिंदी मे भी सूर तथा अन्य कृष्णभक्ति के कवियों ने उन्ही के मार्ग का अनुसरण किया। रीतिकाल मे तो विद्यापति के पदों की स्पष्ट छाया प्रतीत होती है।

---

१. विहारीवोधिनी लाला भगवानदीन, पृ० १२।

अध्याय ८

अवहट्ठ और पदावली की भाषा

विद्यापति ने कीर्तिलता की भाषा को 'अवहट्ठ' कहा है--

सक्कय वाणी बहुअ (न) भावइ, पाउँअ रस को मम्म न पावइ।
देसिल वअना सब जन मिट्ठा, तं तैसन जम्पओ अवहट्ठा॥

डा० बाबूराम सक्सेना ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—

संस्कृत भाषा बहुत लोगों को भली नही लगती, प्राकृत भाषा रस का मर्म नही पाती। देशी भाषा (वचन) सब लोगों को मीठी लगती है। इससे अवहट्ठ (अपभ्रंश) में रचना करता हूँ। डा० सक्सेना की अपेक्षा महामहोपाध्याय शास्त्री हरप्रसादजी का मत हमे उपयुक्त लगता है। बहुअ-(न) पाठ भी है और बहुउन भी। बहुअन शब्द बुधजन का अपभ्रंश रूप ठीक बैठता है और ऐतिहासिक प्रसंग से भी ठीक है कि विद्यापति के युग में प्रायः संस्कृत बुधजनों की ही भाषा थी। डा० सक्सेना के दूसरी पक्ति का अर्थ भी प्राकृत साहित्य एवं भाषा की प्रशंसा के संमुख उचित नही। गाथा-सप्तशतीकार ने प्राकृत काव्य को अमृत काव्य माना है। जो मनुष्य प्राकृत भाषा का काव्य पढ़ना और सुनना नही जानते उन्हे कामतत्व की चिंता मे लज्जा होनी चाहिए[1]। प० राजशेखर ने भी प्राकृत रचना को सुकुमार स्वीकार किया

---

१. अमिअं पाउअकव्वं पढिउ सोउं अ जे ण जाणन्ति।
कामस्स तत्ततन्ति कुणन्ति ते कह ण लज्जन्ति॥ २॥
—गाथा सप्तशती, पृ० १।

है और सस्कृत को परुष।[१] अतः यह अर्थ भी इसी रूप में ग्रहण किया जा सकता है कि साधारण जन अब प्राकृत में भी रस नही पाते (वह भी अब उनकी समझ से वाहर की भाषा हो गई है)। अंतिम पंक्ति में भी हमें दो विरोधी बातों का आभास प्राप्त होता है। देशी वचन सबको मीठे लगते है यह ठीक है परतु देशी वचन (भाषा) विद्यापति के समय मे अवहट्ठ नही हो सकती। यह ऐतिहासिक तथ्य के विरुद्ध है। कारण यदि अवहट्ठ देशी भाषा थी तो उसमें और पदावली की भाषा में अंतर नही होना चाहिए था। परंतु अंतर स्पष्ट है। हम गत अध्याय में कह चुके हैं कि 'देशी शब्द' अथवा भाषा अधिकतर 'लोक प्रचलित शब्द' अथवा कथ्य भाषा के अर्थ में ही प्रयुक्त पाए जाते हैं। विद्यापति के समय मे निर्विवाद रूप से अपभ्रंश (अवहट्ठ) साहित्यिक भाषा थी। जन साधारण की बोली अपने विकास के अग्रिम सोपान पर स्थिर हो चुकी थी। अतः हमारी समझ से देशी वयना का अर्थ सर्वसाधारण के समझ में आ जानेवाली 'अवहट्ठ' होना चाहिए। यह केवल प्रशंसात्मक शब्द है जिनका अर्थ सरल भाषा से होता है। अर्थात् विद्यापति सरल अवहट्ठ मे रचना करने का प्रण करते हैं।

अस्तु हमारे दृष्टिकोण से 'देशी वयना' का एकमात्र अर्थ यही है कि 'कीर्तिलता' की अवहट्ठ आधुनिक आर्यभाषाओ के अधिक निकट आ चुकी थी। उसमे एक ओर अपभ्रंश की विशेषताएँ थी तो दूसरी ओर आधुनिक आर्यभाषाओ का

---

१. परुसा सक्किअबंधा पाउअबंधो बि होई सुउमारो।
पुरुसमहिलाणं जेत्तिअमिहंतरं तेत्तिअ मिमाणं ॥ ८ ॥
—कर्पूरमंजरी, पृष्ठ ६।

बीज। गत अध्याय छह के अंतिम भाग में हमने अपभ्रंश से हिंदी का विकास दिखाने का प्रयत्न किया है। वहाँ अधिकतर उदाहरण कीर्तिलता, वर्णरत्नाकर, प्राकृत पैंगलम् तथा उक्ति-व्यक्ति प्रकरण से ही संगृहीत किए हैं। अतः उनको यहाँ देना केवल पुनरावृत्ति होगी। वहाँ हमने अवहट्ठ की सामान्य विशेषताओं पर प्रकाश नही डाला और न वहाँ वह प्रसंगानुकूल था। अतः यहाँ हम अवहट्ठ के उस पक्ष पर संक्षेप में विचार प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे।

कीर्तिलता की भाषा 'अवहट्ठ' परवर्ती अपभ्रंश का ही एक रूप है जो केवल साहित्यिक भाषा थी। प्रायः देखा गया है कि साहित्यिक भाषा में अधिक अंतर नहीं पाया जाता। संस्कृत बहुत दिनों से साहित्यिक भाषा हो चुकी है परंतु उसमें भी विवेचकों को जैन संस्कृत एवं पौराणिक संस्कृत में अंतर मिल जाता है। आज जो संस्कृत रचना हो रही है उसके शब्द-प्रयोगों तथा पाणिनीय काल की संस्कृत के शब्दप्रयोगों में अतर होना स्वाभाविक है। सभ्यता और संस्कृति के साथ आवश्यकता बढ़ती है और उनके साथ साथ शब्द-भांडार भी। शब्दप्रयोगों के अंतर के साथ मूल ढाँचा नही बदला करता है। यही दशा हमारी 'कीर्तिलता' की भाषा की है। उसने अपना मूल ढाँचा परवर्ती अपभ्रश का बनाए रखा है जो शौरसेनो से मिलता जुलता है परंतु क्षेत्रीय विशेषताएँ आ गई हैं। कीर्तिलता के आधार पर अवहट्ठ की मुख्य मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(१) अवहट्ठ में अपभ्रंश के प्रायः सभी स्वर और व्यंजन सुरक्षित हैं अंतर केवल यह है कि पश्चिम मे ञ का अभाव है और पूर्व मे वह सुरक्षित रह सका है।

(२) पूर्व स्वर पर स्वराघात—'अवहट्ठ' का प्राण यह प्रवृत्ति मानी जाती है। द्वित्वव्यंजनों के उच्चारण की दुरुहता को हटाने के लिये एक व्यंजन का प्रयोग कर पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ कर दिया जाता है। यथा—दुस्सिहई—दूसिहइ (कीर्ति० १।६)।

(३) स्वरों का सानुनासिकता में परिवर्तन—यह प्रवृत्ति प्राकृत से ही चल पड़ी थी। वहाँ अनुस्वार का प्रयोग अधिक हो चला था। परवर्ती अपभ्रंश मे अनुस्वार को भी हल्का करने की प्रवृत्ति बढ गई। कदाचित् यह प्रयोग छंदों की मात्राओं के क्रम को ठीक रखने के लिये चला था। और पुनः आगे चल कर यह सर्वसाधरण के लिये मान्य हो गया। यथा—रिपुम्—रिउं (कीर्तिलता)।

(४) अकारण सानुनासिकता—कभी कभी अकारण अनुस्वार रख देने की प्रवृत्ति चल पड़ी थी। कीर्तिलता मे इसका भी यत्र तत्र उपयोग है। यह प्रवृत्ति पश्चिमी भाषा मे अधिक है। यथा—कच्चु—काँच।

(५) कई स्वरों का एक साथ प्रयोग—कीर्तिलता मे चार चार स्वरों का प्रयोग साथ मिल जाता है यथा—अ उ व आ, पर उअआर (२।३९) अर्थ पर उपकार। ओहनी (१।४९)।

(६) संकोचन अथवा अक्षरलोप—इस प्रवृत्ति का उल्लेख प्रायः ध्वनिविचार मे ही आ जाता है। अक्षरलोप के कारण आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में अनेकों ऐसे शब्द हैं जिनके प्राचीन एवं नवीन रूप में आमूल परिवर्तन हो गया है। यथा—उपाध्याय > ओझा और अब झा ही रह गया, स्वर्णकार > सुनार हो गया।

(७) परसर्गों का प्रयोग—अपभ्रंश काल में परसर्गों का प्रयोग बढ़ चला था। हेमचंद्र ने अपने अपभ्रंश व्याकरण में केहि और रेसि दो परसर्गों का प्रयोग बताया है परंतु कीर्तिलता में ये दोनों अप्राप्य हैं। उनके स्थान पर कहीं संस्कृत के मूल शब्द मिलते हैं अथवा उनके अपभ्रंश रूप। संप्रदान में काज और कारण दोनों का परसर्गवत् प्रयोग प्राप्त होता है। यथा—णह भरिअ जुज्झ देषवह कारण[1]। सामि काज संगरे[2]। इसी प्रकार अन्य शब्द जो परसर्गवत् प्रयुक्त हुए हैं इस प्रकार हैं—

तृतीया—सन्, सथ्थ, समान, सहित, सउं, बिना, सरिस
चतुर्थी—लग्गि, लागे, प्रति, कारण
पंचमी—हुते, हुंते, सिउँ
षष्ठी—कर, को, करेउ, की, केरओ
सप्तमी—माँझ, उप्पर, माँहि आदि

(८) सर्वनामों के रूप—हयो, मोर, मेरहु, मों, मेरा, मई, तोरा, तोहार, ताक आदि सर्वनामों का प्रयोग प्रचुरता से होने लगा था। कीर्तिलता में सबंधवाचक का एक रूप जेन्ने मिलता है। यथा—'जेन्हे' रा 'अतुलतरविक्रम विक्रमादित्य करेओ तुलना'[3]। अन्य सर्वनामों के भी रूप ई, एहि, कमन, कवणे, कोण, केण आदि रूप प्राप्त होते हैं। निजवाचक सर्वनामों का रूप ध्यान देने योग्य है—अपन (२।४८), अपने, अपनेहु, अप्पा, (२) निअ,

---

१. विद्यापति—कीर्तिलता, पृष्ठ १०६—२।
२. वही, वही, पृष्ठ ८४—८।
३. वही, वही, पृष्ठ ८४—१४।

नि, णिज, सओ (स्वयं) । यह रूप आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के कितने सन्निकट पहुँच चुके हैं ।

(६) क्रियापदों का विकास—गत अध्याय मे जहाँ हमने अपभ्रश से (अवहट्ठ से) आधुनिक भारतीय हिंदी में क्रियापदों का विकास दिखाया है उससे स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान हिंदी में सयुक्त क्रियाओं के प्रयोग की समस्या अपभ्रंश द्वारा सुलझ जाती है। मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं ने क्रिया के रूप मे आश्चर्यजनक परिवर्तन किया है। संस्कृत के गणविधान का नियम शिथिल पड़ गया और प्रायः रूपविधान में भी कमी आ गई। डा० धीरेंद्र वर्मा ने गणना कर बतलाया है कि जहाँ संस्कृत में धातु के ५४० भिन्न रूप होते थे वहाँ पाली में २४० रह गए। प्राकृतों की क्रिया सरलता में और आगे बढ़ी। यद्यपि क्रियाएँ संयोगात्मक ही रहीं परंतु रूपों मे कमी आ गई। आधुनिक भारतीय भाषाओं ने, विशेषतः हिंदी ने अपना नया ढंग अपना लिया[1]।

कीर्तिलता ऐतिहासिक काव्य है अतः इसमें भूतकाल के कृदंत प्रयोगों का प्राचुर्य है। ये कृदंत प्रायः दो रूपों मे दिखाई पड़ते हैं। 'इअ' और 'इज' दोनों रूपो के प्रयोग प्राप्त होते हैं। 'इज' रूप शौरसेनी अपभ्रंश का प्रभाव स्पष्ट करता है। यथा—धनि पेक्खिअ सानंद (२।१२४) एस कोप्पिय सुरतान। कीर्तिलता में 'इअ' का कर्मणि प्रयोग मिलता है—जेहि न पाउँ उमग दिज्जिय (१।५३)। एक प्रवृत्ति जो और ध्यान देने योग्य है वह अनुस्वारयुक्त उ का प्रयोग है। यह कदाचित् अपभ्रंश का प्रभाव है क्योंकि वह उकारबहुला मानी गई है—पुरुष हअउँ वलिराय (१।३८)।

---

१. डा० धीरेंद्र वर्मा—हिंदी भाषा का इतिहास, पृ० २८८, २९०।

ल प्रत्यय--कीर्तिलता में ल प्रत्यय भी मिलता है जो आगे चलकर मैथिली की विशेपता बन गया। गेल, मेल, चलल रूप मिलते है। प्राय: ये रूप दो प्रकार से उपलब्ध होते हैं। (१) जिन धातुओं में परिवर्तन नहीं हुआ उसमें सीधा ल जोड़ दिया गया है। (२) दूसरों में थोड़ा सा परिवर्तन कर 'ल' जोड़ा गया है। यथा—

काहु वाट कहल सोभ (२।७२), गएनेसर मारल (२।७), ठाकुर ठक भए गेल (२।१०)।

सहायक क्रियाओं का प्रयोग—सहायक क्रियाओं का प्रयोग आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में खूब है। कीर्तिलता मे भी उदाहरण मिल जाते हैं यथा—सहहि न पारइ, किनइते पावथि, सैच्चान खेदि खा, खिसियाय खाए है, आवत्त हुअ हिंदू दल।

भूतकाल की क्रियाओं में भी परवर्ती अपभ्रंश में नए रूपों का समावेश हो गया था। खड़ी बोली से मिलताजुलता 'आकारांत' रूप भी प्राप्त होता है, यथा—संचरिआ (पृ० ८०), विकरिया (पृ० ८०), और पुनः थाकिउ, उद्धरिउ आदि रूप भी देखने को मिल जाते हैं। तथा भूतकृदंत मे स्वार्थिक प्रत्यय 'क' का भी संयोग मिलता है।

वर्तमान काल में तिङंत रूपों मे इ के स्थान पर ए हो गया है। यथा—कोहाए (पृ० ४०), पाए (पृ० ४०)।

(१०) निर्विभक्तिक प्रयोग--अवहट्ठ अथवा अपभ्रंश की यह प्रवृत्ति आधुनिक भारतीय भाषाओं को रिक्थ रूप मे प्राप्त हुई है। परवर्ती अपभ्रंश मे पूर्व और पश्चिम दोनो स्थानों की रचनाओं में निर्विभक्तिक प्रयोग प्राप्त होते हैं।

१—केतकि मह महंत परिमल विसावई (स्थूलिभद)।

२—भुवन जागर तुम्ह परताप ।

अवहट्ठ वाक्यविन्यास की सबसे बड़ी यही विशेषता है। कारकों में सामान्य रूप से विभक्तियों का प्रयोग लुप्त दिखाई पड़ता है। इस प्रकार के प्रयोगों के आधिक्य के कारण वाक्य में शब्दों के संघटन पर भी प्रभाव पड़ता है। कीर्तिलता में वाक्यों की गठन (गद्य में) प्रायः वैसी ही है जैसी वर्तमान हिंदी की होती है, अर्थात् कारक (संज्ञा, सर्वनाम) फिर कर्म और अंत मे क्रिया।

दोसरी अमरावती क अवतार भा (२।९९)।
(मानो दूसरी अमरावती का अवतार हुआ)।
ठाकुर ठक भए गेल (२।१०)।
(ठाकुर ठग हो गए)।

वाक्यगठन की दूसरी विशेषता है संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग। उनके विषय मे हम ऊपर कह चुके है। कीर्तिलता में कही कही प्रयोग विल्कुल वर्तमान भाषा के ढंग पर होते हैं, यथा—

भागए चाह = भागना चाहती है (७२।१४)।

जा, ले, दे, खा, आदि के साथ भी संयुक्त क्रियाएँ बनती हैं। जो सभी कार्य की पूर्णता द्योतित करते हैं।

जा (२।१३०), जाई (२।१८२), जाइअ (२।६३)।
खाए ले भाँग क गुंडा।
सैच्चान खेदि खा।

कीर्तिलता मे कुछ प्रयोग ऐसे हैं जो ठेठ ग्रामप्रयोग हैं। ऐसे स्थलों पर भाषा बड़ी ही पैनी और वाक्य छोटे छोटे तथा अर्थपूर्ण होते हैं।

१—माहु भेसुर क सोभ जाहि ४।२४७—वहू भसुर

के सोझ जाती है। सोझ सामने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जो पूर्वी भाषाओं में प्राप्त होता है।

२ - गॅट्ठि परि अउं (३।३५) = गाँठ पड़ गई।

३—चंदन क मूल्य इंधन विका (३।१००)।

(११) शब्दसमूह—परवर्ती अपभ्रंश की रचनाओं को देखने से मालूम होता है कि अवहट्ठ शब्दसमूह अपभ्रंश से तीन कारणों से भिन्न दिखाई पड़ता है।

१—विदेशी शब्दों का प्रयोग—कीर्तिलता, समरारास, रणमल्लछंद आदि रचनाओं में जहाँ मुसलमानी सपर्क काव्य की घटनाओं में दिखाई पड़ता है, वहाँ तो अरबी फारसी के शब्दों का प्रचुर प्रयोग हुआ ही है, बहुत से शब्द इतने साधारण प्रयोगों में आ गए हैं, जिनको अन्यत्र भी लक्ष्य किया जा सकता है। वर्णरत्नाकर में नीक, तुर्क, तहसील, नौवति, हुदादार ओहदादार, आदि शब्द मिलते है। उक्तिव्यक्ति प्रकरण के आधार पर डा० चटर्जी का विचार है कि १२वीं शती तक गंगा की घाटी की भाषा में विदेशी शब्दों का प्रयोग कम दिखाई पड़ता है; पर उक्तिव्यक्ति प्रथम तो व्याकरण ग्रंथ है, दूसरे उसमें तत्कालीन ऐतिहासिक घटनाओं का जिक्र कम से कम हुआ है, इसलिये उसकी भाषा के आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि विदेशी शब्दों का प्रयोग प्रचलित नहीं था।

२—तत्सम शब्दों का—ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान के कारण प्रचुर मात्रा में प्रयोग होने लगा, अवहट्ठ के शब्दसमूह में यह नया मोड़ है। इसके कारण प्राकृत तद्भव रूपों की गड़बड़ी भी दूर हो गई। तत्सम का प्रभाव न केवल शब्द-रूपों पर बल्कि क्रिया में धातुओं पर भी दिखाई पड़ता है।

३—देशी शब्दों के प्रयोग की प्रचुरता दिखाई पड़ती है। इस प्रकार हमने देखते हैं कि अवहट्ठ भाषा अपभ्रंश के प्रभाव को सुरक्षित रखते हुए भी बिल्कुल बदली हुई मालूम होती है। उसमें बहुत से नवीन प्रकार के व्याकरणिक प्रयोग और विकास दिखाई पड़ते हैं, यथा—

अंटले (४।४६ =बाँधकर, आँटी करना, आँटी चढ़ाना आ० हिंदी; गुंडा (२।१७४)=गोली, चांगरे (४।४५)= चांग, जरहरि (४।२१२ =नाव की झिरहिरी), घांगड़(४।८६) = जंगली, आदि।

अस्तु संक्षेप में हम कीर्तिलता की भाषा को परवर्ती अपभ्रंश का साहित्यिक रूप मानते हैं। यह रूप विकासक्रम में आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के अधिक संनिकट जा चुका था।

पदावली—विद्यापति की 'देसी वअना' का शुद्ध रूप पदावली मे प्राप्त होता है। पदावली के परिचयात्मक वर्णन मे हमने उसके विविध संस्करणों की ओर संकेत किया है। कविप्रयुक्त भाषा पर प्रकाश डालने से पहिले प्रामाणिक रचना की आवश्यकता होती है परंतु हमे खेद से कहना पड़ता है कि आजकल जो भी पदावलियाँ प्रचलित हैं वे विद्यापति की भाषा का सच्चा प्रतिनिधित्व नही करती[1]। नेपाल पांडुलिपि तथा स्व० शिवनंदन ठाकुर के ८६ पदों की विशुद्ध पदावली से हमें यही पता चलता है कि विद्यापति के गीतो में किस प्रकार की भाषा का प्रयोग ४०० वर्ष तक होता रहा।

दूसरी बात जो पदों की तुलना करने पर मिलती है वह है पाठभेद। अर्थात् एक ही पद का भिन्न भिन्न पदावलियों में भिन्न भिन्न रूप प्राप्त होता है। यथा —

---

१. डा० सुभद्र झा—विद्यापति गीत संग्रह—भूमिका, पृष्ठ १२७।

(१) डा० मजूमदार : वसन हरइते लाज दुर गेल पियाक कलेवर अंबर भेल।—पदसंख्या ४६१

(२) गुप्त : इंडियन प्रेस : वसन हरइते लाजदुर गेल। पिश्राक कलेवर अंबर भेल। पदसंख्या ५८९

(३) डा० सुभद्र झा : वसन हरइतें लाज दुरगेल पिश्राक कलेवर अंबर मेल।—पदसंख्या ५७

(४) स्व० प० शिवनंदन ठाकुर : वसन हरइते लाज दुर गेल पिश्रक कलेवर अबर भेल। —पदसंख्या ४५

१—शब्द हरइते प्रति १, २, ३ में एकसा है परंतु नबर ४ मे इस पर चद्रबिंदु है।

२-शब्द पियाक का रूप संख्या २ तथा ३ में पिश्राक तथा चार में पिश्रक हो गया है।

३—अवोंघे नंबर २ में अओंघे, ३ में ओधें तथा ४ में अओधें मिलता है।

४—उनमतिश्रा नंबर २ में ज्यों का त्यों, परतु नंबर ३ में उनमसिश्रा और नंबर ४ में उनमनिश्रा।

५—मुहें के स्थान पर २ व ३ मे मुहे परंतु नंबर ४ में नश्रने हो गया है।

६—निहारिए २, ३ में बना रहा परंतु ४ में निझावए हो गया।

७—मुदला २, ३ में ज्यों का त्यों है परतु चार में मुकुलहुँ पाठ मिलता है।

८–पंक्ति 'मन्मथ चातक नहीं लजाए' संख्या चार में 'मनसिज तंत कह ग्रो मन लाए' मिलती है।

९–तन्हिका २ में तहिकर ३ में तन्हिकर और ४ तन्हिका मिलता है।

१०–कहिली २ में कहिली ३ में कहिनी और ४ कहिनी है।

११–आग्रोब का पाठ अन्य तीन में आग्रोर मिलता है।

१२–प्रथम तीन में भनिता नहीं है, चौथी में 'सकलग्रो रस नहि अनुवद नारि विद्यापति कवि कहए विचारि' भनिता प्राप्त होती है।

इसी प्रकार एक दूसरे पद का विश्लेषण देखिए—

(१) डा० मजूमदार—

आँचरे वदन झपावह गोरि। राजसुनैच्छिग्र चांदक चोरि॥
घरघरे पे हरि गेलच्छ जोहि। एषनेदूषण लागत तोहि॥
बाहर सुतह हेरह जनु काह। चाँन भरमें मुख गरसत राहु॥
निरभि निहारि फाँस गुन तौसि। बाधि हलत तोह खंजन बोलि।
भनहि विद्यापति होहु निशंक, चांदहुं कां किछु लागु कलंक॥२९

(२) गुप्त : इण्डियन प्रस—

अंचरे वदन झपावह गोरि। राज सुनइछिग्र चांदक चोरि॥२॥
घरे घरे पहरी गेल अछ जोहि। अबही दूखन लागत तोहि॥४॥
कतए नुकाएब चांदक चोर। जतही नुकाग्रोब ततहि उजोर॥६॥
हास सुधा रसे न कर उजोर। बनिके धनिके धन बोलब मोर॥८॥
अधरक सीम दसन कर जोति। सिदुरक सीम वेसाउलि मोति॥१०॥
भनइ विद्यापति होह निसंक। चांदहु कां थी भेद कलंक॥१२॥३२८

(३) डा० सुभद्र झा—

अंवरे वदन झपावह गोरि राज सुनइछि चान्दक चोरि॥१॥
घरे घरे पहली गेल अछ जोहि। अबही दूषण लागत तोहि॥२॥

सुन सुन सुन्दरि हित उपदेश । सपनेहु जनु हो विपद कलेश ॥३॥
हास सुधारस न कर उजोर । धनिके धनिके धन बोलव मोर ॥४॥
अधर समीप दसन कर जोति । सिन्दुर सीम वैसाउलि मोति ॥५॥
भनइ विद्यापति इत्यादि ।

४—स्व० पं० शिवनंदन ठाकुर

यह पद नहीं मिलता ।

५- बेनीपुरी जी

अंबर बदन झपावह गोरी । राज सुनइछिज चांद क चोरी ॥२॥
घर घर पहरि गेल अछ जोहि । अबही दूखन लागत तोहि ॥४॥
कलए नुकाएव चांद क चोर । जतहि नुकाओब ततहि उजोर ॥६॥
हास सुधारस न कर उजोर । बनिक बनिक बन बोलब मोर ॥८॥
अधर क सीम दसन कर जोति । सिदुर क सीम वैसाओलि मोति॥१०
भजइ विद्यापति होह निरसंक । चांदहु कां थिक भेद कलक॥१२॥१०१

तुलना कीजिए

(१) आँचरे २, ३ में अंवरे और ५ में अंबर हो गया ।

(२) सुनैच्छिअ २ में सुनइछिय ३ में सुनइछि और ४ सुनइछिज ।

(३ संख्या १ में चंद्रबिंदु और संख्या २ में चद्रविंदु और ३ में न् का प्रयोग है अन्य सब में चंद्रबिंदु प्राप्त होता है ।

(४) सख्या १ तथा ३ में ण का प्रयोग है तथा सख्या २ में और पाँचवे में न का प्रयोग है ।

(५) तीसरी पंक्ति में पाठभेद है । संख्या २ और ५ में एकसा पाठ है । संख्या ३ में पंक्तियाँ नही हैं ।

(६) एक की चौथी पंक्ति सबसे पृथक् है । प्रायः १ ख (२), ३ तथा ५ में साम्य है ।

(७) २ ३ तथा पाँच में एक पंक्ति अधिक है।

(८) संख्या १ के पाठभेद में लुकाएव शब्द दिया है जो अन्यत्र नुकाएव मिलता है। ल और न का परिवर्तन द्रष्टव्य है।

एक तीसरी बात जो मुख्य रूप से ध्यान देने की है वह यह है कि संयुक्त अक्षर अई और अउ का रूप ऐ और औ भी प्राप्त होते हैं और वे अपने पृथक् रूप में भी एक ही पदावली मे मिलते हैं। यथा डा० सुभद्र झा के गीतसंग्रह पद ५ मे ऐसन औ तैसन रूप भी हैं और गीतसंख्या ७५ में अइसन और तइसन भी मिलते हैं। इस प्रकार के रूप भाषा-विज्ञानियों के समक्ष दो समस्याएं रख देते हैं—(१) क्या पदावली के युग में संयुक्त अक्षर ऐ और औ का प्रचार था, तो इनका उच्चारण किस प्रकार का था। (२) क्या इनके उच्चारण मे कुछ भिन्नता आ गई थी। अर्थात् जब ऐ और औ लिखा जाता था तब क्या उच्चारण होता था, और जब अइ, अउ लिखा जाता था तब क्या उच्चारण होता था। दोनों का उत्तर देना कठिन है। प्रतीत यही होता है कि उच्चारण मे कोई अंतर नहीं था। हाँ, लिपि मे दो प्रणालियाँ प्रचलित थी जिस प्रकार आधुनिक हिंदी में गए और गये दोनों ही रूप मिलते हैं।

उपर्युक्त तुलना से हमारा अभिप्राय केवल यही था कि पदावली की भाषा पर विचार करने पर तीन कठिनाइयाँ आती हैं (१) एक ही शब्द के विभिन्न रूप, (२) पंक्तियो मे भिन्नता तथा (३) अनुस्वार तथा चंद्रविंदु का अनावश्यक प्रयोग। इनका एकमात्र उपाय यही है कि उन्ही बातों को लिया जाय जो प्रायः समान रूप से

पाई जाती हैं। डा० सुभद्र झा ने भी स्व० पं० शिवनंदन ठाकुर की पदावली को प्रामाणिक स्वीकार किया है[1]। अतः हम भी उन्ही के रूपों को अधिक प्रामाणिक मानेंगे।

पदावली की भाषा—पांडुलिपियों से तथा मुद्रित विद्यापति की पदावलियों के आधार पर स्वरों के उच्चारण के विषय में कोई सहायता नही मिलती। कहीं सानुनासिक स्वर ह्रस्व गिना जाता है कहीं दीर्घ। यथा—

हृदय तोहर जानि नहि भेला = १६
परक रतन आनि मो देला = १६

तोहर में ओ दीर्घ है परंतु मो में लघु। रूप दोनों का एक सा ही है। इसी प्रकार स्वर अ के उच्चारण की समस्या है। प्रायः अ का उच्चारण बॅगला का अनुकरण अधिक करता है। संयुक्त अक्षर ऐ और औ अधिकतर अइ और अउ का रूप धारण कर बैठे हैं। अतः अइसन, तइसन, कइतव, जउवन, सउभाग आदि शब्द विद्यापति की पदावली, कीर्तिलता तथा वर्णरत्नाकर में भी पाए जाते हैं।

पदावली में विसर्गों का अभाव है। अपभ्रंश तथा प्राकृत से पदावली मे एक विशेषता है कि प्राकृत मे परसवर्ण अनुनासिक वर्णों के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग अधिक बढ़ गया था, परंतु पदावली मे परसवर्ण का प्रयोग मिलता है। सङ्का, कलङ्का रूप भी मिलते है। न वर्ण का प्रयोग पश्चिमी अपभ्रंश मे प्रायः लुप्त हो गया और राजस्थानी मे ण का प्राधान्य रहा है परंतु पदावली में ण और न सुरक्षित हैं।

चंद्रबिंदु का आविष्कार छंदशास्त्र की प्रेरणा का फल

---

१. डा० सुभद्र झा—विद्यापति गीत सग्रह, भूमिका पृष्ठ १२७।

है। क्योंकि अनुस्वार दीर्घ माना जाता है और उसके प्रयोग से कही कही छंदोभंग हो जाने की संभावना थी। अतः लय और छंद की मात्रा को ठीक रखने के लिये चंद्रविदु का प्रयोग हुआ है। चंद्रविदु का दूसरा प्रयोग विभक्ति के रूप में भी पदावली मे प्राप्त होता है। यथा—कमलँ झरए मकरंदा, कमल से मकरंद झरता है। यहाँ कमलँ=कमल सत्रो= कमल से। आगे चलकर सत्रो चंद्रविदु में वदल गया है।

पदावली में ऐसा प्रतीत होता है कि व्यंजनों के लोप होने पर जो स्वर वने थे उनका उच्चारण सानुनासिक हो चला था। जैसे—निज > निग्र = नित्र = निग्रं संसत्रे पडु कल वाला।

संस्कृत 'य' के स्थान पर ए मिलता है। यथा-व्यस, वएस, उपाय, उवाए।

श, ष, स—वंगाल में 'स' केवल लिपि में रह गया है इसका उच्चारण सर्वथा 'श' (तालव्य) होता है। अर्द्ध मागघी और शौरसेनी मे 'श' का स्थान 'स' ले लेता है। अवधी और व्रज की भाँति पदावली में भी 'स' मिलता है। संभवतः यह शौरसेनी का ही प्रभाव है। यथा—

खन पंचानन खन भुज चारि, खन संकर खन देव मुरारि ॥

संस्कृत क्ष > ख, ष > ख, य > ज, ण > न, पदावली में यह प्रवृत्ति भी प्राप्त होती है। यह भी संभवतः शौरसेनी अपभ्रंश का ही अवशिष्ट प्रभाव है। यथा –

अक्षि > आँख, हर्षित < हरखित, शय्या > सेज, कृष्ण > कान्ह।

पदावली मे र, ल; ल, ड़, व, व; का अभेद है।

(१) लिघुर फेन उठ फोका (२) सखि हे वूझल कान्ह गोआर (३) आसा संसअं पलल अभिसार (ड़ के स्थान पर ल है)।

पदावली में आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की भाँति स्वरभक्ति बहुत अधिक है जिससे संयुक्ताक्षरों की कमी होकर भाषा में माधुर्य आ गया है और वह गीतकाव्य के उपयोगी बन गई है।

(१) आसा लुबुधल न तेजए रे कृपनक पाछ भिखारि।

(२) कामिनि करए सनाने।

२—ध्वनिविचार—(क) साधारण रूप से नीचे लिखे स्वर मिलते हैं –

अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ।

ए और ओ का ह्रस्व प्रयोग भी मिलता है। ऐ और औ ने प्रायः अइ और अउ रूप भी अपना लिए हैं—

हाथी मेराउलि सिंह समाज (यहाँ ए ह्रस्व है)।

(ख) संप्रयुक्त स्वरों का प्रयोग भी पदावली में प्राप्त होता है—

यथा—(१) पअ, पउअ (कामल), पतिआइ, पतिआएव, पतिआओव, पिआस।

(२) सुंदरी तेजि बेआजे सूक्तें मिल सुपहु समाज[1]।

(३) पिअक कलेवर अंबर भेल।

(४) आओर कहिनी कि कहव तोहि[2]।

(ग) सानुनासिकता– पदावली में ङ, ञ, ण, न, म तथा अनुस्वार का प्रयोग मिलता है। परंतु छंदोनुरोध के कारण अनुस्वार निरनुनासिक होकर चद्रंविदु रह गया है। निर्विभक्तिक प्रयोगों के बढ़ने से कही कही चंद्रविंदु से विभक्ति का काम भी लिया गया है। यथा—

---

१. पं० शिवनंदन ठाकुर--पदावली खड, पृष्ठ ५ (महाकवि विद्यापति)

२. वही, पृष्ठ ३३

(१) सृक्ते मिल सुपहु काज सृक्ते = सुकृत से अथवा सृकृत द्वारा।[1]

(२) वड़े मनोरथे साज अभिसार[2]।

विद्यापति में भी मिलता है जैसे—कान्ह। ह्रस्व स्वर के साथ अनुस्वार का रूप चंद्रबिंदु हो जाता है और वह एक-मात्रिक रहता है। यथा—शिवसिंह।

घ) व्यंजन—पदावली मे सभी व्यंजन हैं—क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प. फ, व, भ, म, य, र, ल, व, श, ष, स, ह। विसर्गों का अभाव है।

पदावली की विशेषता ञ की सुरक्षा है। यह ञ कहीं निरनुनासिक स्वरों के स्थान पर ही लिखा जाता है, यथा—अमिञ अमिअ > अमृत[3], अंञिठ < ऐंठ (हिंदी)

ष का उच्चारण ख होता है, लिखने में व्यत्यय है।

(ङ) व्यंजन संबंधी परिवर्तन मे प्रायः वही अपभ्रंश की परंपरा का विकास है। अर्थात् संस्कृत शब्द के वर्ग के द्वितीय तथा चतुर्थ अक्षर के स्थान पर केवल ह रह जाता है। यथा–रेखा रेहा, लभ लह। (२) बहुधा मध्यम व्यंजन का लोप हो लाता है–गोपाल > गोआल > गोआर। नयन > नअन।

(च संयुक्त व्यंजनों के सरलीकरण का प्रयत्न है। कहीं कहीं क्षतिपूर्ण दीर्घीकरण द्वारा भी यह काम चलाया गया है।

---

१. प० शिवनंदन ठाकुर—पदावली खंड, पृष्ठ ५।
२. वही, पृष्ठ ६।
३. वही, पृष्ठ ३७।

यथा—कज्जल>काजर। कही अंतःस्थ का लोप कर दिया है। यथा—शून्य>सून तथा मिश्र व्यंजनों में अनुनासिक अंतःस्थ का लोप भी मिलता है। यथा—चंद्र>चांद, कंप>काँप।

(छ) स्वराघात—शब्दों के उच्चारण में अक्षरों पर जोर (धक्का) लगता है उसे स्वराघात कहते हैं।[1] विद्यापति की पदावली में संगीतात्मक स्वराघात ही प्राप्त हो सकता है। राग-तरंगिणी में बतलाया गया है कि स्वर मूर्छना में अर्थात् स्वर के आरोह अवरोह से राग की उत्पत्ति होती है। आरोह-अवरोह ही स्वराघात का पर्यायवाचक शब्द मालूम होता है।[2] विद्यापति के पदों में मात्रावृत्त हैं। डा० धीरेंद्र वर्मा का कहना है कि छंदों का मूलाधार स्वरों की संख्या या मात्रा काल न होकर वास्तव में उनका स्वराघात ही है। यदि स्वरों की मात्रा के अनुसार ये छंद चलते होते तो ह्रस्व स्वर सदा एक मात्रा और दीर्घ स्वर सदा दो मात्रा काल के माने जाते। किंतु हिंदी के इन छंदों में बराबर ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमे स्वरों की मात्राएँ उच्चारण की दृष्टि से मानी जाती हैं[3]। विद्यापति के पदों में भी उच्चारण को दृष्टि से मात्राओं में परिवर्तन पाया जाता है। यथा[4]—

(१) सपने देखल हरि, गेलाहुँ पुलके परि जागल कुसुम-सरासन रे।

२ हसि निहारल पलटि हेरि साजे कि बोलब साभक वेरि।

---

१. कामताप्रसाद गुरु—हिंदी व्याकरण, पृष्ठ ४६।

२. पं० शिवनंदन ठाकुर—महाकवि विद्यापति की भाषा, पृष्ठ १७०।

३. डा० धीरेंद्र वर्मा—हिंदी भाषा का इतिहास, पृष्ठ २०४।

४. पं० शिवनंदन ठाकुर—विशुद्ध पदावली, पदसंख्या ४१, ३,४।

(३ दूती बोलइतें कान्ह लजाएल विद्यापति कवि भाने ।

उपर्युक्त पंक्तियों में अधोरेखांकित स्वर दीर्घ होते हुए भी ह्रस्व की तरह गिने जाते हैं अन्यथा छंद की मर्यादा दूषित हो जाती है ।

(३) रूपविचार—(क) प्राकृत तथा अपभ्रंश के विषय में वर्णन करते हुए हम उनकी इस प्रवृत्ति की ओर ध्यान दिला चुके है कि वहाँ हलंत व्यंजन का लोप हो गया है जिससे अधिकतर पद स्वरांत बन गए हैं। परिणाम यह हुआ कि प्राकृत युग मे भी केवल अकारांत, इकारांत और उकारांत पुल्लिग तथा आकारांत, ईकारांत और ऊकारांत स्त्रीलिग शब्दों का प्रयोग प्राप्त होने लगा था। अपभ्रंश में इस क्रम को और भी बढाया। वहाँ अंतिम आ इ ए भी अ के रूप मे बदल गए। पदावली मे यह प्रवृत्ति अधिक है। वहाँ रेखा > रेह, बाहु > बाँह, रूप मिलते हैं। अतः पदावली मे सभी मूल शब्द

१—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ में समाप्त हो जाते हैं।

२—अधिकतर आ, ई, ऊ भी अकारांत ही हो गए हैं। यथा—रेखा > रेह, और लघु > लहअ ।

संस्कृत तत्सम शब्दो का प्रयोग बढा है परंतु अंतिम व्यंजन का लोप हो गया है। अतः मनस्—मन, कर्मन्=कर्म > करम बन गया है।

अंतिम दीर्घ स्वर का ह्रस्व हो गया है। अतः सुंदरी - सुंदरि ।

पदावली में आठों कारकों की संख्या मिलती है परंतु प्रयोग अधिकतर निर्विभक्तिक पाया जाता है। शौरसेनी

से प्रभावान्वित होने के कारण कर्ता में ओकारांत रूप भी पाए जाते हैं परंतु उनकी संख्या बहुत कम है। कर्म कारक में कर्ता कारक की तरह एकारांत तथा निर्विभक्तिक शब्द पाए जाते हैं; जैसे, बिनु जने, विनु धने।

करण कारक के एकवचन की विभक्ति 'ए' है तथा मागधी प्राकृत की तरह बहुवचन की विभक्ति 'हि' है; जैसे जेन वले रावण मारिअ। अपादान कारक में 'सओ' विभक्ति का प्रयोग पाया जाता है। संबंध की दो प्रधान विभक्तियाँ हैं—(१) क तथा (२) कर। केरी, करो, करेओ आदि 'कर' के ही रूपांतर हैं। प्राचीन मैथिली की तरह (१) ए (२) एं तथा (३) हि विभक्तियों से अधिकरण का बोध होता है; जैसे सज्जन चितइ मनहि मने, रहसें द्रव्य दए विस्सरह, की संसारहि सार।

(ख) लिंग—पदावली में लिंगविचार दृष्टिगोचर होता है। परंतु दो ही लिंग हैं—पुल्लिग और स्त्रीलिंग। पुरुषवाचक शब्द पुल्लिग और स्त्रीवाचक शब्द स्त्रीलिंग हैं। परंतु अन्य प्राणधारी अथवा निर्जीव वस्तुओं के लिये कोई निश्चित नियम नहीं। यथा—हाथि मेराउलि सिंह समाज-में हाथी शब्द स्त्रीलिंग में प्रयुक्त हुआ है। प्रायः इकारांत अथवा ईकारांत शब्द स्त्रीलिंग हैं।

पदावली में स्त्रीलिंग विशेष्य शब्दों के विशेषणों के रूप भी स्त्रीलिंग में हैं। ये रूप इ या ई प्रत्यय जोड़कर बनाए गए हैं। जैसे दोसरि, लछि, एहनि, सोहागिनि, बड़ि साज, अभागिलि नारि। जिन विशेषणों के स्त्रीलिंग रूप इ या ई जोड़कर नहीं बनाए जा सकते वे अपरिवर्तनशील रहते हैं। जैसे—वर कान्ह, सुललित बानी, सुललित कुंडल आदि। भूत

और भविष्यत् काल की क्रियाओं के रूप हिंदी के समान ही लिंग के अनुसार बदलते रहते हैं--

भूतकाल--(१) धिआ से मनाइन मंडप 'वइसलि'। (स्त्रीलिंग)
(२) समय संकेत निकेतन वइसल। (पुंलिंग)

भविष्यत्काल—(१) सजनी कानुक कहबि बुझाई। (स्त्रीलिंग)
(२) कहब समाद कृष्ण के मोर। (पुंलिंग)

वर्तमान काल की क्रियाओं मे बँगला के समान लिंगभेद नही होता।

वर्तमान काल—(१) दूती भए जनु जनमए नारि। (स्त्रीलिंग)
(२) समय न बूझए अचतुरक चोर।

(ग) वचन--मध्यकालीन आर्य भाषाओं में दो ही वचन रह गए थे। विद्यापति की पदावली में अकारांत हिंदी पुंलिंग शब्दों की तरह सब शब्दों के दोनों वचनों मे समान रूप होते हैं। बहुवचन के लिये सब, जन आदि शब्दों का प्रयोग है। यथा—

(१) सखि सब तेजि गेली (३४९)।
(२) सखि जन सयं हम पाछे पड़िलिहुँ (७०)।

कभी कभी पदावली में कत कत तथा कत ओक विशेषणों द्वारा भी बहुवचन का बोध कराया जाता है। यथा—कत कत लखमी, कत ओक दैत्य। कही संख्यावाचक शब्द ही प्रयुक्त हैं। यथा—षट ऋतु, दुई खंजन।

(घ) कारक—कारकों की मुख्य प्रवृत्ति का वर्णन हम रूप-विचार मे कर चुके हैं, परंतु यहाँ पदावली मे जो उनका रूप उपलब्ध होता है उसका उदाहरण देने का प्रयत्न करते हैं। पदावली में कारकों का प्रयोग दो प्रकार से मिलता है।

(क) प्रातिपदिक शब्द उन कारकों में एक रूप में ही प्रयुक्त होते हैं।

(ख) प्रातिपदिक रूपों में कभी कभी ए, ऐं, हि का योग होता है और कभी कभी परसर्गों का प्रयोग।

इनके अतिरिक्त संबंध कारक में कहीं कहीं एरी का प्रयोग मिलता है—

(क) भिन्न कारणों में प्रातिपादिक शब्दों का प्रयोग—

कर्त्ता—अनल, अनिल धम (२७१)।

कर्म—दसने अधर खडित भेला = दाँतों ने अधर को खंडित किया (२६८)।

करण—जिवहु अराधन अपन न भेला (१६०)।

संप्रदान—भालभु समंदि चलु ससिमुखि कवि विद्यापति भान (१६)।

अपादान—कुले कुलकलंक डराइअ (१६)।

संबंध—वारित जामिनि कोमल कामिनि दारुण अति अंधकार (२)।

अधिकरण—न भुल वचन न चित (रह) धीरे। काप घनहन सबे सरीरे (१)।

उपर्युक्त प्रयोगों के अतिरिक्त पदावली में कही कही कारकों के चिह्न इस प्रकार मिलते हैं—

कर्त्ता—(१) ए, (२) एं, (३) चंद्रबिंदु—

कामे संसार सिंगार सिरजल, चापि चकोरं सुधा रस पीवत, उदअँ कुमुद जनि होए—(ठाकुर—२०)।

कर्म—(१) क, (२) क, (३) चंद्रबिंदु—

तोके बोलए सआनी, से सबें परकें कहहि न जाए, हाथ बाँधि कुअँ मेललह मो ही (ठाकुर—३७)।

करण—(११) ए, (२) ऐ—

तुअ गुने झामरि वामा, बड़े मनोरथे साजि अभिसार (ठाकुर—पृ० २५) ।

संप्रदान—कोई विभक्ति नही। कही कही परसर्ग लागि का प्रयोग मिलता है। तोहि लागि अनुखन विकल मुरारि।

अपादान—(१) सञो, (२) चाही, (३) तइ तथा चंद्रबिंदु—कालि दिवस सञों होए अंधार, चांदहु चाहि कुटिल कटाख।

संबंध— क, के, ऐरी—

नयनक काजर घोर मसी, कुलके गारि, सोना केर समान, काजेरि ठाम अठाम।

अधिकरण—(१) ए, (२) एं, (३) चद्रबिंदु—

सपने देखल, चितें न झापहि आन, अइसन निसि अभिसार

(ङ) विशेषण—विशेषणों के रूप पर विशेष्य का प्रभाव रहता है। संस्थापक विशेषण कुछ तत्सम हैं। यथा—एक, चतुर्थ, पंच। कुछ तद्भव हैं-दुज, दुहु, दुई, चा।र, दस, दह, दोआदस, सोलह आदि आदि

(४) सर्वनाम—(क) उत्तमपुरुष—

कर्ता—हम हमे, मए मे, कर्म सप्रदान—मो, मोहि, हमलागी (केवल संप्रदान)।

संबंध—मोर, मोरा, हमर, हमारा (स्त्रीलिंग, विशेषण) मोरि भी (विकारी रूप, सं० मम)।

कर्म और संप्रदान कारक—मो+हि=मोहि (अधिकरण कारक की विभक्ति)।

इनके अतिरिक्त संप्रदान कारक मे हम+लागि का भी

प्रयोग होता है। छंद के अनुरोध से हमर या हमारा (प्रा० अम्हारा या महारा)।

(ख मध्यम पुरुष—

त, तें, तए (सुनतए युवति), तो (विकारी रूप सं० तव) तो+हि=ताहि=अधिकरण।

प्राकृत का तुअ और संस्कृत का तव भी विद्यापति के पदों में मिलता है। मझु की तरह तु झ और पश्चिमी अपभ्रंश दुहु से दुहुं और दुह बनते हैं।

(ग) अन्य पुरुष –

जे, से (वह); स० सं, तन्हि (विकारी रूप)

कर्ता से, ते; तन्हि, कर्म, संप्रदान—ताहि, ताकें, सबंध—तोहारि, ताकर, तँहिक (तनिक), तान्हिका (तनिका), तन्हिकर, अपादान–तासओ।

उपर्युक्त वर्णन से प्रकट होता है कि पदावली के एकवचन और बहुवचन के रूपों में अंतर नहीं है। उ०पु० एकवचन में हम, हमें के साथ मओ तथा मोए का भी प्रयोग है। इसी प्रकार म०पु० एकवचन में तुहं के साथ तों, तोह भी हैं। पदावली में अन्य सर्वनामों के रूप इस प्रकार प्राप्त होते हैं—

(घ) निश्चयवाचक सर्वनाम—इ, एहु, एहि, एहें आदि समीपार्थक।

(ङ) अनिश्चयवाचक सर्वनाम—ओ, ओअ, ओहें, ओहु आदि दूरार्थक।

(च) संबंधवाचक सर्वनाम—जे, जेहे, जन्हिका, जासु, जाहि, जाकर।

(छ) प्रश्नवाचक सर्वनाम—के, कि, की, किदुहं, कओन (ने), कों, कालागि।

(ज) अनिश्चयवाचक सर्वनाम--कोइ, कउ, केश्रो (केअ)।

(झ) निजवाचक--अपन, अपना (अवहट्ठ अप्प अप्पु)।

(ञ) अन्यान्यवाचक--सब, सबै, आन, आण, अओक, अओका, सकल (तत्सम), उभय (उभय), निअं निजः), इअर (इतर) आदि

(ट) सर्वनाम से बने हुये विशेषण और क्रियाविशेषण-- कइसन, जइसन, तइसन, तत, एत, जत, कत, जतवा, ततआ, एतवा, अब, तब, जब, कब, तखन, जखन, कखन, एखन आदि आदि शब्द मिलते हैं।

(५) क्रिया--भूतकाल--मागधी प्राकृत से निकली हुई सभी आधुनिक भाषाओं (बंगला, मैथिली, मगही और भोजपुरी) की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनकी भूतकालिक क्रियाएँ लकारांत होती हैं। पूर्वी हिंदी (अवधी) में भी कभी कभी भोजपुरी के प्रभाव से लकारांत भूतकालिक क्रिया का प्रयोग किया जाता है--

हमहि 'दिहल' करि कुटिल करमचंद मद मोल बिनु डोला रे।

प्राच्य भाषाओं की भूतकालिक क्रियाओं के अंत मे यह ल कैसे आया इसपर विद्वान् एकमत नही हैं। आजकल अधिकांश विद्वानों का यह मत है--'कृत' प्रत्ययांत कृदत शब्दों से संस्कृत मे भूतकालिक क्रियाओं और विशेषणों का काम भी किया जाता है। जैसे--गतः पुरुषः (गया हुआ व्यक्ति) मे गतः का प्रयोग विशेषणवत् है और पुरुषो गतः (पुरुष गया) में गतः शब्द क्रिया का काम दे रहा है। प्राकृत में गतः का गओ या गअ और आधुनिक भाषाओं मे गयो या गया हो गया। प्राचीन आर्यभाषाओं में विशेषण के लिये एक प्रत्यय 'ल' भी है। यह 'ल' प्राकृतों

में इल्ल, अल्ल का रूप धारण करता हुआ हिंदी 'ला' बन गया है। जैसे—रंगीला, फुर्तीला, सजीला आदि। पश्चिमी भाषाओं ने इसको विशेषणों तक ही सीमित रखा। शौरसेनी प्राकृत या नागर अपभ्रंश में कहीं भी यह 'ल' प्रत्यय कृदंत विशेषणों से होता हुआ क्रियाओं तक नही पहुँचा है। किंतु प्राच्य भाषाओं में यह ल प्रत्यय अपभ्रंश काल से ही विशेषणों से क्रमशः कृदंत विशेषणों पर भी लगने लगा। प्रत्ययांत कृदत विशेषण भूतकालिक क्रिया का काम भी देते थे इसलिये भूतकाल की क्रियाओं पर ल प्रत्यय लगने लगा। कालांतर मे यह 'ल' अधिकांश में भूतकालिक क्रियाओं का प्रत्यय बन गया। यद्यपि विशेषणों के साथ भी इसका प्रयोग होता है।

गत: गओ या गअ+ल—गओल या गअल—गयन या गैल आदि रूप बन गए। विद्यापति के समय से ही 'ल' के ये रूप इस प्रकार मिलते है—वइसल, चलल, कएल। कुछ 'ल' प्रत्ययांत विशेषण भी पदावली में हैं—पथिक विआसल आव अनेक; हमहुं अभागलि नारि।

भूतकालिक क्रियाओं का रूप सभी पुरुषों में एक सा रहता है किंतु पदावली में कभी कभी उत्तम पुरुष में हुं, मध्यम में ह और अन्य में न्हि भी जोड़ा जाता है—

१—कुसुम तोरए गेलहुं, जहां (उ० पु)।

२ हाथ वांधि कुअं मेललह मोही (म० पु०)।

३—गुन अवगुन एको नहि बूझतन्हि रखलन्हि रावनक नाम गे माई (अ० पु०)।

भूतकालिक क्रियाओं के साथ पदावली मे कही कही 'क' प्रत्यय भी लगाया गया है—

सरदक ससधर मुखरुचि सौंपलक।

भूतकालिक क्रियाओं मे लिंगभेद भी होता है जैसा कि पहले कह चुके हैं।

वर्तमान काल—पदावली मे वर्तमान काल की क्रियाओं में बंगला की ही भाँति लिंग और वचनभेद नहीं होता। उत्तम पुरुष मे ओं, मध्यम मे ह या सि और अन्य पुरुष में धातु के साथ इ, ए और थि प्रत्यय जोड़े जाते हैं—

१—कर जोरि विनमओं विमल तरगे (उ० पु०)।

२—तुअ जगत जगनाथ कहाओसि (म० पु०)।

३—चोर रमनि जन मन मन रोअइ (अ० पु०)।

वर्तमान काल के लिये कभी कभी धातु से भी काम लिया जाता है—

मूल बिनु पर धन माँग वेआज

तात्कालिक वर्तमान में बँगला की ही भाँति 'छ' प्रत्यय लगता है—

देखि देखि लगइछ रंग।

भविष्यत् काल पदावली मे भविष्यत् काल के लिये व प्रत्यय लगाया जाता है। यह प्रत्यय अवधी और भोजपुरी, मैथली मगही, बँगला आदि मागधी से उत्पन्न सभी भाषाओं का भविष्यत् काल का प्रत्यय है। इस प्रत्यय के लगने पर पुरुषभेद भी नही रहता

१- नहि करव वर हर निरमोहिया (उ० पु०)।

२ अबै करव नहि मान (म० पु०)।

३—नागरे की करव नागरि पाए (अ० पु०)।

विद्यापति के समय से ही कही कही मध्यम पुरुष के लिये

क्रियाओं पर वह और अन्य पुरुष के लिये व प्रत्यय भी लगना आरंभ हो गया था। आधुनिक मैथिली ने इस प्रवृत्ति को पूर्णतः अपना लिया है--

वध होइ वह बड़भागी (म० पु०)।

सुपहु मंदिर तुरत आओत (अ० पु०)।

पदावली में म०पु० और अ०पु० के लिये वह और त प्रत्यय आसन्न भविष्य को प्रकट करते हैं।

पूर्वकालिक क्रिया—पदावली में धातु पर इ लगाकर पूर्वकालिक क्रिया बनाई गई है। कभी कभी ए लगाकर भी पूर्वकालिक क्रिया बनती है—

१—कतओक दैत्य मारि सुख मेलल।

२—जनु सुमेरु ऊपर मिलि ऊगल।

३—चाँद सार लए मुख घटना करु।

आज्ञार्थक क्रिया—पदावली में आज्ञा के लिये प्रायः धातु का मूल रूप ही प्रयुक्त हुआ है। ह और उ प्रत्यय जोड़कर भी आज्ञा का बोध कराया गया है

१--भनइ विद्यापति सुन वर जौवति।

२—वंदह नंद किसोरा।

विधि क्रिया—विधि क्रिया के लियु थु प्रत्यय लगाया गया है--

जुग जुग जीवथु वर्सथि लाख कोस।

कृदंत विशेषण—पदावली मे वर्तमानकालिक कृदंत का प्रत्यय इत है। इसका विशेषणवत् प्रयोग पदावली में वहुत अधिक मात्रा में है--

१—सांझक वेरि सेवकाई मंगइत, हेरइत तुव पद लाजे।

२—अनुखन माधव सुमरइत सुदरि मेल मधाई।

भूतकालिक कृदत अधिकांश तत्सम या अर्द्धतत्सम रूपों में है--

१--प्रथम वयस अति भीति राही।

ल प्रत्ययांत भूतकालिक कृदंतों का विशेषणवत् प्रयोग भी पाया जाता है --

१--पथिक पियासल आव अनेक।

सहायक क्रिया--पदावली मे सहायक क्रियाएँ कम हैं। सहायक क्रियाओ का प्रयोग हिंदी की विशेषता है। वर्तमान मैथिली में काल तथा अर्थबोध कराने के लिये सहायक क्रियाओं का हिंदी के प्रभाव से बहुत अधिक प्रयोग होना आरभ हो गया है। पदावली की मुख्य सहायक क्रियाएं ये हैं--

१--मदन वान मुरिछलि अछओं।

२--मद वचन तोहि कौन कहल आछ।

३--राज सुनइ छिअ चांद क चोरि।

मुख्य सहायक क्रियाएँ, अछ, हो, रह, थिक, थाक, चाहिए, पार हैं।

नामधातु--पदावली मे नामधातुओं की संख्या अधिक है। ये धातुएँ संज्ञाओं से बनती है। जैसे हिंदी में चपत से चपतियाना क्रिया बनती है। इस प्रकार की क्रियाएँ खड़ी वोली मे कम हें। ये क्रियाएँ भावप्रकाशन में बहुत सहायक होती है--

१--निरधन जन बोलि सब उपहासए (उपहास से)।
२--गोकुल चाव चकोरल (चकोर से)।
३--प्रेम क कारन जीउ उपेखिए (उपेक्षा से)।

धातुरूप--पदावली मे प्रयुक्त धातुओं का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है--

१—तत्सम धातु - क) उपसर्गरहित धातु—इच्छ खंड, खेल, गल, गोप, घट, चल, चेत, छुट, जप, जिन्, तर, दुह, धर, धव, निंद, पीव्, पूज, आदि आदि।

(ख) उपसर्गसहित धातु अनुरजन, अवगाह, निवेद, परिहर, विघट, विलस आदि आदि

२—अर्धतत्सम धातु—(क) उपसर्गरहित धातु—कर, कह, काछ, कान्द, काप, गह, गरज, गरस, गा, गान्त, गु, गोप जा, जान, जाग, जीउ, आदि आदि।

(ख) उपसर्गसहित धातु—आव, आन, उठ, उतर, उपज, उसर, निहार, निभख, पखाल, पसर, आदि आदि।

३—तद्भव धातु—(क) उपसर्गरहित धातु—अछ, काढ़, खा, घुर, छाड़, जर, झर आदि आदि।

(ख) उपसर्गसहित धातु—पजार, पलट, समार, ओछाए, ओछोल, परस; ऐसे शब्द जिनकी उत्पत्ति अज्ञात है, जैसे—फदोयल, चांपिहेत, चाह, वेसाह आदि।

४—गौण या मौलिक धातु—(क) प्रेरणार्थक—पारे (पारमति), पसारे (प्रसारयति)।

(ख) नामधातु उगे, छिने, तिते, सुत, सु, जनितसि।

(ग) संयुक्त धातु—जागि जाएत, गेल सुखाए।

(घ) अनुकरण धातु—विद्यापति मे अनुकरण धातु लगभग नही है। घनि, झाँझि जैसे कुछ इने गिने शब्द ही मिलते हैं।

पदावली और कीर्तिलता की भाषा के उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि इन दोनों की भाषाओं में कुछ प्रयोग ब्रजभाषा के समान मिलते है और कुछ खड़ी बोली के समान मिलते हैं, परंतु अधिक साम्य बंगला से है। कीर्तिलता की

भाषा को पंडित शिवनंदन सिंह ठाकुर ने मैथिल अपभ्रंश माना है और पदावली की भाषा को उसका परवर्ती रूप। परंतु हम उनसे सहमत होने में असमर्थ हैं। हमारे विचार से अपभ्रंश, पुरानी हिंदी अथवा सक्रांतिकाल की भाषा को यह नाम रूप देना उचित नही। हमारा निष्कर्ष तो यह है कि मध्यकाल मे, जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं, अपभ्रंश राष्ट्रीय भाषा के रूप मे प्रचलित रही। इसका मुख्य ढाँचा शौरसेनी अपभ्रंश का था। परवर्ती काल मे इसमें क्षेत्रीय भेद अधिक हो चले थे। परंतु फिर भी वह उत्तरी भारत के पर्याप्त भाग मे समझी जाती थी। शौरसेनी का आधिपत्य केवल सांस्कृतिक था। पूरब मे मागधी और अर्द्ध मागधी प्राकृतों का भी प्रभाव भाषा के विकास में अवश्य रहा है। पूर्वी अपभ्रंश मे उनका प्रभाव स्पष्ट है।

पदावली की भाषा उस काल की है जब कि १२वीं शताब्दी से १४वी शताब्दी तक आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ अपभ्रश की विशेषताओं का परित्याग न कर अपना स्वतत्र रूप ग्रहण करती जा रही थी। अभीतक उनका वर्गीकरण, अवधी, मैथिली, भोजपुरी तथा बंगला आदि में नही हुआ था। पदावली मे जो ब्रजभाषा के कुछ रूप प्राप्त होते हैं उनका मुख्य कारण (१) शौरसेनी परवर्ती अपभ्रंश का प्रभाव है। (२) दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि विद्यापति के पद बंगाल के वैष्णव भक्तों में स्वीकृत एवं प्रचलित रहे हैं। केवल इन पदों के अनुकरण पर ही वहाँ एक कृत्रिम भाषा 'ब्रजबुली' का प्रचार हुआ था। संभवतः उस जोश में कुछ ब्रज के प्रयोग विद्यापति के पद मे भी मिल गए हों पर कुछ निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। कर्ताकारक का निर्विभक्तिक प्रयोग एव संयुक्त क्रियाओं के प्रयोग के आधार पर

पदावली को हिंदी भाषा के प्राचीन रूप के अंतर्गत माना जा सकता है। हमारी समझ से यही कारण है कि विद्यापति हिंदी के कवि माने गए हैं।

सच बात यह है कि विद्यापति मैथिल हैं और पदावली की भाषा में प्राचीन मैथिली का ही रूप उपलब्ध होता है। पदावली की भाषा में और आधुनिक मैथिली में पर्याप्त साम्य है। मुख्यतः—

(१) क्रिया तथा विशेषणों में स्त्रीलिंग का प्रयोग, (२) न्हि, (न्ह) अ अथवा बहुवचन में किसी भी परसर्ग का प्रयोग न होना, (३) ए, वे अथवा प्रातिपदिक रूप में कर्त्ता के रूप, (४) ए, हि, हिं विभक्तियों का करण कारक में प्रयोग (परवर्ती काल में एँ), तथा तहें और सञो का अपादान प्रयोग, (५) करी, कारो, केरओ (कर के विभिन्न रूप) का संबंध कारक मे प्रयोग, (६) ए, एँ तथा हि का अधिकरण में प्रयोग, (७) चंद्रबिंदु का कारक विभक्तियों के लिये प्रयोग, (८) ओ ञो (उत्तम पुरुष), सि (मध्यम पुरुष), इ, ए, हि (अन्य पुरुष) मे वर्तमान काल में प्रचार, (९) उ, उ तथा हा का आज्ञा में प्रयोग, (१०) इअ भूत में तथा इहअ भविष्य में, (११) न्ते, न्ता (= ? इते, इतें आधुनिक मैथिली) कृदंत प्रत्यय के स्थान पर, (१२) इ, ए का पूर्वकालिक प्रयोग, (१३) अनुनासिक स्वर का प्रयोग, (१४) र, ल, श, ख, य, तथा इ, य तथा ज; व तथा व; न तथा परिवर्तनशील ध्वनियों का प्रयोग[1]।

---

१. डा० जयकांत मिश्र—ए हिस्ट्री आफ मैथिली लिटरेचर, पृष्ठ १२८।

अंत मे हम इस वात को पुनः कहने का प्रयत्न करते हैं कि हमारे विचार से मिथिला पदावली को हिंदी के साथ लिये जाने के केवल दो कारण हैं, प्रथम शौरसेनी का अवहट्ठ पर प्रभाव जिसको स्वयं डा० चटर्जी भी स्वीकार करते हैं, और अवहट्ठ से मिथिला का विकास तथा दूसरा, आरंभिक अवस्था मे विकास की दिशाओं मे दोनों भाषाओं मे साम्य प्राप्त होता है, विशेषकर निर्विभक्तिक कारकों का प्रयोग। तीसरा कारण संभवतः यह है कि मिथिला भी संस्कृत का मध्य काल मे केंद्र रहा और इधर वनारस। अतः दोनों मे आदानप्रदान रहा और दोनों मे मित्रता की भावना रही।

अध्याय ९

उपसंहार

विद्यापति और उनकी पदावली

विद्यापति की काव्यप्रतिभा का अपूर्व चमत्कार उनकी पदावली में प्राप्त होता है। शास्त्रीय दृष्टि में पदावली प्रगीत मुक्तक है। अभिनव गुप्त ने मुक्तक काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है—

'मुक्तकम् अन्येन नालिंगितम् मुक्तकम्। तस्य संज्ञायाम् कन्। पूर्वापरनिरपेक्षेणापि रसचर्वणं क्रियते तदेव मुक्तकम्।' अर्थात् पूर्वापर संबंधविहीन स्वच्छंद रसवती रचना को मुक्तक कहते हैं। अग्निपुराण में 'मुक्तकं श्लोक एकैकश्चमत्कारः क्षमः सताम्' कहकर इसकी संक्षिप्तता का संकेत किया है। प्रायः सभी विद्वान् सफल मुक्तक रचना उसी को स्वीकार करते हैं जिसमें भाव का प्रत्यक्षीकरण हो और प्रगीत मुक्तक में व्यक्तिगत अनुभूति का प्राधान्य, भावसामंजस्य एवं अन्विति तथा संगीतात्मकता एवं संक्षिप्तता का होना अनिवार्यतः स्वीकार किया जाता है। विद्यापति की पदावली में प्रगीत मुक्तक के गुणों का अपूर्व समन्वय है।

पदावली में विषय के अनुसार चार प्रकार के गीत प्राप्त होते हैं—(१) प्रेमपरक (२) भक्तिपरक, (३) राजस्तुति-परक तथा (४) विविध। पाँचों पुस्तकों मे यह पद जिस संख्या में उपलब्ध होते हैं उनकी तालिका इस प्रकार है—

नाम पदावली	प्रेम	भक्ति	राजस्तु०	विविध	पूर्ण योग
१. डा० मजूमदार	८६७	६५	२	५	९३९
२. नगेंद्र गुप्त	८८२	४९	२	२	९३५
३. डा० झा	२६०	२	०	०	२६२
४. पं० शिवसिंह ठाकुर	८६	०	०	०	८६
५. बेनीपुरी	२३६	२८	१	०	२६५

उपर्युक्त तालिका से पदावली का विषय प्रेम निश्चित होता है। उसमे प्रार्थना और नचारी से सबंधित गीत भी यत्र-तत्र उपलब्ध होते है। वस्तुतः बात यह है कि मिथिला साहित्य का गीतकाव्य बहुत ही समृद्ध है[1]। मिथिला में प्रेम-गीत विषय और समय के अनुसार कई प्रकार के माने जाते हैं। मुख्य मुख्य नाम इस प्रकार हैं—

(१) तिरहुती अथवा तिरहुत (मिलन एवं वियोग), (२) बटगमनी (प्रायः जिसमें सजनी गे शब्द की आवृत्ति होती है), (३) ग्वालरी (गोपी लीला), ४) रास (कृष्ण लीला), (५) मान (प्रणयकलह), (६) लगनी, (७) उचती, (८) चैत तथा (९) मलहार आदि हैं। भक्तिपरक गीतों के अंतर्गत नचारी[2] (प्रायः शिवभक्ति के पद होते हैं), महेशवानी, गुसाइन का गीत तथा विष्णुपद हैं। विविध प्रकार के गीतो में प्रहेलिका एवं कूट आदि की गणना होती है। मैथिली गीतों की सबसे बड़ी विशेषता उनमें भनिता का प्रयोग है। भनिता मे लेखक अपना नाम अथवा

---

१. डा० जयकांत मिश्र — हिस्ट्री आफ मैथिली लिटरेचर, पृष्ठ ७६।
२ नचारी शब्द नाच + करी का लघु रूप प्रतीत होता है। प्रायः यह पद नाचकर भक्तो को भावविभोर एवं तन्मय करने के लिये शिवमंदिर में गाए जाते थे।

उपनाम अथवा अपने आश्रयदाता अथवा अपने अभिभावक का नाम डाल देता है। इस दृष्टि से विद्यापति अपने मिथिला समाज एवं समय का पूरा पूरा प्रतिनिधित्व करते पाए जाते हैं। उनके पदों में मुख्यता प्रेम और मिलन के गीतों की है। प्रेमगीतों को विद्वानों ने राधा और कृष्ण-परक मान लिया हैं। अतः शुद्ध प्रेम भी भक्तिमय हो गया है और इस प्रकार पदावली के विषय में एक विवाद उठ खड़ा हुआ है। यह विवाद तीन वर्गों में रखा जा सकता है—

प्रथम वर्ग—बाबू ब्रजनंदन सहाय, डा० श्यामसुंदरदास इस वर्ग में आते है जो यह मानते हैं कि विद्यापति की पदावली वैष्णव भक्ति के विचारों और भावनाओं से पूर्ण है। डा० श्यामसुंदरदास जी के मत में विद्यापति ने विष्णु स्वामी तथा निंबार्काचार्य के मतों को ग्रहण किया है।[1]

द्वितीय वर्ग—इस वर्ग के अग्रगण्य नेता भाषातत्व विशारद श्रीयुत् ग्रिअर्सन हैं। उनके विचारानुसार विद्यापति के पद रहस्यवाद से प्रभावित हैं। वे कहते हैं—'हरि प्रेम है' (गाड इज लव) यह पाश्चात्य और पूर्व का समान सिद्धांत है, पर इनके रूप तत्वतः भिन्न भिन्न हैं। पश्चिम के ठंढे देश के रहनेवाले ईशप्रेम को पिता और पुत्र के अटूट प्रेम का रूप देकर ही संतुष्ट रहे, पर गर्म देश के सत्यान्वेषियों ने पूजक और पूज्य के सर्वश्रेष्ठ प्रेम को राधा और सर्वेश कृष्ण का रूप दिया। यह सच है कि पाश्चात्य चित्तवृत्ति के लिये इसका ग्रहण करना कठिन है, पर इन्हें झटपट बुरा बताना ठीक नही। विद्यापति के चमकते हुए

१. डा० श्यामसुंदरदास—भाषा और साहित्य, पृष्ठ ३३२।

पदों द्वारा भक्त हिंदू कामवासना का जरा भी अनुभव नही करते और वे उन्हें उसी प्रकार पढ़ते हैं जिस प्रकार सोलोमन के गीतों को क्रिस्तान पादरी पढा करते हैं[1]।

ग्रिम्रर्सन साहव के मत के समर्थक वावू नगेंद्रनाथ गुप्त हैं। आपने पटना सीनेट हाल के २ फरवरी सन् ३५ के भाषण मे कहा था कि विद्यापति की राधाकृष्ण पदावली का सारांश यही है कि जीवात्मा परमात्मा को खोज रहा है, वह एकांत स्थान में मिलने को चिंतित है। संसार ईश-प्रेम से परिचित नहीं है। इसलिये वह भक्त के मार्ग में अड़चन डालता है। यह देखकर ईश्वरान्वेषी भक्त संसार को छोड़ बन में जाकर एकांत निवास करता है। इसी विषय का वर्णन विद्यापति ने दूसरे शब्दों में किया है। मूसलाधार वृष्टि हो रही है, भयानक शब्द करता हुआ वज्रपात हो रहा है किंतु राधा को जरा भी भय नहीं। वह सांपों को पैरों से कुचलती हुई अपने प्रेमी कृष्ण के घर पहुँच जाती है[2]।

इस प्रकार समस्त अभिमार एवं मिलन के पदों का आध्यात्मिक अर्थ किया गया है। आपके मत से समस्त पदावली व्यंगार्थ से परिपूर्ण है, वरना चैतन्य देव जैसे भक्त पर इन पदों का इतना प्रभाव न पड़ता। अस्तु इन्ही दोनों विद्वानों का अनुसरण प्रोफेसर जनार्दन मिश्र ने किया है। आपने अपनी पुस्तक विद्यापति मे समस्त पदावली को रहस्यवाद से पूर्ण माना है। आपने राधाकृष्ण संवंधी पदों को ही नही अपितु शिवसंवंधी गीतो की भी आध्यात्मिक

---

१. प्रोफेसर जनार्दन मिश्र—विद्यापति, पृष्ट ३२-३३।
२. डा० मजूमदार—विद्यापति, पद सख्या १०४।

व्याख्या कर तथा उनकी कबीर और दादू जैसे संतों की बानियों से तुलना कर अपने मत का प्रतिपादन किया है। विद्यापति के समय में रहस्यवाद का प्रचार तथा वैष्णव भक्तों द्वारा पदावली का गृहीत होना उनके तर्कों का मुख्य आधार है।[1]

तीसरा वर्ग—इस वर्ग का मत है कि उनकी मूल प्रकृति ऐंद्रिय आकर्षण प्रधान शृंगार रस की है। इस विचार के समर्थक महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, डा० रामकुमार वर्मा, डा० सुभद्र झा, बेनीपुरीजी तथा पं० शिवनदन ठाकुर हैं।

विद्यापति के काव्य के मूल स्रोत पर विचार करते हुए हमने उनकी प्रेरणा के स्रोत का आधार गाथा सप्तशती (हाल), अमरुशतक आदि शृंगारपरक मुक्तक ग्रंथों को बताया है। अतः स्पष्ट है कि हम भी विद्यापति को शुद्ध शृंगारी कवि मानते हैं। वस्तुतः कठिनाई का अथवा भ्रांति का मुख्य कारण यह है कि विद्यापति द्वारा हस्तलिखित कोई पदावली प्राप्त न हो सकी। डा० विमानविहारी मजूमदार की बात से हम पूर्णतः सहमत हैं कि पदावली में विद्वानों ने कवि के मानसिक विकास की ओर ध्यान नहीं दिया है![2] कीर्तिलता एवं उनके अन्य संस्कृत ग्रंथों से पता चलता है कि उनकी प्रवृत्ति घोर शृंगार की ओर थी। कीर्तिलता में भी अपनी कविता की प्रशंसा करते हुए उन्होंने 'नागर मन भावई' लिखा है—संभवतः 'नागर' शब्द का अर्थ कामशास्त्रादि ग्रंथों के आधार पर ही किया गया है। वात्स्यायन कामसूत्र में नागरों की दिनचर्या का वर्णन है। पुरुषपरीक्षा और कीर्तिपताका के श्लोकों के अध्ययन से यही

---

१. प्रोफेसर जनार्दन मिश्र—विद्यापति, पृष्ठ २६-५०।

२. डा० मजूमदार, विद्यापति भूमिका, पृ० ६५।

प्रतीत होता है कि आरंभ में कवि की प्रवृत्ति घोर शृंगारमयी थी।[1]

यौवन की उद्दाम लालसा समाप्त होने पर कवि की मनोवृत्ति में परिवर्तन आया है। अतः उसके ७६९, ७७०, ७७१ संख्यक पदों में शेष जीवन का अनुताप प्राप्त होता है और डा० मजूमदार के मत से यह भाव वैष्णव धर्म के प्रभाव के परिचायक हैं। यौवनकाल में कवि शृंगार रस मे मग्न रहा। अतः वह उसी के लिये अनुताप करता है –

यावत जनम हम तुम पद न सेवल, युवति मति मे मेलि।७७०॥

× × ×

निधुवन रमनि रंग रसे मातलु तोहे भजब कोन वेला॥७६९॥

'कीर्तिलता' में वेश्याओं का वर्णन करनेवाले कवि ने अपनी चढती हुई जवानी में शुद्ध शृंगार की रचना की हो तो कोई अनुचित नही। दूसरा कारण यह भी है कि वह जिस वातावरण मे रहते थे वह शृंगार के ही अधिक उपयुक्त था। पदावली में नचारी आदि पदों का समावेश केवल परंपरा का पालन मात्र भी हो सकता है। पदों में आधिक्य प्रेमवर्णन का ही है।

डा० विमान विहारी मजूमदार के मत से यहाँतक तो हम पूर्ण सहमत हैं कि अंत में उन्हें शृगारी रचनाओं पर अनुताप हुआ हो परंतु वह वैष्णव थे यह बात नही जँची। हाँ, वह हरिहर मे एकता माननेवाले समन्वयवादी थे। हम पहिले कह चुके हैं कि मिथिला में धार्मिक मदाधता अथवा सांप्रदायिक विद्वेष का अभाव रहा है। साप्रदायिक विषय मे हमें पं० शिवनंदन ठाकुर का ही मत अधिक उपयुक्त लगता है कि वे शैव थे क्योंकि जो

---

१. पं० शिवनदन ठाकुर–महाकवि विद्यापति, पृ० २०१, २०२।

तर्क उन्होंने दिए हैं उनमें से केवल तीन ही अधिक तर्कसंगत जान पड़ते हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) उगना की कथा, (२) शिवलिंग के प्रकट होने की कथा तथा (३) पुरुष-परीक्षा में राजा रत्नांगद से शिव की उपासना का वर्णन।[1] विद्यापति को विष्णु से कोई विरोध न था। शब्द कृष्ण और राधिका किसी सांप्रदायिक रूप में प्रयुक्त नहीं किए गए वे केवल काल्पनिक प्रेमी और प्रेमिका के रूप में लिए गए हैं। विद्यापति को शृंगारी कवि माननेवाले महामहोपाध्याय शास्त्रीजी का कहना है कि गुप्तजी की ८४० पदोंवाली पदावली में ३३७ में राधा और कृष्ण का नाम भी नहीं है। दूसरी बात यह है कि विद्यापति मध्यकाल के कवि है। उस युग में शृंगार की धारा चल रही था। इन कवियों के लिये राधा और कृष्ण आधिदैविक व्यक्ति नही केवल नायक और नायिका थे।[2] पं० शिवनंदन ठाकुर ने शास्त्रीजी का ही मत स्वीकार किया है और डा० जनार्दन मिश्र के मत को अमान्य माना है।

डा० जनार्दन मिश्र ने अपनी पुस्तक विद्यापति में कवि विद्यापति को रहस्यवादी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। यह उनकी भावातिरेकता ही कही जा सकती है। पदावली के अध्ययन तथा विद्यापति के अन्य ग्रंथों से विद्यापति की रहस्यवादिता सिद्ध नहीं होती। रहस्यवाद के दो पक्ष हैं—भावात्मक और साधनात्मक[3]। योगमार्ग साधनात्मक रहस्यवाद है, यह अनेक अप्राकृत तत्वों द्वारा मन को अव्यक्त तथ्यों का साक्षात्कार करा कर साधक को अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त कराने की आशा देता है। तंत्र और रसायन भी साधनात्मक रहस्यवाद

---

१. पं० शिवशंकर ठाकुर – महाकवि विद्यापति, पृ० १७५-१७७।

२. डा० सुभद्र झा–विद्यापति गीत संग्रह, पृ० १८१।

३. आचार्य रामचंद्र शुक्ल—जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ २०२।

ही हैं। भावात्मक रहस्यवाद की कई श्रेणियाँ हैं परंतु मुख्यत: आत्मा का प्रेम की पीडा लेकर अपने प्रियतम से मिलने के लिये जब उत्सुक वर्णन किया जाता है तब भावात्मक रहस्यवाद की नीव मानी जाती है। परंतु यह तड़पन, व्याकुलता, मिलनेच्छा एवं प्रयत्न एकांगी ही होते हैं अर्थात् आत्मा की ही ओर से होते हैं—वही मिलनसुख का अनुभव करता है। परमात्मा की ओर से कुछ नही होता। विद्यापति की पदावली में राधा और कृष्ण दोनों एक दूसरे के लिये आतुर, उत्सुक और प्रयत्नशील दिखाए गए हैं। अत: इन पदों के आधार पर उन्हें रहस्यवादी नही माना जा सकता। पं० शिवनंदन ठाकुर ने इस प्रश्न पर भली प्रकार प्रकाश डाला है और उन्होंने सिद्ध किया है कि विद्यापति शृंगार रस के कवि थे—वे पति के रूप मे ईश्वर के उपासक नही थे। अत: उनमें रहस्यवाद की कल्पना करना नितांत अनुचित है। उन्होने जो संक्षेप में अपने निष्कर्ष दिए हैं उनको हम अविकल रूप में यहाँ दे रहे हैं—

(१) उस दार्शनिक युग में किसी विद्वान् के किसी ग्रंथ में पति के रूप में ईश्वर की उपासना का समर्थन या समालोचना नही है। उदना की कथा की तरह किंवदंती के रूप में भी यह प्रसिद्ध नही है।

(२) तांत्रिक उपासना की तरह इस उपासना का थोड़ा भी अनुकरण मिथिला में नहीं पाया जाता है।

(३) विद्यापति या अन्य किसी मैथिल कवि की रचना मे पति के रूप मे ईश्वर की उपासना की ओर संकेत नही पाया जाता है।

(४) विद्यापति की पदावली शृंगार रस प्रधान आर्यासप्तशती आदि ग्रंथों के आधार पर रची गई है।

(५) विवाह के अवसर पर गृहस्थ आश्रम में नवप्रविष्ट स्नातक के कर्कश तर्कशास्त्र के अध्ययन से कठोर और मुग्धा के मुग्ध हृदय से अपरिचित हृदय पर गीत के रूप में रसमय शृंगार रस की शिक्षा के द्वारा उसका स्थायी प्रभाव उत्पन्न करने के लिये ही पदावली की रचना हुई थी। यही उसका प्रधान उद्देश्य है।

(६) पूजा के अवसर पर विद्यापति के पद का गान मिथिला में नहीं होता है।

(७) विद्यापति के प्रथम काव्य, कीर्तिलता मे वेश्याओं तथा वनिनियों का शृंगाररसमय विशद वर्णन है।

(८) नायक के रूप में कृष्ण का और नायिका के रूप में राधा का वर्णन प्रथम शताब्दी की पुस्तक गाथा-शप्तशती में भी पाया जाता है।

(९) विद्यापति की ग्रंथरचना का क्रम।

(१०) चैतन्यदेव के मूर्च्छित होने का कारण केवल राधाकृष्ण का नाम ही है।

(११) कीर्तन की सृष्टि विद्यापति के २०० वर्षों के बाद हुई। इसलिये कीर्तन के उद्देश्य से विद्यापति ने पदों की रचना नही की थी।

(१२) विद्यापति की मृत्यु के बाद सूफी मत को प्रौढता मिली। रहस्यवादमय (प्रेममार्गी शाखा के) ग्रंथों की रचना का आरंभ संवत् १५५८ में हुआ। मुसलमानो के कट्टर शत्रु, राजा शिवसिंह के घनिष्ठ मित्र होने के कारण और मिथिला मे किसी धार्मिक क्रांति के प्रभाव नही पड़ने के कारण मैथिल विद्वच्छिरोमणि विद्यापति सूफी मत से प्रभावान्वित हुए होंगे—यह विश्वास करने योग्य नही है।

(१३) रहस्यवाद के ग्रंथों में यह प्रथा है कि ग्रंथ के किसी अंश में रहस्य का उद्‌घाटन रहता है, जैसे कि जायसी, कबीर आदि के ग्रंथों में है। विद्यापति के ग्रंथों में यह बात नहीं है।

(१४) सूफी मतावलंबियों की कविताओं की विशेषताएं इस मे नही पाई जाती हैं।

(१५) कीर्तिपताका में स्वयं विद्यापति ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि राम को सीता की विरहवेदना सहनी पड़ी। इसलिये उन्हें कामकलाचतुर अनेक स्त्रियों के साथ रहने की उत्कट अभिलाषा हुई। इसी कारण उन्होंने कृष्णावतार लेकर गोपियो के साथ अनेक प्रकार के विहार किए। इससे स्पष्ट होता है कि राधा या कृष्ण के शृंगारवर्णन मे कोई दार्शनिक गूढ रहस्य नही है, किंतु राधा का अर्थ नायिका और कृष्ण का अर्थ नायक है।

उपर्युक्त वर्णन में हमने बार-बार राधा और कृष्ण का नाम लिया है। यह वैष्णव धर्म में किस प्रकार प्रविष्ट हुए, इस पर भी थोड़ा सा प्रकाश डालना अनुचित न होगा।

बंगाल, आसाम तथा उड़िया के नवीन वैष्णव धर्म की विशेपता राधा की पूजा का प्रतिपादन है।[1] वस्तुतः यह रहस्यात्मक है कि राधा अपने परकीया के रूप में किस प्रकार वैष्णव समाज में आदर पा गई। परकीया की भावना समाज-विरोधी है। डा० दासगुप्ता का यह निष्कर्ष उचित जान

---

१. अशोक कुमार मजूमदार—ए नोट आन दी डेवलपमेंट आफ राधाकल्ट, एनल्स आफ भंडारकर रिसर्च इंस्टिट्यूट, वा० ३६, भाग ३, ४, पृष्ठ २३१।

पड़ता है कि तंत्र पुराण आदि में या शैव दर्शन मे जहाँ शक्ति-तत्व का विवेचन भलीभाँति प्रारंभ हुआ वहाँ देखते हैं कि शक्तिवाद ने वैष्णव दर्शन और वैष्णव धर्म में भी घुसना शुरू किया है और हमारा विश्वास है कि वैष्णव धर्म और दर्शन में घुसा हुआ यह शक्तिवाद ही परवर्ती काल में पूर्णरूप से विकसित राधावाद में परिणत हुआ![१] कृष्णदास कविराज के चैतन्यचरितामृत के आधार पर यह बात कहीं जा सकती है कि स्वयं चैतन्य महाप्रभु को राधा के विषय मे प्रारंभ में कोई ज्ञान न था। उड़िया निवासी रामानंद ने सर्वप्रथम गीत गोविंद के पदों के आधार पर राधा की महत्ता चैतन्य महाप्रभु के समुख वर्णित की। चैतन्य महाप्रभु में भावप्रवणता अत्यंत तीव्र थी। वे रामानंद के वर्णन से प्रभावित हो गए और राधाकृष्ण के प्रेमगीतों में तन्मय रहने लगे। गीत-गोविंद का प्रत्येक पद उनके लिये आध्यात्मिक अर्थ देने लगा। जब चैतन्य द्वारा 'राधा' कृष्णप्रिया स्वीकृत हो गई तो बाद में उनके अनुयायियों को उसका दार्शनिक आधार और महत्ता स्थापित करनी पड़ी। राधा परकीया थी अतः कृष्ण के साथ अव्यक्त विवाह की परिकल्पना की गई। परकीया की कल्पना का भी कारण था। वस्तुतः परकीया के प्रेम में जो आतुरता, व्याकुलता, कार्यकुशलता और दृढ़ता होती है वह सदैव साथ में रहने के कारण तथा सामाजिक प्रतिबंधों के न होने के कारण स्वकीया में नहीं रह जाती। परंतु यह भावना समाज की मर्यादा के अनुकूल नहीं। अतः आगे चलकर ब्रह्मवैवर्त्त पुराण के आधार पर राधा और कृष्ण का विवाह भी प्रतिपादित किया जाने लगा।

---

१ डा० शशिभूषण दासगुप्ता –राधा का क्रमिक विकास, पृष्ठ १२।

कवि कर्णपूर रचित चैतन्य चंद्रोदय में रामानंद को सहजिया वैष्णव कहा है। सहजिया संप्रदाय स्त्री के प्रेम द्वारा ही परम तत्व को जानने का प्रयत्न करते थे। श्रीयुत् अशोककुमार मजूमदार का निष्कर्ष है कि 'चैतन्यदेव के पहिले राधा और कृष्ण का नाम केवल साहित्य मे था और कोई विचारधारा इनके पीछे नही थी। कवियों ने बौद्ध सहजयानियों के योगी और योगिनी के स्थान पर कृष्ण और राधा को बिठा दिया और शीघ्र ही सहजसुंदरी व्रजसुंदरी बन गई। यह परिवर्तन कब हुआ हमें नही मालूम[1]। परंतु यह निश्चय है कि यह परिवर्तन विद्यापति के बाद का है। स्वयं चैतन्यदेव विद्यापति से लगभग १०० वर्ष बाद हुए थे। विद्यापति से पहिले यदि राधा का वर्णन था तो वह हाल की सप्तशती का वर्णन था जिसमें वह केवल पार्थिव जगत् की एक अपूर्व सुंदरी कामातुरा प्रेमिका थी। प्रायः धार्मिक विचारधाराओ द्वारा साहित्य के पात्रों का निर्माण हुआ करता है परतु राधा का निर्माण साहित्य ने धर्म को दिया है। शुद्ध शृंगारी पदो में आध्यात्मिक अर्थों की परिकल्पना हुई और ये भक्तों के कंठहार बन गए। उदाहरण रूप में पदावली के निम्नलिखित पद को लीजिए। वस्तुतः यह पद स्वयं दूतिका का वचन है परंतु भक्तों के लिये यह विशेष आनंद की वस्तु बन गया है—

करु धरु करु मोहि पारे। देव मे अपरुब हारे कन्हैया ॥
सखि सभ तेजि चलि गेली। न जानु कौन पथ भेली कन्हैया ॥
हम न जाएब तुअ पासे। आएब ऊघठ घाटे, कन्हैया ॥
विद्यापति एहो भाने। गुजरी भजु भगवाने, कन्हैया ॥३४९

[1] एनल्स आफ भंडारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट, वा० ३६, भाग ३, ४, पृष्ठ २५६।

नायिका प्रार्थना करती है कि हे कृष्ण मुझे हाथ पकड़ कर पार कर दो। मैं पथ भूलकर सखियों से बिछुड़ गई हूँ। सखियाँ सब दूर चली गई हैं। अतः यही अवसर है कि हम दोनों किसी औघट घाट पर चलें और अपनी इच्छा की पूर्ति करें। परंतु रहस्यवादी को इसमें नायिका आत्मा का प्रतीक प्रतीत होती है और संभोगेच्छा परमात्मा से मिलन की इच्छा। भक्तगण इसे गाते गाते आत्मविभोर हो जाते हैं। यह क्यों ? वस्तुतः विचार करने पर कारण स्वयं स्पष्ट हो जाता है। भक्ति और शृंगार मे कोई तात्विक अंतर नहीं। दोनों का मूल भाव 'रति' है। और रति में भी 'कांतारति' को ही मुख्यता है, यही समाज का मूल कारण है और यही भक्त के माधुर्य भाव का मूल मंत्र। अतः सुरतसुख को ब्रह्मानंद के समान ही कहा गया है। सभी जन जानते हैं कि सुरत में जो ध्यान की एक निष्ठा होती है वह अन्यत्र कठिनाई से प्राप्त होती है[1]। मनोविज्ञान के इसी तत्व के आधार पर नाना प्रकार की पूजा और साधना में स्त्री के रूप को अपनाया गया है और उसके नाना रूपों की परिकल्पना की गई है। इसी से उन संप्रदायों का जन्म हुआ है जिनमे स्त्रीसौंदर्य की उपासना की जाती है। कांतारति में जो तीव्रता परकीया की रति मे होती है वह स्वकीया में नही। परकीया अपने पति को छोड़कर अन्यानुरक्त केवल प्रेम के आधार पर होती है। वह शारीरिक व्यवसाय करनेवाली सामान्या अथवा गणिका से कही भिन्न होती है। अतः शुद्ध प्रेम के नाते वह महान् है और इसी लिये उसका महत्व है। वह केवल शुद्ध प्रेम के नाते नायक को अपनाती है और समस्त विधिनिषेधो

---

१. नयचंद्र सूरि–रंभामंजरी नाटक, पदसंख्या ७, पृष्ठ ३।

एवं सामाजिक बंधनों को छोड़कर प्रिय से मिलने के लिये प्रयत्नशील होती है। अतः उसके प्रेम में तीव्रता कही अधिक होती है। यही कारण है कि भक्तों ने आत्मा के मिलन की उपमा परकीया से दी है। अतः कुछ विद्वान् स्वकीया के प्रेम में तो शुद्ध कामभावना का सर्वथा ह्रास पाते हैं, उसमें वह उद्दीपन, वह साहस नही होता है कि वह संसार की समस्त विभीषिकाओं पर विजय प्राप्तकर मिलन के लिये तत्पर हो[1]। अतः शुद्ध ऐहिक शृंगार और पारलौकिक शृंगार अथवा कामी और भक्त तत्वतः एक ही मूल भावना को लेकर चलते हैं, अंतर केवल दृष्टिकोण का है। एक का आधार पार्थिव सौंदर्य एवं तज्जन्य आनंद है जो क्षणिक होता है, दूसरा केवल काल्पनिक है, अतींद्रिय है अतः स्थायी और अलौकिक माना जाता है, भक्त लोग इसी अलौकिक आनंद की कल्पना करते हुए प्रेम साम्राज्य में विचरण करते हैं।

अब प्रश्न रहता है कि क्या विद्यापति मधुर भाव के उपासक थे ? जहाँतक ऐतिहासिक दृष्टिकोण का तथा वास्तविकता का प्रश्न है विद्यापति नितांत ही शृंगारी कवि प्रतीत होते है। वे राजदरबारी थे तथा दरबार के कवि थे। उन्होने भी हिंदी के कवि विहारी की भाँति राजा रानी की कामवासना की परितृप्ति के लिये शृंगारी पदों का प्रणयन किया है। राधा और कृष्ण वहाँ केवल एक विलासप्रिय बंधन-मुक्त नायक और नायिका मात्र हैं। परंतु आधारसाम्य होने के कारण वे चैतन्य प्रभु द्वारा अपनाए गए और विद्यापति के पद भक्तों के कंठहार बन गए। परवर्ती

१, अशोककुमार मजूमदार—एनल्स आफ भंडारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, वा० ३६, भाग ३-४, पृष्ठ २५६।

विद्वानों ने उन्ही पदों के आधार पर भक्तिमार्ग के सिद्धांतों का प्रणयन किया और जो उनमें असंगति प्रतीत होती थी उनका परिहार करने का प्रयत्न किया।

विद्यापति की पदावली मुक्तक रूप में लिखी गई है। उसका स्पष्ट प्रमाण है कि ग्रंथ में कोई मंगलाचरण नही। जो प्रार्थनात्मक पद प्रकाशित पदावलियों मे उपलब्ध हैं वे संकलनकर्ता की प्रेरणा के फलस्वरूप हैं। अन्य ग्रंथों में विद्यापति ने इष्टदेव को नमस्कार किया है। अधिकतर शिव की स्तुति में ही पदरचना की गई है। हम पहिले कह चुके हैं कि पदावली का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। विद्यापति ने अब्दुर्रहमान की भाँति अपनी कविता का उद्देश्य नही दिया परंतु तो भी उनकी कविता अब्दुर्रहमान के उद्देश्य का ही अनुकरण करती है। अब्दुर्रहमान लिखते हैं—

अणुराइयरयहरु कामियम णहरु,
मयणमणह पहदीवयरो।
बिरहणिभइरद्धउ सुणहु विसुद्धउ,
रसियह रससंजीवयरो॥२२॥
अइणेहिण भासिउ, रइमइवासिउ,
सवणसकुलियइ अमियसरो।
लइलिहइ वियक्खणु, अत्थह लक्खणु,
सुरइसगि जु विअड्डनरो॥२३॥

अर्थात् मेरी कविता प्रेमी जनो के लिये रतिगृह है। कामुकों के लिये मनोहर है, मदनमनस्कों के लिये पथदीपक है, विरहिणियों के लिये स्वयं मकरध्वज है और रसिकों के लिये शुद्ध संजीवन है–भली प्रकार (श्रोतागण) सुन लें।

मैंने कर्णकुहरों के लिये यह अमृत के तुल्य रतिनति से सुवासित (यह कविता) बड़े स्नेह से लिखी है जो इसके अर्थ

लक्षण को जानता है वह सुरतिसंग विदग्ध है, अन्यथा नही ।[1]

यही दशा विद्यापति की है। उनके अंतरग महल मे प्रवेश करने पर हम ऐसे कक्ष मे पहुँचते हैं जहाँ भ्रमर अधखिली कच्ची कमलकली को झकझोर रहा है[2], कमलपत्र पर पड़े जलबिंदु के समान कामचेष्टाग्रस्त 'धनिक शरीर डगमग डगमग' कर रहा है, कही कोमल अंग का पराभव (परित्याग) करते हुए नायक को खने खने (शनैः शनैः) रस लेने को उत्साहित किया जा रहा है,[3] कही अर्द्धरसिक नागर को प्रथम समागम का पाठ पढ़ाया जा रहा है,[4] तो कही कुच-कोरक हाथ में आते ही 'काचवदिर जिमि' अरुण रूप धारण कर रहे हैं,[5] नीवीबंधन शिथिल हो रहा है, स्पर्शसुख के अनुभव से अंग अंग शिरीष पुष्प की भाँति रोमांचित हो रहा है, चारो प्रकार का आनंद लुटा जा रहा है, हाथ स्पर्श कर रहे है, नासिका घ्राण में मस्त है, कर्ण शब्दमाधुरी मे मस्त है; जिह्वा को अधरामृत की कमी नही[6], अनुनय विनय चल रहा है, अपूर्व विवाह रचा जा रहा है[7] तो कही विपरीत रति का संग्राम चल रहा है और मदनपराजय की डुगडुगी पीटी जा रही है—

---

१ अब्दुर्रहमान—संदेशरासक, पृष्ठ ९-१० ।
२ मजूमदार—विद्यापति पद २७८, पृष्ठ २०३ ।
३ वही, पद २७९, पृष्ठ २०४ ।
४ वही, पद २८१, पृष्ठ २०५ ।
५. वही; पद २८२ पृष्ठ २०५ ।
६ वही, पद २८५, पृष्ठ २०७ ।
७ वही, पद ३०१, पृष्ठ २१६ ।
८ वही, पद ३०२, पृष्ठ २१६ ।

किंकिनी किनि किनि कंकन कनकन कलरव नूपुर बाजे।
निज मदे मदन पराभव मानल जय जय डिडिम बाजे[1]।

यह सभी दृश्य सवाक् चलचित्र की भाँति प्रत्यक्ष हो रहे हैं। एक ओर सुरत समाप्त हो गया, पुजारी ने पूजा समाप्त कर ली और अब शिवजी को कमल से ढककर सो गया है।[2] दूसरी ओर विलासप्रिय नायक के रमण से घबड़ाकर नायिका प्रातःकाल का संकेत कर रही है कि रात्रि समाप्त हुई, कमल खिलने लगे, अब आप मुझे छोड़ दें, मैं आपको मन्मथ की दुहाई देती हूँ, पुनः मिलन होगा।[3] परंतु इसपर भी मुक्ति नहीं मिलती तो वह जरा साहस से काम लेती है और कहती है कि हे हरि कान खोलकर सुन लो (रमण की मस्ती छोड़ो), अब विलास का समय नही है।[4] कहाँतक कहें इस कक्ष में अनेक वासनाजन्य, कामोद्दीपक, एक से एक बढ़िया चित्र हैं। अंतरंग महल के बाहर की भी साजसज्जा दर्शनीय है। अतः सभी प्रकार से पदावली अब्दुर्रहमान के शब्दों मे 'मदनमनस्को के लिये पथप्रदर्शक है, रतिमति से वासित है' उसका विषय एकमात्र शृंगार है, मांसल सौंदर्य का उपभोग है और रसिकता के चित्र हैं। अतः सामान्य बहुसख्यक पाठकों के निकट विद्यापति ऐंद्रिय आकर्षण प्रधान शृंगार के ही कवि है।[5]

विद्यापति का काव्यसौष्ठव—काव्य क्या है इस जटिल समस्या को सर्वमान्य परिभाषा देकर सुलझाने मे मानव मस्तिष्क असमर्थ रहा है। भारतीय काव्यशास्त्रियों का प्रयास

---

१. मजूमदार—विद्यापति, पद ७ ३, पृष्ठ ४५६।
२ वही, पद ६००, पृष्ठ ५६६।
३ वही, पद ४८७, पृष्ठ ३३२।
४ वही, पद ४८८, पृष्ठ ३३२।
५ प्रो० रमाशकर तिवारी—समेलन पत्रिका, भाग ४०, सख्या १, सं० २०१०, पृ० २६।

'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' को ही खोजकर संतुष्ट नही हुआ, उसने आगे चलकर काव्य में रसों की विवेचना को भी अपनाया। अधिकतर विद्वान् काव्य में नव रस मानते हैं और उनमें भी शृंगार को रसराज स्वीकार किया है। साहित्यदर्पण के अनुसार शृंग का अर्थ कामोद्रेक है, उसके आगमन से अर्थात् उत्पत्ति का कारण शृंगार कहलाता है।[1] शृंगार रस के आलंबन—नायक नायिका; उद्दीपन सखी, मंडन हासपरिहास, षट्ऋतु वर्णन, वन उपवन, चंद्र, तारा आदि सभी प्राकृतिक एवं रमणीय वस्तुएँ, अनुरागपूर्ण आंगिक चेष्टाएँ, हावभाव कटाक्ष आदि, अनुभाव आलस्य, मरण, उग्रता, धृति आदि आदि अनेक संचारी भाव हैं तथा स्थायी भाव है रति। रति का लक्षण करते हुए दर्पणकार ने लिखा है—

रतिर्मनोनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्[2]।

अर्थात् प्रियवस्तु में प्रेमपूर्ण उन्मुखीभाव का नाम रति है। प्राणिमात्र में यह प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। प्रकृति का प्रत्येक अणु अपने दूसरे प्रकार के अणु की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील है। युवतियों में युवकों के प्रति और युवकों में युवतियों के प्रति स्वाभाविक आकर्षण का होना हम अन्यत्र कह चुके हैं। इस भाव की महत्ता को आधुनिक मनोविज्ञान एवं कामशास्त्र भी स्वीकार करता है। साहित्य मे आरंभ से ही शृंगार रस को अधिक महत्व मिला है। आचार्य भरत ने संसार मे जो कुछ पवित्र है, उत्तम है, उज्ज्वल है, दर्शनीय है, उसे शृंगार कह डाला है। संस्कृत, हिंदी तथा विदेशी साहित्यशास्त्रियों ने शृंगार की उत्तमता के गीत गाए हैं।

---

१ साहित्यदर्पण, पद्य १८२, पृष्ठ १२६।

२. साहित्यदर्पण, पद्य १७६, पृष्ठ १२८।

उत्तमता की दृष्टि से भी शृंगार रस का महत्व कम नहीं। हम प्रारंभ में कह चुके हैं कि इसका मूल भाव रति है। रति में भी दांपत्य रति मुख्य है। यह अपने आध्यात्मिक क्षेत्र मे प्रकृति और पुरुष की लीला है। अतः सभी शृंगारी रचनाएँ आध्यात्मिक दृष्टि से भी देखी जा सकती हैं। जीवन की स्मृति, सत्प्रेरणाएँ, भक्ति और धर्म, साहित्य और कला सभी के मूल में प्रेम की यह प्रेरणा है। आधुनिक मनोविज्ञान प्रेमप्रेरणा में मनोवृत्तियों के अपूर्व समीकरण की शक्ति को स्वीकार करता हैं। अतः संसार के सभी कार्यों को उन्मुख करनेवाली तथा उनमें तीव्रता उत्पन्न करनेवाली यही प्रवृत्ति मानी जाती है।

शृंगार की मौलिकता एव गंभीरता पर प्रकाश डालते हुए डा० नगेंद्र लिखते हैं—'गांभीर्य और तीव्रता के विचार से भी शृंगारभावना का ही स्थान सर्वोच्च है। जीवन की मूलवृत्ति होने के कारण वह स्वभावतः ही सबसे अधिक गंभीर वृत्ति भी है। उसके द्वारा जीवन में गहनतम परिवर्तन हो जाते हैं, जीवन की कोई भी मनोदशा इतनी स्थायी नहीं होती। मन स्वभाव से ही चंचल है, परंतु प्रेम के वशीभूत होकर उसमें असाधारण एकाग्रता आ जाती है। संपूर्ण आत्मनिलय प्रेम में ही संभव है, अतएव प्रेम में अन्य भावनाओं की अपेक्षा तीव्रता भी अधिक है।[1]

शृंगार रस का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। मानवहृदय के दोनों प्रकार के भाव - सुखात्मक एवं दुःखात्मक इसके अंतर्भूत हो जाते है। प्रेमार्द्र मन की अवस्था वड़ी विचित्र

१. डा० नगेन्द्र—देव और उनकी कविता, पृष्ठ ८१।

होती है। वहाँ प्रिय से संबंध रखनेवाली वस्तु तक प्रिय लगती हैं और विपरीत अवस्था मे वही दुखकारी प्रतीत होती हैं। डा० नगेंद्र इसकी व्यापकता को स्वीकार करते हुए लिखते हैं—शृंगार की महत्वस्वीकृति में आपत्ति किसे हो सकती है। वास्तव में हमारा समस्त जीवन राग पर स्थित है। हमारी कलाएँ, हमारा साहित्य जीवन की—और स्पष्ट शब्दों मे हमारी रागात्मक प्रवृत्ति की—ही अभिव्यक्ति हैं, और यह रागात्मक प्रवृत्ति काममूलक है। अतएव विश्व-साहित्य का अधिकांश शृंगारमय है[1]। यही नहीं यदि शुद्ध साहित्य से शृंगार की कृतियाँ वहिष्कृत कर दो जाँय तो समस्त साहित्य का गगनचुंबी प्रासाद धराशायी हो जाएगा।

शृंगार के दो पक्ष हैं—संयोग और वियोग[2]। संयोग में आश्रय एवं आलंबन का मिलन रहता है। अतः वह सुखात्मक माना जाता है। रूपवर्णन, (नखशिख एवं आभूषणों का वर्णन) हावभावचित्रण, उपवन, उद्यान, जलक्रीड़ा, हास परिहास, मान, सुरतक्रीड़ा, सुरतक्रीड़ा गोपन तथा वर्णन आदि आदि प्रसंग इसके अंतर्गत है। विप्रलंभ (वियोग) का लक्षण है कि जहाँ उत्कृष्ट रति होने पर भी प्रिय का समागम न हो। यह चार प्रकार का है, पूर्वराग, मान, प्रवास तथा करुण[3]। पूर्वराग संयोग से पहिले की आतुरता है। मान किसी अपराध के कारण रूठ जाने को कहते हैं और प्रवास मे नायक का विदेशगमन होना है। दर्पणकार ने कार्यवश उत्पन्न हुए प्रवास को भविष्यत्,

१. डा० नगेंद्र—देव और उनकी कविता, पृष्ठ ८२।
२ साहित्यदर्पण, पृष्ठ १४०।
३ वही, पृष्ठ १४७।

वर्तमान और भूत इन तीन भेदों में विभक्त किया है[1]। करुण का लक्षण बताते हुए वे लिखते हैं—'नायक और नायिका में से एक के मर जाने पर दूसरा जो दुखी होता है उस अवस्था को करुण विप्रलंभ कहते हैं। परंतु यह तभी होता है जब परलोकगत व्यक्ति के इसी जन्म में और इसी देह से पुनः मिलने की आशा हो।' अथवा किसी आधिदैविक अथवा अन्य प्रबल व्यवधानवश मिलन का आशा अत्यंत क्षीण हो जाय तब करुण विप्रलंभ की सृष्टि हो जाती है। यह करुण रस से सर्वथा भिन्न है। करुण रस में इष्ट का विनाश निश्चयात्मक हो जाता है और करुण विप्रलंभ में मिलन की क्षीण आशा बनी रहती है।

साहित्य ने विप्रलंभ शृंगार को अधिक महत्व दिया है, कहा भी है—

संगम विरह विकल्पे वरमिह विरहो न संगमस्तस्याः।
मिलने सैव यदेका त्रिभुवन मयि तन्मयं विरहे॥

साहित्यकार मानते हैं कि यह बात ठीक है क्योंकि संगम में प्रेम परितृप्त होकर निश्चेष्ट हो जाता है परंतु विरह में वही उद्दाम होकर हृदय के अंतराल में नव नव आशा और प्राण का संचार करता रहता है। विरह मे त्रिभुवनमय प्रेमी हो जाता है, तभी तो सूर की गोपिका पुकार उठती है कि 'ऊधो विरहौ प्रेम करे।' विरह के अंतर्गत कामदशा (अभिलाषा, चिंता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मृति—किसी किसी के अनुसार केवल मूर्छा नामक दश दशा) वर्णित की गई है। पत्र, दूती तथा संदेश आदि का भी वर्णन रहता है। प्रकृति का वर्णन संयोग

---

१ साहित्यदर्पण, पृष्ठ १४७।

और वियोग दोनों में होता है। यह है संक्षेप में रसराज शृंगार का महत्व एवं व्यापकत्व जिसपर हमारे आलोच्य कवि विद्यापति ने अपनी काव्यप्रतिभा का विस्तार दिखाया है और नाना प्रकार के सुंदर चित्र दिए हैं।

शृंगार के संयोग और वियोग पक्ष में एक अंतर होता है। संयोग पक्ष में जितनी वाह्य चेष्टाओं की महत्ता रहती है उतनी अंतर्जगत् के हलचल की महत्ता नही रहती। संयोग में नायक और नायिका का हृदय मिलनसुखेच्छा से पूर्ण होकर अंतर्द्वंद्व मे रत नही हो पाता और न वहाँ उसके लिये अवकाश है क्योंकि वहाँ तो—

तनुस्पर्शादस्या दरमुकलिते हन्त नयने,
उदञ्चद्रोमाञ्चं व्रजति जडतामङ्गमखिलम्।
कपोलौ घर्मार्द्रौ ध्रुवमुपरताशेषविषयं,
मनः सान्द्रानन्दं स्पृशति झटिति ब्रह्म परमम्॥

अर्थात् शरीर का स्पर्श करने से इस कामिनी के नयन-कमल कुछ मुकुलित (आनंदविघूर्णित) होने लगे हैं। रोमांच-युक्त संपूर्ण शरीर जडवत् हो गया है और कपोलों पर पसीना आ गया है। मालूम होता है अन्य सब विषयों से विमुख होकर इसका मन ब्रह्मानंद के समान किसी सांद्रसुख मे विलीन हो रहा है। यह है संयोग की महत्ता। विद्यापति ने इस तथ्य को भलीभाँति समझा है और उसका समुचित लाभ उठाया है। अतः उनके संयोगवर्णन मे जो वाह्य जगत् का सूक्ष्म दर्शन है वह अंतर्जगत् का नहीं और न उसकी वहाँ आवश्यकता थी। वियोग मे प्रिय की चिंता रहती है और हृदय नाना प्रकार की भावनाओं का नीड़ बन जाता है।

---

१. साहित्यदर्पण, पृष्ठ ११४।

हृदय में नाना प्रकार के भावों का आघात प्रतिघात होता रहता है। अतः कवि को भी अंतर्जगत् के वर्णन का समुचित अवसर वियोग में प्राप्त हो जाता है।

हम ऊपर कह चुके हैं कि साहित्य में सबसे प्रधान रस शृंगार है। इसका स्थायी भाव रति है। अब देखना है कि यह भाव कब उत्पन्न होता है तथा उत्पत्ति के समय किन किन अलौकिक चेष्टाओं को जन्म देता है। विद्यापति ने इसका खूब अध्ययन किया है और अनुभव किया है। सबसे पहली अवस्था वयःसंधि है। अतः विद्यापति का शृंगार-वर्णन भी वयःसंधि से प्रारंभ होता है। वयःसंधि मे नायिका का लावण्य चमकता है। उसका वर्णन करता हुआ कवि कहता है -

सैसव जौवन दरसन भेल। दुहु दलबले धनि दंद पड़ि गेल।
कबहु बांधए कच कबहु विथारि। कबहु झाँपय अंग कवहु उघारि।
थिर नयान अथिर कछु भेल। उरज उदय थल लालिम लेल।
चंचल चरन, चित चंचल मान। जागल मनसिज मुदित नयान।
बिद्यापति कहे सुन वर कान। धैरज धरह मिलायब आन॥

अंकुरित नायिका का कितना सुंदर चित्र है। उसके उठते हुए उरोजों की लालिमा, कभी अंगों का ढकना, कभी खोलना बड़ी स्वाभाविकता के साथ वर्णित किया गया है। रसिकों के मन को मुग्ध करनेवाले उरोज होते हैं। अब वे दिनों दिन बढ़ते जाते हैं, उनका भी कवि ने चित्र दिया है। यथा -

पहिल बदरि कुच पुन नवरंग। दिने दिने वाढ्य पिड़ए अनंग।
से पुन भए गेल वीजक पोर। अब कुच वाढ़ल सिरिफल जोर।
माधव पेखल रमनि संधान। घाटहि भेटल करत सिनान।

तनु सुख वसन हिरदय लागि। जे पुरुख देखब तेकर भागि।
उर हिल्लोलित चाँचर केस। चामर झाँपल कनक महेस।
भनइ विद्यापति सुनह मुरारि। सुपुरुख विलसय से वरनारि॥

अर्थात् पयोधर पहले वदरीफल के समान थे, फिर नारंगी के समान दिनों दिन बढ़ने लगे। अनंग उसको पीड़ा देने लगे। फिर वह बीजपूर के समान हो गए। अब कुछ बढ़कर बेल के समान हो गए। माधव, रमणी का (कटाक्ष) संधान देखा। घाट पर स्नान करती हुई (उस) का साक्षात् पाया। (उसका) शरीर कोमल, (आर्द्र) वस्त्र (वक्ष) हृदय में लगकर सट गया, जो पुरुष (इसे) देखे, उसका भाग्य है। (उसके) गीले (भीगे) केश वक्ष पर हिल रहे हैं, मानो स्वर्णशंभु (पयोधर) चँवर द्वारा आवृत हुए हैं। विद्यापति कहते हैं, मुरारि, श्रवण करो, सुपुरुष वैसी ही श्रेष्ठ नारी से (के साथ) विलास करते हैं।

कितना सुंदर और स्वाभाविक वर्णन है। 'उर हिल्लोलित चाँचर केस। चाँमर झाँपल कनक महेश' इस पद मे उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग कितना सुंदर है। इसी प्रकार किसी अन्य अंकुरित नायिका की स्वाभाविक चेष्टाओं का कितना सुंदर वर्णन किया है। वह कभी हँसती है तो कभी अधरों पर वस्त्र रख लेती है, कभी कभी स्वयं अपने उरोजों पर आप ही दृष्टि डालती है। क्षण क्षण में उसके नेत्र कोण का अनुसरण करते हैं, कभी वह हँसती है तो कभी वह इधर उधर देखने लगती है। विद्यापति ने इन सभी चेष्टाओं को किस सुंदरता के साथ नीचे लिखे पद में दिया है—

खने खने नयन कोन अनुसरई। खने खने वसनधूलि तनु भरई।
खने खने दसन छटा छुट हास। खने खने अधर आगे करु वास।

चउकि चलए खने खने मलु मंद । मनमथ पाठ पहिल अनुबंध ।
हिरदय मुकुल हेरि हेरि थोर । खने आँचर दए खने होय भोर ।
बाला सैसव तारुन भेट । लखए न पारिअ जेठ कनेठ ।
विद्यापति कह सुन वर कान । तरुनिम सैसव चिन्हइ न जान ।

वय:संधि के उपरांत यौवन का अपूर्व समय आता है जिसमें प्रेमी और प्रेमिका का लावण्य अपनी चरम सीमा पर होता है। विद्यापति ने नायक और नायिका दोनों के सौंदर्य का वर्णन किया है। उनके नायक कृष्ण हैं, वह भी अपूर्व सुंदर है, कौन मान सकता है कि वे इतने सुदर हैं। सुनने-वाले केवल कवि की कल्पना मानेगे। उनके सौंदर्य पर रीझी हुई नायिका (राधिका) कहती है —

ए सखि देखलि एक अपुरूप । सुनइत मानवि सपन सरूप ॥
कमल जुगल पर चाँदक माल । तापल उपजल तरुन तमाल ॥
तापर बेढ़लि विजुरि लता । कालिंदि तीर धीर चलि जाता ॥
साखा सिखर सुधाकर पाँति । ताहि नव पल्लव अरुनक भाँति ॥
बिमल बिंबफल जुगल विकास । तापर कीर धीर करु वास ॥
तापर चंचल खंजन जोर । तापर सापिनि झाँपल मोर ॥
ए सखि रंगिनि कहल निसान । हेरइत पुनि हमे हरल गिआन ॥
कवि विद्यापति एह रस मान । सुपुरुख मरम तुहु भल जान ॥

अर्थात् हे सखि, एक अपरूप (दृश्य) देखा, सुनकर समझोगी कि सपना है। कमलयुगल पर (चरणद्वय) पर चाँद की माला (नखपंक्ति), उसके ऊपर तरुण तमाल वृक्ष (उरु) उत्पन्न हुआ। उसके ऊपर विद्युल्लता पीत पटी। लिपटी हुई थी, (एवं वह) धीरे धीरे कालिंदी तीर पर चला जा रहा है। शाखाशिखर पर (हस्तांगुलियों) चंद्रश्रेणी (नखपंक्ति); उसपर अरुण के समान नव पल्लव करतल),

विमल विंबफल युगल ओष्ठाधर) का विकास (हो रहा है) । उसके ऊपर शुकपक्षी (शुकपक्षी के चंचु की समान नासा) स्थिर होकर वास कर रहा है। इसके ऊपर खंजन युगल (चक्षुद्वय), उसके ऊपर मयूर (मयूरपुच्छ) साँपिनी को (चूडावद्ध केश को) आच्छादित किए हुए हैं। हे रंगिणि सखि, तुमको यह संकेत किया; फिर देखकर मेरे ज्ञान का हरण हो गया। विद्यापति कवि इस रस का वर्णन करते हैं। सुपुरुष का मर्म तुम खूब जानती हो।

वस्तुत: विद्यापति इसी अपुरूप के सफल कवि हैं। उन्हें इस अपुरूप के देखने से कभी तृप्ति नही होती। अब नायिका के उठते हुए अंगो की माधुरी का अवलोकन कीजिए। आहा ! कैसा सुंदर यौवन है जहाँ दृष्टि जाती है, वही रह जाती है। गजब है, क्यों अनुपम पदार्थ एक स्थान पर हैं। हरिण, चद्र, कमल, हस्तिनी, स्वर्ण और कोकिल। स्तनयुगल के ऊपर केश विखर रहे हैं, उनमें हार उलझ गया है मानो सुमेरु पर्वत के ऊपर चंद्रविहीन तारे उग रहे है। सुदर मणिमाला, कुंडल कुपोलों पर झूल रहे हैं। अधरों की लालिमा देखकर बिंबा फल लज्जित हो रहा है—

कि आरे ! नव जौवन अभिरामा।
जत देखल तत कहए न पारिअ छओ अनुपम एक ठामा॥
हरिन इंदु अरविंद करिनि हेम पिक वुझल अनुमानी।
नयन रयन परिमल गति तनुरुचि अओ अति सुललित बानी।
कुच युग पर चिकुर फुचि पसरल ता अरुझायल हारा।
जनि सुमेरु ऊपर मिलि ऊगल चाँद विहिन सव तारा।
लोल कपोल ललित मनि कुंडल अधर विंव अध जाई।
भौंह भ्रमर, नासापुट सुंदर से देखि कीर लजाई।

भनइ विद्यापति से वर नागरि आन न पाबए कोई ।
कंसदलन नारायन सुंदर तसु रंगिनी पए होई ॥

क्यों न ऐसा सुंदर रूप नायक के मन को विचलित कर दे ? तभी तो उसके चले जाने पर भी नायक के 'आशा-लुब्ध नयन' उसी ओर लगे रहते हैं और रह रह कर उसकी चेष्टाओं का ध्यान करते रहते हैं, जिनका वर्णन करता हुआ वह कहता है--

आध आँचर खसि आध बदन हसि आधहि नयन तरंग ।
आध उरज हेरि आध आँचर भेरि तब धरि दगधे अनंग ॥

अर्थात् हे सखि, उसी समय से अनंग (मुझे) दग्ध कर रहा है । जबसे मैंने उसके मुख पर आधी हँसी, आधी नयन तरंग देखी, अचल से आधा ढके हुए पयोधर देखा ।

इस प्रकार नारीसौंदर्य के वर्णन में कवि ने कमाल दिखाया है । कही वह गुरु नितबों का वर्णन करता है, तो कही उसकी क्षीण कटि का । नायिका के जघन रंभा के सदृश हैं, त्रिबली की शोभा अवर्णनीय है, उसका चंद्रमुख, उन्नत उरोज सभी दर्शनीय हैं[1] । कभी कवि का मन नायिका के खुले अंगों के सौंदर्यवर्णन पर लगा है तो कभी उसकी गति पर रीझा है । इस प्रकार नारीसौंदर्य के वर्णन मे उन्होंने उत्प्रेक्षा अलंकार एवं रूपकातिशयोक्ति का बड़ा सुंदर संमिश्रण किया है । उदाहरण के लिये एक ही पद पर्याप्त होगा—

माधव कि कहब सुंदरि रूपे ।
कतेक जतन विहि आनि समारल देखलि नयन सरूपे ।
पल्लवराज चरणयुग शोभित गति गजराजक भाने ।

---

१. डा० मजूमदार—विद्यापति, पद २१६ पृष्ट १६१ ।

कनक कदलि पर सिंह सभारल तापर मेरु समाने।
मेरु उपर दुइ कमल फुलायल नाल विना रुचि पाई।
मनिमय हार धार बह सुरसरि लें नहि कमल सुखाई।
अधर बिंब सन दसन दाड़िम विजु रवि ससि उगथिक पासे।
राहु दूरि बसु नियरो न आवथि तें नहि करथि गरासे।
सारँग नयन बचन पुन सारँग सारँग तसु समधाने।
भनइ विद्यापति सुन वर यौवति एहन जगत नहि जाने।
राजा सिवसिंघ रूपनरायन लखिमादइ प्रति भाने ॥२५॥

अर्थात्, हे माधव ! सुंदरी के रूप का वर्णन क्या करें ? विधाता ने कितना यत्न करके सजाया है, मैंने अपनी आँखों देखा। उसके दोनो चरण कमल के समान शोभित हैं, उसकी चाल गजराज के समान है। सोना के केले (जंघा) के ऊपर सिंह (कमर) सजाया; उसके ऊपर मेरु के समान पयोधर रखे। मेरु के उपर दो कमल खिलाए, वे बिना नाल के भी शोभा देते हैं। मणिमय हार गंगा की धारा के समान है, उसी से कमल सूखने नही पाता है। अधर बिंबफल के समान, दाँत अनार के बीज के समान, रवि (सिंदूर बिंदु) और चंद्र (मुख) एक दूसरे के निकट ही उगे हुए हैं। राहु (केश) दूर बास करता है, निकट नही आता, इसी से रवि शशि को ग्रसना नही है। उसके नेत्र हरिण के समान और वचन कोकिल के समान हैं, उसके कटाक्ष में कामदेव निवास करते हैं। कमलतुल्य मुख के ऊपर दस भ्रमर (चूर्ण कुंतल) केलि करते हुए मधुपान करते है। विद्यापति कहते हैं, है युवतिश्रेष्ठ सुन, यह रस कौन जानता है ? लखिमादेवी के पति रूपनारायण शिवसिंह यह जानते हैं।

कवि की पैनी दृष्टि ने नायिका को विभिन्न परिस्थितियों मे देखने का भी प्रयत्न किया है। सबसे सुंदर वर्णन स्नान

करती हुई नायिका का है। उसके अंगों पर चिपके हुए वस्त्र से निकलती हुई आभा को देखकर कवि का मन विमुग्ध हो गया है। केश झाड़ती हुई तथा उनसे गिरते हुए पानी की बूदों को देखकर उसे ऐसा प्रतीत हुआ है मानो अंधकार रो रहा है। समस्त दृश्य के आनंद को उन्ही के पद मे देखिए—

कामिनि करए सनाने। हेरितहि हृदय हनए पंचवाने ॥
चिकुर गरए जलधारा। जनि मुखससि डरे रोअए अंधारा ॥
कुच युग चारु चकेवा। निअ कुल मिलित आनि कोन देवा ॥
तें सनकाए भुज पासे। बाँधि घएल उड़ि जाएत अकासे ॥
तितल वसन तनु लागु। मुनिहुक मानस मनमथ जागु ॥
मनइ विद्यापति गावे। गुनमति धनि पुनमत जनि पावे ॥२३३

सौंदर्याकर्षण के उपरांत प्रेमप्रसंग प्रारंभ होता है। विद्यापति ने प्रेम सम रखा है। पथ मे जाती हुई राधा को देखकर भगवान् कृष्ण की दशा का वर्णन देखिए। वे स्वयं कहते है— 'मैने रास्ते में जाती हुई राधा को देखा। उस समय के उसके भाव ने मेरे प्राणों को पीड़ा पहुँचाई है। कुमुद के सर्वस्व (चंद्र, मुखचंद्र) की साध मेरे मन मे रह गई। कमलिनी के समान सुंदर नयनों से वक्र दृष्टि से उसने मेरी ओर देखा, मानों खंजन ने दृष्टि को शृंखलाबद्ध करके मेरी ओर दृष्टि की और फिर छिपा ली। उसने मृदु हँसी हँसकर अर्द्धचद्रवदन दिखाया और आधा अपनी बाँह से ढक लिया। मानो चंद्रमा के एक भाग को मेघों के नीलाबर ने ढक लिया'[1]। इसी प्रकार राधा भी कृष्ण के सौंदर्य को देखकर विचलित हो गई है वह भी कहती है—

---

१. डा० मजूमदार—पदावली, पद ६२७।

सामर सुंदर एँ वाट आएल ताँ मोरि लागलि आँखि।
आरति आँचर साजि न मेले सवे सखीजन साखि॥
कहहि मो सखि कहहि मो कथा ताहेरि वासा।
दूरहु दुगुन एड़ि मैं आवओं पुनु दरसन आसा॥
कि मोरा जीवने कि मोरा जौवने कि मोरा चतुरपने।
मदन वाने मुरुछलि अछों सहओं जीव अपने॥
आध पदे यो धरइते मोर देखल नागर जनसमाजे।
कठिन हिरदय भेदि न भेले जाओ रसातल लाजे॥
सुरपति पाए लोचन मागओं गरुड़ मागओं पाँखी।
नदेरि नंदन मै देसि आवजो मन मनोरथ राखी॥२४३॥

कितनी सुंदर कामना है। वे कहती हैं श्यामल सुदर इस पथ से आए, इसी लिये मेरी आँखें लग गईं। अनुराग प्राबल्य से आंचर (अग) सजाया नही जा सका—सव सखियाँ साक्षी हैं। सखि, मुझे कहो, मुझे कहो, उसका अधिवास (वासस्थान) कहाँ है? दुगुनी दूर होने पर भी फिर दर्शन की आशा से मैं पथ का अतिक्रम करूँगी। मेरे जीवन, यौवन और चतुरपना का क्या प्रयोजन है? मदनवाण से मूर्छित होकर रहती हूँ, किसी प्रकार जीवन का भार सहन कर रही हूँ। उस नागर ने जनसमाज अर्थात् लोकजन के सामने मुझे अपनी और आधा पद आगे वढ़ाते देखा। (मेरा) कठिन हृदय भिन्न नही हुआ, लज्जा रसातल मे चली गई। इंद्र के चरणों मे लोचन के लिये प्रार्थना करती हूँ, गरुड़ से पंख की याचना करती हूँ। मनमनोरथ रखकर नंद के नंदन को देख आती हूँ।

विद्यापति ने प्रेमवर्णन को वड़ा मनोवैज्ञानिक ढंग दिया है। जव दोनों ओर से प्रेमलता वढ़ रही है, तव दोनों ओर से प्रयत्न होना कितना स्वाभाविक है। राधा की दूती कृष्ण

को ओर कृष्ण की दूती राधा को मिलन के लिये उत्साहित करती है। मिलने के लिये शिक्षा दी जाती है। अभिसार कराया जाता है और तदुपरांत मिलनप्रसंग है। मिलनप्रसंग में हम उसी अंतरंग महल में पहुचते हैं जहाँ विलासिता तथा कामकला का साम्राज्य है और जिसका वर्णन हम पहले कर चुके हैं। इस महल में सखियाँ सजाकर प्रथम समागम के लिये नायिका को ले जाती हैं। मिथिला में यह पद आज भी विवाह के उपरांत प्रथम दंपति के प्रथम मिलन पर गाया जाता है। विद्यापति ने वात्स्यायन के समस्त सांप्रयोगिक अधिकरण को सरस पदों में अभिव्यक्त कर दिया है। विद्यापति के मूल स्रोतों का वर्णन करते हुए हमने वात्स्यायन के कामसूत्र के प्रभाव का संकेत किया है। सुरत सबंधी पदों में कवि की मति खूब रमी है, और बड़े यथार्थ चित्र दिए गए हैं। आजकल की विचारधारा के अनुसार वहाँ विद्यापति ने समाजकल्याण की भावना की ओर ध्यान नहीं दिया। इस सुरतवर्णन मे अश्लीलता आ गई है, परंतु खेद है कि हम इन विद्वानों से सहमत नही हो सके। हम पहिले कह चुके है कि विद्यापति के काव्य का उद्देश्य मदनमनस्कों के लिये पथदीपक प्रस्तुत करना है। अतः उन लोगों की सभी बातें यथार्थ रूप मे दी गई हैं। प्रसिद्ध कवि चंद ने भी संयोगिता की सुरत का वर्णन किया है। चंद ने भी विद्यापति में मिलता हुआ एक प्रसंग लिया है। महाराज पृथ्वीराज संयोगिता को अत्यंत कोमल समझ कर उसके साथ कामक्रीड़ा करने मे झिझकते थे। सखियो से उनका यह संकोच छिपा न रह सका। अतः उन्होने रूपक रचकर महाराज को सुरत के लिये प्रेरणा दी—

भजै न राज संजोगि सम, अति सुच्छम तनजानि ।
तव सु सषी पंगानि वर, रची बुद्धि अप्पान ।
मधि अंगन नव दल सु तरु, पत्र मोर घन उट्टि ।
एक मंजर पर भ्रमर भ्रमि, वास आस रस विट्ट ।
भार भ्रमर मंजरिन मिग, तुट्टत जानि उटि पंषि ।
कछु अंतर राजन सुनहि, बोलि वयन दिषि अंषि ।
रस घुट्टत लुट्टत मयन, नन डुलि मजरि याह ।
भार भगत कथ्यह सुनी, अलियल मंजरि याह ।
अप्पा आरुहि भ्रग, मम डरई मद्ध देषि झीनंग ।
पत्तली पग्ग धारा, हय गय कुंभस्थल हनई ।
जं केहरि नन झीनं, तं गज मत्त जूययं, दलए ।
नव रमनि रमि राश्र, एक पल जम्म सुष्यांइ ।[१]

अर्थात् जव संयोगिता को सखियों ने देखा कि राजा कामातुर एव प्रेमासक्त होकर भी संयोगिया से रतिक्रीड़ा नही करता है क्योंकि वह उसे अत्यत कोमलागी समझता है तव सखियो ने एक भ्रमर का रूपक लिया और वह कहने लगी कि कोई भ्रमर एक सुंदर मंजरी को नवीन डालपर लगा हुआ देखकर मस्त हो रहा है वह वार वार उसके चारो ओर घूमता है परंतु मजरी की कोमलता से प्रभावित होकर वह उसपर नही वैठता है क्योकि वह समझता है कि कदाचित् उसके भार से वह टूट जाय। राजा को सुनाकर सखियाँ कहती हैं कि हे भ्रमर, कही भौरे के बोझ से मंजरी को टूटते हुए सुना है। अतः तुम आनद करो, मंजरी को दुर्वल समझ कर डरो मत। देखो तलवार जितनी पतली

---

१. डा० विपिनविहारी त्रिवेदी—चद वरदायी और उनका काव्य, पृष्ठ १६० ।

होती है उतनी ही हाथियों के मस्तक को छेदन करने में समर्थ होती है। सिंह की कटि कितनी पतली होती है परंतु वह गजयूथों के मस्तक को विदीर्ण करने में समर्थ होता है। अतः हे भ्रमर (राजन्) कामिनी को क्षीण कटिवाली देखकर डरो मत, अपितु रमण करो। यही संसार के सुख का सार है।

विद्यापति को रूपक रचने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ी, वहाँ सीधा सादा उपदेश है—

कोमल तनु पराभवे पाग्रोग्र तेजि न हलवि ते हु।
भमर भरेकि माग्ररि भांगए देखल कतहु केहु॥
माधव, बचन घरब मोर।
नही नहि कथ न पतिग्राएब ग्रपद लागत मोर॥
अधर निरसि घूसर करव भाव उपजत भला।
उने खन रति रभस अधिक दिने दिने ससि कला॥

कुछ शब्दों मे तथा पंक्तियों में दोनो कवियो में साम्य है, परंतु विद्यापति की सखी इतने पर भी संतुष्ट नही हुई उसने नायक को पुनः खुले शब्दों में संकेत किया जो इस प्रकार है—

वदर सरिस कुच परसव लहुँ। कत सुख पाग्रोव करित उहुँ उहुँ।
बाहुक वेढ़े परस निवार। नीवि मोष करए के पार॥
माधव अनुभव पहिलुक सग। नहि नहि करति इहे वहु रंग।
अधर पाने से हरति गेयान कमलकोष कए घरति पराण॥
बैरी डीठि निहारति तोहि। जनु भमरसि पुछिहिसि मोहि।
नूतन रस ससारक सार। विद्यापति कह कवि कंठहार॥२८२

सयोग शृंगार के अंतर्गत अभिमान, नोकझोंक, सुरत-गोपन आदि आदि प्रसंभ भी लिए गए हैं। विद्यापति ने उनका बड़ा सुदर वर्णन किया है। हम केवल एक अत्यन्त

प्रचलित प्रसंग का वर्णन करेंगे। जिसमें चतुरा नायिका अपने सुरत को अपनी ननद से छिपाती है--

ननदी सरूप निरूमह दोसे।

विनु विचार वेभिचार बुझओवह सासु करन्हि रोसे॥
कौतुक कमल नाल सयँ तोरल करए चाहल अवतंसे।
रोस कोस सयँ मधुकर आओल तन्हि अधर करु दंसे॥
सरवर घाट वाट कंटक तरू देखहि न पारल आगू।
साँकरि बाट उवटि कहु चललहु तें कुच कंटक लागू॥
गरूअ कुंभ सिर थिर नहि थाकए तें उबसल केस पास।
सखिजन सयँ हम पाछे पड़लहु तें मेल दीघ निसास॥
पथ अपवाद पिसुन परचारल तथिहु उतर हम देला।
अमरख चाहि धैरज नहि रहले तें गद गद सर भेला॥
भनइ विद्यापति सुन वर यौवति ई हम राखह गोई।
ननदी सयँ रस रीति वढ़ावह गुपुत वेकल नहि होई॥

अर्थात् नायिका कहती है कि हे ननद जी, आप मेरी आकृति देखकर मुझे क्यों दोष लगा रही हैं। देखो यदि आप मुझे व्यभिचारिणी कहेंगी तो व्यर्थ सासुजी क्रोधित होंगी। वात कुछ भी नहीं है। मैंने केवल कौतुकवश होकर एक मृणाल तोड़ा परंतु उसमें भौंरा बैठा हुआ था। वह क्रोधित हुआ और उसने मेरा अधर काट खाया। अतः अधर पर जो यह क्षत है वह भ्रमर का है किसी अन्य का नही। सरोवर से चली तो आगे काँटेदार वृक्षों में घिर गई। मुझे ध्यान नही रहा। सकीर्ण मार्ग था। देह मोड़कर चली, तो पयोधर क्षतविक्षत हो गए। जल से भरी गगरी को संभालने मे केश सब अस्तव्यस्त हो गए। सखियाँ सब आगे हो गई थी। अतः मैं दौड़ कर चली। वस साँस चलने लग

गया। रास्ते में दुष्टों ने मेरे ऊपर लांछन लगाना प्रारंभ किया, मैंने उनसे उत्तर प्रत्युत्तर किया, अतः देर हो गई। क्रोध के आवेश के कारण धैर्य नहीं रहा, अतः स्वर-भंग हो गया। विद्यापति कवि कहते है कि हे युवती यह सब छिपा कर रखो। यदि गुप्त को प्रकट नही करना चाहती हो तो ननद से प्रेम व्यवहारों को बढ़ाओ। समस्त पद में सुरत आनंद को लेकर आने की ध्वनि निकलती है। अतः अत्यंत उच्च कोटि का ध्वनिकाव्य कहा जा सकता है। इसी प्रकार के यदि पारस्परिक हास परिहास को देखना है तो पद संख्या ३५४, ३५५, ३५६ तथा ३५७ को देखिए। पद संख्या ३५४ में प्रहेलिका तथा दृष्टिकूट का अपूर्व समन्वय है। देखिए पहिली नायिका पूँछती है:—

जाहिलागि गेलिहै ताहि कहाँ लइलिहै ता पतिवैरि पितु काहाँ।
अछलि है दुख सुखे कहह अपन मुखे भूसन गमओलह जाहाँ॥
सुंदरि, कि कए बुझाओव कंते।
जन्हिका जनम होइत तो हे गेलिहे अइलि है तन्हिका अंते॥

अर्थात् हे सखि, जिसके लिये गई थी उसे कहाँ लाई! उसके पति के शत्रु का पिता कहाँ है? जिस स्थान पर अंगराग खो आई है, दुख सुख में (किस प्रकार) थी, अपने मुँह से बोल! हे सुंदरी, बता तो सही अपने पति को क्या कहकर समझाएगी? जिसका जन्म होते हो गई थी अब उसके अंत होने पर आई है! (अर्थात् हे सखी तू जल लेने गई थी बता तो सही तेरी गगरी कहाँ है? अपने मुख से अपने दुख सुख की कहानी तो कह! तू इतनी क्यों घबड़ाई हुई है? हे सुदरी अपने पति को क्या जबाव दोगी? तुम प्रातःकाल गई थी और अब

सायंकाल को आई हो—दिन भर कहाँ रही ?) सखी उत्तर देती है—

जाहिलागि गेलाहुं से चलि आएल नें मोहि धएलाई नुकाई ।
से चलि गेल ताहि लए जललाहु ते पथ भेल अनेआई ॥
संकर वाहन खेड़ि खेलाइते मेदिनि वाहन आगे ।
ये सब अछलि संगे से सब चललि मंगे उवरि अएलाहु अछ भागे ॥
जाहि दुइ खोज करइछहि सासुन्हि से मिलु अपना संगे ।
भनइ विद्यापति सुन वर जउविति गुपुत नेह रति रंगे ॥

अर्थात् जिसे लेने गई थी वही चला आया । और जब वह चला गया तब मैं चली । रास्ता अन्य प्रकार का हो गया । एक ओर से शंकरवाहन (वैल) लड़ रहे थे, दूसरी ओर से भेदिनि वाहन (सर्प), आगे आगे जो संग की सखियां थी वे सब आगे बढ़ गईं । मैं तो अपने भाग्य से बच कर आ गई । और जिन दोनों की खोज सासुजी कर रही हैं वह अपने अपने सग मे मिल गए । विद्यापति कहते है, हे श्रेष्ठ युवती सुनो गुप्त स्नेह और रतिरंग अनुमानित हो रहा है । (अर्थात् मैं जल लेने गई थी वर्षा आ गई इसलिये मुझे रुकना पड़ा, और जब वर्षा चली गई तव मैं चली, रास्ते में फिसलन हो गई थी । एक ओर वैल लड़ रहे थे दूसरी ओर से साँप सामने आ गए, सखियाँ सब भाग गई, बड़ी कठिनाई से मैं बच कर आई । सासुजी जल और घड़े की खोज कर रही हैं, घड़ा सिर से गिरकर फूट गया । अतः जल जल मे मिल गया और घड़े की मिट्टी मिट्टी मे मिल गई ।)

इस प्रकार के एक नही अनेकों पद पदावली में प्राप्त होते है । इन सवों में सक्षेप मे वही पार्थिव सौंदर्य है । उसके लिये आकर्षण है, जिज्ञासा है, मिलन का प्रयत्न है और प्राप्ति पर उन्मुक्त विलासमय उपभोग है । वहाँ न किसी रहस्य को

स्थान है, और न किसी आमुष्मिकता का संकेत। वहाँ सुरत में वह तन्मयता है कि जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वहाँ वह अनुराग है जो तिल तिल नूतन[1] होता है, वहाँ रूप की अतृप्त वासना है जो कभी पूरी नही होती। वहाँ बस यही सार वस्तु है—एक तिल भर के लिये मिलन और यावज्जीवन अनुराग[2], और परम पद के लाभ के समान आनंदित हृदय से चिरकाल रमण करने का संदेश[3]।

यह है विद्यापति का संभोग श्रृंगार का वर्णन। सब में बाह्यसौंदर्य के अपूर्व चित्र हैं। कदाचित् डा० रामकुमार वर्मा ने इसी पक्ष पर दृष्टि डालकर लिखा है—'विद्यापति ने अंतर्जगत् का उतना हृदयग्राही वर्णन नहीं किया जितना बाह्य जगत् का। उन्हें अंतर्जगत् की सूक्ष्म वृत्तियाँ बहुत कम सूझी हैं। उन्हें उनसे मतलब ही क्या? उन्हें तो सद्यःस्नाता अथवा वयःसंधि के चंचल कामोद्दीपक भावों की लड़ियाँ गूँथनी थी।'[4]

हम डा० साहब से सहमत हैं कि उनका वर्णन शुद्ध ऐहिक श्रृंगार है, जिसमे उन्होंने निश्छल रूप से कामोद्दीपक भावों की लड़ियाँ गूँथी हैं। परंतु क्या डा० साहब ने श्रृंगार रस के संयोग पक्ष के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की ओर ध्यान दिया है? क्या उन्होंने साहित्य दर्पणकार के 'तनुस्पर्शादिस्या' छंद में वर्णित भावों का ध्यान रखा है। जहाँ हास परिहास से अंग स्पर्श हुआ वहाँ संयोग में आत्मा रसावस्था में लीन हो

१. डा० मजूमदार-विद्यापति-पद ७६८, पृष्ठ ४१८।
२. वही पद ३१२, पृष्ठ २१२।
३. वही पद १११, पृष्ठ ८७।
४. डा० रामकुमार वर्मा आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ ५०१।

जाती है। वहाँ समस्त अंतर्द्वंद्व समाप्त हो जाते हैं। जब यह बात है तो अंतर्जगत् का चित्र कैसा ? यह आनंद तो अनिर्वचनीय है। हाँ यदि अंतर्जगत् की हलचल देखनी है तो आइए विद्यापति के वियोग शृंगार को देखें। विप्रलंभ अथवा वियोग वह स्थल है जहाँ कवि को अंतस्तल में बैठकर हृदय का रहस्य उद्घाटन करने का अवसर मिलता है। विरहवर्णन भी उनका बड़ा अद्वितीय है।

विद्यापति का विरहवर्णन—विरह प्रेम की कसौटी है। इस अग्नि मे तपकर ही प्रेमरूप स्वर्ण की आभा अपनी चमक लाती है। विरह को हमने प्रारभ मे चार प्रकार का कहा है। विद्यापति ने मान और प्रवास दो का ही वर्णन किया है। मानजन्य विरह केवल कृत्रिम होता है। वह प्रणयजन्य कलह ही कहा जाता है जिसका परिणाम मिलन और सुरति होती है। विद्यापति के शब्दों मे 'खनरि खन मइघि भइ किछु अरुन नयन कइ, कपटे धरि मान संमान लेही।' अर्थात् कपटी क्रोध दिखाकर प्रियतम से आदर लेना ही मान का कारण होता है। विद्यापति ने मानजन्य विरह को अधिकतर आनंदकेलि के ही अंतर्गत लिया है। यहां काल्पनिक मान अपनाकर रातों करवटे बदलने की ऊहा नही प्राप्त होती। हाँ वाक्चातुर्य अवश्य है। अपराधी कृष्ण प्रात.काल आए हैं। राधिका सभवतः अपना महत्व जताने के लिये रुष्ट हो गई है। कृष्ण को अपनी रात की केलियों को छिपाना है अतः वह राधिका के सामने कहते है—

सुन सुन सु दरि कर अवधान। विनु अपराध कहसि काहे आन '।
पूजलु पसुपति जामिनि जागि। गमन विलंव भेल तेहिलागि ॥
लागल मृगमद कुंकुम दाग। उचरइत मंत्र अधर नहि राग ॥

रजनि उजागरि लोचन मोर।ताहि लागि तोहें मोहे बोलसि चोर।
नवकविसेसर कि कहव तोय। सपथ करह तब परतीत होय॥

अर्थात् हे सुंदरी (सखि) मन देकर सुन, तुम बिना अपराध ही मुझे अन्य बाते कह रही हो। रात को जागकर शिवपूजा की, इसीलिये आने में देर हुई। (पूजोपकरण) मृगमद कुंकुम का दाग लग गया है। (सारी रात) मंत्र उच्चारण करते रहने से अधर रागशून्य हो गए हैं। रात्रि जागरण से आँखें लाल हो गई हैं। इसी लिये तुम मुझे चोर कह रही हो ? नवकविशेखर तुमको क्या कहे, यदि तुम शपथ करके कहो तो विश्वास हो।

अब प्रश्न शपथ का है। कदाचित् साधारण शपथ से संभवतः राधा का क्रोध शांत न हो। अतः प्रसंगानुकूल दंड-विधान भी है। कृष्ण कहते हैं कि हे मानिनी ! मान का परित्याग करो, मैं तुम्हारे स्तनरूपी स्वर्ण घट पर रखा हुआ जो यह हाररूपी सर्प है इसका स्पर्श करके कहता हूँ कि यदि मैंने तुमको छोड़कर अन्य किसी स्त्री का स्पर्श किया हो तो यह नाग मुझे डसे और अब भी यदि तुम्हें विश्वास नहीं है तो यथायोग्य दंड दो परतु मान छोड़ दो। मैं स्वयं ही दंड की व्यवस्था किए देता हूँ। तुम मुझे अपनी भुजाओं के पाश में बाँधो और अपने जघनों द्वारा प्रताड़ित करो। और यदि इससे भी तुम्हारी तृप्ति न हो तो अपने कुच रूपी पत्थरों से दबा दो और आजन्म अपने हृदयरूपी कारागार मे डाल दो। धन्य हैं विद्यापति ! कितनी सुंदर शपथ और कितना सुंदर दंड, इस प्रकार की व्यवस्था विद्यापति जैसे कवि ही कर सकते हैं[१]।

---

१. डा० मजूमदार—पदावली विद्यापति, पृ० सं० ६५२।

इस प्रकार मानजन्य पदों में वाक्पटुता का आधिक्य है। कहीं उक्तियाँ भी बड़ी तीखी हैं परंतु अंतर्जगत् की उन दशाओं का वर्णन नही है जो रसिकों को तड़पा दिया करती है। इस प्रकार का वर्णन प्रवासजन्य विरह में ही प्राप्त होता है। प्रवासजन्य विरह की भूमिका भी बड़ी सुव्यवस्थित पद्धति पर है। राधा कुलकामिनी है। वह सहसा सुनती है कि कल कृष्ण मथुरा जा रहे है। उसके लिये यह समाचार बज्रपात है। उसका हृदय उद्वेलित हो उठा है। गुरुजनों की लज्जा का प्रश्न है क्या करे। वह सखी से प्रार्थना करती है कि हे सखी तू जाकर प्रियतम से कह दे कि यह समय बाहर जाने का नही है[1]। परंतु जब वह देखती है कि कृष्ण जा ही रहे हैं तब वह लज्जा छोड़कर अपने प्रियतम से स्वयं अनुनय विनय करती है और कहती है—

माधव, तोंहे जनु जाह विदेसे।
हमरो रंग रमत लए जेवह लेवह कौन सनेसे॥
वनहि गमन करु होएति दोसर मति विसरि जाएव पति मोरा।
हीरा मनि मानिक एको नहि माँगव फेरि माँगव पहु तोरा॥
जलन गमन करु नयन नीर भरु देखिओ नि भेल पहु तोरा।
एकहि नगर वसि पहु भेल परवस कइसे पुरत मन मोरा॥
पहु संग कामि न वहुत सोहागिनी चंद्र निकट जइसे तारा।
भनहि विद्यापति सुनु वर जौमति अपना हृदय धरु सारा॥

हे माधव! आप कृपा कर विदेश न जायँ। देखो थोड़ी दूर जाने पर भी मनुष्य की बुद्धि वदल जाती है। मैं आपसे कुछ नहीं चाहती मैं केवल आपके प्रेम की अभिलाषिणी हूँ। मुझे न धन चाहिए न मान, देखो सुहागिनी वही है जो

---

१. वही, पदसंख्या १५८, पृष्ठ ११६।

प्रियतम के पास रहे। कितनी सीधी और सुंदर हृदय की वेदना का प्रकाशन है।

परंतु कृष्ण चले गए। राधा के ऊपर विरह का वज्र टूट पड़ा, उसका समस्त कौशल धूल में मिल गया। उसका हृदय शून्य हो गया। उसका जीवन ही व्यर्थ है। उसे न अब नींद है न भूख। स्वप्न में भी प्रिय का संगम दुर्लभ हो गया क्योंकि नीद टूट गई। कैसी विषम अवस्था है—

सपनहु संगम पाओल रंग बढ़ाओल रे।
से मोरा बिहि विघटाओल निंदओ हेराएल रे[1] ॥६॥

विद्यापति की पदावली में प्रेमोन्मत्ता प्रलाप करती हुई राधा के हृदय का हाहाकार प्रत्यक्ष हो उठा है। जैसा हम पहिले कह चुके हैं कि बिरहवर्णन मे विद्यापति ने अनुभूतियों पर अधिक बल दिया है। विरहिणि नायिका कहती है—

सखि मोर पिया।
अबहु न आओल कुलिस हिया ॥२॥
नखर खोआओलु दिवस लिखि लिखि।
नयन अंधाओलुं पिआपथ देखि ॥४॥
जब हम बाला परिहरि गेला।
किए दोस किए गुन बुझइ न भेला ॥६॥
अब हम तरुनि बुझत्र रस भास।
हेन जन नहि मोर काहे पिआ पास ॥८॥
आएब हेन करि पिया मोर गेला।
पुरब्रक जत गुन विसरित मेला ॥१०॥

---

१. डा० मजूमदार—विद्यापति, पद ५२७, पृष्ठ ३५५।

मनइ विद्यापति सुन अब राइ ।
कानु समझाइत अब चलि जाइ[1] ॥१२॥

अर्थात्, विरहिणी नायिका कहती है। हे सखी, प्रीतम अबतक पलट कर नहीं आए। मेरा हृदय भी कैसा वज्र-कठोर है जो अबतक दुःख से विदीर्ण भी नही हुआ। प्रीतम के आने का दिवस लिखते लिखते मेरे नख घिस गए हैं और प्रीतम की राह ताकते ताकते मेरे नेत्रों की ज्योति नष्ट हो गई है। हे सखी, जिस समय प्रीतम मुझे छोड़कर चले गए थे उस समय मैं भोली भाली किशोरी थी अतः उस समय प्रीतम मेरे गुण दोषो की भली भाँति नही जान सके थे। परंतु अब तो हे सखी मैं पूर्ण व्यस्यका तरुणी हो गई हूँ और रास विलास की वातों को समझने लगी हूँ। अब इस समय मेरे प्रीतम मेरे पास क्यों नही आते। हे सखी, मेरा कैसा दुर्भाग्य है कि जब रास विलास का समय आया तो मेरे प्रीतम मुझे छोड़कर चले गए। इस कारण पहले के मेरे जितने भी गुण थे वह उन्हें सब विसर गए। कवि विद्यापति कहते हैं कि हे राधे सुनो, हम प्रयत्न करके कृष्ण को समझाएँगे कि वह तुम्हारे पास लौट कर चले आएँ।

विरहचित्रण मे विद्यापति अनुभूति से काम ले रहे हैं, पांडित्य पिछड़ गया है। यही कारण है कि हमे शास्त्रोक्त विरह की दशों दशाएँ तो मिलती रही हैं, परंतु इनके अतिरिक्त भी विरहिणी की अनेक दशाओं का चित्रण हमारे सामने उपस्थित हो सका है। विप्रलंभ शृंगार से १० दशाएँ इस प्रकार निरूपित की गई है—स्मरण, गुणकथन, अभिलाषा,

---

१. बेनीपुरी—विद्यापति की पदावली, पद १६४, पृष्ठ २५५।

मूर्च्छा, व्याधि, उद्वेग, प्रलाप, जड़ता, उन्मादश्रो, मरण। विद्यापति-पदावली से इन सभी दशाओं का उदाहरण दिये जा सकते हैं —

एक दिन छिल नवरीति रे, जल मिन जेइन प्रीति रे (स्मरण)
पहिले पिया मोर सुख मुख हेरि हेरि तिलयक छोड़ल न अंग
अपरुब प्रेम पास तनु गाँथल, अब ते जल मोर संग।
(गुणकथन)

कत दिन चाँद कुमुद हब मेलि कत दिन कमल भ्रमर करु केलि
कत दिन पिय मोर पूछब बात कबहु पयोधर देहब हाथ।
(अभिलाषा)

वर रामा हे। सो किय बिछुरन जाय
कर धरि माथुर अनुमति मांगल ततह पड़ल मुरछाय
(मूर्च्छा)

कि कहव सुंदरि तोहरि काहिनी कहहि न पारिश्र देखलि जहिनी
अनिल अनल सम मलमज वीख जे छल सीतल से भैला तीख।
(व्याधि)

सजनी, को कहु आयव कन्हाई।
विरह पयोधि पार किय पायव सो मन नहि पतियाई।
(उद्वेग)

कह तु कह सखि बोल तु बोल तु रे हमर पिया कोन देश रे
मदन सरानत इह तनु जर जर कुशल सुनत संदेस रे।
(प्रलाप)

नीकर पुरुष पिरिती। जिव दय अंतर युवती॥
नीचल नयन चकोर। ढरिए ढरिए पलनोर॥
(जड़ता)

अनुखन, माधव, माधव सुमिरइत सुंदरी भेल मधाइ—
(उन्माद)

मधु पुर गेल भगवान रे हुन विनु त्यागव प्रान रे—
(मरण)

प्रेमियों के विरहावस्था के मनोभावों में से कौन सा भाव ऐसा है जो विद्यापति ने छोड़ दिया है या जिसका उन्होंने असफल चित्रण किया है। विरहिणी को जीवन इतना भारी हो जाता है कि उसे मृत्यु सुंदर लगने लगती है। वह आत्मघात की वात सोचती है परन्तु आत्मघात तो पाप है, कैसे करे। पक्षी होती तो वह प्रियतम के पास उड़ जाती।

संक्षेप मे विद्यापति ने विरह का वड़ा सुंदर चित्रण किया है। हम केवल एक विरहिणी नायिका का चित्र देने का प्रयत्न करते हैं—

लोचन नीर तटिनि निरमाने। करए कमल मुखि तथिहि सनाने॥
सरस मृनाल करइ जयमाली। अहनिस जय हरि नाम तोहारी॥
वृंदावन कान्हु धनि तप करइ। हृदयवेदि मदनानल वरइ॥
जिव कर समिव समर कर आगी। करति होम वध होएवह भागी॥
चिकुर वरहिरे समरि करे लेअइ। फल उपहारपयोधर देअइ॥
भनइ विद्यापति सुनह मुरारी। तुअ पथ हेरइत अछि वर नारि॥

अर्थात्, नयनों के नीर से मानो नदी निर्मित हुई। कमलमुखी उसमे स्थान करती है। हे हरि, सरस मृणाल को जपमाला वनाकर (राधा) अहनिशि तुम्हारा नाम जपती है। (हे) कन्हाई, धनी (राधा) वृंदावन तप करती है, हृदयवेदी पर मदनानल जलता है। जीवन को ईंधन करके, स्मृति को अग्नि वनाकर होम करती है, तुम (उसके) वध के भागी होगे। चिकुर का गुच्छा वनाकर हाथ मे लेती है, पयोधरफल उपहार

देती है। विद्यापति कहते हैं, मुरारि,सुनो, सुंदरी नारी तुम्हारा पथ देखती है।

विद्यापति की पदावली में एक से एक बढ़िया रत्न हैं। सब अपने अपने स्थान पर अपूर्व हैं, सबमें कोई न कोई विरह की अवस्था का सुंदर भावात्मक चित्र प्राप्त हो जाता है। उनके चित्रों में वर्णनात्मक प्रवृत्ति अधिक है, संवेदनात्मक कम। ऋतुपरिवर्तन में प्रेमिका के हृदय का हाहाकार बढ़ जाता है। समस्त प्रकृति उद्दीपन के रूप में ही विरह मे ली गई है। यथा—

सखि हे हामारि दुखेर नाहि ओर।
ए भर बादर माह भादर शून्य मंदिर मोर॥
झांपि घन गरजति संतति भुवन भरि वरिखतिया।
कंत पाहुन काम दारुन सघने खर सर हंतिया॥
कुलिस कत शत पात मोदित मयूर नाचत मातिया।
मत्त दादुरि डाके डाहुकि फाटि जायत छातिया॥
तिमिर भरि भरि घोर जामिनि न थिर विजुरिक पाँतिया।
विद्यापति कह कैछे गोडायबि हरि बिने दिन रातिया॥

प्रकृति वर्णन—प्रकृति मानव की चिरसंगिनी है। इसके प्रांगण में रहकर, इसके सतत परिवर्तनों का अवलोकन कर नाना प्रकार के भावों की प्रेरणा मानव सदैव पाता रहा है। विद्यापति ने प्रकृति के स्वतंत्र अस्तित्व को कम देखा है। वह नायिका के भावों का अनुकरण मात्र करती हुई चित्रित की गई है। यद्यपि प्रकृति के विविध चित्र तो प्राप्त होते है परंतु अधिकतर वे आलंकारिक अथवा उद्दीपन के रूप में हैं। राधा और कृष्ण के वर्णन मे मुख्यतः राधा के शरीरनिर्माण के लिये सभी प्राकृतिक वस्तुएँ उपस्थित कर दी गई हैं। यथा—

माधव कि कहव सुंदरि रूपे।
कतेक जतन विहि आनि समारल देखलि नयन सरूपे।

इस पद में विद्यापति ने संपूर्ण प्रकृति के उपमानों का संग्रह कर राधा के अंगों की सुंदरता का वर्णन किया है।

प्रकृति का सुंदर एवं मधुर रूप वहाँ देखने को प्राप्त होता है जहाँ विलास की रंगभूमि में परिस्थितियों के अनुकूल कवि ने प्रकृति के रंगीन चित्र को दिया है—

नव वृंदावन नव नव तरुगन नव नव विकसित फूल।
नवल वसंत नवल मलयानिल मातल नव अलि-कुल॥

यही प्रकृति विरह में शरीर को प्रतप्त करनेवाली हो जाती है। कुंजकुटी के नए फूल, कोकिला का पंचम गान, मलयानिल का हिम शिखर पर जाना और प्रिय का न आना असह्य है। चंद्रमा शरीर को भस्म कर रहा है। वसंत में प्रिय का प्रवास में रहना सचमुच विधाता की वामता है। जीवन को धिक्कार है यदि यौवन में भी प्रियतम पास नहीं रहें। इस प्रकार की भावनाएँ न जाने कितनी बार विद्यापति के पदों में दोहराई गई हैं। वर्षा आ गई, भादों का मास लग गया। वर्षा का वर्णन सुंदर शब्दों में है –

तिमिर भरि भरि घोर जामिनि, नथिर विजुरिक पाँतिया।
विद्यापति कह कैछे गोङायवि हरि बिने दिन रातिया॥

विद्यापति ने वसंत को नवजात शिशु का रूपक देकर वर्णन किया है। उसको राजा बनाया है और उसी के उपयोग में आनेवाली वस्तुओं का वर्णनकर उस रूप का आभास दिया है जिसे हम मानवीकरण कह सकते हैं। वसंत के इस वर्णन में कवि के राजदरबार का अप्रत्यक्ष रूप से चित्र प्रतीत होता है। कवि की प्रतिभा ने रूपक का निर्वाह बड़ी

सरसता से किया है[1]। सच बात तो यह है कि कवि की प्रकृति प्राकृतिक सौंदर्य के रूप में उतनी नहीं रमी जितनी विलासिला एवं कामुकता के चित्रों के सुंदर अंकन में। उनके प्राकृतिक चित्र भी वही सुंदर हैं जहाँ वे विलासिता की पृष्ठभूमि में अंकित किए गए हैं अथवा उस परिस्थिति को अधिक तीव्रतर बनाने के लिये काम में आए हैं। यथारति को समाप्त कर देने की प्रार्थना पर प्रातकाल का वर्णन अत्यंत स्वाभाविक बन पड़ा है[1]।

विद्यापति के काव्य का भावपक्ष और कलापक्ष--विद्वानों ने कविता मे दो पक्ष माने हैं। भावपक्ष। और कलापक्ष वस्तुतः भावपक्ष ही काव्य की आत्मा है। भावपक्ष के बिना काव्य केवल पद्यरचना मात्र रह जाता है। परतु मनुष्य सौंदर्य उपासक है वह अपनी कृति को सुंदरतम बनाने मे प्रयत्नशील रहता है। वह अपने हृदय में उठे हुए भावों को सुंदरतम रूप में अभिव्यक्त करना चाहता है। उसके इसी प्रयत्न से कलापक्ष का जन्म होता है। इस कलापक्ष का ही दूसरा नाम अलकारो का प्रयोग है। साहित्यशास्त्र मे अलकार प्रायः दो प्रकार के हैं—शब्दालंकार जिनमे अनुप्रास और यमक अधिक प्रसिद्ध हैं, दूसरा अर्थालकार है जिसकी कोई सख्या निश्चित नही है।

विद्यापति के भावपक्ष का सकेत हम उनके शृ गारवर्णन (सयोग और वियोग) में कर चुके है। किस प्रकार शैशव और यौवन के मिलनबिंदु पर नायिका के हृदय मे आंतरिक उद्वेग होता है, किस प्रकार उसके आचरणो मे विचित्रता आ जाती है, किस प्रकार वह इधरउधर देखती हुई चलती है। विरह और

---

१. डा० मजूमदार–विद्यापति, पद ११८, पृष्ठ १०३।

प्रेम मे क्या क्या दशा होती है। इस प्रकार के सुंदर चित्र विद्यापति के भावजगत् के द्योतक है। उदाहरण हम यथा-स्थान दे चुके हैं। अतः यहाँ उनका दोहराना केवल समय नष्ट करना होगा। इन पदों मे यद्यपि अलंकार भी आ गए हैं और यथास्थान हमने उनका नाम भी दिया है। यथा विरहिणी वाला का रूपक (लोचन नीर तटनि निरमाने , तथा राधा का नखशिख वर्णन। परन्तु फिर भी हम यहाँ यह दिखाने का प्रयत्न करेगे कि विद्यापति ने अलकारों का भी बड़ा सुंदर प्रयोग किया है। इस दृष्टि से भी वह किसी कवि से पीछे नही है।

संस्कृत साहित्य मे कालदास की प्रसिद्धि उपमा अलकार के लिये है। विद्यापति भी उपमा के प्रयोग में सिद्धहस्त है। उनकी उत्प्रेक्षाएँ अनूठी हैं। उपमा के कुछ उदाहरण तो पिछले पद्यों मे आ चुके हैं, परंतु उदाहरण के लिये यहाँ कुछ और दिए जाते है।

(१) पानी मे स्नान करने के कारण अजनहीन नेत्रो को कवि ने अनेक प्रकार की उपमाओं से देखा है यथा—

नीर निरंजन लोचन राता, सिंदुर मँडित जनि पंकज पाता

उपमा के कुछ अन्य उदाहरण—

(२) कनक लता सन सुंदरि ग, विहि निरमाओलि आनि।
(३) गेलि कामिनि गजहु गामिनि
(४) चिकुर निकर तम सम आनन पुनिम ससी।

विद्यापति ने उत्प्रेक्षा अलंकार का भी बड़ा सुंदर प्रयोग किया है। सद्यःस्नाता के केशों से गिरते हुए जल को देखकर

कवि कहता है कि मानो अंधकार चंद्रमा के डर से रो रहा है—

(१) 'चिकुर गरए जलधारा। जनि मुख ससि डर रोअए अंधारा'।

(२) नाभि विवर सयं लोम लतावलि भुजगि निसास पियासा।
नासा खगपति चचु भरम भय कुच गिरि संधि निवासा॥[1]

(३) कनक लता अरविंदा, दमना माँझ जनि उगल चंदा।

वस्तुतः विद्यापति ने अलंकारों का प्रयोग भी बड़ी सुंदरता से किया है। यद्यपि उपमान सभी प्राचीन हैं परतु उनका स्थापन बड़ी विदग्धता से किया गया है। हम सक्षेप में कुछ अलंकारों के नाम तथा उनके उदाहरण उपस्थित करते हैं—

शब्दालंकार

अनुप्रास—

कमल मिलल दल मधुप चलल घर विहग गहल निज ठामे।
अरे रे पथिक जन थिर रे करिअ मन बड़ पाँउर दुर गामे।

यमक—

सारंग नयन बयन पुनि सारंग, सारग तसु समधाने।
सारंग उपर उगल दस सारंग कोल करथि मधु पाने।

अर्थालंकार

अतिशयोक्ति—कनक कदलि पर सिंह समारल तापर मेरु समाने।

विरोधाभास—मेरु उपर दुइ कमल फुलाएल नाल बिना रुचि पाई।

यथासंख्या—जते देखल तत कहिअ न पारिअ छओ अनुपम एक ठामा।

---

१ वस्तुतः यह रूपक से परिपुष्ट सुंदर उत्प्रेक्षा है।

पिक बूझल अनुमानी। नयन, वदन, परिमल, गति, तनुरुचि अओ अति सुललित वानी।

व्यतिरेक—अधर बिंब अध आई।
भोंह भ्रमर नासापुट सुंदर से देखि कीर लजाई।

पर्यायोक्ति—मरमक वेदन मरमहि जान आनक दुख आन नहि जान।

एकावली—सरसिज विनु सर, सर विनु सरसिज की सरसिज विनु सूरे।
जीवन विनु तन, तन विनु जौवन की जौवन पिअ दूरे।

असंगति दिठि अपराध परान पय पीड़सि से तुम कौन विवेक।
विशेष—कनक लता जनि सचर रे महि निर अवलंब।
तद्गुण—अनुखन माधव माधव रटइत सुंदरि भेलि मधाई।
संदेह—कनकलता अरविंदा दमना माँहि उगि गेल चंदा।
केओ कहे सबल छपला केओ बोले नहि नहि मेघ झँपला।
श्लेष—अहनिस जप हरि नाम तोहारी।

अपह्नुति—

गरुअ कुंभ सिर थिर नहि रह तें उथसल केसपासे।
सखिजन सँ हम पाछाँ पड़लिहुँ तें मेल दीघ निसासे।

सुभाषित तथा लोकोक्तियाँ—भाषा को बल देने के लिये कविगण सुभाषित, सूक्तियों तथा मुहावरों का प्रयोग करते हैं। अपभ्रंश साहित्य परिचय मे हमने अपभ्रंश कवियों की इस विशेषता पर विशेष बल दिया है। हमारे विद्यापति भी पीछे नहीं रहे हैं। डा० उमेश मिश्र ने अपनी पुस्तक विद्यापति में ऐसी सुंदर उक्तियों

का अपूर्व संग्रह किया है[1]। उदाहरणार्थ उनमें से यहाँ कुछ पंक्तियाँ दी जाती हैं—

१–आसा लुबुधल न तजव रे कृपनक पाछि भिखारि।

२–वैभव गेने रहय विवेक, तेसन पुरुष लाख थिक एक।

३–प्रेमक कारन जीव उपेखिय जग जन के नहिं जाने।

४–सुजनक प्रेम हेम समतूल, दहइत कनक दिगुन होय मूल।

५–एहि संसार सारबथु एक तिलएक संगम, जावे जिव नेह।

६–विपति चिन्हिय भल मंदा।

७–वचन क कौसल जीतिग्र वाद।

८–काम प्रेम दुहु एक मत भय रहु कखने की न करावे।

९–मागि लायब वित से जदि हो नित अपन करब कोन काज।

उपसंहार–विद्यापति के इस संक्षिप्त वर्णन से उनके पांडित्य, उनकी काव्यप्रतिभा, उनके शास्त्रज्ञान एवं अभ्यास, तथा वाक्यपटुता आदि पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उन्होंने अपने जीवन काल में ही ख्याति प्राप्त कर ली थी। उनकी अनेक उपाधि एवं उपनाम मिलते हैं जिनमें से (१) अभिनय जयदेव, (२) कविशेखर, (३) कवि रंजन, (४) कविराज, (५) कवि कंठहार, (६) दश अवधान तथा (७) पंडितराज अधिक प्रसिद्ध हैं। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो प्रत्येक उपनाम में उनकी प्रवृत्ति झलक रही है, और उनके काव्य का लक्षण दे रही है।

विद्यापति ने पदावली में संसार के मूल रागतत्व को ही अपनाया है। अतः उनका समस्त साहित्य मानवीय

---

१. डा० उमेश मिश्र—विद्यापति, पृष्ठ १०१-११६।

रागात्मिका प्रवृत्ति का द्योतक है। वह सदैव अमर रहेगा। ग्रिअर्सन का कहना है कि हिंदूधर्म अस्त हो सकता है, संसार राधाकृष्ण के प्रेमगीतों तथा उनके प्रेम के लिये अपनी श्रद्धा खो सकता है परंतु विद्यापति के प्रेमगीतों का प्रेम बना रहेगा।[1] पदावली का मूल स्रोत हमने तत्कालीन जीवन एवं समाज को माना है। अतः पदावली मे प्रेममूलक जीवन के अतिरिक्त विरक्तिमूलक, भक्तिमूलक तथा संस्कार-मूलक पदों का भी अभाव नही। वहाँ देवी की वंदना है, नचारी है, महेश बानी है तथा विष्णु पद है। यौवनावस्था की रतिकेलियों से वितृष्णा उत्पन्न होने पर भगवान् से क्षमाप्रार्थना है। शेष वयस् मे एकांत आत्मसमर्पण के भाव भी वहाँ हैं। यथा—

जावत जनम हम तुअ पद न सेविलु जुवती मतिमय मेलि।
अमृत तेजि किये हलाहल पायलुं संपदे विपदहि भेलि॥
निधुवने रमनि संग रसे मातलु तोहे भजव कौन वेला॥
माधव, हम परिनाम निरासा।
तुहुँ जगतारन दीन दयामय अतए तोहरे विसवासा।
कखन हरब दुख मोर हे भोलानाथ।
दुखहि जनम भेलदुखहि गमाएव सुख सपनहु नहि भेल,हे भोलानाथ

अतः पदावली मे जीवन और समाज का यथावत् चित्रण है। अपभ्रंश का युग समाप्त हो गया था। आधुनिक भाषाओं का युग प्रारंभ हो गया था। विद्यापति ने पूर्व और पश्चिमी शृंगारवर्णन परंपरा का अपूर्व समन्वय किया है। विद्यापति की यह निजी महत्ता है कि उनमें संयोग

---

१. शिवनंदन ठाकुर—महाकवि विद्यापति।

शृंगार का आधिक्य है। संयोग के चित्रों को उन्होंने बड़ी तन्मयता से अंकित किया है। वियोगपक्ष भी हृदयशून्य नहीं है। उनका समस्त प्रकृतिवर्णन प्रसंग के अनुकूल है। वह अधिकतर उद्दीपन या अलंकार के रूप में है, स्वतंत्र रूप में कम है। कहने का तात्पर्य यह है कि महाकवि विद्यापति की कविता में केवल अनुभूति की प्रधानता की ओर ही कवि का ध्यान नहीं गया वरन् अनुभूति के साथ साथ कवि ने कला का भी सुंदर सामंजस्य किया है। इस सामंजस्य के कारण ही उनका स्थान संसार के महाकवियों के परिधि आता है।



परिशिष्ट—१

अपभ्रंश की प्रकाशित और अप्रकाशित सामग्री जो ज्ञात हो चुकी है उसका यथासंभव अकारादि क्रम से यहाँ उल्लेख किया जा रहा है। यह सूची मुख्यतः प्रो० हरि दामोदर वेलणकर द्वारा संपादित 'जिनरत्न कोश' (खंड १) १९४४ ई० से तैयार की गई है। इसमें अनेकांत, हिंदी अनुशीलन तथा डा० कोछड़ के अपभ्रंश साहित्य से सहायता ली गई है। इनमें बड़े अक्षरों में अंकित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

१	अंजना सुंदरी कथा	
२	अनतव्रत कथानक	
३	अनाथ संधि	जिनप्रभ सूरि
४	अंतरंग रास	,,
५	अंतरंग विवाह	,,
६	अंतरंग संधि	रत्नप्रभ सूरि (सं० १३६२ वि०)
७	अमरसेन चरित	माणिक्कराज
८	आत्मसंबोधन कुलक	जिनप्रभ सूरि
९	आदिनाथ फाग	पुष्पदंत
१०	आदिपुराण (मेघेश्वर चरित)	सिंहसेन (रइधू)
११	आराधना सार	वीर
१२	उपदेश कुलक	देवसूरि
१३	उक्ति व्यक्ति प्रकरण	दामोदर (उदाहरण अपभ्रंश में)
१४	ऋषभ जिन स्तुति	
१५	कथाकोश	श्रीचंद्र (९४१–९९६ ई०)
१६	करकंड चरिउ	कनकामर मुनि
१७	करकंड चरिउ	रइधू
१८	कालस्वरूप कुलक	जिनदत्त सूरि
१९	कालिकाचार्य कथा (अथिय इहेव जंबू)	अंशतः अपभ्रंश; ब्राउन द्वारा संपादित

२० कीर्तिलता	विद्यापति (अवहट्ठ)
२१ कीर्तिपताका	विद्यापति
२२ कुमारपाल प्रतिबोध	सोमप्रभ सूरि (१२४१ वि०) अंशतः अपभ्रंश
२३ कुवलयमाला कहा	उद्योतन सूरि (सं० ८३५ वि०) अंशतः अपभ्रंश
२४ चंद्रप्रभ चरिउ	यशः कीर्ति
२५ चंद्रप्रभ चरित	दामोदर
२६ चर्चरी	जिनदत्त सूरि
२७ चर्चरी	सोलण
२८ चर्चरी	जिनप्रभ सूरि
२९ चर्यापद	बौद्ध सिद्ध
३० चैत्यपरिपाटी	जिनप्रभ सूरि
३१ जंबू चरित्र	(सं० १२९९ वि०)
३२ जंबूस्वामि चरित्र	वीर
३३ जंबूस्वामि चरित्र	सागरदत्त (सं० १०६० वि०)
३४ जंबूस्वामि रासा	धर्मसूरि (१२६६ वि०)
३५ जयकुमार चरित्र	ब्रह्मदेव सेन
३६ जयकुमार चरित्र	रइधू
३७ जयतिहुअण	अभयदेव सूरि (११११ वि०)
३८ जिनजन्म मह	जिनप्रभ सूरि
३९ जिनदत्त चरित्र	रइधू
४० जिन महिमा	जिनप्रभ सूरि
४१ जिन रति कथा	नरसेन
४२ जीवानुशास्ति सघ	,,
४३ त्रिषष्ठि महापुरुष-गुणालंकार (महापुराण)	पुष्पदंत
४४ दगड	
४५ दश लक्षण जयमाला	सिंहसेन (रइधू)
४६ दानादि कुलक	प्रद्युम्न
४७ दोहा कोश	सरह

४८ दोहानुप्रेक्षा	लक्ष्मीचंद्र
४९ दोहा कोश	काण्ह
५० दोहा पहुड़	रामसिंह
५१ दोहा मातृका	
५२ धर्मसूरि स्तुति	
५३ धर्माधर्म कुलक	जिनप्रभ सूरि
५४ धर्माधर्म विचार	,,
५५ नवकार फल कुलक	
५६ णागकुमार चरिउ	पुष्पदंत
५७ नागकुमार चरित	माणिक्क राय
५८ निर्दोष सप्तमी कथा	
५९ नेमिनाथ जन्माभिषेक	जिनप्रभ सूरि
६० नेमिनाथ चउपई	विनयचंद्र सूरि (१२५७ वि०)
६१ नेमिनाथ चरिउ	हरिभद्र सूरि (८वीं से १२वीं शताब्दी के बीच किसी समय)
६२ नेमिनाथ चरित	दामोदर
६३ नेमिनाथ चरित	लक्ष्मण देव
६४ नेमिनाथ फाग	राजशेखर सूरि (१३७१ वि०)
६५ नेमिनाथ रास	जिनप्रभ सूरि
६६ पद्म चरित्र (पउम चरिउ)	स्वयंभू और त्रिभुवन
६७ पद्मश्री चरित्र	धाहिल (११९१ वि०)
६८ पद्मपुराण	रइधू
६९ परमात्म प्रकाश	योगींद्र
७० पांडव पुराण	यशःकीर्ति
७१ पार्श्वनाथ चरित्र	विनयचंद्र सूरि
७२ पार्श्वनाथ जन्माभिषेक	जिनप्रभ सूरि
७३ पार्श्वनाथपुराण	रइधू
७४ पार्श्वनाथ पुराण	पद्म कीर्ति
७५ पुराणसार	श्रीचंद्र मुनि
७६ प्रत्येक बुद्ध चरित्र	
७७ प्रद्युम्न चरित्र	रइधू

७८ प्रबंध चिंतामणि	मेरुतुंग (१३६१ वि०) अंशतः अपभ्रंश
७९ प्राकृत पैंगलम्	उदाहरण अपभ्रंश
८० वृद्धनवकार	जिनवल्लभ सूरि
८१ बलभद्र चरित	रइधू
८२ वर्णरत्नाकर	ज्योतिरीश्वर ठाकुर
८३ बारह खड़ी दोहा	महानंद
८४ बाहुबलिरास	शालिभद्र सूरि
८५ भविस्सयत्त कहा	धनपाल
८६ भव्य कुटुंब	जिनप्रभ सूरि
८७ भव्य चरित्र	,,
८८ भावनाकुलक	,,
८९ भावनासंधि	जयदेव (१६०६ वि०)
९० भावनासार	
९१ मदनरेखा चरित	(सं० १०९७ वि०)
९२ मयणपराजय चरिउ	हरिदेव
९३ मयणजुज्झ	बच्चूराम
९४ मलयसूरि स्तुति	
९५ मल्लिनाथ चरित	जिनप्रभ सूरि
९६ महावीर चरित	जिनेश्वर सूरि का कोई शिष्य।
९७ महावीर चरित	
९८ महावीर स्तोत्र	
९९ मुक्तावली विधान कथा	
१०० मुनिचंद्र सूरि स्तुति	देवसूरि
१०१ मुनि सुव्रत स्वामि स्तोत्र	जिनप्रभ सूरि
१०२ मृगपुत्र महर्षि चरित (मृगपुत्र संधि)	
१०३ मेघेश्वर चरित	रइधू
१०४ मोहराज विजय	जिनप्रभ सूरि
१०५ यशोधराचरित (जसहर-चरिउ)	पुष्पदंत

१०६ युगादिजिन-चरित कुलक	जिनप्रभ सूरि
१०७ योगसार	योगींदु
१०८ योगसार	श्रुतिकीर्ति
१०६ रोहिणी विधान कथा	देवनंदी
११० लघु अजित शांतिस्तव	वीरगणि
१११ वज्र स्वामि चरित्र	
११२ वज्र स्वामी चरित्र	जिनप्रभ सूरि (स० १३१६ वि०)
११३ वर्धमान काव्य (श्रेणिक चरित)	जयमित्र
११४ वर्धमान चरित्र	रइधू
११५ वरांग चरित	तेजपाल
११६ विलासवती कथा	सिद्धसेन सूरि
११७ विवेक कुलक	जिनप्रभ सूरि
११८ वीरजिन पारणक	वर्तमान सूरि
११६ शांतिनाथ चरित	शुभकीर्ति
१२० शालिभद्रकक्का	पद्म
१२१ शालिभद्रमातृका	
१२२ शीलसधि	ईश्वरगणि
१२३ सावयधम्म दोहा	देवसेन
१२४ स्रावक विधि	जिनप्रभ सूरि
१२५ श्रावकाचार	देवसेन
१२६ श्रीपाल चरित्र	नरसेन
१२७ श्रीपाल चरित्र	रइधू
१२८ षटकर्मोपदेश	अमरकीर्ति (१२७४ वि०)
१२६ संयममंजरी	महेश्वर सूरि
१३० संघपति समारा रास	अंबदेव सूरि
१३१ संभवनाथ चरित	तेजपाल
१३२ संवेगमातृका	
१३३ संदेस रासक	अब्दुल रहमान
१३४ सन्मति जिन चरित	रइधू
१३५ सकुमाल स्वामी चरित	पुण्यभद्र (पूर्णभद्र)
१३६ सुकुमाल चरित	श्रीधर

१३७ सुगंध दशमी कथा	
१३८ सुदर्शन चरित्र	नयनंदिन (११०० वि०)
१३९ सुभद्रा चरित्र	अभयगणि (सं० ११६१ वि०)
१४० सुभाषित कुलक	जिनभद्र
१४१ स्थूलिभद्र फाग	जिनपद्म सूरि (१२५७ वि०)
१४२ हरिवंश पुराण	स्वयंभू और त्रिभुवन।
१४३ हरिवंश पुराण	रइधू
१४४ हरिवंश पुराण	श्रुतिकीर्ति
१४५ सिद्ध हेम शब्दानुशासन	हेमचंद्र (संकलित अपभ्रंश छंद)
१४६ ज्ञान प्रकाश कुलक	जिनप्रभ सूरि

यद्यपि उपर्युक्त ग्रंथसूची पूर्ण नहीं है, फिर भी उससे अपभ्रंश साहित्य की व्याप्ति का कुछ आभास हो सकता है।

———

परिशिष्ट—२

सहायक ग्रंथसूची

(क) कोश ग्रंथ

१ अर्द्धमागधी कोश, १९१३ ई० (भाग १–५) जैन मुनि रतनचंद्र श्वेतांबर जैन कांफ्रेंस, इंदौर।

२ भरत कोश, १९५१ ई०, एम० एम० कृष्ण कवि, श्री वेंकटेश्वर ओ० इंस्टीट्यूट तिरुपल्ली (मद्रास)।

३ बृहत् हिंदी कोश, संवत् २००६ वि०, ज्ञानमंडल काशी।

४ देशी नाममाला १९३८ ई०, डिपार्टमेंट आफ बांबे सारांज, पूना।

५ हिंदी शब्दसागर, १९२९ ई०, नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस।

६ हिंदी विश्वकोश, १९३० ई०, नगेंद्रनाथ वसु, कलकत्ता।

७ हिंदी जैन एनसाइक्लोपीडिया, भाग १, १९ ५ ई०, पी० एल० जैन, चैतन्य प्रेस, बाराबंकी।

८ जिन रत्न कोश, १९४४ ई०, वेलड्स्क्ण भंडारकर ओ० रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना।

९ नानार्थ नाममाला, १८ ७ ई०, ईश्गुप्त, मद्रास।

१० पाईअ सद्द महण्णवो संवत् १९८५, वि०, पं० हरगोविंद त्रिविक्रम शेठ, कलकत्ता।

११ पद्मकोश, प्रथम संस्करण मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर।

१२ शब्द कल्पद्रुम, प्रथम संस्करण, सर राधाकांतदेव बहादुर, कलकत्ता।

१३ शब्दार्थ चिंतामणि, १९२१ ई०, आगरा।

१४ वाचस्पत्य संस्कृताभिधान, १८६३ ई०, श्रीतारकनाथ वाचस्पति, काव्य प्रेस, कलकत्ता।

१५ वैजयंती, १८७५ ई०, गस्टव ओपर्ट, मद्रास।

१६ युगल कोश, प्रथम संस्करण, रामनरायण लाल बुकसेलर, प्रयाग।

अँगरेजी

१७ संस्कृत डिक्शनरी, १९२२ ई०, आप्टे गोपाल कंपनी, बंबई।

१८ संस्कृत डिक्शनरी (न्यू प्रिंट), मोनिअर विलियम, आक्सफोर्ड क्लेरेंडन प्रेस, लंडन।

(ख) व्याकरण भाषाविज्ञान

१९ अपभ्रंश दर्पण, १९५५ ई०, जगन्नाथ शर्मा, श्री रामकिशोर मिश्र, रमनबाग, पटना।

२० अपभ्रंश व्याकरण, १९४९ ई०, (गुजराती) प० केशवराम शास्त्री, गुजरात विद्या सभा, अहमदाबाद।

२१ भारतीय आर्यभाषा और हिंदी, १९५७ ई० (द्वितीय संस्करण) डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

२२ भाषा और साहित्य, सं० १९९४ वि०, डा० श्यामसुंदर दास, इंडियन प्रेस, प्रयाग।

२३ भाषा विज्ञान १९४९ ई०, डा० श्यामसुंदरदास, इंडियन प्रेस, प्रयाग।

२४ भाषा विज्ञान (सामान्य), प्रथम संस्करण, सं० २००६ वि०, डा० बाबूराम सक्सेना हिंदी साहित्य समेलन, प्रयाग।

२५ भाषा विज्ञान, प्रथम संस्करण, भोलाशंकर व्यास,

२६ भोजपुरी और उसका साहित्य, प्रथम संस्करण, डा० उदयनारायण तिवारी, भारती भंडार, प्रयाग।

२७ दक्खिनी हिंदी, प्रथम संस्करण, १९५२ ई०, डा० बाबूराम सक्सेना, हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद।

२८ हिंदी भाषा का इतिहास, १९ ६ ई०, डा० धीरेंद्र वर्मा हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद।

२९ हिंदी बद्रीनाथ भट्ट, द्वितीय संस्करण, सं० १९८६ वि०, गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ।

३० हिंदी भाषा का उद्गम और विकास, २०१२ वि०, डा० उदयनारायण तिवारी, भा० भंडार, प्रयाग।

३१ हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, १९५४ ई०, नामवर सिंह, साहित्य भवन, प्रयाग।

३२ हिंदी व्याकरण, कामताप्रसाद गुरु, संशोधित संस्करण, सं० २००९ वि०, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

३३ पाली प्रबोध, सं० १६८५ वि०, पं० आद्यादत्त ठाकुर, गंगा पुस्तक माला कार्यालय लखनऊ।

३४ पाली महाव्याकरण, १६४० ई०, भिक्षु जगदीश काश्यप, महाबोधि सोसाइटी सारनाथ।

३५ पातंजलि महाभाष्य, प्रथम भाग, निर्णय सागर प्रेस बंबई।

३६ पुरानी हिंदी, सं० २००५ वि०, पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

३७ पुरानी राजस्थानी (हिं० अनुवाद), सं० २०१२ वि०, तेस्सितोरि, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

३८ प्राकृत व्याकरण, सं० २०११ वि०, त्रिविक्रम, संपादक पी० एल० वैद्य, जैन ग्रंथ संरक्षक संघ, शोलापुर।

३६ प्राकृत लक्षण, प्र० स०, चंड कृत, संपादक हर्नले

४० प्राकृत सर्वस्व, १६४० ई०, मार्कंडेय, चौखंबा सिरीज, बनारस।

४१ प्राकृत प्रकाश, १६४० ई०, वररुचि, चौखंबा सिरीज, बनारस।

४२ सिद्धांत कौमुदी, १६३८ ई०, तत्त्वबोधिनी टीका, निर्णय सागर प्रेस, बंबई।

४३ षडभाषा चद्रिका, १६१६ ई०, बांबे गवर्नमेंट सिरीज, बंबई।

४४ उक्ति व्यक्ति प्रकरण, सं०, २००० वि०, संपादक जिनविजय मुनि, भारतीय विद्याभवन, चौपाटी रोड, बंबई।

अँगरेजी

४५ ए ग्रामर आफ ईस्टर्न हिंदी, १८६० ई०, रुडोल्फ हार्नले, लुड गेट हाल, लंडन।

४६ ए ग्रामर आफ हिंदी लैंग्वेज, १६३८ ई०, केलाग, केगान पाल, ट्रेंच टर्नर एंड का०, लंदन।

४७ ए ग्रामर आफ मैथिली लैंग्वेज, प्रथम संस्करण गियर्सन, कलकत्ता।

४८ एन इंट्रोडक्शन टू अर्धमागधी, १६५१ ई०, डा० घटगे, कोल्हापुर कालेज बुक डिपो, कोल्हापुर।

४६ एन इंट्रडक्शन टू कंपेरेटिव, फिलोलोजी, १६५० ई०, डा० गुने, पूना आरियंटल बुक हाउस, पूना।

५० ब्रजभाषा का व्याकरण, १६३५ ई०, मिर्जा खां, विश्व भारती बुक शाप, २१० कार्नवालिस स्ट्रीट, कलकत्ता।

५१ कंपेरेटिव ग्रामर अफ मिडल इंडो आयरन, १६५४ ई०, डा० सुकुमार सेन, लिंग्विस्टक सोसाइटी, कलकत्ता।

५२ कलेक्टेड वर्क्स आफ आर० जी० भंडारकर, भाग ४, १६२६ ई०, भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना।

५३ गुजराती लैंग्वेज एंड लिटरेचर, १६३२ ई०, दिवेतिया, बंबई विश्वविद्यालय, बंबई।

५४ हिस्टोरिकल ग्रामर आफ अपभ्रंश, १६४८ ई०, डा० तगारे, डक्केन कालेज पूना।

५५ लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, प्र० संस्करण, सर जार्ज ग्रिअर्सन, कलकत्ता।

५६ दी आरिजिन एंड डेवलपमेंट आफ बंगाली लैंग्वेज, १६२६ ई०, डा० चटर्जी, कलकत्ता यूनीवर्सिटी प्रेस, कलकत्ता।

५७ विल्सन फिलोलोजिकल लेक्चर्स आन मराठी, प्रथम संस्करण, श्री गाटे, बंबई विश्वविद्यालय, बंबई।

(ग) आलोचना इतिहास,

५८ अपभ्रंश साहित्य, १६५७ ई०, डा० कोछड़, भारती साहित्य मंदिर, फव्वारा, दिल्ली।

५६ आलोचनात्मक इतिहास, डा० रामकुमार वर्मा, १६४८ ई०, रामनारायनलाल बुक्सेलर, इलाहाबाद।

६० बिहारी की वाग्विभूति, सं० १६६३ वि०, पं० विश्वनाथ मिश्र, साहित्य कुटीर, बनारस।

६१ चंद बरदायी और उनका काव्य, १६५२ ई०, विपिनबिहारी त्रिवेदी, हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद।

६२ डिंगल में वीर रस, सं० १६६७ वि०, मोतीलाल मेनारिया, हिंदी साहित्य संमेलन, इलाहाबाद।

६३ देव और उनकी कविता, १६४६ ई०, डा० नगेंद्र गौतम बुक डिपो, देहली।

६४ हर्ष चरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन, प्रथम संस्करण, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना।

६५ हिंदी महाकाव्य का स्वरूप और विकास, १९५४ ई०, डा० शंभूनाथ सिंह, हिंदी प्रचारक कार्यालय, बनारस।

६६ हिंदी काव्य की अंतश्चेतना, १९५४ ई०, प्रा० राजाराम रस्तोगी, शिक्षा साहित्य प्रकाशन, मेरठ।

६७ हिंदी साहित्य का इतिहास, १९९७ वि०, आचार्य शुक्ल, नागरी प्रचारिणी, सभा, बनारस।

६८ हिंदी साहित्य, १९५२ ई०, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, अत्तरचंद कपूर एंड संस, दिल्ली।

६९ हिंदी साहित्य की भूमिका, १९४० ई०, डा० हजारीप्रसाद-द्विवेदी, हिंदी ग्रंथ रत्नाकर सिरीज, बंबई।

७० हिंदी साहित्य का आदि काल, १९५४ ई०, आचार्य डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।

७१ हिंदी साहित्य का इतिहास, १९५६ ई०, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, मालवीय पुस्तक भवन, लखनऊ।

७२ हिंदी भाषा और साहित्य, सं० १९९४ वि० डा० श्यामसुंदर दास इंडियन प्रेस, इलाहाबाद।

७३ हिंदी जैन साहित्य और इतिहास, १९४२ ई०, नाथूराम प्रेमी, हिंदी ग्रंथ रत्नाकर सिरीज, बंबई।

७४ हिंदी जैन साहित्य परिशीलन, भाग १-२, १९५६ ई० नेमिचंद शास्त्री, भारतीय ज्ञान पीठ, बनारस।

७५ हिंदी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, १९५४ ई०, कामताप्रसाद जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस।

७६ हिंदी जैन साहित्य पर विशद प्रकाश, १९५६ ई०, जुगलकिशोर मुख्तार, वीर संघ प्रेस, कलकत्ता।

७७ हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, नवीन संस्करण, १९५८ ई०, विनोद पुस्तक भंडार, आगरा।

७८ हिंदुत्व, सं० १९५५ वि०, रामदास गौड़, सेवा उपवन, काशी।

७९ मध्यकालीन संस्कृति, १९२८ ई०, श्रीगौरीशंकर हीराचंद ओझा, प्रयाग।

८० पाइअ भाषा अने इतिहास, १९४० ई०, प्रो० कापडिया, शाह गुलाबचंद लल्लूभाई, भावनगर।

८१ राधा का क्रमिक विकास, १९४६ ई० डा० गुप्त, हिंदी प्रचारक कार्यालय, बनारस।
८२ राजस्थानी भाषा और साहित्य, सं० २००६ वि०, प० मोतीलाल मेनारिया, हिंदी साहित्य संमेलन, प्रयाग।
८३ राजस्थानी की रूपरेखा और मान्यता के प्रश्न, १९५३ ई०, पु० मेनारिया बनारस।
८४ संस्कृत साहित्य का इतिहास, १९४ , कन्हैयालाल पोद्दार' रामविलास पोद्दार ग्रंथमाला, नवलगढ़।
८५ सिद्ध साहित्य, १९५५ ई० धर्मवीर भारती, किताब महल, इलाहाबाद।
८६ उत्तरी भारत में संत परंपरा, सं० २००९ वि०, परशुराम चतुर्वेदी, भारती भंडार, इलाहाबाद।
८७ विद्यापति, २००९ वि०, डा० जनार्दन मिश्र, रामनारायणलाल बुकसेलर, इलाहाबाद।
८८ विद्यापति का अमर काव्य, गुणानंद जुयाल, साहित्य निकेतन, कानपुर।
८९ विद्यापति, १९५७ ई०, शिवप्रसाद सिंह, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, बनारस।
९० विद्यापति का एक अध्ययन, १९४७ ई०, डा० रामरतन भटनागर, किताब महल, इलाहाबाद।
९१ विद्यापति, १९५४ ई०, श्यामलाल वाशिष्ठ विनोद पुस्तक भंडार, आगरा।
९२ विद्यापति का काव्यालोक, १९३७ ई०, प्रो० नगेंद्रदास, मित्र मंडल, लहेरिया सराय, दरभंगा।

अँगरेजी

९३ ए हिस्ट्री आफ मैथिली लिटरेचर, १९४९ ई०, भाग १ २, डा० जयकांत मिश्र, तिरामुक्ति पब्लिकेशन, इलाहाबाद।
९४ ए हिस्ट्री आफ इंडिया, १९४० ई०, वरदाचारी, भाग १, २, श्रीनिवास वरदाचारी एंड संस मद्रास।
९५ ए हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर, १९३३ ई०, विंटरनिटस, भाग २, कलकत्ता यूनिवर्सिटी प्रेस, कलकत्ता।

९६ ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, १६४८ ई०, कीथ, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंडन ।

९७ ए हिस्ट्री आफ इंडियन पीपुल एंड कलचर, प्र० संस्करण, पार्ट ३, ४ विद्याभवन, चौपाटी रोड, बंबई ।

९८ ए हिस्ट्री आफ इंडियन सिविलाइजेशन, प्र० संस्करण, आर० सी० दत्त, टेम्पिल सीरीज, लडन ।

९९ ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, एस० के० दे, प्रथम संस्करण, कलकत्ता, यूनिवर्सिटी, कलकत्ता ।

(घ) लक्षण ग्रंथ (छंद अलकार, काव्यशास्त्र कामशास्त्र आदि)

१०० छंद प्रभाकर, स० १९७९ वि०, भानु कवि, भानु कवि, बिलासपुर ।

१०१ हिंदी काव्य की प्रवृत्तियाँ, प्र० सं०, डा० नगेंद, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।

१०२ हिंदी साहित्य की बीसवीं सदी, १९४५ ई०, नंददुलारे वाजपेयी, इंडियन बुक डिपो, लखनऊ ।

१०३ हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास, सं० २००५ वि०, भगीरथ मिश्र, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ ।

१०४ हिंदी काव्य विमर्श, १९५५ ई०, गुलाबराय, आत्माराम एंड संस, देहली ।

१०५ कामसूत्र, सं० १९०० वि०, वात्सायन, श्री गंगाविष्णुदास, लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस, बबई ।

१०६ कवि रहस्य, प्र० स०, डा० गंगानाथ झा, हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद ।

१०७ काव्य मीमांसा, १९५४ ई०, राजशेखर, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना ।

१०८ काव्यादर्श, १९३८ ई०, दंडी भंडारकर, ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना ।

१०९ काव्य प्रकाश, सं० २००८ वि०, मम्मट, चौखंबा सिरीज, बनारस ।

११० काव्यानुशासन, १९३८ ई०, हेमचंद्र, श्री महावीर जैन विद्यालय, बबई ।

१११ काव्य प्रदीप, प्र० ०, रामबहोरी शुक्ल, साहित्य भवन, लाहौर ।

११२ नाट्यशास्त्र, १९२९ ई० भरतमुनि, पीतांबर सीरीज, बंबई ।
११३ प्राकृत पैंगलम्, १९०२ ई०, संपादक चंद्रमोहन घोष, विबलीका इंडिका सिरीज, कलकत्ता ।
११४ प्राकृत पिंगल सूत्र, प्रथम संस्करण, निर्णय सागर प्रेस, बंबई ।
११५ सरस्वती कंठाभरण, १९३६ ई०, भोज, निर्णय सागर प्रेस, बंबई ।
११६, साहित्य, द्वितीय संस्करण १९४९ ई०, रवींद्रनाथ टैगोर, हिंदी ग्रंथ रत्नाकर सीरीज, बंबई ।
११७ साहित्य सर्जना, पंचम संस्करण १९४९ ई०, इलाचंद जोशी, छात्र हितकारी पुस्तकालय, दारागंज, इलाहाबाद ।
११८ साहित्य और सौंदर्य, प्रथम संस्करण, डा० फतहसिंह, संस्कृत सदन, कोटा ।
११९ साहित्यलोचन, आठवाँ संस्करण २००५ वि०, श्यामसुंदरदास, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद ।
१२० साहित्य दर्पण, सं० १९७८ वि०, प० शालिग्रामजी की टीका, श्री मृत्युंजय औषधालय, अमीनाबाद पार्क, लखनऊ ।
१२१ सिद्धांत और अध्ययन, द्वितीय संस्करण सं० २००६ वि०, गुलाबराय, प्रतिमा प्रकाशन, दिल्ली ।
१२२ सूर पंचरत्न, सप्तम सं०, सं० २००८ वि०, संकलनकर्ता-ला० भगवानदीन, रामनारायणलाल, इलाहाबाद ।

अँगरेजी

१२३ एन इन्ट्रोडक्शन टू दी स्टडी आफ लिटरेचर, १९३५ ई०, हडसन, हैरप ऐंड को, लंडन ।
१२४ जजमेंट इन लिटरेचर, १९५१ ई०, वर्सफील्ड, जे० एम० डैंट एंड संस, लंडन ।
१२५ साहित्य सार संग्रह, १८९१ ई०, रामेश्वर रामचंद्र काले, निर्णय सागर प्रेस बंबई ।

(च) संग्रह ग्रंथ

१२६ अपभ्रंश पाठावली, सं० १९९२ वि०, प्रो० मोदी, वर्नाकुलर सोसाइटी, इलाहाबाद ।

१२७ अपभ्रंश काव्यत्रयी, १९२७ ई०, श्रीयुत गांधी, गायकवाड ओरियटल सीरीज, बड़ौदा।

१२८ आनंद काव्य महोदधि, प्र० सं०, भाग १-८, (गुजराती) श्री झावेरी लाला भाई जैन, झावेरी बाजार, बंबई।

१२९ ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह, सं० १९८४ वि०, अगरचंद नाहटा, भँवरचंद नाहटा, आरमीनियन स्ट्रीट, कलकत्ता।

१३० गाथा सप्तशती, १९३३ ई०, हाल, निर्णय सागर प्रेस, बंबई।

१३१ गोरखवानी, सं० २००३ वि०, डा० बड़थ्वाल, साहित्य समेलन, प्रयाग।

१३२ जैन गुर्जर कवियो, प्रथम भाग, १९८२ वि०, मोहनलाल दलीचंद देसाई, श्वेतांबर कानफ्रेंस, बंबई।

१३३ काव्यधारा, १९४५ ई० श्री राहुल, किताब महल, इलाहाबाद।

१३४ कविता कौमुदी, सं० १९८४ वि०, प० रामनरेश त्रिपाठी, साहित्य भवन, इलाहाबाद।

१३५ पुरातन निबधावली, प्र० सस्करण, श्री राहुल, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद।

१३६ वज्जालग्गम, १९४४ ई०, बिब्लीका इंडिका सीरीज, कलकत्ता।

१३७ वीर काव्य सग्रह, स० २००५ वि०, उदयनारायण तिवारी, भारती भंडार प्रेस, इलाहाबाद।

(छ) काव्य, कथा, नाटक तथा पुराण आदि

१३८ अभिज्ञान शाकुतलम्, १९३२ ई०, कालिदास, निर्णय सागरप्रेस, बबई।

१३९ अमरुशतक, तृतीय संस्करण १९५४ ई०; अमरुक, निर्णय सागर प्रेस, बबई।

१४० वाल्मीकि रामायण, तृतीय सं० १९०९ ई०, निर्णय सागर प्रेस, बबई।

१४१ बिहारी बोधिनी, सं० २०१३ वि०, ला० भगवानदीन, सा० सेवा सदन, बनारस।

१४२ बिहारी रत्नाकर, द्वितीय सं० १९९४ वि०, जगन्नाथ दास रत्नाकर, गगा पुस्तक माला, लखनऊ।

१४३ बीसलदेव रासो, सं० २००८ वि०, संपादक सत्यजीवन वर्मा, नागरीप्रचारिणी सभा, बनारस।

१४४ ब्रह्मवैवर्त पुराण, १९५५ ई०, मयूर प्रकाशन, कलकत्ता।

१४५ भविसयत्त कहा, (अप०), १९२३ ई०, दलाल तथा गुने, गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज, बडौदा।

१४६ चंदवरदायी और उनका काव्य, सं० २००० वि०, विपिन बिहारी त्रिवेदी, हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद।

१४७ दोहा कोश, (अपभ्रंश) १९५७ ई०, श्री राहुल, बिहार राष्ट्र-भाषा परिषद, पटना।

१४८ धूर्ताख्यानम्, सं० २००० वि०, हरिभद्र सूरि, भारतीय विद्या भवन, बंबई।

१४९ गउडवहो, १९२७ ई०, वाक्पतिराज, बंबई संस्कृत सीरीज, पूना।

१५० गीत गोविंद, १९५५ ई०, अनु० विनयमोहन शर्मा, आत्माराम एंड संस, देहली।

१५१ जसहरचरिउ (अपभ्रंश), १९२७ ई०, पुष्पदंत, कारंजा सीरीज, कारंजा।

१५२ जसहरचरिउ (अपभ्रंश), संपादक ला० गिरनारीलाल जैन, देवबंद, सहारनपुर।

१५३ जायसी ग्रंथावली, १९३५ ई०, संपा० आचार्य रामचंद्र शुक्ल, नागरीप्रचारिणी सभा, बनारस।

१५४ कर्पूर मंजरी, १९५५ ई०, राजशेखर, चौखंभा सीरीज, बनारस।

१५५ कथा कोश प्रकरण, सं० २००५ वि०, जिनेश्वर सूरि, भारतीय विद्या भवन, बंबई।

१५६ करकंड चरिउ (अपभ्रंश १९३४ ई०), सं० हीरालाल जैन, अंबादास चंवरे ग्रंथमाला, कारंजा (बरार)

१५७ कबीर ग्रंथावली, १९३७ ई०, श्यामसुंदर दास, नागरीप्रचारिणी सभा, बनारस।

१५८ कामायनी, सं० २००० वि०, प्रसाद, भारती भंडार, इलाहाबाद।

१५९ कवि प्रिया, १९१४ ई०, केशव, नवल किशोर प्रेस लखनऊ।

१६० कवितावली, प्रथम संस्करण, तुलसी, गीताप्रेस, गोरखपुर।

१६१ कीर्तिलता (अपभ्रंश) सं० १९८८ वि०, डा० बाबूराम सक्सैना, नागरीप्रचारिणी सभा, इलाहाबाद।
१६२ कीर्तिलता और अवहट्ट (अपभ्रंश १९५५ ई०) शिवप्रसाद सिंह, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद।
१६३ कुमारपाल चरित, १९३० ई०, हेमचंद्र, बांबे गवर्नमेंन्ट सीरीज, पूना।
१६४ कुमार सभव (वंगाब्द १३१७) कालिदास, श्री गुरुनाथ विद्यानिधि, भट्टाचार्य, कलकत्ता।
१६५ लाइफ आफ हेमचंद्र, १९३६ ई०, अनुवादक पटेल, सिंघी जैन ज्ञान पीठ, बम्बई।
१६६ लीलावई कहा (कोउहल) २००५ वि०, संपादक डा० उपाध्ये, भारतीय विद्या भवन, बबई।
१६७ मदन पराजय नाटक, प्रथम सं०, नामदेव, भारतीय ज्ञान पीठ, बनारस।
१६८ महाकवि विद्यापति, १९४० ई०, शिवनंदन ठाकुर, लहेरिया सराय, दरभंगा।
१६९ महापुराण (अपभ्रंश १९३७ ई०) पुष्पदंत, संपादक पी० एल० वैद्य, मानक चंद चिदम्बर ग्रंथ माला, बबई।
१७० महापुराण, (संस्कृत) जिन सेन, प्रथम संस्करण, भारतीय ज्ञान पीठ, बनारस।
१७१ मनुस्मृति, सं० १९९३ वि०, टीका० जनार्दन झा, हिंदी पुस्तक एजेंसी, कलकत्ता।
१७२ मैथिल क्रस्टोपेथी, प्रथम संस्करण, ग्रिअर्सन, १८८१ ई०, इंडियन एंटीक्वेरी, कलकत्ता।
१७३ मैथिल कोकिल, विद्यापति, प्रथम संस्करण, बाबू व्रजनंदन सहाय, नागरी प्रचारिणी सभा, आरा।
१७४ णायकुमार चरिउ (अपभ्रंश १९३३ ई०), पुष्पदंत, संपादक-हीरालाल जैन, कारंजा सीरीज़, बरार।
१७५ पदावली, १९१० ई०, संपादक नगेंद्रनाथ गुप्त, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद।

१७६ पदावली : विद्यापति : द्वि० संस्करण १९८८ वि०, श्री रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी, पुस्तक भंडार, लहेरियासराय और पटना।

१७७ पदावली : विद्यापति : १९५६ ई०, हिंदी संस्करण, मजूमदार तथा मित्र, दि यूनाइटेड प्रेस लिमिटेड, बारी रोड, पटना–४।

१७८ पउमचरिउ : अपभ्रंश : १९५५ ई०, स्वयंभू, विद्याभवन चौपाटी रोड, बंबई।

१७९ पउम श्री चरिउ : अप० २००५ वि० : धाहल, विद्या भवन चौपाटी रोड, बंबई।

१८० परमात्मा प्रकाश : अप० १९३७ ई० :, संपादक डा० उपाध्ये, सेठ मनीलाल रेवाशंकर झावेरी, बंबई।

१८१ पाहुड दोहा, १९९० वि० संपादक हीरालाल जैन, कारंजा, बरार।

१८२ पृथ्वीराज रासो, प्रथम सं०, चंदबरदाई, नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस।

१८३ पृथ्वीराज रासा : संक्षिप्त : १९५२ ई०, डा० हजारीप्रसाद, आत्माराम एण्ड संस, देहली।

१८४ पुरानी हिंदी, २००५ वि०, पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी, नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस।

१८५ प्रबंध चिंतामणि, १९८९ वि०, मेरुतुंग, सिंघी जैन ज्ञान पीठ, विश्वभारती, शांति निकेतन।

१८६ प्रबंध कोश, १९९१ वि०, राजशेखर सूरि, सिंघी जैन ज्ञान पीठ, विश्व भारती, शांतिनिकेतन।

१८७ प्रशस्ति संग्रह, १९५० ई०, श्री कस्तूरचंद कासलीवाल, जयपुर।

१८८ रत्नावली नाटिका, १९३८ ई०, हर्ष, निर्णय सागर प्रेस, बंबई।

१८९ रंभा मंजरी, १८८९ ई०, नयचंद्र सूरि, निर्णय सागर प्रेस, बंबई।

१९० राम कथा, १९५० ई०, रेवरेंड फादर कामिल बुल्के, हिंदी परिषद् विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

१९१ रामचरित मानस, प्रथम संस्करण, संपादक डा० श्यामसुंदरदास, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद।

१९२ संदेश रासक : अपभ्रंश २००१ वि० : संपादक हरिवल्लभ भायाणी, सिंघी सीरीज, विद्याभवन, चौपाटी रोड, बंबई।

१९३ साधन माला, गायकवाड़ सीरीज, नं० ४१, बड़ौदा।
१९४ सावयधम्म दोहा (अप० १९२९ ई०) संपादक हीरालाल जैन, कारंजा सीरीज, कारंजा।
१९५ संयम मंजरी, (अप०) महेश्वर सूरि कृत, संपा० श्री गुणे तथा दलाल, गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज, बड़ौदा।
१९६ स्वयंभू छंद, प्रथम संस्करण, संपादक प्रो० वेलणकर, पूना।
१९७ समराइच्चकहा, प्राकृत, प्रथम संस्करण, बिबलीका इंडिका सीरीज, कलकत्ता।
१९८ समराइच्चकहा, प्राकृत, १९९४ वि०, हरिभद्र सूरि, अहमदाबाद जैन सोसाइटी, अहमदाबाद।
१९९ संखित्त तरंग वही कहा : तरंग लीला : २००० वि०, श्री जीवण भाई छोटाभाई झावेरी, सूरत।
२०० सूर सागर, प्रथम संस्करण, २००५ वि०, सूरदास, नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस।
२०१ वर्ण रत्नाकर : अपभ्रंश :, ज्योतिरीश्वर ठाकुर, १९४० ई०, बिबलीका इंडिका सीरीज, कलकत्ता।
२०२ ढोला मारू रा दूहा, स० १९९१ वि०, संपादक रामसिंह आदि, नागरी प्रचारणी सभा, बनारस।

(ज) समाचार पत्र तथा पत्रिकाएँ

२०३ अनेकांत, वर्ष ५-१, २, ६, ७; ६-१०, ७-११-१२; ८-१०-११; ९-१०; १० ४, १०।
२०४ अवंतिका, वर्ष २ अंक १।
२०५ हिंदी अनुशीलन, वर्ष ७, ८, ९।
२०६ जैन सिद्धांत भास्कर, भाग ६-१ तथा भाग १०।
२०७ नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग २, ६, ८, १०, ११, १४, ४४, ५०, ५२, ५३, ५६, ५७, ५९ यथा ६२।
२०८ राजस्थान भारती, भाग १ अंक २ तथा भाग ३, पृष्ठ ४८।
२०९ संमेलन पत्रिका, भाग ४०, संख्या १।
२१० साहित्य संदेश, सन् ४८, ५१, ५३ और ५४ की फाइल।

२११ एनल्स आफ भंडारकर, ओरियंटल इंस्टीट्यूट, भाग १, ६, ११, १२, २३, ३३ तथा ३५।
२१२ भारती विद्या : अंग्रेजी :, भाग ३ अंक १।
२१३ इंडियन एंटिक्वेरी, भाग १०।
२१४ नागपुर यूनिवर्सिटी जर्नल, १९४२।
२१५ बुलेटिन आफ दि स्कूल आफ ओरियंटल एण्ड अफ्रिकन स्टडीज, जिल्द १३, खंड २ और ४ (१९५० और १९५१ ई०)
२१६ जर्नल आफ दि यू० पी० हिस्टारिकल सोसायटी, वर्ष २२, खंड १-२, १९४९ ई०, आर्टीकल आफ अगरचंद नाहटा।
२१७ प्रासीडिंग्स आफ् आल इंडिया ओरीयंटल कानफ्रेंस :१९:दरभंगा।
